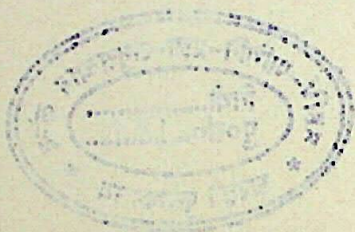


5-4

56 / 5







॥ ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यंत उत शुद्र उतायै ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

षष्ठं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद भावार्थादिमहितं
संस्कृते व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणसमन्वितं च ।
श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री परिडित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओङ्कार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ	}	संवत् १९७३ वि०	{	मूल्यम् ३)
१००० पुस्तकानि		सन् १९१६ ई०		

॥ ओ३म् ॥

“वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेदका पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥

आनन्द समाचार

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिन का अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० लोमकरणादास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणवि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों के कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ४—भावार्थ, ५—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पाम पहुँचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज बढ़िया रायल अठ पेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक बी०पी०वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	भूमिका सहित	२	३	४	५	६					पृष्ठ १६०० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१।।-)	२)	१।।।=	३)					११)

काण्ड ७—छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य १।।

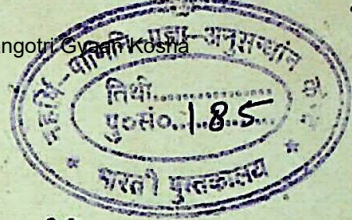
रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेजी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य १=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य १।।

२० जून १९१६

पना—पं० लोमकरणादास त्रिवेदी

५२ लोकरणादास प्रयाग (Allahabad)।



१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ६

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१	दोषो गाय बृहत्	सविता	ऐश्वर्यकी प्राप्ति	गायत्री
२	इन्द्राय सोम	इन्द्र	परम ऐश्वर्य	उष्णिक्
३	पातं न इन्द्रा	मन्त्रोक्त	वृद्धि करना	पथ्या बृहती-जगती
४	त्वष्टा मे दैव्यं	परमेश्वर इत्यादि	सद्य की रक्षा	आस्तार पंक्ति ६०
५	उदेनमुत्त	इन्द्र	धन और जीवन	अनुष्टुप्
६	योश्शमान् ब्रह्मण	ब्रह्मणस्पति इत्यादि	शत्रु के नाश	अनुष्टुप्
७	येन सोमादितिः	सोम	सुख की प्राप्ति	गायत्री
८	यथा वृक्षं लिबुजा	विद्या	विद्या की प्राप्ति	पंक्तिः
९	वाङ्ममे तन्व	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
१०	पृथिव्यै ओत्राय	मन्त्रोक्त	स्वास्थ्य की रक्षा	द्विपदा विराट्
११	शमीमश्वस्य	प्रजापति	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१२	परिद्याभिव	प्रजापति	पाप का नाश	अनुष्टुप्
१३	नमो देवधयेभ्यो	मृत्यु	मृत्यु की प्रबलता	अनुष्टुप्
१४	अस्थिस्त्रंसं परुक्षं	वैद्य	रोगका नाश	अनुष्टुप्
१५	उत्तमो अस्थोष	प्रजापति	उत्तम गुणों की प्राप्ति	अनुष्टुप्
१६	आबयो अनाबयो	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	गायत्री इत्यादि
१७	यथेयं पृथिवी	पृथिवी	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१८	ईर्ष्याया भ्राजिं	आत्मा	ईर्ष्या के निवारण	अनुष्टुप्
१९	पुनन्तुमा देवजनाः	पथमान	पवित्र आचरण	अनुष्टुप्, गायत्री
२०	अग्नेरिवास्य	तक्षमा	रोगका नाश	जगती इत्यादि
२१	इमा यास्तिस्रः	ब्रह्म	ब्रह्म के गुण	अनुष्टुप्
२२	कृष्णं नितानं	मरुत्	वृष्टि विद्या	त्रिष्टुप् जगती
२३	सस्रुषीस्तदपसो	आपः	कर्म करना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	हिमवतः प्र स्रवन्ति	आपः	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्
२५	पञ्च च याः	वैद्य	रोगका नाश	अनुष्टुप्
२६	अव मा पाप्मन्	पाप्मा	कष्ट त्यागना	अनुष्टुप्
२७	देवाः कपोत	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप्
२८	अृचा कपोतं	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप् इत्यादि
२९	अमून् हेतिः	प्रजापति	शुभ गुण ग्रहण	त्रिष्टुप् इत्यादि
३०	देवा इमं मधुना	सरस्वती इत्यादि	विद्या के गुण	जगती इत्यादि
३१	आयं गौः	सार्पराक्षा इत्यादि	सूर्य वा भूमि	गायत्री
३२	अन्तर्द्वि जुहता स्वे	अग्नि इत्यादि	राक्षसों का नाश	त्रिष्टुप्, पंक्ति
३३	यस्येदमा रजो	इन्द्र	सर्व लक्ष्मी पाना	गायत्री इत्यादि
३४	प्राग्नये वाचमीरय	अग्नि	शत्रुओं का नाश	गायत्री
३५	वैश्वानरो न ऊनय	वैश्वानर अग्नि	यश की प्राप्ति	गायत्री
३६	ऋतावानं वैश्वानर	अग्नि	ईश्वर के गुण	गायत्री
३७	उग प्रागात् सहस्राक्षो	शपथ	कुवचन का त्याग	अनुष्टुप्
३८	सिंहे व्याघ्र उत	त्विषि	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
३९	यशो हविर्वर्धतामिन्द्र	इन्द्र	यश पाना	जगती इत्यादि

(२)

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	अभयं द्यावा पृथिवी	सविता	शत्रुओं से रक्षा का	जगती इत्यादि
४१	मनसे चेतसेधिय	इन्द्र	आत्मा की उन्नति	अनुष्टुप् इत्यादि
४२	अव ज्यामिव धन्वनो	मन्यु	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४३	अयं दूर्भो विमन्युकः	दूर्भ	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४४	अस्थाद् द्यौरस्थात्	मनुष्य	रोग का नाश	अनुष्टुप् बृहती
४५	परोपेहि मनस्पाप	अग्नि, इन्द्र	मानसिक पापका नाश	पथ्या पंक्ति इत्यादि
४६	यो न जीवोसि न	स्वप्न	स्वप्न के गुण	बृहतीत्यादि
४७	अग्निः प्रातः सवने	अग्नि इत्यादि	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
४८	श्येनोसि गायत्रच्छन्दः	आत्मा	परमात्मा के गुण	पुर उष्णिक्
४९	नहि ते अग्ने तन्वः	अग्नि	प्रलय और सृष्टि	अनुष्टुप् इत्यादि
५०	दत्तं तद् समङ्गमाखु	अश्विनो	आत्मा के दोष नाश	जगती, पथ्या पंक्ति
५१	वायोः पूतः पवित्रेण	सोम इत्यादि	द्रोह का नाश	गायत्री इत्यादि
५२	उत् सूर्यो दिव पति	सूर्य	आत्मा के दोषका नाश	अनुष्टुप्
५३	द्यौश्च म इदं पृथिवी	विश्वेदेवा इ०	स्वास्थ्य की रक्षा	त्रिष्टुप्
५४	इदं नद् युज उत्तरमिन्द्र	इन्द्र	राज्य की रक्षा	अनुष्टुप्
५५	ये पन्थानो बहवो	विश्वेदेवा	सम्पत्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्
५६	मा नो देवा अहिर्वधीत्	देवजना	दोष के नाश	बृहती इत्यादि
५७	इदमिद् वा उभेषजमिदं	रुद्र	दोष का नाश	अनुष्टुप् बृहती
५८	यशसं मेन्द्रो मध्वान्	विश्वेदेवा	यश पाना	जगती इत्यादि
५९	अनडुद्भ्यस्त्वप्रथमं	अरुन्धती	सब सुख की प्राप्ति	अनुष्टुप्
६०	अयमा यात्यर्यमा	अर्यमा	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
६१	मह्यमापो मधुमदे	परमेश्वर	परमेश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
६२	वैश्वानरो रश्मिभिर्नः	मन्त्रोक्तआदि	धन और नीरोगता	त्रिष्टुप्
६३	यत् ते देवी निष्कृति	आत्मा	मोक्षप्राप्ति	अनुष्टुप्
६४	सं जानीष्वं सं	संज्ञान	धर्म का	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
६५	अवमन्युरावयताव	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	पंक्ति अनुष्टुप्
६६	निर्हन्तः शत्रुरभि	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
६७	परिवर्तमानि सर्वत	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	अनुष्टुप्
६८	आयमगन्तसविता	विश्वे देवा	मुरडन संस्कार	पञ्चपदा इत्यादि
६९	गिरावरगराटेषु	प्रजापति	यश की प्राप्ति	अनुष्टुप्
७०	यथा मांस यथासुश	प्रजापति	परमेश्वर की भक्ति	अनुष्टुप्
७१	यदक्षमग्नि बहुधा	अग्नि	दोषों का नाश	त्रिष्टुप्
७२	यथासितः प्रथयते	प्रजापति	राज्य बढ़ाना	जगती, अनुष्टुप्
७३	एह यातु वरुणः	विश्वे देवा	विद्वानों से समागम	त्रिष्टुप्
७४	सं वः पृच्यन्तां	भगः	एकमता के लिये	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
७५	निरमुनुद ओकमः	इन्द्र	शत्रु का हटाना	अनुष्टुप्
७६	य एनं परिषीदन्ति	अग्नि	आयु बढ़ाने के लिये	अनुष्टुप्
७७	अस्थाद् द्यौरस्थात्	गोपा	संपदा पाना	अनुष्टुप्
७८	तेन भूनेन हविषा	दम्पती	गृहस्थ धर्म	अनुष्टुप्
७९	अयं नो नभसस्पतिः	नभसस्पति	सर्व सम्पत्ति पाना	अनुष्टुप्
८०	अन्तरिक्षेण पतति	परमात्मा	परमात्मा की महिमा	गायत्री इत्यादि



(३)

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८१	यन्तासि यच्छसे	दम्पती	उत्तम गर्भ धारण	अनुष्टुप्
८२	आगच्छत आगतस्य	इन्द्र	विवाह संस्कार	अनुष्टुप्
८३	अपचितः प्र पतत	वैद्य	रोग नाश करना	अनुष्टुप्, जगती
८४	यस्यास्त आसनि	निर्ऋति	पाप से मुक्ति	जगती इत्यादि
८५	वरणो वारयाता	विश्वे देवा	रोग का नाश	अनुष्टुप्
८६	वृषेन्द्रस्य वृषा	एकवृष	साम्राज्य पाना	अनुष्टुप्
८७	आत्वाहार्पमन्तर	राज्ञः स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप्
८८	ध्रुवा द्यौ ध्रुवा	राज्ञः स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
८९	इदं यत् प्रेणयः	पुरुषार्थ	शत्रु जीतना	अनुष्टुप्
९०	यां ते रुद्र इषुमास्यद	रुद्र	कर्म का फल	अनुष्टुप्
९१	इमं यवमष्टायेनैः	आत्मा	आत्मिक दोष नाश	अनुष्टुप्
९२	वा तरहाभव वाजिन्	प्रजापति	राज्ञा के धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
९३	यमो मृत्युरधमारो	यमो विश्वेदेवा	संलग्न के लाभ	त्रिष्टुप्
९४	संवेमनां स	प्रजापति	शान्ति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
९५	अश्वत्थो देव सदन	कुष्ठ	विद्वानों के गुण	अनुष्टुप्
९६	या ओषधयः	ओषधयः सोम	ओषधियों के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
९७	अभिभूर्यज्ञो	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
९८	इन्द्रो जयाति न परा	इन्द्र	राजा और प्रजाके धर्म	पत्तिरित्यादि
९९	अभि त्वेन्द्र वरिमतः	इन्द्र	संग्राम में जय	अनुष्टुप् बृहती
१००	देवा अदुःसुर्यो	विश्वेदेवा	रोग नाश करना	अनुष्टुप्
१०१	आवृषायस्व श्वसिहि	राजा	राजा का धर्म	अनुष्टुप्
१०२	यथायंवाहो अश्विना	आत्मा	जितेन्द्रिय होना	अनुष्टुप्
१०३	संदानं वोवृहस्पतिः	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०४	आदानेन संदानेन	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०५	यथामनेमनस्केतैः	मनुष्य	महिमा पाना	अनुष्टुप्
१०६	आयनेतेपरायणे	शाला	गढ़ बनाना	अनुष्टुप्
१०७	विश्वजित् त्रायमाणा	परमेश्वर	सब सुख की प्राप्ति	आर्यनुष्टुप्
१०८	त्वं नो मेघे प्रथमा	मेघा	बुद्धि और धन प्राप्ति	अनुष्टुप् बृहती
१०९	पिप्पली क्षिप्नमेघज्यू	पिप्पली	रोग नाश	अनुष्टुप्
११०	पत्नोहिकमीडयो	अग्नि	ऐश्वर्य बढ़ाना	त्रिष्टुप्
१११	इमं मै अग्नेपुरुषं	अग्नि	मानस विकारका नाश	पंक्तिः, अनुष्टुप्
११२	माज्येष्ठं वधीरय	अग्नि	कुल रक्षा	त्रिष्टुप्
११३	त्रिते देवा अमृततैतद	त्रित	पाप शुद्ध करना	त्रिष्टुप्
११४	यद् देवा देवहेडनं	विश्वे देवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११५	यद् विद्वान्सो यष्ट	विश्वेदेवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११६	यद् यामंचक्रु	वैवस्वत	पाप से निवृत्ति	त्रिष्टुप्
११७	अपमित्यमप्रतीत्तं	अग्नि	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११८	यद्धस्ताभ्यां चक्रुम	अप्सरसौ	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११९	यदवीव्यन्तृणामहुं	वेश्वावर	घचन का पालन	अनुष्टुप्
१२०	यदस्तरिक्षं पृथिवी	प्रजापति	घर में आनन्दबढ़ाना	त्रिष्टुप् विराट्

(४)

सूक्त	सूक्तके प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१२१	विषाणा पाशान्	अग्नि	मोक्ष पाना	विराट् इत्यादि
१२२	एतं भागं परि ददामि	प्रजापति	आनन्द की प्राप्ति	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२३	एतं सधस्थाः परि	प्रजापति	विद्वानों से सत्संग	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
१२४	दिवो जु मां बृहती	अग्नि	आत्मा की शुद्धि	त्रिष्टुप्
१२५	वनस्पते वीड्वङ्गो	सुषार	सेना । सेनापति के	विराट् इत्यादि
१२६	उप श्वानस्य पृथिवी	वीर	कर्त्तव्य	
१२७	विद्रधस्य बलासस्य	वीर	राजा, सेना के	त्रिष्टुप् विराट्
१२८	शकधूमं नक्षत्राणि	प्रजापति	कर्त्तव्य	
१२९	भगेन मा शांशपेन	शकधूम	रोग का नाश	अनुष्टुप्
१३०	रथिजतां राथजिते	इन्द्र	आनन्द पाना	अनुष्टुप्
१३१	निशीर्षतो निपत्तत	स्मर	ऐश्वर्य पाना	अनुष्टुप्
१३२	यदेवा स्मरमसि	स्मर	स्मरण सामर्थ्य बढ़ाना	अनुष्टुप्
१३३	य इमां देवो मेखला	विद्वान्	परस्पर पालन	अनुष्टुप्
१३४	अयं वज्रस्तर्पयता	स्मर	ऐश्वर्य प्राप्ति	त्रिपादनुष्टुप्
१३५	यदश्नामि बलं	मेखला	मेखला बांधना	त्रिष्टुप् इत्यादि
१३६	देवी देव्यामधि	वज्र	शत्रुओं का शासन	प्रस्तार पंक्ति
१३७	यां जमदग्निरखनद्	आत्मा	खान पान	अनुष्टुप्
१३८	त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा	नितली	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्, बृहती
१३९	न्यस्तिका करोहिथ	नितली	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्
१४०	यौ व्याघ्रावधरूढौ	ओषधि, इन्द्र	निर्वलता हटाना	अनुष्टुप्, पंक्ति
१४१	वायुरेनाः समाकरत्	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	जगती इत्यादि
१४२	उत्तूयस्व बहुर्भव	दन्तौ	बालक का अन्नप्राशन	बृहती इत्यादि
		आचार्य, माता	वृद्धि करना	अनुष्टुप्
		पिता		
		यव	अन्न की वृद्धि	अनुष्टुप्

२-अथर्ववेद, काण्ड ६ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेदसे

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	पुनन्तु मा देव	१६।१	६।६७।२७	१६।३६	
२	उभाभ्यां देव सवितः	१६।३	६।६७।२५	१६।४३	
३	कृष्णं नियानं	२२।१	१।१६४।४७		
४-६	देवाः कपोत	२७।१-३	१०।१६५।१-३		
७	ऋचा कपोतं	२८।१	१०।१६५।५		
८	अमून हेतिः	२६।१	१०।१६५।४		
९-११	आयंगौः पृश्नि	३१।१-३	१०।१८६।१-३	३।६-८	पू६।१४।
१२	अवशसा निःशसा	४५।२	१०।१६४।३		
१३	सुपर्णा वाचमक्र	४६।३	१०।६४।५		
१४	बायोः पूतः पवित्रेण	५१।१		१।३१	
१५	आपो अस्मान्	५१।२		४।२	
१६	यत् किंचेदं	५१।३	७।८६।५		
१७	उत् सूर्यो दिव	५२।१	१।१६१।८, ६		
१८	नि गावो गोष्ठे	५२।२	१।१६१।४		
१९	पुनः प्राणः पुनः	५३।२		४।१५	
२०	स बर्चसा पयसा	५३।३		२।२४	
२१	इदावत्सराय	५५।३		१६।५०	
२२	वैश्वानरीं सूनृतामा	६२।२		१६।४४	
२३	संसमिद् युवसे	६३।४	१०।१६१।१	१५।३०	
२४-२६	सं जानीध्वं	६४।१-३	१०।१६१।२-४		
२७	य उदानत् परायणं	७७।२	१०।१६।५		
२८	आ त्वाहर्षमन्त	८७।१-३	१०।१७३।१-३	१२।११	
२९-३०	वातरंहा भव	६२।१-२		६।८, ६	
३१	या ओषधयः	६६।१	१०।६७।१८, १५	१२।८६, ६२	
३२	मुञ्चन्तु मा	६६।२	१०।६७।१५	१२।६०	
३३	इमं वीरमनु	६७।३		१७।३८	
३४	आयने ते परायणे	१०६।१	१०।१४२।२		
३५	अपामिदं न्यायनं	१०६।२		१७।७	
३६	हिमस्य त्वा जरायुणा	१०६।३		१७।५	
३७	या मृषयो भूतकृती	१०८।४		३२।१४	
३८	प्रत्नो हिकमीड्यो	११०।१	८।११।१०		
३९, ४०	एतं सथस्थाः परि	१२३।१, २		१८।५६, ६०	
४१-४३	वनस्पते वीड्वङ्गो	१२५।१-३	६।४७।२६-२८	२६।५२-५४	
४४, ४५	उपश्वासय पृथिवी	१२६।१, ३	६।४७।२६, ३१	२६।५५, ५७	

सू० १ [१७४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥



॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

षष्ठं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ सविता देवता । गायत्री छन्दः ॥

पेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—पेश्वर्य की प्राप्ति के लिये उपदेश ।

दोषो गाय बृहद् गाय व्युमद्ब्रुहि ।

आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

दोषो इति । गाय । बृहत् । गाय । व्यु-मत् । ब्रुहि ।

आथर्वण । स्तुहि । देवम् । सवितारम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आथर्वण) हे निश्चल ब्रह्म के जानने वाले महर्षि ! (देवम्) प्रकाश स्वरूप (सवितारम्) सब के प्रेरक परमात्मा को (दोषो) रात्रि में भी (गाय) गा, (बृहत्) विशाल रूप से (गाय) गा, (व्युमत्) स्पष्ट रीति से (ब्रुहि) धारण कर और (स्तुहि) बढ़ाई कर ॥ १ ॥

१—(दोषो) दोषा+उ । रात्रावपि । अहोरात्रे, इत्यर्थः (गाय) उच्चारय (बृहत्) विशालरूपेण (गाय) (व्युमत्) यथा तथा, प्रकाशेन (ब्रुहि) धारय हृदये (आथर्वण) अथर्वा व्याख्यातः—अ० ४।१।७। तदधीते तद्वेद । पा० ४।२।५६। इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६।४।६७। इति टिलोपाभावः । अथर्वाणं निश्चलस्वभावं परमात्मानं यो महर्षिर्वेद जानाति

भूरि । उभे इति । सुस्तुती इति सु-स्तुती । सु-गातवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (घ) ही (देवः) प्रकाश स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (उभे) दोनों [प्रातः सायंकालीन] (सुष्टुती) सुन्दर स्तुतियों को (सुगातवे) अच्छे प्रकार गाने के लिये (नः) हमें (भूरि) बहुत से (अमृतानि) अक्षय सुख (साविषत्) देता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की सदा स्तुति करते हुये आत्मबल बढ़ाकर अक्षय सुख प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

परमैश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—परम ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।

स्तुतुर्यो वचः शृण्वद्भुवँ च मे ॥ १ ॥

इन्द्राय । सोमम् । ऋत्विजः । सुनोत । आ । च । धावत ।

स्तुतुः । यः । वचः । शृण्वत् । हवम् । च । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋत्विजः) हे ऋतु ऋतुओं में यज्ञ करने वाले पुरुषो ! (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा के लिये (सोमम्) अमृत रस [तत्त्व-ज्ञान] (सुनोत) निचोड़ो (च) और (आ) अच्छे प्रकार (धावत) शोधो ।

३—(सः) प्रसिद्धः (घ) सांहितिको दीर्घः । एव (नः) अस्मभ्यम् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) सर्वप्रेरयिता (साविषत्) पू प्रेरणे, लेटि अडागमः । सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः । वा० पा० ३ । १ । ३४ । इति वृद्धौ सत्यामावा-देशः । प्रेरयेत् (अमृतानि) अ० ४ । ८ । ३ । अक्षयसुखानि (भूरि) भूगीणि । बहूनि (उभे) प्रातःसायंकालीने, तदुपलक्षिते सर्वकाले-इत्यर्थः (सुष्टुती) शोभने स्तुती (सुगातवे) गायतेस्तुमर्थे तवेप्रत्ययः । सुष्टु गातुम् ॥

१—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (सोमम्) अ० ३ । १६ । १ । अमृतरसम् । तत्त्वबोधम् (ऋत्विजः) ऋत्विग्दधृक्० । पो० ३ । २ । ५४ । इति ऋतु + यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—किन् । हे ऋतौ ऋतौ याजकाः । देव-पूजकाः (सुनोत) अभिषुणुत (आ) समन्तात् (च) (धावत) धावु गति-

(११७६)

अथर्ववेदभाष्ये

सु० १ [१७४]

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर के गुणों को हृदय में धारण करके संसार में सदा प्रकाशित करे ॥ १ ॥

तम्^१ स्तुहि यो अन्तः सिन्धौ^२ सुनुः ।

सत्यस्य युवानुमद्रो^३ घवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

तम् । ज_ इति । स्तुहि । यः । अन्तः । सिन्धौ^४ । सुनुः ।

सत्यस्य^५ । युवानम् । अद्रोघ-वाचम् । सु-शेवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (सत्यस्य) सत्य का (सुनुः) प्रेरक परमात्मा (सिन्धौ अन्तः) समुद्र [हृदय आदि गहरे स्थान] के भीतर है, (तम् उ) उस ही (युवानम्) संयोग वियोग करने वाले, अथवा महाबली, (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी वाले, (सुशेवम्) अत्यन्त सुख देने वाले परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमात्मा कल्याण वाणी वेदविद्या द्वारा दुःखों को हटा कर मोक्ष पद देता है, उसकी महिमा जान कर मनुष्य सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।

उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

सः । घ । नुः । देवः । सविता । साविषत् । अमृतानि ।

तत्सम्बुद्धौ (स्तुहि) प्रशंस (देवम्) प्रकाशस्वरूपम् (सवितारम्) पू प्रेरणे—तृच् । सर्वप्रेरकं जगदीश्वरम् ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (स्तुहि) प्रशंस (यः) परमात्मा (अन्तः) मध्ये (सिन्धौ) स्यन्दनशीले समुद्रे, हृदयादि गम्भीरदेशे (सुनुः) सुवः कित् । उ० ३ । ३५ । इति पू प्रेरणे-नु । प्रेरकः (सत्यस्य) यथार्थस्य वेदज्ञानस्य (युवानम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः—कनिन् । संयोजकवियोजकम् । बलवन्तम् (अद्रोघवाचम्) द्रुह जिघांसायाम्-घञ्, हस्य घः । द्रोहरहितवाग्युक्तम् । कल्याणवाणिं परमेश्वरम् (सुशेवम्) अ० ४ । २५ । ५ । अतिशयेन सुखकरम् ॥

(१९७८)

अधर्ववेदभाष्ये

सू० २ [१७५]

(यः) जो परमेश्वर (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (मे) मेरे (वचः) वचन (च) और (हवम्) पुकार को (शृणवत्) सुने ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का तत्त्व ज्ञान प्राप्त करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः ।

विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

आ । यम् । विशन्ति । इन्दवः । वयः । न । वृक्षम् । अन्धसः ।

वि-रप्शिन् । वि । मृधः । जुहि । रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिसमें (इन्दवः) असृत रस वा ऐश्वर्य (आ) आकर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (न) जैसे (वयः) पक्षी (अन्धसः) अन्न के (वृक्षम्) वृक्ष में । [वह तू] (विरप्शिन्) हे महागुणी परमेश्वर ! (रक्षस्विनीः) राक्षसों [विघ्नों] से युक्त (मृधः) हिंसाकारिणी सेनाओं [कुवासनाओं] को (वि) विविध प्रकार से (जहि) नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों को साक्षात् करके अपनी विघ्नकारक कुवासनाओं को दूर करके पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

सुनोता सोमपाव् सोममिन्द्राय वज्रिणो ।

शुद्धयोः, णिजर्थः । शोधयत (स्तोतुः) स्तावकस्य (वचः) वाक्यम् (शृणवत्) श्रु श्रवणे, लेटि. अडागमः । शृणुयात् (हवम्) आह्वानम् (च) (मे) मदीयम् ॥

२—(आ) आगत्य (यम्) इन्द्रम् (विशन्ति) प्रविष्टा भवन्ति (इन्दवः) उन्देरिच्छादेः । उ० १ । १२ । इति उन्दी क्लेदने—उप्रत्ययः, उकारस्य इत्वम् । यद्वा, इदि परमैश्वर्ये—उप्रत्ययः । असृतरसाः । ऐश्वर्याणि (वयः) वातेर्दिच्च । उ० ४ । १३४ । इति वा गतौ—इण्, स च डित् । पक्षिणः (न) उपमार्थे (वृक्षम्) (अन्धसः) अदेर्नुम् धश्च । उ० ४ । २०६ । इति अद भक्षणे—असुन्, दस्य धः । अन्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति—निरु० ५ । १ । अन्नस्य । फलराशेः (विरप्शिन्) अ० ५ । २६ । १३ । हे महागुणिन् (वि) विविधम् (मृधः) अ० १ । २१ । २ । हिंसिकाः सेनाः । कुवासनाः (जहि) नाशय (रक्षस्विनीः) रक्षोभिर्वाधकैर्विघ्नैरुपेताः ॥

सू० ३ [१७६]

षष्ठं काण्डम् ॥

(११७८)

युवा जेतेशानः स पुरुषुतः ॥ ३ ॥

सुनोत । सोम-पावने । सोमम् । इन्द्राय । वज्रिणे ।

युवा । जेता । ईशानः । सः । पुरु-स्तुतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सोमपावने) ऐश्वर्य की रक्षा करने वाले, (वज्रिणे) वज्र वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (सोमम्) अमृत रस (सुनोत) निचोड़ो । (सः) वह (युवा) संयोग वियोग करने वाला वा महाबली, (जेता) विजयी, (ईशानः) ईश्वर (पुरुषुतः) सबसे स्तुति किया गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्यों को विचारता हुआ अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ पथ्या बृहती २, ३ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणायोपदेशः—वृद्धि करने के लिये उपदेश ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः । अपां नपात् सिन्धवः सुप्त पातन् पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥
पातम् । नः । इन्द्रापूषणा । अदितिः । पान्तु । मरुतः ।
अपाम् । नपात् । सिन्धवः । सुप्त । पातन् । पातु । नः ।
विष्णुः । उत । द्यौः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रापूषणा) हे बिजुली और वायु (नः) हमें (पातम्)

३—(सुनोत) अभिषुषुत (सोमपावने) आतो मनिक्कनिव्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति सोम + पा रक्षणे—वनिप् । ऐश्वर्यरक्षकाय (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्राय) परमेश्वराय (वज्रिणे) वज्रोपेताय (युवा) सू० १ । २ । संयोजकवियोजकः । महाबली (जेता) विजयी (ईशानः) ईश ऐश्वर्य-लटः शानच् । ईश्वरः (सः) इन्द्रः (पुरुषुतः) पुरुभिः सर्वैः स्तुतः प्रशंसितः ॥

१—(पातम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् (इन्द्रापूषणा) इन्द्रश्च पूषा

(११८०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३ [१७६]

वचावो । (अदितिः) अदीन प्रकृति और (मरुतः) विद्वान् लोग (पान्तु)
बचावें । (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले, अग्नि [शरीर बल]
और (सप्त) हे नित्य सम्बन्ध वाले वा सात (सिन्धवः) गतिशील [त्वचा,
नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (पातन) बचाओ (विष्णुः)
सर्वव्यापक परमेश्वर (उत) और (द्यौः) प्रकाशमान बुद्धि (नः) हमें (पातु)
बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को विचारता हुआ बिजुली
आदि पदार्थों से उपकार लेकर रक्षा करे ॥ १ ॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु
सोमो नो अंहसः । पातु' नो देवी सुभगा सरस्वती
पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

पाताम् । नः । द्यावापृथिवी इति । अभिष्टये । पातु' ।
ग्रावा । पातु' । सोमः । नः । अंहसः । पातु' । नः । देवी ।
सु-भगा । सरस्वती । पातु' । अग्निः । शिवाः । ये ।
अस्य । पायवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (नः) हमें (अभिष्टये)

च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्य आनङ् । हे विद्युद्वायू
(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना प्रकृतिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ० १ ।
२० । १ । ऋत्विजः—निघ० ३ । ३८ । विद्वांसः (अपाम्) जीवानाम्—दयानन्द-
भाष्ये, य० १७ । ३० । (नपात्) अ० १ । १३ । २ । न पातयिता । अग्निः । शारी-
रिकबलमित्यर्थः (सिन्धवः) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीलाः । सप्त ऋषयः षड्-
न्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनो-
बुद्ध्यः (सप्त) अ० ४ । ११ । ६ । समवेताः । संख्यावाचको वा । (पातन) तप्त-
नप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति मध्यमपुरुषस्य तशब्दस्य तन आदेशः ।
पात । रक्षत (पातु) रक्षतु (नः) अस्मान् (विष्णुः) अ० ३ । २० । ४ । सर्व-
व्यापकः परमेश्वरः (उत) अपि च (द्यौः) प्रकाशमाना बुद्धिः ॥

२—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमि

सू० ३ [१७६]

षष्ठं काण्डम् ॥

(११८१)

अभीष्ट सिद्धि के लिये (पाताम्) बचावे (आवा) मेघ (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (पातु) बचावे और (सोमः) जल (पातु) बचावे । (देवी) व्यवहार वाली, (सुभगा) सुन्दर पेश्वर्य देने वाली (सरस्वती) विज्ञान वाली वेद विद्या (नः) हमें (पातु) बचावे, (अग्निः) अग्नि विद्या (पातु) बचावे और (ये) जो (अस्य) इसके (शिवाः) सुख दायक (पायवः) रक्षक गुण हैं [वे भी बचावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य पृथिवी आदि और वेद द्वारा अनेक शिल्प आदि पदार्थ विद्याये सिद्ध करके आनन्द भोगे ॥ २ ॥

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तो न उरु-
ष्यताम् । अपा नपादभिहुती गयस्य चित् देव त्वष्ट-
वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

पाताम् । नः । देवा । अश्विना । शुभः । पती इति । उषा-
सानक्ता । उत । नः । उरुष्यताम् । अपाम् । नपात् । अभि-
हुती इत्यभि-हुती । गयस्य । चित् । देव । त्वष्टः ।
वर्धय । सर्व-तातये ॥ ३ ॥

भावार्थ—(देवा) व्यवहार में चतुर, (शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता (नः) हमें (पाताम्) बचावे, (उत) और (उषासानक्ता) दिन और रात (नः) हमें

(अभिष्टये) अ० १ । ६ । १ । पररूपम् । अभीष्टसिद्धये (पातु) रक्षतु (आवा) अ० ३ । १० । ५ । मेघः—निघ० १ । १० । (पातु) (सोमः) जलम् (नः) (अंहसः) अ० २ । ४ । ३ । कष्टात् (पातु) (नः) (देवी) व्यवहारिणी (सुभगा) शोभनानि भगानि धनानि यस्याः सा सुष्ट्वैश्वर्यप्रदा (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (पातु) (अग्निः) अग्निविद्या (शिवाः) सुखकराः (ये) (अस्य) अग्नेः (पायवः) कृपापा० । उ० । १ । १ । इति पा रक्षणे-
ण युक् च । रक्षका गुणाः ॥

३—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (देवा) व्यवहारकुशलौ

(११८२)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४ [१७७]

(उरुथताम्) वचावे । (अपास्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले (देव)
प्रकाशमान (त्वष्टः) विश्वकर्मा परमेश्वर ! (अभिहृती) कुटिल दशा में
वर्तमान (गयस्य) घर के (सर्वतातये) सम्पूर्ण सुख के लिये [हमें] (चित्)
अवश्य (वर्धय) बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर, बल पराक्रम
बढ़ाकर, दरिद्रता आदि हटाकर सुखी होवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ १ परमेश्वरः; २ मन्त्रोक्ताः; ३ अश्विनौ
देवते ॥ १ आस्तारपङ्क्तिः; २, ३ विराट् छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सब की रक्षा का उपदेश ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पुर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

पुत्रैर्भातृभिरदितिनुं पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥

त्वष्टा । मे । दैव्यम् । वचः । पुर्जन्यः । ब्रह्मणः । पतिः । पुत्रैः ।
भातृ-भिः । अदितिः । नु । पातु । नः । दुस्तरम् । त्राय-
माणम् । सहः ॥ १ ॥

(अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ (शुभः) शुभ
दीप्तौ—किप् । शोभनस्य कर्मणः । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति
विसर्गस्य सत्वम् (पती) पालकौ (उषासानक्ता) अ० ५ । १२ । ६ । अहोरात्रे
(उत) अपि च (नः) अस्मान् (उरुथताम्) उरुथती रक्षाकर्मा—निघ० । ५ ।
२३ । रक्षताम् (अपां नपात्) म० १ हे जीवानां न पातयितः (अभिहृती)
अभि+हृ कौटिल्ये—क्तिन्, छान्दसं रूपम् । सुपां सुलक्० । पा० ७ । १ । २६ ।
इति पूर्वसवर्णत्वात् सप्तभ्या ईकारः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १६ ।
इति प्रगृह्यत्वम् । अभिहृती सर्वतः कुटिलदशायां वर्तमानस्य (गयस्य) अघ्न्या-
दयश्च । उ० ४ । १२ । इति गल्मृ-यक् निपातनात् साधुः । गृहस्य—निघ० ३ ।
४ (चित्) एव (देव) हे प्रकाशमान (त्वष्टः) अ० २ । ५ । ६ । हे विश्व-
कर्मन् परमात्मन् (वर्धय) अस्मान् समर्धय (सर्वतातये) सर्वदेवात् तातिल ।
पा० ४ । ४ । १४२ । इति तातिल् स्वार्थे । सर्वस्मै सुखाय ॥

[१७७] सू० ४

षष्ठं काण्डम् ॥

(११८३)

भाषार्थ—(त्वष्टा) सब का बनाने वाला, (पर्जन्यः) सींचने वाला (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड का (पतिः) रक्षक, (अदितिः) अविनाशी परमेश्वर (पुत्रैः) पुत्रों और (भ्रातृभिः) भ्राताओं के सहित (मे) मेरे (दैव्यम्) देवताओं के हितकारक (वचः) वचन को और (नः) हमारे (दुस्तरम्) अजेय, (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाले (सहः) बल की (तु) शीघ्र (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना प्रार्थना करते हुये पूर्ण बल प्राप्त करके अपने कुटुम्बियों की रक्षा करें ॥ १ ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अपु तस्य द्वेषो गमेदभिहुतो यावयच्छुमन्तितम् ॥२॥
अंशः । भगः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । अदितिः । पान्तु ।
मरुतः । अप । तस्य । द्वेषः । गमेत् । अभि-हुतः । यवयत् ।
शत्रुम् । अन्तितम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अंशः) विभाग करने वाला, (भगः) सेवने योग्य (वरुणः) आपान वायु, (मित्रः) प्राण वायु, (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य, और (अदितिः) अदीन भूमि (मरुतः) शूर देवताओं की (पान्तु) रक्षा करें । वे (अभिहुतः) कुटिल शील (तस्य) हिंसक चोर के (द्वेषः) दुष्टता को

१—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सर्वस्वष्टा (मे) मम (दैव्यम्) देव-यज्ञ । देवहितम् (वचः) वाक्यम् (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । सेचकः (ब्रह्मणः) प्रवृद्धस्य जगतः (पतिः) पालकः (पुत्रैः) अस्माकं सुतैः सह (भ्रातृभिः) सहोदरैः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अविनाशी परमेश्वरः (तु) क्षिप्रम् (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (दुस्तरम्) दुस्तरणीयम् । अजेयम् (त्रायमाणम्) रक्षकम् (सहः) बलम् ॥

२—(अंशः) विभाजकः (भगः) भजनीयः । सेवनीयः (वरुणः) आपानः (मित्रः) प्राणः (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशक आदित्यः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना भूमिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूरान् देवान् (अप) दूरीकरणे (तस्य) तद् हिंसायाम्-ड । हिंस-

(अप गमेत् = गमयेयुः) हटा देवे और (अन्तितम्) बन्ध में डालने वाले
 (शत्रुम्) शत्रु को (यवयत् = यवयेयुः) पृथक् करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भीतरी और बाहिरी अवस्था को सुधार कर अपने
 दोषों का नाश करके उन्नति करें ॥ २ ॥

धिये समंश्विना प्रावतं न उरुष्या णं उरुज्मन्प्रयु-
 च्छन् । द्यौः ३ पितर्यावयं दुच्छुना या ॥ ३ ॥

धिये । सम् । अश्विना । प्र । अवतम् । नः । उरुष्य । नः ।
 उरु-ज्मन् । अप्र-युच्छन् । द्यौः । पितः । यवयं । दुच्छुना । या ३

भावार्थ—(अश्विना) हे सब कामों में व्यापक रहने वाले माता पिता !
 (धिये) सत् कर्म वा सत् बुद्धि के लिये (नः) हमारी (सम्) मिलकर (प्र)
 अच्छे प्रकार (अवतम्) रक्षा करो । (उरुज्मन्) हे विस्तीर्ण गति वाले पर-
 मात्मन् ! (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ तू (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा
 कर । (द्यौः) हे प्रकाशमान (पितः) पिता परमेश्वर ! (या) जो (दुच्छुना)
 दुर्गति है [उसको] (यवयं) तू हटा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता इस प्रकार शिक्षा दें जिस से उनके संतान
 ईश्वर आज्ञा पालन करके ऐश्वर्यवान् हों ॥ ३ ॥

कस्य । चोरस्य (द्वेषः) द्विष-असुन् । अप्रोतिम् (गमेत्) अन्तर्गतणिजर्थः,
 बहुवचनस्यैकवचनम् । गमयेयुः (अभिहतः) हू कौटिल्ये—क्लिप् । कुटिलस्य
 (यवयत्) यु मिश्रणामिश्रयणयोः—एयन्ताल्लेटि अडागमो वृद्धयभावो
 बहुवचनस्यैकवचनं च । यवयेयुः पृथक् कुर्युः (शत्रुम्) वैरिणम् (अन्तितम्)
 अति बन्धने-कर्तरि क्तः । बन्धकम् ॥

३—(धिये) धीः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ ।
 ६ । सत्कर्मणे सद्बुद्धये वा (सम्) संगत्य (अश्विना) सू० ३ । ३ । कर्मसु व्या-
 पनशीलौ मातापितरौ (प्र) प्रकर्षणे (अवतम्) रक्षतम् (नः) अस्मान्
 (उरुष्य) सू० ३ । ३ । रक्ष (नः) (उरुज्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ ।
 १४५ । इति उरु + अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः । हे विस्तीर्णगते
 परमात्मन् (अप्रयुच्छन्) अ० २ । ६ । ३ । अप्रमाद्यन् (द्यौः) हे प्रकाशमान
 (पितः) पालक परमेश्वर (यवयं) अपगमय (दुच्छुना) अ० ५ । १७ । ४ ।
 दुर्गतिः (या) या, तामपि ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

धनजीवनवर्धनोपदेशः—धन और जीवन की वृद्धि का उपदेश ॥

उदेनमुत्तरं नयाग्नै घृतेनाहुत ।

समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहु कृधि ॥ १ ॥

उत् । एनम् । उत्-तरम् । नय । अग्ने । घृतेन । आ-हुत ।

सम् । एनम् । वर्चसा । सृज । प्र-जया । च । बहुम् । कृधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(घृतेन) घृत से (आहुत) आहुति पाये हुये (अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी परमेश्वर ! (एनम्) इस पुरुष को (उत्तरम्) अधिक ऊँचा (उत् नय) उठा । (एनम्) इस को (वर्चसा) तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) प्रजा से (बहुम्) प्रवृद्ध (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से तेजस्वी होकर अपना सामर्थ्य और प्रजा बढ़ावे ॥ १ ॥

इन्द्रे मं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी ।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जुरसे नय ॥ २ ॥

इन्द्र । इमम् । प्र-तरम् । कृधि । स-जातानाम् । असत् ।

वशी । रायः । पोषेण । सम् । सृज । जीवातवे । जुरसे । नय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (प्रतरम्) अधिक ऊँचा (कृधि) कर, यह (सजातानाम्) समान

१—(उत् नय) उर्ध्व प्रापय (एनम्) उपासकम् (उत्तरम्) उन्नतं पदम् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् परमात्मन् (घृतेन) आज्येन (आहुत) प्राप्ता-हुते (सम् सृज) संयोजय (एनम्) (वर्चसा) तेजसा (प्रजया) सन्तान-भृत्यादिना (च) (बहुम्) लङ्घिष्वहोर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इति बहि वृद्धौ—कु । प्रवृद्धम् (कृधि) कुरु ॥

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् भगवन् (इमम्) धर्मात्मानम् (प्रतरम्) अधिकप्रवृद्धम् (कृधि) कुरु (सजातानाम्) समानजन्मनां बन्धूनाम् (असत्)

(११८६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५ [१७८]

जन्म वाले बन्धुओं का (वशी) वश में रखने वाला, अधिष्ठाता (असत्) होवे । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (समृ सृज) संयुक्त कर और (जीवातवे) बड़े जीवन के लिये और (जरसे) स्तुति के लिये (नय) आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन करके अपने बन्धुओं को उत्तम बर्ताव से वश में रख कर धन की वृद्धि करके पूर्ण यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यस्य कृणमो हविर्गृहे तमग्ने वर्धय त्वम् ।

तस्मै सोमो अधि ब्रवदुयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

यस्य । कृणमः । हविः । गृहे । तम् । अग्ने । वर्धय । त्वम् ।

तस्मै । सोमः । अधि । ब्रवत् । अयम् । च । ब्रह्मणः । पतिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (हविः) देने और लेने योग्य व्यवहार (कृणमः) हम करते हैं, (तम्) उस को (अग्ने) हे सर्व-व्यापक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा । (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (अयम्) यह (सोमः) ऐश्वर्यवान् (च) और (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक पुरुष (अधि) अधिक (ब्रवत्) कथन करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य सबका हितैषी होवे वह परमेश्वर के अनुग्रह से वृद्धि करके ऐश्वर्यशाली विद्वानों में बढ़ाई पावे ॥ ३ ॥

सवेत् (वशी) वशयिता । अधिष्ठाता (रायः) धनस्य (पोषेण) वर्धनेन (समृ सृज) संयोजय (जीवातवे) जीवेरातुः । उ० १ । ७८ । इति जीव प्राण-धारणे—आतु । चिरजीवनाय (जरसे) अ० १ । ३० । २ । स्तुतये (नय) प्रेरय ॥

३—(यस्य) धार्मिकस्य (कृणमः) कुर्मः (हविः) दातव्यं आह्वं कर्म (गृहे) निवासे (तम्) (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (वर्धय) समर्धय (त्वम्) (तस्मै) पूर्वोक्ताय पुरुषाय (सोमः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (अधि) अधिकम् (ब्रवत्) कथयेत् (अयम्) प्रसिद्धः (च) (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) पालकः ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ ब्रह्मणस्पतिः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

यो३स्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते ।

सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यः । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अदेवः । अभि-मन्यते ।

सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणः पते) हे ब्रह्माण्ड के रक्षक! (यः) जो (अदेवः) नास्तिक वा कुव्यवहारी पुरुष (अस्मान्) हम से (अभिमन्यते) अभिमान करता है। (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्व मथन करने वाले, (यजमानाय) विद्वानों का आदर करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का ध्यान करता हुआ विवेक पूर्वक यथावत् परीक्षा करके विघ्नों का नाश करे ॥ १ ॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंसं आदिदेशति ।

वज्रैणास्य मुखं जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

यः । नः । सोम । सु-शंसिनः । दुः-शंसः । आ-दिदेशति ।

वज्रैण । अस्य । मुखं । जहि । सः । सस्-पिष्टः । अप । अयति २

१—(यः) (अस्मान्) धार्मिकान् प्रति (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य जगतः (पते) रक्षक परमात्मन् (अदेवः) नास्तिकः कुव्यवहारी वा (अभिमन्यते) अभिमानं करोति (सर्वम्) निःशेषम् (तम्) अदेवम् (रन्धयासि) रन्धयति-वर्षशमने—निरु० १०।४०। रघु हिंसासंराद्धयोः—एयन्ताह्लेष्टि, आडागमः। रघिजमोरचि। पा० ७।१।६१। इति तुम्। वशीकुर्याः (मे) मह्यम् (यजमानाय) देवपूजकाय। संयोजकवियोजकाय (सुन्वते) अ० ४।३०।६। तत्त्वमथनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (दुःशंसः) अति दुर्गति वाला शत्रु (सुशंसिनः) बड़ी स्तुति वाले (नः) हम लोगों पर (आदिदेशति) आदेश वा आज्ञा करे । (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) ताड़ना कर । (सः) वह (संपिष्टः) चूर चूरहोकर (अप अयति) भाग जावे ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर से सामर्थ्य पाकर शत्रुओं को वश में रखे ॥ २ ॥

यो नः सोमाभिदासन्ति सनाभिर्यश्च निष्ठयः ।

अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्विधुत्मना ॥ ३ ॥

यः । नः । सोम । अभि-दासन्ति । स-नाभिः । यः । च । निष्ठयः ।
अप । तस्य । बलम् । तिर । मही-इव । द्यौः । विधुत्मना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो कोई (सनाभिः) अपना सपिण्डी (च) और (यः) जो कोई (निष्ठयः) म्लेच्छ (नः) हमें (अभिदासति) सताता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (सुशंसिनः) शंसु स्तुतौ दुर्गतौ च—णिनि । बहुस्तुतियुक्तान् (दुःशंसः) शंसु—पचायच् । अतिदुर्गतिः । महादुष्टाभिप्रायः (आदिदेशति) आङ् + दिश आदेशे, द्वित्वं शप् च छान्दसम् । आदिशति आज्ञापयति । शास्ति (वज्रेण) वर्जकेन शस्त्रेण (अस्य) शत्रोः (मुखे) वदने (जहि) ताडय (सः) शत्रुः (संपिष्टः) चूर्णीभूतः सन् (अप अयति) अप गच्छति । पलायते ॥

३—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) परमैश्वर्यवान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति (सनाभिः) एरुदेहोत्पन्नत्वेन तुल्यता-भिता । समाननाभिः । ज्ञातिः । सपिण्डः (यः) (च) (निष्ठयः) अ० ३ । ३ । ६ । निस—त्यप् । म्लेच्छः (अप तिर) नाशय (तस्य) शत्रोः (बलम्) सामर्थ्यम् (मही) महती । विस्तीर्णा (इव) यथा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (विधुत्मना) हनश्च वधः । पा० ३ । ४ । ७६ । इति हन—अप्, वधादेशः

सू० ७ [१८०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(११८८)

(वधत्मना) अपने वज्र रूप स्वभाव से (अप तिर) गिरा दे, (१४) जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य [अन्धकार को] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल बढ़ा कर प्रत्येक शत्रु का नाश करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१-३ ॥ १, २, सोमः, ३ देवा देवताः ॥ गायत्री छन्दः ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः

तेना नोऽवसा गहि ॥ १ ॥

येन । सोम । अदितिः । पथा । मित्राः । वा । यन्ति । अद्रुहः ।

तेन । नः । अवसा । आ । गहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े पेश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (येन पथा) जिस मार्ग से (अदितिः) अदीन पृथिवी (वा) और (मित्राः) प्रेरणा करने वाले सूर्य आदि लोक (अद्रुहः) द्रोह रहित होकर (यन्ति) चलते हैं । (तेन) उसी से (अवसा) रक्षा के साथ (नः) हमें (आ गहि) आकर प्राप्त हो ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वेद पथ पर चल कर प्रीतिपूर्वक परस्पर रक्षा करें, जैसे सूर्यादि लोक परस्पर आकर्षण से परस्पर उपकार करते हैं ॥ १ ॥

येन सोम साहुन्त्यासुरान् रुन्धयासि नः ।

तेना नो अधि वोचत ॥ २ ॥

मन्त्रेष्वाङ्ग्यादेरात्मनः । पा० ६ । ४ । १४१ । इति आकारलोपः । वज्ररूपेण स्वभावेन ॥

१—(येन) (सोम) परमैश्वर्यवान् (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना पृथिवी (पथा) मार्गेण (मित्राः) अ० ३ । ८ । १ । इमि अप्रक्षेपणे—कृत्र । प्रेरकाः सूर्यादिलोकाः (वा) चार्थे (यन्ति) संचरन्ति (अद्रुहः) अद्रो-ग्धारः सन्तः (तेन) पथा (नः) अस्मान् (अवसा) रक्षणेन सह (आ गहि) आगच्छ ॥

येन । सोम । साहन्त्य । असुरान् । रन्धयासि । नः । तेन ।
नः । अधि । वोचत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(साहन्त्य) हे विजयी शूरों में रहने वाले (सोम) बड़े
ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुरान्) असुरों को
(नः) हमारे लिये (रन्धयासि) तू वश में करे, (तेन) उसीसे (नः) हमारे
लिये (अधि) अनुग्रह से (वोचत=अवोचत) आपने कथन किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी सनातनी वेद विद्या द्वारा भूत, भविष्यत्
और वर्तमान में रक्षा करता है ॥ २ ॥

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् ।

तेन नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

येन । देवाः । असुराणाम् । ओजांसि । अवृणीध्वम् । तेन ।
नः । शर्म । यच्छत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! (येन) जिस [मार्ग] से
(असुराणाम्) असुरों के (ओजांसि) बलों को (अवृणीध्वम्) तुम ने रोका
है, (तेन) उसी से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टोंके जीतने में परस्पर सदा सहायक रहें ३

२—(येन) पथा-म० १ । (सोम) (साहन्त्य) भुवो ऋक् । उ० ३ ।
५० । इति षह अभिभवे—ऋक् । पाथोनदीभ्यां ङ्यण् । पा० ४ । ४ । १११ । इति
सहन्ति-ङ्यण् वाहुलकात् । हे सहन्तिषु सोदृषु जेतुसु भव (असुरान्) सुरविरो-
धिनो दुष्टान् (रन्धयासि) सू० ६ । १ । त्वं वशीकुर्याः (नः) अस्मदर्थम् (नः)
(अधि) अधिकम् अनुग्रहपूर्वकम् (वोचत) लुङि प्रथमपुरुषस्य छान्दसं
रूपम् । भवान् कथितवानस्ति ॥

३—(येन) वेदमार्गेण (देवाः) विजिगीषवः शूराः (असुराणाम्)
सुरविरोधिनां शत्रूणाम् (ओजांसि) बलानि (अवृणीध्वम्) वृज्संवरणे—
लङ् । यूयं निवारितवन्तः स्थ (तेन) पथा (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) सुखम्
(यच्छत) पात्राध्मा० । पा० । ३ । ७८ । इति दाण् दाने, यच्छादेशः । दत्त ॥

सू० ६ [१८१]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(११८१)

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-३ ॥ विद्या देवता ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिष्वजे । एवा परि ष्वज-
स्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥
यथा वृक्षम् । लिबुजा । समन्तम् । परि-ष्वजे । एव ।
परि । ष्वजस्व । माम् । यथा । माम् । कामिनी । असः ।
यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (लिबुजा) बढ़ाने वाले आश्रय के साथ उत्पन्न होने वाली, बेल (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परिष्वजे = परिष्वजते) लिपट जाती है । (एव) वैसे ही [हे विद्या] (माम्) मुझ से (परिष्वजस्व) तू लिपट जा, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) विचूरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी पूरा तपश्चरण करके विद्या को इस प्रकार प्राप्त करे जिस से वह सदा स्मरण करके उससे उपकार लेता रहे ॥ १ ॥

इस मंत्र का (यथा माम्—मन्नापगा असः) यह भाग-अ० १ । ३४ । ५ । और २ । ३० । १ । में आया है ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) स्वीकरणीयं द्रुमम् (लिबुजा) पृथिवीव्यधि० । उ० १ । २३ । इति लिप वृद्धौ-कु, पस्य बः । जनी प्रादुर्भावे-ड, टाप् । लिबुना वर्धकेन आश्रयेण सह जायते सा । लता, बह्वी । लिबुजा व्रतति भवति लीयते विभजन्तीति—निरु० ६ । २८ । (समन्तम्) सर्वतः (परिष्वजे) ष्वज्ज परिष्वज्जे, लङर्थे लिट् । परिष्वजते । आश्लिष्यति (एव) तथा (परि ष्वजस्व) आश्लिष्य (माम्) ब्रह्मचारिणम् । अन्यद् यथा-अ० १ । ३४ । ५ । (यथा) यस्मात्कारणात् (माम्) (कामिनी) कामयमाना (असः) त्वं भवेः (यथा) (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अपगाः) अपगन्त्री । वियोगिनी (असः) ॥

(११८२)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८ [१८१]

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् । एवा नि
हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्त्रापगाः
असः ॥ २ ॥

यथा । सु-पर्णः । प्र-पतन् । पक्षौ । नि-हन्ति । भूम्याम् ।
एव । नि । हन्मि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी ।
असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रपतन्) उड़ता हुआ (सुपर्णः) शीघ्र-
गामी पक्षी (पक्षौ) दोनों पंखों को (भूम्याम्) भूमि पर (निहन्ति) जमा
देता है । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (नि हन्मि) मैं
जमाता हूँ, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली...
म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्यार्थी पूरा मन लगा कर विद्या प्राप्त करके उसकी
सफलता करे ॥ २ ॥

यथे मे द्यावापृथिवी सुद्यः पर्येति सूर्यः । एवा पर्येमि
ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्त्रापगा असः ॥ ३ ॥
यथा । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । सुद्यः । परि-एति ।
सूर्यः । एव । परि । एमि । ते । मनः । यथा । माम् । का-
मिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इमे) इस (द्यावापृथिवी) आकाश और

२—(यथा) येन प्रकारेण (सुपर्णः) सुपर्णः सुपतनाः—निरु० ४ । ३
शीघ्रगामी पक्षी (प्रपतन्) उड़ियमानः (पक्षौ) खगानां पतत्रौ (निहन्ति)
नितरां प्राप्नोति स्थापयति (भूम्याम्) पृथिव्याम् (एव) तथा (नि हन्मि)
स्थापयामि (ते) तुभ्यम् (मनः) स्वहृदयम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(यथा) (इमे) परिदृश्यमाने (द्यावापृथिवी) आकाशं भूमिं च

भूमि में (सूर्यः) लोकों का चलाने वाला सूर्य (सद्यः) शीघ्र (पर्येति) व्याप जाता है (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (परि णमि) मैं व्यापक करता हूँ, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) विछूरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य के समान नियम से परिश्रम करके विद्या प्राप्त करते हैं वे परोपकारी होकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

१-३ ॥ दस्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमोपदेशः—गृहस्थ आश्रम का उपदेश

वाञ्छं मे तन्वं १ पादौ वाञ्छाक्षयौ ३ वाञ्छं सक्थ्यौ ।
अक्षयौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१॥
वाञ्छं । मे । तन्वम् । पादौ । वाञ्छं । अक्षयौ । वाञ्छं ।
सक्थ्यौ । अक्षयौ । वृषण्यन्त्याः । केशाः । माम् । ते ।
कामेन । शुष्यन्तु ॥१॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की और (पादौ) दोनों पैरों की (वाञ्छ) कामना कर, (अक्षयौ) दोनों नेत्रों की (वाञ्छ) कामना कर, (सक्थ्यौ) दोनों जंघाओं की (वाञ्छ) कामना कर । (वृषण्यन्त्याः) ऐश्वर्यवान् पुरुष की इच्छा करती हुयी (ते) तेरी (अक्षयौ) दोनों आँखें और (केशाः)

(परि णति) परितो व्याप्नोति (सूर्यः) लोकप्रेरको भास्करः (एव) एवम् (परि णमि) परितः प्राप्नोमि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(वाञ्छ) कामयस्व । इच्छ (मे) मम (तन्वम्) शरीरम् (पादौ) (अक्षयौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (सक्थ्यौ) सक्थिनी जङ्घे । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति ईकारः (वृषण्यन्त्याः) अ० ५ । ५ । १ । वृषाण्य-

केश (कामेन) सुन्दर कामना से (माम्) मुझ को (शुष्यन्तु) सुखावे ॥ १ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष सब अङ्गों से दृष्ट पुष्ट और पुरुषार्थी होकर पूरण युवा अवस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा करें ॥ १ ॥

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम् ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

मम । त्वा । दोषणि-श्रिषम् । कृणोमि । हृदय-श्रिषम् ।

यथा । मम । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझको (मम) अपने (दोषणिश्रिषम्) भुजा पर आश्रय वाली और (हृदयश्रिषम्) हृदय में आश्रय वाली (कृणोमि) मैं करता हूँ । (यथा) जिससे (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥ २ ॥

भावार्थ—पति और पत्नी परस्पर पुरुषार्थ और प्रीति पूर्वक गृहस्थ आश्रम को यथावत् सिद्ध करें ॥ २ ॥

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम् ।

गावो घृतस्य मातरोऽसू सं वानयन्तु ये ॥ ३ ॥

यासां । नाभिः । आ-रेहणम् । हृदि । सस्-वननम् । कृतम् ।

गावः । घृतस्य । मातरः । असूम् । सस् । वानयन्तु । मे ॥ ३ ॥

मिन्द्रम् ऐश्वर्यवन्तम् आत्मन इच्छन्त्याः (केशाः) (माम्) पुरुषम् (ते) तव (कामेन) इष्टमनोरथेन (शुष्यन्तु) शोषयन्तु ॥

२—(मम) (त्वा) त्वाम् (दोषणिश्रिषम्) श्रिषु दाहे, श्रिष आलिङ्गने इति सायणः—किप् । पद्मोमास० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोः शब्दस्य दोषन् । सप्तम्या अलुक् । बाहौ पुरुषार्थे आश्रिताम् (कृणोमि) करोमि (हृदयश्रिषम्) हृदयाश्रिताम् (यथा) यस्मात्कारणात् । अन्यद् व्याख्यातम् । अ० १ । ३४ । २ । (मम) (क्रतौ) कर्मणि बुद्धौ वा (असः) त्वं भूयाः (मम) (चित्तम्) अन्तःकरणम् (उपायसि) उप+आङ्+अय गतौ । उपागच्छसि । आदरेण प्राप्नोषि ॥

सू० १० [१८३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(११८५)

भाषार्थ—(यासाम्) जिन [स्त्रियों] के (हृदि) हृदय में (नाभिः) स्नेह, (आरेहणम्) प्रशंसा और (संवन्नम्) भक्ति (कृतम्) की गयी है, (घृतस्य) घृत की (मातरः) बनाने वाली (गावः) गौयें (अमूम्) उस [पत्नी] को (मे) मेरे लिये (सम्) यथावत् (वनयन्तु) सेवन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर पति पत्नी प्रीति पूर्वक रहते हैं, वहां घृत दुग्ध आदि पदार्थों की बहुतायत होती है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥१०॥

१-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ द्विपदा विराट् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

पृथिव्यै ओत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥१॥
पृथिव्यै । ओत्राय । वनस्पति-भ्यः । अग्नये । अधि-पतये ।
स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओत्राय) श्रवण शक्ति के लिये (पृथिव्यै) पृथिवी को, और (वनस्पतिभ्यः) सेवा करने वालों के रक्तकों वृक्ष आदिकों के लिये (अधिपतये) [पृथिवी के] बड़े रक्तक (अग्नये) अग्नि को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी तत्त्व, और उस से अग्नि द्वारा उत्पन्न पदार्थों के विवेक से श्रवण शक्ति बढ़ावें ॥ १ ॥

३—(यासाम्) आदरार्थं बहुवचनम् । स्त्रीणाम् (नाभिः) बन्धनम् । स्नेहः (आरेहणम्) रिह कथने-ल्युट् । प्रशंसनम् (हृदि) हृदये (संवन्नम्) संभक्तिः (कृतम्) निष्पादितम् (गावः) धेनवः (घृतस्य) आज्यादिपदार्थस्य (मातरः) निर्माज्यः (अमूम्) पत्नीम् (सम्) सम्यक् (वानयन्तु) दीर्घश्छान्दसः । संभजन्ताम् । सेवन्ताम् (मे) मदर्थम् ॥

१—(पृथिव्यै) भूलोकाय (ओत्राय) श्रवणहिताय (वनस्पतिभ्यः) अ० १ । ३५ । ३ । सेवकपालकेभ्यो वृक्षादिभ्यः । तेषां हितायेत्यर्थः (अग्नये) पृथिवीस्थतेजसे (अधिपतये) पृथिव्या रक्तकाय (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी सुन्दरस्तुतिः ॥

(११८६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११ [१८४]

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२॥
 प्राणाय । अन्तरिक्षाय । वयः-भ्यः । वायवे । अधि-पतये ।
 स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राणाय) प्राण के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को, और (वयोभ्यः) अन्न आदि पदार्थों के लिये (अधिपतये) [अन्तरिक्ष के] बड़े रक्षक (वायवे) वायु को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु से उपकार लेकर प्राण और अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करें ॥ २ ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥
 दिवे । चक्षुषे । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याय । अधि-पतये । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—(चक्षुषे) दृष्टि शक्ति के लिये (दिवे) प्रकाश को, और (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों के लिये (अधिपतये) [प्रकाश के] बड़े रक्षक (सूर्याय) सूर्य को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश और सूर्य के आकर्षण आदि गुणों को जानकर दृष्टि और नक्षत्र विद्या प्राप्त करें ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥११॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

शमीमंश्वत्थ आरुहस्तत्र पुं सुवनं कृतम् ।

२—(प्राणाय) प्राणहिताय (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (वयोभ्यः) अ० २ । १० । ३ । अन्नादिपदार्थेभ्यः (वायवे) गमनशीलाय पवनाय (अधिपतये) अन्तरिक्षस्य पालकाय (स्वाहा) सुन्दरस्तुतिः ॥

३—(दिवे) प्रकाशाय (चक्षुषे) दर्शनशक्तये (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्र ज्ञानेभ्यः (सूर्याय) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकाय दिवाकराय (अधिपतये) प्रकाशस्य महारक्षकाय ॥

सू० ११ [१८४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(११८९)

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वामभिरामसि ॥ १ ॥

शमीम् । अश्वत्थः । आरूढः । तत्र । पुं-सुवनम् । कृतम् ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । स्त्रीषु । आ । भिरामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ — (अश्वत्थः) बलवानों में ठहरने वाला पुरुष (शमीम्) शान्त स्वभाव स्त्री के प्रति (आरूढः) आरूढ हो चुकता है, (तत्र) उस काल में (पुंसुवनम्) सन्तान का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया जाता है । (तत्) वह कर्म (वै) हा (पुत्रस्य) कुल शोधक सन्तान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) उस कर्म को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आभिरामसि) हम पहुंचाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—वीर्यवान् पति और शान्त स्वभाव पत्नी यथा विधि परस्पर संयोग करके सन्तान उत्पन्न करें ॥ १ ॥

इस सूक्त का विधान पुंसवन संस्कार में श्री दयानन्दकृत संस्कार विधि में है ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते ।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

पंसि । वै । रेतः । भवति । तत् । स्त्रियाम् । अनु । सिच्यते ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । प्रजा-पतिः । अब्रवीत् ॥ २ ॥

१—(शमीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शम उपशमे-
इन्, डीष् । शमी कर्मनाम-निरु० २ । १ । शान्तस्वभावां स्त्रियम् (अश्वत्थः)
अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः (आरूढः)
अधिगतः (तत्र) तस्मिन् काले (पुंसुवनम्) भूयधू० । उ० २ । ८० । इति षूड
प्रसवे—क्युन् । पुंसो रत्नकस्य सन्तानस्योत्पादनम् (कृतम्) विहितम्
(तत्) पुंसवनम् (पुत्रस्य) कुलशोधकस्य सन्तानस्य (वेदनम्) विदूष्य
लाभे—ल्युट् । लाभकारणम् (तत्) कर्म (स्त्रीषु) पत्नीषु (आभिरामसि)
आ हरामः । प्रापयामः ॥

(११८८)

अथर्ववेदभोष्यै

सू० ११ [१८४]

भाषार्थ—(पुंसि) रक्षा स्वभाव पुरुष में (वै) ही (रेतः) वीर्य (भवति) होता है, (तत्) वह वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) अनुकूल विधि से (सिच्यते) सींचा जाता है । (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) वही (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक ईश्वर ने (अब्रवीत्) बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युवा अवस्था में ही मनुष्य पूर्ण बलवान् और वीर्यवान् होकर उत्तम बलवान् संतान उत्पन्न करे, यह ईश्वर नियम है ॥ २ ॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवालीचीकल्पत् ।

स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधद्दिह ॥ ३ ॥

प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । सिनीवाली । अचीकल्पत् । स्त्रै-
सूयम् । अन्यत्र । दधत् । पुमांसम् । ऊं इति । दधत् । इह ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाली, (सिनीवाली) अन्नवाली (प्रजापतिः) प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने (अचीकल्पत्) यह शक्ति दी है । (अन्यत्र) दूसरे प्रकार में [स्त्री का रज अधिक होने में] (स्त्रैसूयम्) स्त्री जन्म संबन्धी क्रिया (दधत्=दधते) वह [ईश्वर] धारण करता है और (इह) इसमें

२—(पुंसि) अ० ३ । ६ । १ । रक्षणस्वभावे बलवति पुरुषे (वै) एव (रेतः) अ० २ । २८ । ५ । वीर्यम् (भवति) (तत्) रेतः (स्त्रियाम्) पत्न्याम् (अनु) आनुकूल्येन । यथाविधि (सिच्यते) सेचनं क्रियते (तत्) रेतःसेचनम् (वै) (पुत्रस्य) (वेदनम्) प्राप्तिकारणम् (प्रजापतिः) प्रजानां पालकः परमेश्वरः (अब्रवीत्) अकथयत् ॥

३—(प्रजापतिः) प्रजापालिका शक्तिः परमेश्वरः (अनुमतिः) अनु-
कूलबुद्धियुक्ता (सिनीवाली) अ० २ । २६ । २ । अन्नधर्त्री । अन्नवती (अचा-
कल्पत्) कृपू सामर्थ्ये ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम् । समर्थमकरोत् (स्त्रैसूयम्)
राजसूयसूर्य० पा० ३ । १ । ११४ । इति स्त्री + षूङ् प्रसवे—क्यप् । स्त्रीसूय-अण्
सम्बन्धे । कन्याजन्मसम्बन्धि कर्म (अन्यत्र) अन्यप्रकारे । स्त्रीरजआधिक्ये
(दधत्) दध धारणे—लङर्थे लेट् परस्मैपदं च छान्दसम् । ईश्वरो दधते

सू० १२ [१८५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(११८६)

[पुरुष का वीर्य अधिक होने पर] (उ) निश्चय करके (पुमांसम्) वलवान् संतान को (दधत्) वह स्थापित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि वाला, अन्नवान् और प्रजा पालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थ आश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या और पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष संतान उत्पन्न होता है ३॥

सूक्तम् ॥ १२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापनाशनायोपदेशः—पाप नाश करने के लिये उपदेश ॥

परि द्यामिषु सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।

रात्री जगदिवान्यद्दुं सात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

परि । द्याम्-इव । सूर्यः । अहीनाम् । जनिम् । अगमम् । रात्री ।

जगत्-इव । अन्यत् । हंसात् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥ १

भावार्थ—(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (द्याम्) आकाश को, [वैसे ही] (अहीनाम्) सर्पों [सर्प समान दोषों] के (जनिम्) जन्म को (परि) सब ओर से (अगमम्) मैंने जान लिया है । (रात्री इव) जैसे रात्री (हंसात्) सूर्य से (अन्यत्) अन्य (जगत्) जगत् का [ढक लेती है], (तेन) उसी प्रकार से ही [हे मनुष्य] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—योगी मनुष्य दोषों के कारणों को ऐसे जान लेता है जैसे सूर्य आकाशस्थ पदार्थों को, और जैसे रात्री में सब पदार्थ सूर्य को छोड़ कर अदृष्ट हो जाते हैं वैसे ही उस योगी के पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह पूर्ण ज्ञान से सूर्य समान प्रकाशमान होजाता है ॥ १ ॥

स्थापयति (पुमांसम्) पुरुषसन्तानम् (उ) अवश्यम् (दधत्) (इह) अस्मिन्वधौ । पुरुषवीर्याधिक्ये ॥

१—(परि) परितः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (इव) यथा (सूर्यः) भास्करः (अहीनाम्) अ० २ । ५ । ५ । आहननशीलानां सर्पाणां दोषाणां वा (जनिम्) अ० १ । ८ । ४ । जन्म (अगमम्) गतवान् ज्ञातवानस्मि (रात्री) निशा (जगत्) प्राणिजातम् (इव) यथा (अन्यत्) इतरत् (हंसात्) वृत्त-वदि० । उ० ३ । ६२ । इति हन हिंसागत्योः—स । हंसासः, अश्वाः—निघ० १ । १४ । हंसा हन्तेर्घन्त्यध्वानम्—निरु० ४ । १३ । हंसाः सूर्यरश्मयः—निरु० १४ । २६ । गमनशीलात् सूर्यात् (तेन) प्रसिद्धप्रकारेण (ते) तव । आत्मनः (वारये) निवारयामि (विषम्) विषरूपं पापम् ॥ ४

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा । यद् भूतं
भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

यत् । ब्रह्म-भिः । यत् । ऋषि-भिः । यत् । देवैः । विदितम् ।
पुरा । यत् । भूतम् । भव्यम् । आसन्-वत् । तेन । ते ।
वारये । विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ज्ञान] (ब्रह्मभिः) वेद जानने वाले, ब्रह्मणों करके,
(यत्) जो (ऋषिभिः) सन्मार्गदर्शक ऋषियों करके और (यत्) जो (देवैः)
व्यवहार कुशल महात्माओं करके (पुरा) पूर्व काल में (विदितम्) जाना गया
है । और (यत्) जो (भूतम्) भूत काल में और (भव्यम्) भविष्यत् काल में
(आसन्वत्) व्याप्ति वाला है, (तेन) उसी से [हे जीव !] (ते) तेरे
(विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर
अपने दोषों का नाश करके सुखी होवे ॥ २ ॥

मध्वा पृञ्चे नद्यः १: पर्वता गिरयो मधु ।

मधु परुष्णी शीपाला शमास्ते अस्तु शं हुदे ॥ ३ ॥

मध्वा । पृञ्चे । नद्यः । पर्वताः । गिरयः । मधु । मधु ।
परुष्णी । शीपाला । शम् । आस्ते । अस्तु । शम् । हुदे ॥३॥

भाषार्थ—(मध्वा) अमृत से [तुझ को] (पृञ्चे) मैं संयुक्त करता
हूं । (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे पहाड़ (मधु)

२—(यत्) ज्ञानम् (ब्रह्मभिः) वेदब्रह्मण्यैः (ऋषिभिः) अ० २ ।
६ । १ । सन्मार्गदर्शकैः (देवैः) व्यवहारकुशलैः (विदितम्) परिज्ञातम्
(पुरा) पूर्वकाले (भूतम्) अतीतकाले भवम् (भव्यम्) भविष्यत्कालीनम्
(आसन्वत्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति आस उपवेशने—
कनिन्, मतुप् च । व्याप्तिम् । अन्यद् गतम् । म० २ ॥

३—(मध्वा) अमृतेन (पृञ्चे) पृची सम्पर्के । संयोजयामि त्वाम्
(नद्यः) (पर्वताः) (गिरयः) क्षद्रशैलाः (मधु) अमृतम् (परुष्णी) अर्तिः

अमृत [होवे] । (परुष्णी) पालन सामर्थ्य वाली, (शीपाला) निद्रा लाने वाली ओषधि (मधु) अमृत [होवे], (आस्ने) तेरे मुख के लिये (शम्) शान्ति और (हृदे) हृदय के लिये, (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पदार्थों से विवेक पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१-३ ॥ मृत्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मृत्युप्रचलत्वोपदेशः ॥ मृत्यु की प्रचलता का उपदेश ॥

नमो देववृधेभ्यो नमो राजवृधेभ्यः ।

अथो ये विश्यानां वृधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥१॥

नमः । देव-वृधेभ्यः । नमः । राज-वृधेभ्यः । अथो इति । ये ।

विश्यानाम् । वृधाः । तेभ्यः । मृत्यो इति । नमः । अस्तु । ते ॥१॥

भाषार्थ—(देववृधेभ्यः) ब्राह्मणों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार और (राजवृधेभ्यः) क्षत्रियों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार है । (अथो) और भी (ये) जो (विश्यानाम्) वैश्यों के (वृधाः) शस्त्र हैं (तेभ्यः) उनको,

पूर्वपि० । उ० २ । ११७ । इति पृ पालनपूरणयोः—उसि । लोमादिपामादि० । पा० ५ । २ । १०० । इति परुष्—न मत्वर्थे । गौरादित्वाद् ङीष् । परुष्णी पर्व-घती भास्वती कुटिलगामिनी—निरु० ६ । २६ । परुष्णीम् । पालिकां नीतिम्—दयानन्दभाष्ये ऋ० ७ । १८ । ६ । पालनवती (शीपाला) शीङो धुक्लक्० । उ० ४ । ३८ । इति शीङ् शयने—बालन्, स च कित् वस्य पः, टाप् । शेते अनया । सुखदायिका यवाद्योषधिः (शम्) शान्तिः (आस्ने) पहनोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति आस्यस्य आसन् । आस्याय मुखाय (अस्तु) (हृदे) हृदयाय ॥

१—(नमः) नमस्कारः । सत्कारः (देववृधेभ्यः) ब्राह्मणानां विद्यारूप-शस्त्रेभ्यः (राजवृधेभ्यः) क्षत्रियाणां हननसाधनेभ्यः शस्त्रेभ्यः (अथो) अपि च (ये) (विश्यानाम्) विश प्रवेशने—अप्य । वैश्यानाम् (वृधाः) धनरूपायु-

और (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यावती, पराक्रमवती और धनवती भी मृत्यु के वश हैं । इस से सब धर्माचरण करते रहें ॥ १ ॥

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः ।

सुमृत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मृत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

नमः । ते । अधि-वाकाय । परा-वाकाय । ते । नमः । सुमृत्यै । मृत्यो इति । ते । नमः । दुः-मृत्यै । ते । इदम् । नमः ॥२॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अधिवाकाय) अनुग्रह वचन को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (परावाकाय) पराजय वचन को (नमः) नमस्कार है । (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (सुमृत्यै) सुमति को (नमः) नमस्कार है और (ते) तेरी (दुर्मृत्यै) दुर्मति को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥२॥

भावार्थ—अनुग्रहकारी, पराजयकारी, सुमति वाले और दुर्मति वाले सब ही मृत्यु वश हैं । मनुष्यों को सदा धर्मात्मा रहना चाहिये ॥ २ ॥

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषुजेभ्यः ।

नमस्ते मृत्यो मूलैभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

नमः । ते । यातु-धानेभ्यः । नमः । ते । भेषुजेभ्यः । नमः । ते । मृत्यो इति । मूलैभ्यः । ब्राह्मणेभ्यः । इदम् । नमः ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) पीड़ाप्रद रोगों को (नमः) नम-

धानि (तेभ्यः) वधेभ्यः (मृत्यो) अ० १ । ३० । ३ । हे मरण (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

२—(नमः) सत्कारः (ते) तव (अधिवाकाय) वच परिभाषणे—यञ्, कृत्यम् । अनुग्रहवचनाय (परावाकाय) पराभववचनाय (सुमृत्यै) शोभानायै बुद्धयै (मृत्यो) हे मरण ! (दुर्मृत्यै) कठोरायै बुद्धयै (इदम्) क्रियमाणम् ॥

३—(नमः) नमस्कारः (ते) तव (यातुधानेभ्यः) अ० १ । ७ । १ ।

सू० १४ [१८७]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१२०३)

स्कार और (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) सुख देने वाले वैद्यों को (नमः) नमस्कार है । (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरे (मूलेभ्यः) कारणों को (नमः) नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः) वेदवेत्ता विद्वानों को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—रोगी और वैद्य मृत्यु के वश हैं, तौ भी मनुष्य रोगों का निदान जानकर पुरुषार्थ करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १४ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः ॥ रोग के नाश का उपदेश ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।

बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

अस्थि-स्रंसम् । परु-स्रंसम् । आ-स्थितम् । हृदय-आमयम् ।

बलासम् । सर्वम् । नाशय । अङ्गे-स्थाः । यः । च । पर्व-सु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे वैद्य !] (अस्थिस्रंसम्) हड्डियां गला देने वाले, (परुस्रंसम्) जोड़ों के ढीला कर देने वाले (आस्थितम्) स्थिर (हृदयामयम्) हृदय रोग, अर्थात् (सर्वम्) सब (बलासम्) बल गिरा देने वाले क्षय रोग [खांसी, कफ आदि] को (नाशय) नाश करदे, (यः) जो (अङ्गेष्ठाः) अङ्ग अङ्ग में बैठा हुआ (च) और (पर्वसु) सब जोड़ों में है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा रोगों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा अविद्या का नाश करें ॥ १ ॥

पीडाप्रदेभ्यो रोगेभ्यः (भेषजेभ्यः) अ० १ । ४ । ४ । भेषं भयं जयतीति । भेषजं सुखनाम—निघ० ३ । ६ । सुखकरेभ्यो वैद्येभ्यः (मृत्यो) (मूलेभ्यः) मूल प्रतिष्ठायाम्—क । मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा—निरु० ६ । ३ । कारणेभ्यः । निदानेभ्यः । (ब्राह्मणेभ्यः) वेदविद्भ्यः (इदम्) ॥

१—(अस्थिस्रंसम्) स्रंसु पतने—पचाद्यच । अस्थिनां स्रंसः स्रंसनं पतनं यस्मात् तं रोगम् (परुस्रंसम्) परुषां पर्वणां शरीरसन्धिनां पतनं यस्मात् तम् (आस्थितम्) समन्ताद् व्याप्य स्थितम् (हृदयामयम्) हृद्रोगम् (बलासम्) अ० ४ । ६ । ८ । बलस्य असितारं कासकफादित्तरोगम् (सर्वम्) निःशेषम् (नाशय) उन्मूलय (अङ्गेष्ठाः) अङ्गे + ष्ठा-विच् । हस्तपादाद्यङ्गेषु स्थितः (यः) (बलासः) (च) (पर्वसु) शरीरसन्धिषु वर्तते ॥

निर्वलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्कुरं यथा ।

क्षिन्नक्यस्य बन्धनं मूलमुर्वावा इव ॥ २ ॥

निः । बलासम् । बलासिनः । क्षिणोमि । मुष्कुरम् । यथा ।
क्षिन्नादि । अस्य । बन्धनम् । मूलम् । उर्वावाः-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बलासिनः) क्षय रोग वाले से (बलासम्) बल घटाने वाले क्षय रोग को (निः क्षिणोमि) उखाड़ कर नाश करता हूँ (यथा) जैसे (मुष्कुरम्) कतरन को । (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) बन्धन को (क्षिन्नादि) काटे डालता हूँ, (इव) जैसे (उर्वावाः) ककड़ी की (मूलम्) जड़ को ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सदैव रोग का कारण समझ कर शीघ्र चिकित्सा करता है, वैसे ही विद्वान् अपने दोषों को समझ कर हटावे ॥ २ ॥

निर्वलासेतः प्र पंताशुं गः शिशुको यथा ।

अथो इट इव हायनोऽपद्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

निः । बलासम् । इतः । प्र । पतम् । आशुं गः । शिशुकः । यथा ।
अथो इति । इटः-इव । हायनः । अप । द्राहि । अवीर-हा ॥ ३

भाषार्थ—(बलास) हे बल घटाने वाले क्षय रोग । (इतः) यहां से (निः=निष्क्रम्य) निकल कर (प्रपत) चला जा, (यथा) जैसे (आशुं गः)

२—(निः) निःसार्य (बलासम्) म० १ । बलनाशक क्षयादिरागम् (बलासिनः) क्षयरोगिणः पुरुषात् (क्षिणोमि) नाशयामि (मुष्कुरम्) पुषः कृत् । उ० ४ । ४ । इति मुष छेदने—करन् । छिन्नभागम् (यथा) येन प्रकारेण (क्षिन्नादि) विश्लेषयामि (अस्य) रोगस्य (बन्धनम्) पीडनम् (मूलम्) (उर्वावाः) उरु+आर्वाः । णित् कश्चिपद्यतेः । उ० १ । ८५ । इति ऋ गतौ-ऊ प्रत्ययः । उरु विस्तीर्णम् ऋच्छतीति उर्वाकः तस्याः कर्कट्याः (इव) यथा ॥

३—(निः) निष्क्रम्य (बलास) हे बलनाशक क्षयरोग (इतः) अस्मात् स्थानात् (प्र) प्रकर्षेण (पत) दूरं गच्छ (आशुं गः) आशु+गमेः-लच् ।

सू० १५ [१८८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२०५)

शीघ्रगामी (शिशुकः) छोटा बड़ड़ा । (अथो) और भी (अवीरहा) वीरों का न नाश करने वाला तू (अप=अपेत्य) हटकर (द्राहि) भाग जा, (इव) जैसे (हायनः) प्रति वर्ष होने वाला (इदः) आस ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को रोग और अज्ञान नाश करने में शीघ्रता करनी चाहिये, जिससे वीरों की सदा जय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगुणप्राप्त्युपदेशः—उत्तम गुणों की प्राप्ति का उपदेश ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।

उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१॥

उत्-तमः । अस्ति । ओषधीनाम् । तव । वृक्षाः । उप-स्तयः ।

उप-स्तिः । अस्तु । सः । अस्माकम् । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ओषधीनाम्) सब तापनाशक ओषधियों में तू (उत्तमः) उत्तम (अस्ति) है, (वृक्षाः) सब स्वीकार करने योग्य गुण (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक [अधीन] हैं । (सः) वह पुरुष (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अधीन (अस्तु) होवे, (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की भक्ति पूर्वक मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने विघ्नों को मिटावे ॥ १ ॥

स च हित् । आशुगामी (शिशुकः) वत्सतरः (यथा) (अथो) अपि च (इदः) इदं गतौ—क । घासः (इव) यथा (हायनः) हायन—अर्श आद्यच् । प्रति-वर्षभवः (अप) अपेत्य (द्राहि) द्रा कुत्सायां गतौ । पलायस्व (अवीरहा) वीराणाम् अहन्ता त्वम् ॥

१—(उत्तमः) सर्वोत्कृष्टः (अस्ति) (ओषधीनाम्) अ० १ । ३० । ३ । तापनाशकानां पदार्थानाम् (तव) (वृक्षाः) वृक्ष वरणे—क । वरणीयाः श्रेष्ठा गुणाः (उपस्तयः) अ० ३ । ५ । ६ । उपासकाः । वशीभूताः (उपस्तिः) उपासकः (अस्तु) (सः) शत्रुः (अस्माकम्) (यः) (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।

तेषां सा वृक्षाणामिव्राहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

स-बन्धुः । च । असबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।

तेषाम् । सा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु समूह (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (वृक्षाणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों में (सा इव) लक्ष्मी के समान, (अहम्) मैं (तेषाम्) उनके बीच (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊँ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब प्रकार की उलझनें हटाकर विद्या सुर्वण आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करें ॥ २ ॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषा कुतः ।

तलाशा वृक्षाणामिव्राहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

यथा । सोमः । ओषधीनाम् । उत्-तमः । हविषाम् । कुतः ।

तलाशा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) अमृत [अन्न वा सोम लता] (ओषधीनाम्) तापनाशक ओषधियों और (हविषाम्) ग्राह्य पदार्थों में (उत्तमः) उत्तम (कुतः) बनाया गया है । और (वृक्षाणाम् इव) जैसे उत्तम

२—(सबन्धुः) बन्धुभिः सहितः (च च) समुच्चये (असबन्धुः) समानबन्धुरहितः (यः) शत्रु समूहः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति (तेषाम्) शत्रूणाम् (सा) स्यति दारिद्र्यम् । यो अन्तर्कर्मणि ड, टाप् । लक्ष्मीः (वृक्षाणाम्) वरणीयानां पदार्थानाम् (इव) यथा (अहम्) (भूयासम्) (उत्तमः) श्रेष्ठः ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (सोमः) अमृतमन्नं सोमलता वा (ओषधीनाम्) तापनाशकपदार्थानाम् (उत्तमः) श्रेष्ठः (हविषाम्) ग्राह्यवस्तूनाम् (कुतः) निर्मितः (तलाशा) तलमाधारम् अश्नुते । तल + अश्नु, व्याप्तौ—अच,

सू० १६ [१८८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२०७)

पदार्थों में (तलाशा) आश्रय प्राप्त करने वाली लक्ष्मी है, [वैसे ही] (अहम्) मैं (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, सुवर्ण आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १६ ॥

१-४ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १,४ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ उष्णिक् ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः ॥ ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

आबयो अनावयो रसस्त उग्र आबयो ।

आ ते करम्भमद्वासि ॥ १ ॥

आबयो इति । अनावयो इति । रसः । ते । उग्रः । आबयो इति । आ । ते । करम्भम् । अद्वासि ॥ १ ॥

भावार्थ—(आबयो) हे चारो ओर गति वाले ! (अनावयो) हे बिना गति वाले ! (आबयो) हे चारो ओर कान्ति वाले ईश्वर ! (ते) तेरा (रसः) रस [आनन्द] (उग्रः) नित्य सम्बन्ध वाला है । हम (ते) तेरे (करम्भम्) सत्तु [अन्न] (आ) भले प्रकार (अद्वासि) खाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके भोगें ॥ १ ॥

टाप् । आधारव्यापयित्री लक्ष्मीः (वृक्षाणाम्) वरणीयानां मध्ये (अहम्) (भूयासम्) (उत्तमः) ॥

१—(आबयो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति आङ्+वी गतिव्याप्ति-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु—उ । वस्य बः । हे समन्ताद् गतिशील (अनावयो) वी—उ । हे गतिशून्य (रसः) आनन्दः (ते) तव (उग्रः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति उच्च समवाये—रन् । समवेतः । नित्यसम्बद्धः (आबयो) हे समन्तात् प्रकाशमान (आ) सम्यक् (ते) तव (करम्भम्) अ० ७ । ४ । २ । सकृन् । अन्नम् (अद्वासि) अद्वाः । खादामः ॥

(१२०८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १६ [१८८]

विहङ्गो नाम' ते पिता मदावती नाम' ते माता ।

स हिन् त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

वि-हङ्गः । नाम । ते । पिता । मदा-वती । नाम । ते । माता ।

सः । हिन् । त्वम् । असि । यः । त्वम् । आत्मानम् । आवयः ॥२॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरा (पिता) पालन करने वाला गुण (विहङ्गः) विशेष कपाने वाला [आश्चर्यजनक] (नाम) प्रसिद्ध है, और (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (मदावती) हर्ष युक्त (नाम) प्रसिद्ध है (सः) वह (हिन्=हि) ही (त्वम्) तू (असि) है, (यः) जिस (त्वम्) तू ने (आत्मानम्) हमारे आत्मा की (आवयः) रक्षा की है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में वर्तमान रह कर सदा आत्म-रक्षा करें ॥ २ ॥

तौविलिकेऽवेलयावायमैलव एलयीत् ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापैहि निराल ॥ ३ ॥

तौविलिके । अव । ईलय । अव । अयम् । ऐलवः । ऐलयीत् ।

बभ्रुः । च । बभ्रु-कर्णः । च । अप । इहि । निः । आल ॥३॥

भाषार्थ—(तौविलिके) वृद्धि से जीतने वाले व्यवहार में [हमें] (अव) अवश्य (ईलय=ईरय) आगे बढ़ा । (अयम्) इस (ऐलवः) पृथ्वी

२—(विहङ्गः) वि+हङ्ग चलने—अच् । छान्दसं रूपम् । विशेष-कम्पकः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) तव (पिता) पालको गुणः (मदावती) साहितिको दीर्घः । हर्षवती (माता) । अ० ५ । ५ । १ । निर्माणशक्तिः (सः) प्रसिद्धः (हिन्) नकारश्छान्दसः । हि । खलु (त्वम्) (असि) (यः) (आत्मानम्) आत्मबलम् (आवयः) अव रक्षणे—लङ्, चुरादित्वं छान्दसम् । आवः । रक्षितवानसि ॥

३—(तौविलिके) गुणादिभ्यः कित् । उ० १ । ५६ । इति तु गति वृद्धिर्हिसासु—इलच् । तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम् । पा० ४ । ४ । २ । इति

सू० १६ [१८८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२०८)

के पदार्थों में व्यापक तु ने [ऋषियों को] (अव) अवश्य (पेलयीत्=०-यीः) आगे बढ़ाया है । (आल) हे समर्थ परमेश्वर ! (बभ्रुः) पोषण करने वाला (च च) और (बभ्रुकर्णः) पोषक मनुष्यों का पतवार रूप तू (निः) नित्य (अप) आनन्द से (इहि) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पूर्व ऋषियों के समान परमेश्वर का सहारा लेकर सदा वृद्धि करें ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाज्जालास्युत्तरा ।

नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अलसाला । असि । पूर्वा । सिलाज्जाला । असि । उत्तरा ।

नीलागलसाला ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अलसाला) आलसियों को रोकने वाली (पूर्वा) प्रधान शक्ति (असि) है, और तू (सिलाज्जाला) कण कण

जयत्यर्थे ठक्, अजादित्वाट् टाप् । तुविलेन वृद्ध्या जयशीले व्यवहारे (अव) अवश्यम् (ईलय) ईर लेपे, रस्य लः । अस्मान् प्रेरय (अव) निश्चयेन (अयम्) सर्वव्यापकः (पेलवः) इला पृथिवी—निघ० १ । १ । इला-अण् + वा गतिगन्धनयोः—क । इलायाः पृथिव्या इमे पदार्थास्तान् वाति गच्छति स परमेश्वरः (पेलयीत्) ईल प्रेरणे-णिचि लुङ्, मध्यमपुरुषस्य प्रथमः । नोनयति ध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः । पा० ३ । १ । ५१ । इति च्लेश्चङो निषेधः । पेलयीः । त्वं प्रेरितवानसि ऋषीन् (बभ्रुः) कुर्भश्च । उ० १ । २२ । इति भृञ्-कु । पोषकः (च च) समुच्चये (बभ्रुकर्णः) कृवृजृ० । उ० ३ । १० । कृ विलेपे-न । बभ्रूणां पोषकाणां कर्णः अरिभिव पारकः (अप) आनन्दे (इहि) गच्छ (निः) निश्चयेन (आल) अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु-घञ् । हे शक्त, समर्थ ॥

४—(अलसाला) अलस + अला । न लसतीति, लस दीप्तौ-अच् + अल वारणे—अच्, टाप् । अलसान् क्रियामन्दान् वारयति सा (असि) (पूर्वा) प्रधाना शक्तिः (सिलाज्जाला) बिल कणश आदाने—क । पतिचण्डिभ्यामालञ् । उ० १ । ११७ । इति सिल + अञ्जू व्यक्तिभ्रक्षणकान्तिगतिषु—आलञ् । सिलान् कणान् कणान् अनक्ति प्रकटयतीति सा (उत्तरा) उत्कृष्टतरा शक्तिः (नीलागलसाला) नील + आगल + साला । नि + इल गतौ—क । डलयोरैक्यम् । ऋदो-

(१२२०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १७ [१८०]

को प्रकट करने वाली और (नीलागलसाला) सब लोकों के घर [ब्रह्माण्ड में] व्यापक (उत्तरा) अति उत्तम शक्ति (असि) है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमेश्वर की महिमा को विचारते हुये मनुष्य सदा पुरुषार्थी होवे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १७ ॥

१-३ ॥ पृथिवी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानविषयोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।

एवा ते ध्रियतां गर्भोऽनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । भूतानाम् । गर्भम् । आ-दधे ।

एव । ते ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) पञ्च महाभूतों के (गर्भम्) गर्भ को (आदधे) यथावत् धारण किया है, (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) स्थिर होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पृथिवी बीज को अपने में धारण करके अनुकूल समय पर उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रयत्न किया जावे कि संतान गर्भ से पूरे दिनों में उत्पन्न होकर बली और पराक्रमी होवे, ऐसा ही भावार्थ आगे समझो ॥ १ ॥ यह सूक्त स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि में गर्भाधान प्रकरण में आया है ।

रप् । पा० ३ । ३ । ७७ । इति आङ्गु निगरणे-अप्, रस्य लः । षल गतौ-घञ्, टाप् । नीलानां नीडानां निवासस्थानां लोकानाम् आगले आगरे आगारे गृहे ब्रह्माण्डे व्यापिका ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (इयम्) परिदृश्यमाना (पृथिवी) (मही) विशाला (भूतानाम्) पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् (गर्भम्) अ० ३ । १० । १२ । स्तुत्यं बालकम् (आदधे) सम्यम् धृतवती (एव) एवम् (ते) तव (ध्रियताम्) गर्भाशये धृतः स्थिरो भवतु (गर्भः) (अनु) आनुकूल्यात् (सूतुम्) पः किञ्च । उ० १ । ७१ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—तुन् कित् । सूनुं संतानम् (सवितवे) षूङ्—तुमर्थे तवे प्रत्ययः । प्रसवितुं प्रजनयितुम् ॥

सू० १७ [१८०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२११)

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।

एवा ते ध्रियतां गर्भोऽनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधारः । इमान् । वनस्पतीन् ।

एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (इमान्) इन (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षक, वृक्ष आदि को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा.....म० १ ॥ २ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।

एवा ते ध्रियतां गर्भोऽनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधारः । पर्वतान् । गिरीन् ।

एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी ने (पर्वतान्) पहाड़ों और (गिरीन्) पहाड़ियों को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा.....म० १ ॥ ३ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।

एवा ते ध्रियतां गर्भोऽनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधारः । वि-स्थितम् । जगत् ।

एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ ४ ॥

२—(दाधार) धृतवती (इमान्) परिदृश्यमानान् (वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ ।
सेवकानां रक्षकान् वृक्षान् ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(पर्वतान्) महाशैलान् (गिरीन्) क्षुद्रशिलोच्चयान् । अन्यद्
गतम् ॥

(१२१२)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १८ [१८१]

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (विष्टितम्) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत् को (दाधार) धारण किया है। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) धारण किया जावे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईर्ष्यानिवारणायोपदेशः ॥ ईर्ष्या के निवारण का उपदेश ॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापरां ॥

अग्निं हृदयं १ शोकं तं ते निर्वपयामसि ॥ १ ॥

ईर्ष्यायाः । ध्राजिम् । प्रथमां । प्रथमस्याः । उत । अपरां । अग्निम् । हृदयम् । शोकम् । तम् । ते । निः । वापयामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरी (ईर्ष्यायाः) डाह की (प्रथमां) पहिली (ध्राजिम्) गति को (उत) और (प्रथमस्याः) पहिली गति की (अपरां) दूसरी गति को, (हृदयम्) हृदय में भरी (तम्) सताने वाली (अग्निम्) अग्नि और (शोकम्) शोक को (निः) सर्वथा (वापयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी डाह न करे किन्तु दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति जाने ॥ १ ॥

४—(विष्टितम्) विविध स्थितम् (जगत्) चराचरात्मकं संसारम् । अन्यद् गतम् ॥

१—(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्य ईर्ष्यायाम्-अ । परसम्पत्त्यसहनस्य मत्सरस्य (ध्राजिम्) वसिवपियजि० । उ० ४ । १३५ । इति ध्रूज गतौ-इज् । गतिम् (प्रथमां) आद्याम् (प्रथमस्याः) प्रथमभाविन्या गतेः (उत) अपि च (अपरां) अनन्तरां गतिम् (अग्निम्) संतापम् (हृदयम्) शरीरावयवाद् यत् । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हृदय-यत् । हृदये भवम् (शोकम्) खेदम् (तम्) तर्द-ड । तर्दकं हिंसकम् (ते) तव (निः) नितराम् (वापयामसि) दुवप बीजसंताने छेदने च । वापयामः शमयामः ॥

सू० १८ [१८१]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२१३)

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।

यथोत मम्रुषो मन एवेष्यो मृतं मनः ॥ २ ॥

यथा । भूमिः । मृत-मनाः । मृतात् । मृतमनः-तरा । यथा ।

उत । मम्रुषः । मनः । एव । ईष्योः । मृतम् । मनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली [ऊसर] होकर (मृतात्) मरे से भी (मृतमनस्तरा) अधिक मरे मन वाली है । (उत) और (यथा) जैसे (मम्रुषः) मरे हुये मनुष्य का (मनः) मन है (एव) वैसे ही (ईष्योः) डाह करने वाले का (मनः) मन (मृतम्) मरा होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि ऊसर हो जाने से उपजाऊ नहीं रहती और जैसे मृतक प्राणी का मन कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही डाह करने वाला जल भुन कर उद्योग हीन हो जाता है ॥ २ ॥

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।

ततस्त ईष्यां मुञ्चामि निरुष्माणं दूतैरिव ॥ ३ ॥

अदः । यत् । ते । हृदि । श्रितम् । मनः-कम् । पतयिष्णुकम् ।

ततः । ते । ईष्याम् । मुञ्चामि । निः । उष्माणम् । दूतैः-इव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) रक्खा हुआ (पतयिष्णुकम्) धड़कता हुआ (मनस्कम्) छोटा मन है

२—(यथा) येन प्रकारेण (भूमिः) सर्वप्राणिभिरधिष्ठिता पृथिवी (मृतमनाः) उत्पादनशक्तिहीना । ऊसरा (मृतात्) त्यक्तप्राणात् । मृतकात् (मृतमनस्तरा) अधिकमृतमनाः (उत) अपि च (मम्रुषः) मृद् प्राणत्यागे-कसु । मृतवतः पुरुषस्य (मनः) मनोबलम् (एव) एवमेव (ईष्योः) भृशशीङ् ० । उ० १ । ६ । इति ईष्य-उ । ईष्यायुक्तस्य पुरुषस्य (मृतम्) विनष्टं भवति (मनः) ॥

३—(अदः) तत् प्रसिद्धम् (यत्) (ते) तव (हृदि) हृदये (श्रितम्) स्थितम् (मनस्कम्) अल्पान्तःकरणम् (पतयिष्णुकम्) ऐश्वर्यन्दसि । पा०

(ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (भिर्मुञ्चामि) बाहिर निकालता हूँ, (इव) जैसे (दत्तेः) धौकनी से (ऊष्माणम्) श्वास को ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष न करे क्योंकि उससे मन गिर जाता है, किन्तु पुरुषार्थ से अपनी उन्नति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ पवमानो देवता ॥ १ अनुष्टुप् २, ३ गायत्री ॥

पवित्राचरणायोपदेशः—पवित्र आचरण के लिये उपदेश ॥

पुनन्तु मा देवजुनाः पुनन्तु मनवो धिया ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

पुनन्तु । मा । देव-जुनाः । पुनन्तु । मनवः । धिया । पुनन्तु । विश्वा । भूतानि । पवमानः । पुनातु । मा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवजनाः) विजय चाहने वाले वा व्यवहार कुशल पुरुष (मा) मुझे (धिया) कर्म वा बुद्धि से (पुनन्तु) शुद्ध करें, (मनवः) मननशील विद्वान् लोग (पुनन्तु) शुद्ध करें । (विश्वा) सब (भूतानि) प्राणी मात्र (मा) मुझे (पुनन्तु) शुद्ध करें, (पवमानः) पवित्र परमात्मा (पुनातु) शुद्ध करे ॥ १ ॥

भावार्थ—माता पिता और आचार्य आदि विद्वान् पुरुष संतानों को परमेश्वर के ज्ञान सहित ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से धार्मिक सुशील बनावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ सू० ६७ म० २७ और यजु० अ० १६ म० ३६ ॥

३ । २ । १३७ । इति पत गतौ-इष्णुच्, कन् च । इतस्ततः पतनशीलम् (ततः) तस्माद् मनसः (ते) तव (ईर्ष्याम्) म० १ । मत्सरम् (मुञ्चामि) मोचयामि (निः) बहिर्भावे (ऊष्माणम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति उपदाहे-मनिन्, छन्दसो दीर्घः । वाष्पम् । अन्तः पूरितं वायुम्, (दत्तेः) दृणातेर्हस्वः । उ० ४ । १८४ । इति द विदारणे-ति । चर्ममयात् पात्रात् । भस्त्रायाः सकाशात् (इव) यथा ॥

१—(पुनन्तु) शोधयन्तु (मा) मां संतानम् (देवजनाः) विजिगीषवो व्यवहारिणो वा मनुष्याः (मनवः) शृष्टृस्त्रिहि० । उ० १ । १० । इति मन ज्ञाने—उ । मननशीला विद्वान् (धिया) कर्मणा—निघ २ । १ । प्रज्ञया—निघ० ३ । ६ । (विश्वा) सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि (पवमानः) अ० ३ । ३१ । २ । पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शोधयतु (मा) माम् ॥

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥

पवमानः । पुनातु । मा । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे । अथो
इति । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (क्रत्वे) उत्तम
कर्म वा बुद्धि के लिये, (दक्षाय) बल के लिये, (जीवसे) जीवन् के लिये
(अथो) और भी (अरिष्टतातये) कल्याण करने के लिये (पुनातु) शुद्ध
आचरण वाला करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा विज्ञान प्राप्त करके बुद्धि, बल और कीर्ति
बढ़ा कर आप सुखी रहें और सब को सुखी रखें ॥ २ ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।

अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

उभाभ्याम् । देव । सवितः । पवित्रेण । सवेन । च । अस्मान् ।
पुनीहि । चक्षसे । ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे दानशील (सवितः) सत्य कर्मों में प्रेरक जग-
दीश्वर ! (उभाभ्याम्) दोनों अर्थात् (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (च)
और (सवेन) ऐश्वर्य से (अस्मान्) हमें (चक्षसे) देखने के लिये (पुनीहि)
पवित्र कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर शुद्ध आचरण से ऐश्वर्य
बढ़ा कर संसार के पदार्थों को विज्ञान पूर्वक साक्षात् करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ६७। २५। और यजु० १६। ४३ ॥

२—(पवमानः) पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शुद्धाचारिणं करोतु
(मा) माम् (क्रत्वे) अ० ४। ३१। ६। उत्तमकर्मणे प्रज्ञायै वा (दक्षाय) अ०
२। २६। ३। प्रवृद्धाय बलाय (जीवसे) तुमर्थे सेसेन०। पा० ३। ४। ६।
इति जीव प्राणधारणे-असे । जीवनार्थम् (अथो) अपि च (अरिष्टतातये) अ०
३। ५। ५। क्षेमकरणाय ॥

३—(उभाभ्याम्) उभाभ्याम् (देव) हे दातः (सवितः) सत्यकर्मसु
प्रेरकेश्वर (पवित्रेण) शुद्धाचरणेन (सवेन) ऐश्वर्येण (च) (अस्मान्)
धार्मिकान् (पुनीहि) शोधय (चक्षसे) अ० १। ५। १। दर्शनाय ॥

सूक्तम् ॥ २० ॥

१-३ ॥ तक्मा देवता ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः; ३ विराट् पङ्क्तिः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणं उतेवं मत्तो विलपन्न-
पायति । अन्यस्मदिच्छतु कं चिद्व्रतस्तपुर्वधाय नमो ।

अस्तु त्वमने ॥ १ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । एति । शुष्मिणः । उत-इव ।
मत्तः । वि-लपन् । अप । अयति । अन्यम् । अस्मत् । इच्छतु ।
कम् । चित् । अव्रतः । तपुः-वधाय । नमः । अस्तु । त्वमने ॥ १ ॥भाषार्थ—वह [ज्वर] (दहतः) दहकती हुई, (शुष्मिणः) बलवान्
(अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के [ताप के] (इव) समान (एति) व्यापता
है, (उत) और (मत्तः इव) उन्मत्त के समान (विलपन्) विलपता हुआ
(अप अयति) भाग जाता है । (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे (कम्
चित्) किसी [कुनयमी] को (अव्रतः) वह व्रतहीन (इच्छतु) ढूँढ़ लेवे, (तपुर्व-
धाय) तपते हुये अस्त्र रखने वाले (त्वमने) दुःखित जीवन करने वाले
ज्वर को (नमः) नकस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥भावार्थ—जहाँ पर उत्तम वैद्य होते हैं और मनुष्य उचित आहार
विहार करते हैं वहाँ ज्वरादि रोग नहीं होते ॥ १ ॥१—(अग्नेः) पावकस्य ताप इति शेषः (इव) यथा (अस्य) प्रसि-
द्धस्य (दहतः) दाहकस्य (एति) व्याप्नोति (शुष्मिणः) शोषकबलशुक्तस्य
(उत) अपि च (इव) यथा (मत्तः) उन्मत्तः । आत्मविस्मारकः (विल-
पन्) विविधं प्रलापं कुर्वन् (अप अयति) दूरं गच्छति (अन्यम्) व्रतहीनम्
(अस्मत्) अस्मत्तः । व्रतधारकेभ्यः (इच्छतु) अन्विच्छतु (कम् चित्)
कमपि पुरुषम् (अव्रतः) अष्टनियमः (तपुर्वधाय) तापायुधाय (नमः) नम-
स्कारः (अस्तु) (त्वमने) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे ज्वराय ॥

सू० २० [१८३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२१७)

नमो रुद्राय नमो अस्तु तुक्मने नमो राज्ञे वरुणाय
 त्विषीमते । नमो दिवे नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यः ॥२॥
 नमः । रुद्राय । नमः । अस्तु । तुक्मने । नमः । राज्ञे । वरुणाय ।
 त्विषि-मते । नमः । दिवे । नमः । पृथिव्यै । नमः । ओषधीभ्यः २

भाषार्थ—(रुद्राय) दुःख नाशक वैद्य को (नमः) नमस्कार,
 (तुक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु)
 होवे, (त्विषिमते) प्रकाशमान, (राज्ञे) सब के राजा, (वरुणाय) श्रेष्ठ परमे-
 श्वर को (नमः) नमस्कार हो । (दिवे) प्रकाशमान सूर्य को (नमः) नम-
 स्कार, (पृथिव्यै) फैली हुयी पृथिवी को (नमः) नमस्कार, और
 (ओषधीभ्यः) ताप नाशक अन्न आदि पदार्थों को (नमः) नमस्कार हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्पुरुषों के मेल, ईश्वर विचार और सांसारिक
 पदार्थों के नियमों के साक्षात् करने से स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कुणोषि ।
 तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तुक्मने ॥३॥
 अयम् । यः । अभि-शोचयिष्णुः । विश्वा । रूपाणि । हरिता ।
 कुणोषि । तस्मै । ते । अरुणाय । बभ्रवे । नमः । कृणोमि ।
 वन्याय । तुक्मने ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) बहुत ही शोक
 में डालने वाला तू (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (हरिता) हरे वा पीले

२—(नमः) नमस्कारः (रुद्राय) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकाय
 वैद्याय (अस्तु) (तुक्मने) म० १ । ज्वराय (राज्ञे) सर्वशासकाय (वरुणाय)
 वरणीयाय परमेश्वराय (त्विषिमते) अ० ४ । १६ । २ । दीप्तियुक्ताय (दिवे)
 प्रकाशमानाय सूर्याय (पृथिव्यै) विस्तृतायै भूम्यै (ओषधीभ्यः) तापनाशि-
 काभ्यो व्रीह्यादिभ्यः ॥

३—(अयम्) निर्दिष्टः (यः) तक्मा (अभिशोचयिष्णुः) रोश्छन्दसि ।
 पा० ३ । २ । १३७ । इति शुच शोके-इण्यच् । सर्वतः शोकमुत्पादयन् (विश्वा)

(१२१८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २१ [१८४]

(कृणोषि) कर देता है । (तस्मै) उस (ते) तुभ्य (अरुणाय) रक्त, (बभ्रवे) भूरे और (वन्याय) बनैले (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य सावधान रहकर रुधिर विकार आदि से उत्पन्न दुष्ट ज्वर आदि रोगों से बचकर सदा दृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ २१ ॥

१-३ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।

तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

इमाः । याः । तिस्त्रः । पृथिवीः । तासां । ह । भूमिः ।
उत्-तमा । तासां । अधि । त्वचः । अहम् । भेषजम् । सम् ।
जं इति । जग्रभम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः) जो (तिस्त्रः) तीन [सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष] (पृथिवीः) विस्तृत लोक हैं, (तासाम्) उन में (ह) निश्चय

सर्वाणि (रूपाणि) सौन्दर्याणि (हरिता) दृग् हरणे—इतच् । रक्तदूषणेन-नीलपीतमिश्रितवर्णानि हरिद्रावर्णानि वा (कृणोषि) करोषि (तस्मै) तादृशाय (ते) तुभ्यम् (अरुणाय) रक्तवर्णाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय (नमः) नमस्कारम् (कृणोमि) करोमि (वन्याय) बने भवाय (तक्मने) म० १ । कृच्छ्र-जीवनकारिणे ज्वराय ॥

१—(इमाः) दृश्यमानाः - (याः) (तिस्त्रः) त्रिसंख्याका द्यावापृथिव्यन्तरिक्षरूपाः (पृथिवीः) पृथिव्यः । विस्तृता लोकाः (तासाम्) लोकानां मध्ये (ह) खलु (भूमिः) भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायाम्-भि ।

सू० २१ [१८४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२१८)

करके (भूमिः) भूमि, सब का आधार परमेश्वर (उत्तमा) उत्तम है। (तासाम्) उन [लोकों] के (त्वचः अधि) विस्तार से ऊपर (भेषजम्) भयनाशक ब्रह्म को (उ) अवश्य (अहम्) मैंने (सम् जग्रभम्) यथावत् ग्रहण किया ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के रचे लोक लोकान्तरों के सम्बन्ध और गुणों को जान कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।

सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

श्रेष्ठम् । असि । भेषजानाम् । वसिष्ठम् । वीरुधानाम् । सोमः ।

भगः इव । यामेषु । देवेषु । वरुणः । यथा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हे ब्रह्म !) तू (भेषजानाम्) भयनाशक पदार्थों में (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ और (वीरुधानाम्) विविध प्रकार से उगती हुई प्रजाओं के बीच (वसिष्ठम्) अत्यन्त धन वाला वा बलने वाला (असि) है, (इव) जैसे (भगः) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्रमा (यामेषु) चलने वाले ताराओं के बीच, और (यथा) जैसे (वरुणः) सूर्य (देवेषु) प्रकाशमान पदार्थों में है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व श्रेष्ठ परमात्मा का आश्रय लेकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

भवन्ति सर्वे लोका यस्यां सा । परमेश्वरः (उत्तमा) श्रेष्ठा (अधि) उपरि (त्वचः) तनोतेरनश्च वः । ७० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक् । विस्तारात् (अहम्) ब्रह्मज्ञानी (भेषजम्) भेषस्य भयस्य जेतुं ब्रह्म (सम्) सम्यक् (उ) अवश्यम् (जग्रभम्) ग्रहः स्वार्थेयन्तात् लुङि चङि छान्दसं रूपम् । गृहीतवानस्मि ॥

२—(श्रेष्ठम्) प्रशस्यतमम् (असि) (भेषजानाम्) भयनाशकानां पदार्थानां मध्ये (वसिष्ठम्) अ० ४ । २६ । ३ । वसुमत्तमम् । अतिशयेन धनयुक्तम् । वस्तुतमम् (वीरुधानाम्) अ० १ । ३२ । १ । वि + रुह प्रादुर्भावे-किप्, टाप् । विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (सोमः) चन्द्रमाः (भगः) भगवान् । ऐश्वर्यवान् (इव) यथा (यामेषु) या गतौ-मन् । गन्तृषु नक्षत्रेषु (देवेषु) प्रकाशमानेषु पदार्थेषु (वरुणः) अन्धकारनिवारकः सूर्यः ॥

(१२२०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २२ [१८५]

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।

उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

रेवतीः । अनाधृषः । सिषासवः । सिषासथः । उत । स्थ ।

केश-दृंहणीः । अथो इति । ह । केश-वर्धनीः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रेवतीः) हे धन वाली ! (अनाधृषः) कभी हिंसा न करने वाली ! (सिषासवः) हे दान करने वा सेवा करने की इच्छा वाली प्रजाओ ! तुम (सिषासथ=०-सत) सेवा करने की इच्छा करो । तुम (उत) अत्यन्त (केशदृंहणीः) प्रकाश दृढ़ करने वाली (अथो ह) और भा (केशवर्धनीः) प्रकाश बढ़ाने वाली (स्थ) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या धन और सुपण आदि धन प्राप्त करके प्रीति पूर्वक ईश्वर भक्ति करते हुये दृढ़ता से विद्या का प्रकाश बढ़ावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २२ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ जगती ॥

वृष्टिविद्योपदेशः—वृष्टि विद्या का उपदेश ॥

कृष्णं नित्यान् हरयः सुपुर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्तसदनादृतस्यादिह घुतेन पृथिवी व्यूदुः ॥ १ ॥

३—(रेवतीः) अ० ३ । ४ । ७ । रेवत्यः । रयिमत्यः । विद्यासुवर्णादिधनयुक्ताः (अनाधृषः) धृष हिंसाक्रोधाभिभवेषु—किप् । सर्वतोऽहिंसिकाः (सिषासवः) षणु दाने वा षण सम्भक्तौ—सनि—उप्रत्ययः । सनीवन्तर्धभ्रस्त्रणा पा० ७ । २ । ४६ । इति इदो विकल्पनाद् अभावपक्षे जनसनखवनां । पा० । ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सनितुं दातुं सेवितुं वेच्छवः (सिषासथ) लोडर्थे लट् । सेवितुमिच्छत (उत) अप्यथे (स्थ) भवथ (केशदृंहणीः) केश+दृहि वृद्धौ—ल्युट्, डीप् । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२ । २५ । प्रकाशस्य दृढ़कारिण्यः (अथो) अपि च (ह) खलु (केशवर्धनीः) प्रकाशस्य वर्धयिष्यः ॥

सू० २२ [१८५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२२१)

कृष्णम् । नि-यानम् । हरयः । सु-पर्णाः । अपः । वसनाः । दि-
वम् । उत् । पतन्ति । ते । आ । अववृत्रन् । सद्नात् । ऋ-
तस्य । आत् । इत् । घृतेन । पृथिवीम् । वि । ऊदुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हरयः) रस खींचने वाली, (सुपर्णाः) अच्छा उड़ने वाली
किरणें (अपः) जल को (वसनाः) ओढ़ कर (कृष्णम्) खींचने वाले
(नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में होकर (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य
मण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं । (ते) वे (इत्) ही (आत्)
फिर (ऋतस्य) जल के (सद्नात्) घर [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) लौट
आती हैं, और उन्होंने ने (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि)
विविध प्रकार से (ऊदुः) सींच दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें पवन द्वारा भूमि से जल को खींच कर
और फिर बरसा कर उपकार करती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्त करके
संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ सू० १६४ । म० ४७ और निरु०
७ । २४ । में भी ॥

पर्यस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो
रुक्मवक्षसः । ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वतु यत्रा नरो
मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

१—(कृष्णम्) आकर्षकम् (नियानम्) नित्यगमनस्थानम् अन्तरिक्षं
प्रति । अत्यन्त संयोगे द्वितीया (हरयः) रसं हरन्तः (सुपर्णाः) आदित्यर-
श्मयः—निरु० ७ । २४ । (अपः) जलानि (वसनाः) आच्छादयन्तः (दिवम्)
प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (उत्) उद्गत्य (पतन्ति) प्राप्नुवन्ति (ते) रश्मयः
(आ अववृत्रन्) घृतेर्लुङि । घृद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ६१ । इति परस्मैपदम्,
च्लेशचङ् रुडागमश्च छान्दसः । आ वर्तन्ते । आगच्छन्ति (सद्नात्) गृहात् ।
सूर्यमण्डलात् (ऋतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ । (आत्) अनन्तरम्
(इत्) एव (घृतेन) उदकेन । घृतमित्युदकनाम जिघर्तैः सिञ्चतिकर्मणः—
निरु० ७ । २४ । (पृथिवीम्) भूमिम् (वि) विविधम् (ऊदुः) उन्दी क्लेदने,
लिद्, उपधालोपश्च छान्दसः । उन्दांचक्रुः । सिक्तवन्तः ॥

पयस्वतीः । कृणुथ । अपः । ओषधीः । शिवाः । यत् । एजथ ।
मरुतः । रुक्म-वृक्षसुः । ऊर्जम् । च । तत्र । सु-मतिम् । च ।
पिन्वत । यत्र । नरः । मरुतः । सिञ्चथ । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रुक्मवृक्षसः) हे तेज[विजुली]को हृदय में रखने वाले (मरुतः) वायु के वेगो ! (यत्) जब (एजथ) तुम चलते हो, (अपः) जल और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः) रस वाली और (शिवाः) कल्याणकारी (कृणुथ) तुम करते हो । (च) और (तत्र) वहां (ऊर्जम्) बल देने वाला अन्न (च) और (सुमतिम्) उत्तम बुद्धि (पिन्वत) बरसाते हो, (यत्र) जहां पर (नरः) हे नायक (मरुतः) वायुगणो ! (मधु) जल (सिञ्चथ) सींचते हो ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु विजुली से युक्त मेघ से मिलकर बरसा करता है और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्यों को विद्या आदि उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्दित होना चाहिये ।

उद्-प्रुतो मरुतस्तौ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्यैव तुन्नैरु तुन्दाना पत्यैव जाया ॥३॥
उद्-प्रुतः । मरुतः । तान् । इयर्त । वृष्टिः । या । विश्वाः ।
नि-वतः । पृणाति । एजाति । ग्लहा । कन्या-इव । तुन्ना ।
एरुम् । तुन्दाना । पत्या-इव । जाया ॥ ३ ॥

२—(पयस्वतीः) रसवतीः (कृणुथ) कुरुथ (अपः) जलानि (ओषधीः) अन्ना पदार्थान् (शिवाः) सुखकरीः (यत्) यदा (एजथ) प्रचलथ (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुगणाः (रुक्मवृक्षसः) युजिरुचितिजां कुश्व । उ० १ । १४६ । इति रुच दीप्तावभिप्रीतौ च-मक् । पचिवचिभ्यां सुट् च । उ० ४ । २२० । इति वच परिभाषणे—असुन्, सुट् च । रुक्मं विद्युद्रूपा दीप्तिर्वृक्षसि मध्ये येषां ते (ऊर्जम्) बलकरमन्नम् (च) समुच्चये (तत्र) तस्मिन् देशे (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (च) (पिन्वत) पिवि सेचने जडर्थे लोट् । सिञ्चथ (यत्र) यस्मिन् स्थाने (नरः) अ० ३ । १६ । ३ । नेतात् (सिञ्चथ) वर्षयथ (मधु) जलम्—निघ० १ । १२ ॥

भाषार्थ—(उदप्रतः) हे जल के भेजने वाले (मरुतः) वायुगणो !
 (तान् = ताम्) उस [वृष्टि] को (इयर्त्त) तुम भेजो, (या) जो (वृष्टिः)
 धरसा (विश्वाः) सब (निवतः) नीचे स्थानों को (पृणाति) भर देती है ।
 (ग्लहा) वह ग्रहण करने योग्य [वृष्टि] (एरुम्) गतिशीलसमुद्र को
 (एजाति = एजति) पहुँचती है, (इव) जैसे (तुन्ना) व्यथा में पड़ी (कन्या)
 कन्या [अपने माता पिता आदि को], और (इव) जैसे (तुन्दाना) दुःख
 पाती हुई (जाया) पत्नी (पत्या = पतिम्) अपने पति को [पहुँचती है] ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु द्वारा वृष्टि जल संसार का उपकार करता
 हुआ समुद्र में शान्ति पाता है, इसी प्रकार मनुष्य परस्पर उपकार करके उस
 परब्रह्म में सुख प्राप्ति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २३ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ १ अनुष्टुप्, २ गायत्री; ३ उष्णिक् छन्दः ॥

कर्मकरणायोपदेशः—कर्म करने के लिये उपदेश ॥

सुस्रुषीस्तदुपसो दिवा नक्तं च सुस्रुषीः ।

वरपयक्रतुरहमपो देवीरुपं ह्वये ॥ १ ॥

३—(उदप्रतः) उदकस्योदः संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । ५७ । इति उद-
 कस्य उदभावः । प्रुङ् गतौ—क्लिप् । जलस्य प्रेरकाः (मरुतः) हे वायुगणाः (तान्)
 छान्दसो मकारस्य नकारः । ताम् । वृष्टिम् (इयर्त्त) ऋ गतौ—तप्तनप्तनथनाश्च ।
 पा० ७ । १ । ४५ । इति लोटि तस्य तप् । अर्तिपिपत्योश्च पा० ७ । ४ । ७७ ।
 इति अभ्यासस्य इत्वम् । इयुत । प्रेरयत (वृष्टिः) वर्षणम् (या) (विश्वाः)
 सर्वाः (निवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति गमेरर्थे
 वतिः । निम्नगतान् देशान् (पृणाति) षु पालनपूर्व्योः । पूरयति (एजाति)
 एजृ कम्पने—लङर्थे लेट् । एजति, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति
 (ग्लहा) अ० ४ । ३८ । ३ । ग्रह उपादाने अप्, रस्य लः, टाप् । ग्राह्या वृष्टिः
 (कन्या) अ० १ । १४ । २ । कमनीया । पुत्री (इव) यथा (तुन्ना) तुद व्यथने—
 क्तः । व्यथिता (एरुम्) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । इति इण्गतौ—रु ।
 गन्तांस्म् । समुद्रम् (तुन्दाना) तुद व्यथने—शानच्, नुम् गुणाभावश्च । व्यथ्यमाना
 (पत्या) सुपां सुलुक् । पा० ७ । १ । ३६ । इति अम् विभक्तेः आ । पतिम् (इव)
 (जाया) अ० ३ । ४ । ३ । भार्या ॥ ७

सुस्रुषीः । तत् । अपसः । दिवा । नक्तम् । च । सुस्रुषीः ।
वरैरय-क्रतुः । अहम् । अपः । देवीः । उप । ह्ये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरैरयक्रतुः) उत्तम कर्म वा बुद्धि वाला (अहम्) मैं (अपसः) व्यापक (तत्=तस्य) विस्तृतब्रह्म की (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) राति (सुस्रुषीः सुस्रुषीः) अत्यन्त उद्योग शील, (देवीः) प्रकाशमय (अपः) व्यापक शक्तियों को (उप) आदर से (ह्ये) बुलाता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों का विचार करते हुये सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्वितः प्रणीतये ।

सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

आ-उताः । आपः । कर्मण्याः । मुञ्चन्तु । इतः । प्र-णीतये ।

सद्यः । कृण्वन्तु । एतवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओताः) अच्छे प्रकार बुनी हुई (कर्मण्याः) कामों में कुशल (आपः) [परमेश्वर की] व्यापक शक्तियां [हमें] (इतः) इस [कष्ट] से

१—(सुस्रुषीः सुस्रुषीः) सृ गतौ, लिटः कसु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ इति डीप् । वसोः सम्प्रसारणे यण । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अतिशयेनोद्योगशीलाः (तत्) त्यजितनियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि, स च ङित् । विस्तृतस्य ब्रह्मणः (अपसः) आपः कर्माख्यायां० । उ० ४ । २०८ । इति आप्लव्याप्तौ—असुन्, ह्रस्वश्च व्यापकस्य (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (वरैरयक्रतुः) वृज परयः । उ० ३ । ६८ । इति वृज् वरणे—एय । क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रशरतकर्मा । उत्तमबुद्धिः (अहम्) पुरुषार्थी (अपः) व्यापिका शक्तीः (देवीः) प्रकाशमानाः (उप) आदरे (ह्ये) आह्वयामि ॥

२—(ओताः) आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क । सम्यक् स्यूताः (आपः) परमेश्वरस्य व्यापिकाः शक्तयः (कर्मण्याः) तत्र साधुः । पा० ४ । ४ ।

सू० २४ [१८९]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२२५)

(प्रणीतये) उत्तम नीति के लिये (मुञ्चन्तु) मुक्त करें । और (सद्यः) तुरन्त (एतवे) चलने को (कृण्वन्तु) बनावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरीय रचनाओं को देखकर उत्तम नीति पर चलकर सदा आगे बढ़ें ॥ २ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।

शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

देवस्य । सवितुः । सवे । कर्म । कृण्वन्तु । मानुषाः । शम् । नः । भवन्तु । अपः । ओषधीः । शिवाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मानुषाः) सब मनुष्य (देवस्य) प्रकाशमय (सवितुः) सर्वप्रेरक परमेश्वर के (सवे) शासन में (कर्म) कर्म (कृण्वन्तु) करते रहें । (शिवाः) कल्याणकारक (ओषधीः=०-धयः) अन्न आदि पदार्थ (शम्) शक्ति से (नः) हमारे (अपः) कर्म को (भवन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विहित कर्मों को करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २४ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदश ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।

आपो हु महं तद् देवीर्ददन् हृद्योतमेषु जम् ॥ १ ॥

६८ । इति कर्मन्—यत् । ये चाभावकर्मणोः । पा० ६ । ४ । १६८ । इति प्रकृतिभावः । कर्मसु साधवः (मुञ्चन्तु) मुक्तान् कुर्वन्तु, अस्मान् (इतः) अस्मात् कथात् (प्रणीतये) प्रकृष्टनीतिप्राप्तये (सद्यः) शीघ्रम् (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (एतवे) तुमर्थे सेवेत० । पा० ३ । ४ । ६ । इति इण् गतौ, तवे । गन्तुम् ॥

३—(देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य (सवे) प्रेरणे । शासने (कृण्वन्तु) अनुतिष्ठन्तु (मानुषाः) मनुष्याः (शम्) शान्त्या (नः) अस्माकम् (भवन्तु) भू प्राप्तौ । प्राप्नुवन्तु (अपः) म० १ । कर्म-निघ० २ । १ । (ओषधीः) ओषधयः । अन्नादिपदार्थाः—(शिवाः) कल्याणकारिण्यः ॥

(१२२६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २४ [१६७]

हिम-वतः । प्र । स्रवन्ति । सिन्धौ । समह । सम्-गमः । आपः ।
ह । महद्यम् । तत् । देवीः । ददन् । हृद्द्योत-भेषजम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) व्यापक शक्तियां [वा जलधारायें] (हिमवतः)
वृद्धिशील वा गतिशील परमेश्वर से [वा हिम वाले पहाड़ से] (प्रस्रवन्ति)
बहती रहती हैं, और (समह) हे महिमा के साथ वर्तमान पुरुष ! (सिन्धौ)
बहने वाले संसार [वा-समुद्र] में (सङ्गमः) उनका सङ्गम है । (देवीः)
वे दिव्य गुण वाली शक्तियां [वा जलधारायें] (ह) निश्चय करके (मह्यम्)
मेरे लिये (तत्) वह (हृद्द्योतभेषजम्) हृदय की चमक का भय जीतने वाला
औषध (ददन्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की उपकार शक्तियों को
विचार कर अपने दोष मिटावे, अथवा जल द्वारा रोग नाश करें ॥ १ ॥

यन्मे अक्षयोरादिद्योत पाण्यौः प्रपदोश्च यत् ।

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

यत् । मे । अक्षयोः । आ-दिद्योत । पाण्यौः । प्र-पदोः ।
च । यत् । आपः । तत् । सर्वम् । निः । कुरन् । भिषजाम् ।
सुभिषक्-तमाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [दुःख] (मे) मेरे (अक्षयोः) दोनों नेत्रों में
(पाण्यौः) दोनों गड़ियों में, (च) और (यत्) जो (प्रपदोः) पांव के दोनों

१—(हिमवतः) अ० ५ । ४ । २ । हि गतौ वृद्धौ च—मक् । गांतशी-
लाद् वृद्धिशीलाच्च परमेश्वरात् हिमयुक्तात् पर्वतात् (प्र) प्रकर्षेण (स्रवन्ति)
बहन्ति (सिन्धौ) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीले संसारे सागरे वा (समह)
अ० । ५ । ४ । १० । हे महेन महिम्ना सह वर्तमान (संगमः) संसर्गः (आपः)
अ० । १ । ४ । ३ । व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (ह) अवश्यम्
(मह्यम्) उपासकाय (तत्) प्रसिद्धम् (देवीः) देव्यः । दिव्याः (ददन्)
लेटि रूपम् । ददतु (हृद्द्योतभेषजम्) हृदयदाहनिवर्तकमौषधम् ॥

२—(यत्) दुःखम् (मे) मम (अक्षयोः) अ० २ । ३३ । १ । अक्षयोः
(आदिद्योत) घुन दीप्तौ लिटि च्छान्दसं परस्मैपदम् । आदिद्युते । समन्ताद्

सू० २४ [१८९]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२२७)

पंजों में (आदिद्योत) चमक उठा है । (भिषजाम्) वैद्यों में (सुभिषक्तमाः) अति पूजनीय वैद्य रूप (आपः) परमेश्वर की व्यापक शक्तियां वा जलधारायें (तत्) उस (सर्वम्) सब को (निष्करन्) हटावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों के गुण जान कर अपना रोग निवारण करे ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यः १ स्थनः ।

दत्त नुस्तस्य भेषजं तेन वा भुनजामहै ॥ ३ ॥

सिन्धु-पत्नीः । सिन्धु-राज्ञीः । सर्वाः । याः । नद्यः । स्थनः ।

दत्त । नुः । तस्य । भेषजम् । तेन । वः । भुनजामहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सिन्धुपत्नीः) बहने वाले संसार [वा समुद्र] की पालने वाली, (सिन्धुराज्ञीः) बहने वाले जगत् की शासन करने वाली, [वा समुद्र की शोभा बढ़ाने वाली] (याः) जो तुम (सर्वाः) सब शक्तियां (नद्यः) [परमेश्वर की] स्तुति करने वाली [वा नदियां] (स्थन) हो । वे तुम (नः)

दिदीपे (पाण्योः) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागयोः (प्रपदोः) अ० २ ३३ । ५ । पादस्य पदूभावः । पादाग्रभागयोः (च) (यत्) (आपः) व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (तत्) सर्वम् । सकलं दुःखम् (निष्करन्) अ० २ । ६ । ५ । लेटि रूपम् । इदुदुपधस्य० । पा० ८ । ३ । ४१ । इति षत्वम् । वहिष्कुर्वन्तु (भिषजाम्) वैद्यानां मध्ये (सुभिषक्तमाः) अतिशयेन पूजनीया वैद्यरूपाः ॥

३—(सिन्धुपत्नीः) विभाषा सपूर्वस्य । पा० । ४ । १ । ३४ । इति डीप्नकारौ । सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य संसारस्य समुद्रस्य वा पत्न्यः पालयिष्यः (सिन्धुराज्ञीः) सिन्धोः स्यन्दशीलस्य जगतो राज्ञः शासिकाः, यद्वा समुद्रस्य राजयिष्यः शोभयिष्यः (सर्वाः) (याः) (नद्यः) एतद् भाषयां चुग०—अच्, डीप् । ऋषिर्नदोभवति नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५ । २ । स्त्रोत्र्यः परमेश्वर-गुणनाम्, अथवा जलप्रवाहाः (स्थन) तप्तनप्तनधनाश्च । पा० । ७ । १ । ४५ । इति धन् । स्थ । भवथ (दत्त) प्रयच्छत (नः) अस्मभ्यम् (तस्य) तर्द्द हिंसायाम्-ड । हिंसकस्य रोगस्य (भेषजम्) औषधम् (तेन) (वः)

(१२२८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २५ [१८८]

हमें (तस्य) हिंसक रोग की (भेषजम्) ओषधि (दत्त) दो, (तेन) उससे (वः) तुम्हारे [गुणों को] (भुनजामहै) हम भागें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये अनन्त रचनायें की हैं, उसकी उपासना करके मनुष्य सदा शान्ति पावे और जल द्वारा रोग निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २५ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अप्रचितामिव ॥ १ ॥

पञ्च । च । याः । पञ्चाशत् । च । सम्-यन्ति । मन्याः ।
अभि । इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अप्रचिताम्-इव ॥

भाषार्थ—(पञ्च) पांच (च च) और (पञ्चाशत्) पचास (याः) जो पीड़ायें (मन्याः अभि) गले की नसों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्त होती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहाँ से (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें, (इव) जैसे (अप्रचिताम्) निर्बलों के (वाकाः) बचन [नष्ट हो जाते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सद्बैद्य गले के गंडमाला आदि रोगों को नष्ट करता है इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों का निवारण करे ॥ १ ॥

युष्माकं गुणान् (भुनजामहै) भुज पालनाभ्यवहारयोः । भुजोऽनवने । पा० १ । ३ । ६६ । इत्यात्मनेपदम् । उपजीवाम ॥

१—(पञ्च च पञ्चाशच्च) पञ्चाधिकपञ्चाशत्संख्याकाः (याः) पीड़ा (संयन्ति) सर्वतो व्याप्नुवन्ति (मन्याः) मन धृतौ-क्यप्, टाप् । ग्रीवायाः पश्चात् शिराः (अभि) प्रति (इतः) अस्मादेशात् (ताः) पीड़ाः (सर्वाः) (नश्यन्तु) अदृष्टा भवन्तु (वाकाः) वच् व्यक्तायां वाचि—घञ् कुत्वम् । वचनानि (अप्रचिताम्) अप+चिञ् हीनकरणे—किप् । हीनानां निर्बलानाम् ॥

सुप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अप्रचितामिव ॥ २ ॥

सुप्त । च । याः । सप्ततिः । च । सुम्-यन्ति । ग्रैव्याः । अभि ।

इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अप्रचिताम्-इव ॥२॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (च च) और (सप्ततिः) सत्तर (याः) जो पीड़ायें (ग्रैव्याः अभि) कण्ठ की नाड़ियों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्ती हैं (ताः सर्वाः) वे सब.....म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के सामान ॥ २ ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अप्रचितामिव ॥ ३ ॥

नव । च । याः । नवतिः । च । सुम्-यन्ति । स्कन्ध्याः । अभि ।

इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अप्रचिताम्-इव ॥३॥

भाषार्थ—(नव) नव (च च) और (नवतिः) नब्बे (याः) जो पीड़ायें (स्कन्ध्याः अभि) कन्धे की नाड़ियों में (संयन्ति) व्याप्ती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब.....म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के सामान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २६ ॥

१-३ ॥ पाप्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कष्टत्यागायोपदेशः—कष्ट त्यागने के लिये उपदेश ॥

अव मा पाप्मन्सृज वृशी सन् मृडयासि नः ।

२—(सप्त च सप्ततिश्च) सप्ताधिकसप्ततिसंख्याकाः (ग्रैव्याः) गम्भीराञ्ज्यः । पा० ४ । ३ । ५८ । इति बाहुलकात् ग्रीवा—ञ्ज्य । ग्रीवासु भवा नाडीः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

३—(नव च नवतिश्च) नवोत्तरनवतिसंख्याकाः (स्कन्ध्याः) स्कन्ध —यत्, स्कन्धे भवा धमनीः । अन्यद्गतम् ॥

आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेहि विहृतम् ॥ १ ॥

अव । मा । पाप्मन् । सृज । वशी । सन् । मृडयासि । नः ।

आ । मा । भद्रस्य । लोके । पाप्मन् । धेहि । अवि-हृतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (मा) मुझे (अव सृज) छोड़ दे और (वशी) वश में पड़ने वाला (सन्) होकर तू (नः) हमें (मृडयासि) सुख दे (पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (भद्रस्य) आनन्द के (लोके) लोक में (मा) मुझे (अविहृतम्) पीड़ा रहित (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) रख ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पुरुषार्थ से विघ्नों को हटाते हैं, वे आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

यो नः पाप्मन् न जहासि तमुत्वा जहिमो वयम् ।

पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

यः । नः । पाप्मन् । न । जहासि । तम् । ऊ-इति । त्वा ।

जहिमः । वयम् । पथाम् । अनु । वि-आवर्तने । अन्यम् ।

पाप्मा । अनु । पद्यताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (यः) जो तू (नः) हमें (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है, (तम्) उस (त्वा) तुझ को (उ) ही (वयम्) हम (जहिमः) छोड़ते हैं । (अनु) फिर (पथाम्) मार्गों के (व्यावर्तने)

१—(मा) माम् (पाप्मन्) अ० १ । ३ । ३१ । १ । हे दुःखप्रद विघ्न (अव सृज) विमोचय (वशी) अ० १ । २१ । १ । आयत्तः (सन्) (मृडयासि) अ० ५ । २२ । ६ । सुखयेः (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (मा) माम् (भद्रस्य) कल्याणस्य (लोके) स्थाने (धेहि) स्थापय (अविहृतम्) तु हरे शृण्वसि । पा० ७ । २ । ३१ । इति ह कौटिल्ये निष्ठयां ह्यभावः । अपीडितम् ॥

२—(यः) यस्त्वम् (नः) अस्मान् (पाप्मन्) हे दुःखप्रद विघ्न (न) निषेधे (जहासि) ओ हाक् त्यागे । त्यजसि (तम्) (उ) एव (त्वा) (जहिमः) ओहाक् त्यागे । त्यजामः (वयम्) धर्मिकाः (पथाम्) मार्गाणाम्

सू० २६ [१८८]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१२३१)

धुमाव पर (अन्यम्) दूसरे [अधर्मी] को (पाप्मा) दुःखदायी विघ्न
(अनु पद्यताम्) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावाय—अधर्मी लोग अनेक विघ्नों में पड़कर दुःख उठाते हैं। और
धर्मात्मा विघ्नों को हटा कर सुख पाते हैं ॥ २ ॥

अन्यत्रास्मन्त्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।

यं द्वेषाम् तम् च्छतु यम् द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अन्यत्र । अस्मत् । नि । उच्यतु । सहस्त्र-अक्षः । अमर्त्यः ।

यम् । द्वेषाम् । तम् । च्छतु । यम् । ज्जहि । द्विष्मः ।

तम् । इत् । ज्जहि ॥ ३ ॥

भावाय—(सहस्राक्षः) सहस्रों [दोषों] में दृष्टि रखने वाला,
(अमर्त्यः) मनुष्यों का हित न करने वाला [विघ्न] (अस्मत्) हम से (अन्यत्र)
दूसरों में (नि) नित्य (उच्यतु) प्राप्त हो। (यम्) जिसको (द्वेषाम्) हम बुरा
जानें, (तम्) उसको (च्छतु) बह [विघ्न] प्राप्त हो। और (यम्)
जिसको (उ) ही (द्विष्मः) हम बुरा जानते हैं, (तम्) उसको (इत्) ही
(जहि) नाश कर ॥ ३ ॥

भावाय—मनुष्यों को अनेक दोषों के कारण बड़े हानिकारक विघ्न
रोकते हैं। इस लिये मनुष्यों को पुरुषार्थ पूर्वक विघ्न हटाना योग्य है ॥ ३ ॥

(अनु) पश्चात् । पुनः (व्यावर्तने) वृत्तु वर्तने-ल्युट् । निवृत्तिस्थाने (अन्यम्)
अधार्मिकम् (पाप्मा) दुःखप्रदो विघ्नः (अनु पद्यताम्) प्राप्नोतु ॥

३—(अन्यत्र) पापात्मसु (अस्मत्) अस्मत्तः । सुकर्मभ्यः (नि)
नितराम् (उच्यतु) उच्च समवाये । गच्छतु (सहस्राक्षः) अ० । ३ । ११ । ३
सहस्रेषु बहुषु दोषेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः (अमर्त्यः) तस्मै हितम् । पा० । ५ ।
१ । ५ । इति यत् । मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्योऽहितः (यम्) विघ्नम् (द्वेषाम्) अप्रीतिं
करवाम (तम्) (च्छतु) प्राप्नोतु (यम्) (उ) अवधारणे (द्विष्मः)
अप्रीतिं कुर्मः (तम्) (इत्) पच (जहि) नाशय ॥

सूक्तिम् ॥ २७ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निऋत्या इदम् ।
जुगाम् । तस्मै अर्चाम कृण्वाम निष्कृतिं शंनो अस्तु
द्विपदेशं चतुष्पदे ॥ १ ॥

देवाः । कपोतः । इषितः । यत् । इच्छन् । दूतः । निः-ऋत्याः
इदम् । आ-जुगाम् । तस्मै । अर्चाम् । कृण्वाम् । निः-कृतिम् ।
शम् । नः । अस्तु । द्वि-पदे । शम् । चतुः-पदे ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्तियों, (निऋत्याः)
अलक्ष्मी का (दूतः) नाश करने वाला, (कपोतः) वरणीय वा स्तुति योग्य
[अथवा, कबूतर पक्षी के समान दूरदर्शी और तीक्ष्ण बुद्धि] पुरुष (यत्)
पूजनीय ब्रह्मा को (इच्छन्) खोजता हुआ, (इदम्) इस स्थान में (आजगाम)
आया है । (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (अर्चाम्) हम पूजा करें और
(निष्कृतिम्) अपनी निर्मुक्ति (कृण्वाम) हम करें, [जिससे] (नः) हमारे

१—(देवाः) हे विद्वान्सः (कपोतः) कबूतर-पक्ष । उ० १ । ६२ ।
इति कबू वरणीं स्तुतौ च-ओतच् । बस्य पः । वरणीयः । स्तुत्यः । अथवा कपोत-
पक्षिवद् दूरदर्शी तीक्ष्णबुद्धिश्च विद्वान् (इषितः) पिशेः क्तिच् । उ० ३ । ६५ ।
इति इष गतौ-इतन्, स च कित् । प्राप्तव्यः (यत्) त्यजितनियजिभ्यो ङित् । उ०
१ । १३२ । इति यज्—अदि, स च ङित् । यजनीयं पूजनीयं ब्रह्मा (इच्छन्)
अन्विच्छन् (दूतः) अ० १ । ७ । ६ । दु दु उपतापे-क्त, दीर्घश्च, सन्तापको
नाशकः (निऋत्याः) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्म्याः (इदम्) समीपस्थानम्
(आजगाम) आगतवान् (तस्मै) कपोताय । विदुषे (अर्चाम्) पूजां करवाम
(कृण्वाम) करवाम (निष्कृतिम्) बहिर्गमनम् । दुःखाद् निर्मुक्तिम् (शम्)

सू० २७ [२००]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२३३)

(द्विपदे) दो पाये समूह को (शम्) शान्ति और (चतुष्पदे) चौपाये समूह को (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जैसे कवृतर दूर देशों में सन्देश लेजाकर उत्तर लाते हैं, उसी प्रकार दूरदर्शी और बुद्धिमान् ब्रह्मज्ञानी विद्वानों से मनुष्य आदरपूर्वक विद्या प्राप्त करके और दुःखों से मुक्ति पाकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १०। सू० १६५। म० १-३। अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋक् संहिता में [कपोतो नैऋतः] कपोत निर्ऋतिका पुत्र ऋषि और [कपोतोपहतौ प्रायश्चित्तं कैश्वदेवम्] कपोत के हनन में, विश्वेदेवा, सब विद्वानों का प्रायश्चित्त देवता है ॥

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो
गृहं नः । अग्निर्हि विप्रो जुषतां हुविर्नः परि हेतिः
पुक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

शिवः । कपोतः । इषितः । नः । अस्तु । अनागाः । देवाः ।
शकुनः । गृहम् । नः । अग्निः । हि । विप्रः । जुषताम् । हुविः ।
नः । परि । हेतिः । पुक्षिणी । नः । वृणक्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्ति योग्य (अनागाः) निर्दोष, (शकुनः) समर्थ (कपोतः) स्तुतियोग्य विद्वान् (नः) हमारे लिये और (नः) हमारे (गृहम् = गृहाय) घर के लिये (शिवः) मङ्गलकारी (अस्तु) होवे । (अग्निः) वह विद्वान् (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष (नः) हमारे (हुविः)

शान्तिः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (द्विपदे) पादद्वयोपेताय मनुष्यादये (शम्) (चतुष्पदे) पादचतुष्टयोपेताय गवाश्वादये ॥

२—(शिवः) सुखकरः (कपोतः) म० १। स्तुत्यो दूरदर्शी पुरुषः (इषितः) म० १। प्राप्तव्यः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अनागाः) निर्दोषः (देवाः) हे विद्वांसः (शकुनः) शकरोन्तोन्त्युनयः । उ० ३। ४६। इति शकल-शकौ-उन । शक्तः समर्थः (गृहम्) चतुर्थ्यां प्रथमा । गृहाय (नः) अस्माकम् (अग्निः) विद्वान् (हि) निश्चयेन (विप्रः) मेधावी-निघ० ३। १५। (जुष-

देने लेने योग्य कर्म को (हि) अवश्य (जुपताम्) स्वीकार करे । (पक्षिणी) पक्षपातवाली (हेतिः) चोट (नः) हमें (परि) सब ओर से (वृणक्तु) छोड़े ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पूर्ण विद्वानों के सःसंग से सुशिक्षित होकर अन्याय से पक्षपात न करे ॥ २ ॥

हेतिः पक्षिणी न दंभात्यस्मान्।ष्ट्री पदं कृणुते
अग्निधाने । शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा
नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

हेतिः । पक्षिणी । न । दंभाति । अस्मान् । आष्ट्री इति ।
पदम् । कृणुते । अग्नि-धाने । शिवः । गोभ्यः । उत । पुरु-
षेभ्यः । नः । अस्तु । मा । नः । देवाः । इह । हिंसीत् । कपोतः ॥

भाषार्थ—(पक्षिणी) पक्षपात वाली (हेतिः) चोट (अस्मान्) हमें
(न) न (दंभाति) दबावे । (आष्ट्री) व्याप्त सभा के बीच (अग्निधाने)
विद्वानों के स्थान पर [वह विद्वान्] (पदम्) अपना अधिकार (कृणुते)
करता है । (देवाः) हे विद्वानो ! (कपोतः) स्तुतियोग्य पुरुष (नः) हमारी
(गोभ्यः) गऊओं के लिये (उत) और (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवः)

ताम्) सेवताम् । स्वीकरोतु (हविः) दातव्यं आह्वं कर्म (नः) अस्माकम्
(परि) सर्वतः (हेतिः) अ० १ । १३ । ३ । हननसाधनम् । वज्रः (पक्षिणी)
पक्ष परिग्रहे—अच, इनि, डीप् । पक्षपातयुक्ता । अन्यायेन साहाय्यकारिणी
(नः) अस्मान् (वृणक्तु) वर्जयतु ॥

३—(हेतिः) हवनशक्तिः (पक्षिणी) पक्षपातयुक्ता (नः) निषेधे
(दंभाति) लेटि रूपम् । हिनस्तु (अस्मान्) सदस्यान् (आष्ट्री) अस्त्रिगमि-
नमि० । उ० ४ । १६० । इति अशू व्याप्तौ-ष्ट्रन् वृद्धिश्च, डीप् । सुपां सुलुक्
पा० ७ । १ । ३६ । इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णाः, प्रगृह्य च । आष्ट्र्यां व्याप्त्या
सभायाम् (पदम्) अधिकारम् (कृणुते) करोति (अग्निधाने) अग्नीति
विदुषां स्थाने (शिवः) सुखकरः (गोभ्यः) गवादिपशुभ्यः (उत) अपि च

सू० २८ [२०१]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२३५)

मङ्गलकारी (अस्तु) होवे । और (नः) हमें (इह) यहां पर (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस सभा में सभापति वेदानुगामी न्यायकारी होता है, वहां के सभासद अन्यायी पक्षपाती नहीं होते और न दुःख उठाते हैं ॥ ३ ॥

सूत्रम् ॥ २८ ॥

१-३ विश्वेदेवा देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप् ॥

विद्वगुणोपदेशः—विद्वान् के गुणों का उपदेश ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां
नयामः । संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं
प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥

ऋचा । कपोतम् । नुदत । प्र-नोदम् । इषम् । मदन्तः ।
परि । गाम् । नयामः । सुम्-लोभयन्तः । दुः-इता । पदानि ।
हित्वा । नुः । ऊर्जम् । प्र । पदात् । पथिष्ठः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (ऋचा) स्तुति से (प्रणोदम्) आगे बढ़ाने वाले (कपोतम्) स्तुति योग्य विद्वान् को (नुदत) आगे बढ़ाओ । (मदन्तः) हर्ष करते हुये और (दुरिता) दुर्गति के कारण (पदानि) चिह्नों कां (संलोभयन्तः) मिटाते हुये हम लोग (इषम्) अन्न और (गाम्] विद्या को (परि)

(पुरुषेभ्यः) मनुष्यादिप्राणिभ्यः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (नः) अस्मान् (इह) अस्यां सभायाम् (मा हिंसीत्) न हन्तु (कपोतः) म० १ । स्तुत्यो विद्वान् ॥

१—(ऋचा) ऋच स्तुतौ-किप् । स्तुत्या । वेदमन्त्रेण (कपोतम्) सू० २७ । म० १ । स्तुत्यं दूरदर्शिनं पुरुषम् (नुदत) प्रेरयत (प्रणोदम्) शुद्ध प्रेरणे—विच् । प्रेरकं नायकम् (इषम्) अन्नम् (मदन्तः) हर्षन्तः (परि) सर्वतः (गाम्) विद्याम् (नयामः) प्रापयामः (संलोभयन्तः) लुभ विमोहने तुदा० शतृ । विमोहयन्तो नाशयन्तः (दुरिता) दुरितानि दुर्गतिनिमित्तानि (पदानि) चिह्नानि (हित्वा) दुष्प्राज्ञ धारणपोषणयोः, दाने च, -त्वा । धृत्वा ।

(१२३६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २८ [२०१]

सब ओर (नयामः) पहुंचाते हैं । (पथिष्ठः) वह अति शीघ्रगामी विद्वान् (नः) हमें (ऊर्जम्) पराक्रम (हित्वा) देकर (प्र पदात्) आगे ठहरे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उद्योगी पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष को अपना नेता बना कर उन्नति करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ । ५ ।

परीमे ३१ ग्निमर्षत परीमे गामनेषत ।

देवेष्वक्रतु अवः क इ माँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

परि । इमे । अग्निम् । अर्षत । परि । इमे । गाम् । अनेषत ।
देवेषु । अक्रतु । अवः । कः । इमान् । आ । दधर्षति ॥२॥

भाषार्थ—(इमे) इन पुरुषों ने (अग्निम्) विद्वान् को (परि) सब ओर (अर्षत) प्राप्त किया है, (इमे) इन्होंने (गाम्) विद्या को (परि) सब ओर (अनेषत) पहुंचाया है । और (देवेषु) विद्वानों में (अवः) यश (अक्रतु) किया है । (कः) कौन (इमान्) इन लोगों को (आ दधर्षति) जीत सकता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों से विद्या पाकर कीर्ति पाते हैं, वे सदा विजयी होते हैं ॥ २ ॥

यः प्रथमः प्रवर्तमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपश्यशानः ।

दत्वा (नः) अस्मभ्यम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (प्र) प्रकर्षेण (पदात्) पद स्थैर्ये गतौ च—लेट् । तिष्ठतु । गच्छतु (पथिष्ठः) पथित्—इष्टन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । अतिशयेन गन्ता । महापुरुषार्थी ॥

२—(परि) परितः । सर्वतः (इमे) विद्यार्थिनो मनुष्याः (अग्निम्) विद्वान्सम् (अर्षत) ऋष गतौ । प्राप्तवन्तः (परि) (इमे) (गाम्) विद्याम् (अनेषत) एषन् प्रापणे—लुङ् । प्रापितवन्तः (देवेषु) विद्वत्सु (अक्रतु) कृतवन्तः (अवः) यशः (कः) शत्रुः (इमान्) समीपवर्तिनो वीरान् (आ) समन्तात् (दधर्षति) धृष अभिभवे, शपः शलुः । जयति ॥

श्रु० २८ [२०२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२३७)

यो ३-स्येशे द्वि-पदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो
अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । प्रथमः । प्र-वतम् । आससाद । बहुभ्यः । पन्थाम् । अनु-
पस्पृशानः । यः । अस्य । ईशे । द्वि-पदः । यः । चतुः-पदः ।
तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) गुणियों में पहिला पुरुष (बहुभ्यः)
अनेकों के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पृशानः) खोजता हुआ (प्रवतम्)
उत्तम पाने योग्य अधिकार पर (आससाद) आया है । और (यः) जो
(अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह का (यः) और जो (चतुष्पदः)
चौपाये समूह का (ईशे=ईष्टे) राजा है (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी
पुरुष को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु)
होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वश्रेष्ठ पुरुष संसार के उपकार के लिये सन्मार्ग दिखा-
कर सबकी रक्षा करता है, सब मनुष्य विपत्ति से बचने के लिये उस न्यायी
बीर पुरुष का सत्कार करें ॥ ३ ॥

मुक्तम् ॥ २८ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुभनुष्टपो ॥

शुभगुणग्रहणायोपदेशः—शुभ गुण ग्रहण करने का उपदेश ॥

अमून् हेतिः पंतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमे-

३—(यः) (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठः (प्रवतम्) अ० ३ । १ । ४ । धात्वर्थे
वतिः । प्रगमनीयमधिकारम् (आससाद) आजगाम । प्राप (बहुभ्यः) बहु-
प्राणिनां हिताय (पन्थाम्) नकारलोपः । पन्थानम् । सन्मार्गम् (अनुपस्पृ-
शानः) स्पृश वाधनस्पर्शनयोः—शानच् छन्दसि शपः श्लुः । अनुस्पृशन् । अन्वि-
च्छन् (यः) (अस्य) (ईशे) तलोपः । ईष्टे । राजति (द्विपदः) पादद्वयोपे-
तस्य मनुष्यादेः (यः) (चतुष्पदः) गवादिप्राणिजातस्य (तस्मै) तादृशाय
(यमाय) न्यायकारिणे पुरुषाय (नमः) नमस्कारः (अस्तु) भवतु (मृत्यवे)
अ० ५ । ३० । १२ । अग्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । मृत्युं नाशयितुम् ॥

तत् । यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

अमून् । हेतिः । पतत्रिणी । नि । एतु । यत् । उलूकः । वद-
ति । मोघम् । एतत् । यत् । वा । कपोतः । पदम् । अग्नौ ।
कृणोति ॥ १ ॥

भाषाय—(पतत्रिणी) नीचे गितने वाली (हेतिः) चोट (अमून्)
उन [शत्रुओं] को (नि) नीचे (एतु) ले जावे । (उलूकः) अज्ञान से ढकने
वाला उल्लू के समान मूर्ख पुरुष (यत्) जो कुछ (वदति) बोलता है,
(पतत्) वह (मोघम्) निरर्थक होवे । (यत्) क्योंकि (कपोतः) स्तुति
योग्य अथवा कबूतर के समान तीव्र बुद्धि पुरुष (अग्नौ) विद्वानों के समूह में
(वा) निश्चय करके (पदम्) अधिकार (कृणोति) करता है । १ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वन् मनुष्य अधिकारी होते हैं, वहां पर मूर्ख
शत्रुओं के वचन और कर्म निष्फल होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का दूसरा और तीसरा पाद ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ ॥४॥

यौ ते दूतौ निःशृत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गुहं
नः । कपोतोऽलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥

यौ । ते । दूतौ । निः-शृते । इदम् । आ-इतः । अप्र-हितौ ।
प्र-हितौ । वा । गुहम् । नः । कपोत-उलूकाभ्याम् । अपदम् ।
तत् । अस्तु ॥ २ ॥

२—(अमून्) धर्माद् दूरे वर्तमानान् शत्रून् (हेतिः) हवनशक्तिः
(पतत्रिणी) अधोगामिनी (नि) नीचैः (एतु) अन्तर्गतार्थः । गमयतु
(यत्) यत्किंचित् (उलूकः) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । इति बल सम्बन्धे
ऊक । अज्ञानेनाच्छादकघूकवद् मूर्खः शत्रुः (वदति) कथयति (मोघम्) मुद्
अविवेके—वज्र, कुत्वम् । अनर्थकम् (एतत्) वचनम् (यत्) यस्मात् (वा)
अवधारणे (कपोतः) सू० २७ । १ । स्तुत्यः पुरुषः । यद्वा कपोतवत् तीव्रबुद्धिः
(पदम्) अधिकारम् (अग्नौ) विद्वत्समूहे (कृणोति) करोति ॥

सू० २८ [२०२]

षष्ठं. कारण्डम् ॥ ६ ॥

(१२३६)

भाषार्थ—(निऋते) हे नित्य मङ्गल देने वाले परमेश्वर ! (यौ) जो (अप्रहितौ) अहित करनेवाले (वा) और (प्रहितौ) हित करने वाले (ते) तेरे (दूतौ) विज्ञान कराने वाले दोनों गुण (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर में (आ—इतः) आते हैं । (कपोतोलूकाभ्याम्) उन विज्ञान से स्तुति के योग्य और अज्ञान से ढकने वाले गुणों द्वारा (तत्) विस्तृत ब्रह्म (अपदम्) न प्राप्ति योग्य दुःख को (अस्तु=अस्यतु) गिरा देवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था से सुख और दुःख दोनों का अनुभव करके सुख के मूल सुकर्म का ग्रहण, और दुःख के कारण दुकर्म का त्याग करें ॥ २ ॥

अवैरुहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा संस-
द्यात् । पराङ्मेव परा वद पराचीमनु संवतम् । यथा
यमस्य त्वा गुहेऽसं प्रतिचाकशान् । भूकं प्रतिचाकशान् ॥३
अवैरुहत्यायै । इदम् । आ । पपत्यात् । सु-वीरतायै । इ-
दम् । आ । संसद्यात् । पराङ् । एव । परा । वद । पराचीम् ।
अनु । सम्-वतम् । यथा । यमस्य । त्वा । गुहे । असम् ।
प्रति-चाकशान् । आभूकम् । प्रति-चाकशान् ॥ ३ ॥

२—(यौ) (ते) त्वदीयौ (दूतौ) दूतो विज्ञापकः—दयानन्दभाष्ये,
ऋग्० १।७२। ७। विज्ञापकौ गुणौ (निऋते) ऋ गतौ—किन् । नितरां
ऋतिर्मङ्गलं कल्याणं यस्मात्सः । हे नित्यसुखप्रद परमेश्वर ! निऋतिः पृथि-
वीनाम-निघ० १।१। (इदम्) (पतः) आगच्छतः (अप्रहितौ) अप्रीतिकरौ
(प्रहितौ) हितकारकौ (वा) समुच्चये (गृहम्) निवासम् (नः) अस्माकम्
(कपोतोलूकाभ्याम्) कपोतो विज्ञानेन स्तुत्यो गुणः—सू० २७।१। उलूकः,
अज्ञानेनाच्छादको गुणः—म० १। ताभ्यां द्वाभ्याम् (अपदम्) अप्रापणीयं
दुःखम् (तत्) त्यजितम् । उ० १। १३२। इति तनु-अदि, स च डित् । विस्तृतं
ब्रह्म (अस्तु) अदातित्वं छान्दसम् । अस्यतु क्षिपतु ॥

भाषार्थ—[स्तुति के योग्य कपोत विद्वान्] (अबैरहत्याय) वीरों के न मारने के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ=आगत्य) आकर (पपत्यात्) समर्थ होवे और (सुवीरतायै) बड़े वीरों के हित के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ) आकर (ससद्यात्) बैठे । [हे उल्लू के समान मूर्ख शत्रु !] (पराङ्) औंधे मुख होकर (पराचीम्) अधोगत (संवतम्) संगति की (अनु=अनुलक्ष्य) ओर (परा) दूर होकर (एव) ही (वद) बात कर । (यथा) क्योंकि (यमस्य) न्यायकारी पुरुष के (गृहे) घर में (त्वा) तुझ को (असम्) निर्बल (प्रतिचाकशान्) लोग देखें, और (आभूकम्) असमर्थ (प्रतिचाकशान्) वे देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी जन का सहाय लेकर न्यायपूर्वक श्रेष्ठ वीरों की रक्षा और मूर्ख दुराचारियों का नाश करके सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१-३ ॥ सरस्वती शमी वा देवता ॥ १ जगती; २ विराट् ३ उष्णिक् ॥

विद्यागुणोपदेशः । विद्या के गुणों का उपदेश ॥

दे वा इमं मधु'ना संयु'तं यवं सर'स्वत्यामधि मृणाव-
चर्कृ'षुः । इन्द्र' आसीत् सीर'पतिः शूतक्र'तुः कीनाशा
आसन् मरुतः सुदान'वः ॥ १ ॥

३—(अबैरहत्याय) वीर—अण् समूहार्थे + हन क्यप् । वीराणाम् अहननाय रक्षणाय (इदम्) अस्माकं गृहम् (आ) आगत्य (पपत्यात्) पत ऐश्वर्ये । पत्यताम् । समर्थो भवतु (सुवीरतायै) समूहार्थे तल् । श्रेष्ठवीराणां हिताय (आ) आगत्य (ससद्यात्) सीदतु स कपोतः (पराङ्) अधोमुखः सन् (एव) अवधारणे (परा) दूरे (वेद) कथय, हे उल्लू शत्रो (पराचीम्) परा + अश्नु गतौ—किन्, डीप् । अधोगताम् (अनु) अनुलक्ष्य (संवतम्) उपसर्गाच्छन्दसि० । पा० ५ । १ । ११८ । इति गत्यर्थे वतिः । संगतिम् (यथा) यस्मात्कारणात् (यमस्य) न्यायिनः पुरुषस्य (त्वा) त्वाम् । उलूकम् (गृहे) न्यायालये (असम्) निर्बलम् (प्रतिचाकशान्) काश्च दीप्तौ, यङ्लुकि-लेट् । अवचाकशत् पश्यति कर्मा—निघ० ३ । ११ । जनाः प्रतिपश्येयुः (आभूकम्) स्वृभू० । उ० ३ । ४१ । इति आङ् ईषदर्थे + भू—कक् । असमर्थम् (प्रतिचाकशान्) प्रत्यक्षः पश्येयुः ॥

सू० ३० [२०३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२४१)

दे॒वाः । इ॒मम् । म॒धु॒ना । स॒म्-यु॑तम् । य॒वम् । सर॑स्वत्याम् ।
अ॒धि । म॒णौ । अ॒च॒र्क॑षुः । इ॒न्द्रः । आ॒सीत् । सी॒र-प॑तिः । श॒त-
क्र॑तुः । की॒नाशाः । आ॒सन् । म॒रुतः॑ । सु॒दान॑वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोगों ने (मधुना) मधुर रस वा ज्ञान से (संयुतम्) मिले हुये (इमम्) इस (यवम्) यव अन्न को (सरस्वत्याम् अधि) विज्ञान से युक्त वेद विद्या को अधिष्ठात्री मानकर (मणौ) उसके श्रेष्ठपन में (अचर्कषुः) बार बार जोता । (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्म वा बुद्धि वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् आचार्य (सीरपतिः) हल का स्वामी (आसीत्) था और (सुदानवः) बड़े दानी (मरुतः) विद्वान् पुरुष (कीनाशाः) परिश्रमी किसान (आसन्) थे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग आचार्य के उपदेश से वेदविद्या को प्रधान मान कर उसकी उत्तमता को खोज कर ऐसा आनन्द पाते हैं जैसे किसान लोग अपने स्वामी की आज्ञा से विधिपूर्वक खेत में बीज बोकर अन्न प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ॥ १ ॥

य॒रुते॒ म॒दोऽव॑के॒शो त्रि॑के॒शो ये॒नाभि॑हस्यं॒ पुरु॑षं कृ॒णोषि॑ ।
आ॒रात् त्वद॒न्या व॑नानि वृ॒क्षि त्वं श॑मि श॒तव॑ल्शः । वि॒रोह॑र

१—(देवाः) विद्वांसः (इमम्) प्रत्यक्षम् (मधुना) मधुररसेन ज्ञानेन वा (संयुतम्) सम्मिलितम् (यवम्) यु मिश्रणमिश्रणयोः—अप् । यवान्नवद् मोक्षसुखम् (सरस्वत्याम् अधि) अधिरीश्वरे । पा० १ । ४ । ६७ । इति अधेः कर्मप्रवचनीयत्वम् । यस्मादधिकं यस्य० । पा० ३ । २ । ६ । इति सप्तमी । विज्ञानवर्ती वेदविद्यां सर्वाधिष्ठात्रीं मत्वा (मणौ) स्तुत्ये श्रेष्ठगुणे (अचर्कषुः) कृष विलेखने यङ्लुकि लुङि । भृशं कृष्टवन्तः कर्षणेन प्राप्तवन्तः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् आचार्यः (आसीत्) (सीरपतिः) हलस्य स्वामी । प्रधानकर्षकः (शतक्रतुः) क्रतुः कर्म नाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । बहुकर्मदक्षः । बहुप्रज्ञः (कीनाशाः) अ० ३ । १७ । ५ । परिश्रमिणः कर्षकाः (आसन्) (मरुतः) अ० १ । २० । १ विद्वांसः शूराः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । (सुदानवः) बहुदातारः ॥

यः । ते । मदः । अव-केशः । वि-केशः । येन । अभि-हस्यम् ।
पुरुषम् । कृणोषि । आरात् । त्वत् । अन्या । वनानि । वृत्ति ।
त्वम् । शुम्नि । शत-वल्शा । वि । रोह ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शमि) हे शान्ति करने वाली [सरस्वती !] (यः) जो
(ते) तेरा (मदः) आनन्द (अवकेशः) शुद्ध प्रकाश वाला और (विकेशः)
विविध प्रकाश वाला है, (येन) जिससे (पुरुषम्) पुरुष को (अभिहस्यम्)
बड़ा खिलने योग्य (कृणोषि) तू करती है । (त्वत्) तुझ से (अन्या) भिन्न
[अविद्यारूप] (वनानि) मांगने के कर्मों को (आरात्) दूर (वृत्ति) मैंने
छोड़ दिया है । (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैकड़ों कुर वा शाखा वाली होकर
(वि) विविध प्रकार से (रोह) प्रकट हो ॥ २ ॥

भावार्थ—योगी जन विद्या की प्राप्ति से अज्ञान को मिटा कर “ऋत-
म्भरा” बुद्धि द्वारा अनेक सुख पाते हैं ॥ २ ॥

बृहत्पलाशे सुभंगे वर्षवृद्धे ऋतावरि ।

मातेव पुत्रेभ्यो मृडु केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

बृहत्-पलाशे । सु-भंगे । वर्ष-वृद्धे । ऋत-वरि । माता-इव ।
पुत्रेभ्यः । मृडु । केशेभ्यः । शुम्नि ॥ ३ ॥

२—(यः) (ते) तव (मदः) हर्षः (अवकेशः) केशी केशा रश्मय-
स्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा-निरु० १२। २५ । शुद्धप्रकाशः
(विकेशः) विविधप्रकाशः (येन) मदेन (अभिहस्यम्) हस विकशने-यत् ।
अभितो हसनीयं विकाशनीयम् (पुरुषम्) (कृणोषि) करोषि (आरात्) दूरे
(त्वत्) त्वत्तः (अन्या) अन्यानि । विरुद्धानि । अविद्यारूपाणि (वनानि) वन
याचने—ल्युट् । याचनानि (वृत्ति) वृत्ती वर्जने—लुङ् अडभावः । छन्दस्यु-
भयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकाश्रयात् इटो निषेधः । अवर्जिषि ।
अहं वर्जितवान् अस्मि (त्वम्) (शमि) अ० ६ । ११ । हे शान्तिकरि सरस्वति
(शतवल्शा) वल्ल सम्बरणे—शक् । बहुङ्गुरा बहुशाखा सती (वि) विविधम्
(रोह) प्रादुर्भव ॥

सू० ३१ [२०४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२४३)

भाषार्थ—(बृहत्पलाशे) हे बड़ुत पालन शक्ति से व्याप्त ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (वर्षवृद्धे) हेवरणीय गुणों से बढ़ी हुई ! (ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (शमि) हे शान्तिकारिणी सरस्वती ! (केशेभ्यः) प्रकाशों के लिये (मृड) सुखी हो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्या को प्राप्त करते हैं, उन्हें वह ऐसे सुख देती है जैसे माता पुत्रों को ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३१ ॥

१-३ ॥ सारपराज्ञी सूर्यो वा देवता । गायत्री छन्दः ॥

सूर्यस्य भूमेर्वा गुणोपदेशः । सूर्य वा भूमि के गुणों का उपदेश

आयंगौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।

पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् ।
पुरः । पितरम् । च । प्र-यन् । स्वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (गौ) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ अक्रमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः)

३—(बृहत्पलाशे) पल रक्षणे—अप+अशङ् व्यप्तौ संघाते च-अण् ।

बहूनि पलानि पालनानि अश्नुते व्याप्नोति सा । तत्सम्बुद्धौ, (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वर्षवृद्धे) वृत्तवदि० । उ०३ । ६२ । इति वृञ् वरणे—सप्रत्ययः । वर्षैर्वरणीयगुणैः प्रवृद्धे (ऋतावरि) अ० ५ । १५ । १ । हे सत्यशीले (माता इव) जननी यथा (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (मृड) सुखयुक्ता भव (केशेभ्यः) म० २ प्रकाशेभ्यः (शमि) हे शान्तिकारिणि सरस्वति ॥

१—(अयम्) प्रत्यक्षः (गौः) अ० १ । २ । ३ । गौरादित्यो भवति । गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । (पृश्निः) अ० २ । १ । १ । स्पृश—नि । पृश्निरादित्यो भवति.....संस्पृष्टारसान् संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा—निरु० २ । १४ । (आ अक्रमीत्) समन्तात् क्रान्तवान्

सन्मुख हो कर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूम कर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथ्वी आदि लोकों का उपकार करता है ॥ १ ॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र कुछ भेद से अन्य तीनों वेदों में इस प्रकार हैं ॥

वेद	पता	ऋषि	देवता
ऋग्वेद	१०।१८।१-३	सार्पराज्ञी	सार्पराज्ञी वा सूर्य
यजुर्वेद	३।६-८	सार्पराज्ञी कद्र	अग्नि
सामवेद	पू० ६।१४।४-६	सार्पराज्ञी	सूर्य

हमने “सार्पराज्ञी” चलने वाले और चमकने वाले सूर्य से सम्बन्ध वाले पृथ्वी और “सूर्य” को देवता मान कर सूक्त का अर्थ किया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ दिखाया गया है। सविस्तार उनके भाष्य में देख लेवे ॥

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका-पृष्ठ १३६, पृथिव्यादि भ्रमण-

“(अयम्) यह (गौः) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, अथवा अन्य लोक (पृश्निः पृश्निम्) अन्तरिक्ष में (आ अक्रमीत्) घूमता चलता है, इनमें पृथिवी (मातरम्) अपने उत्पत्ति कारण जल को तथा (पितरम्) (स्वः) पिता और अग्निमय सूर्य को (असदत्) प्राप्त होती है (च) और (पुरः) पूर्व पूर्व (प्रयन्) सूर्य के चारों ओर घूमती है। ऐसे ही सूर्य वायु पिता और आकाश माता के, तथा चन्द्रमा, अग्नि पिता और जल माता के प्रति घूमता है ॥”

यजुर्वेद—अ० ३ म० ६ ॥

“(अयम्) यह (गौः) गोलरूपी पृथिवी (पितरम्) पालन करनेवाले (स्वः) सूर्य के और (मातरम्) अपनी योनिरूप जल के (पुरः) आगे आगे (प्रयम्) चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आ अक्रमीत्) चारों ओर चलती है (च) और (असदत्) अपनी कक्षा में घूमती है ॥

भावार्थ—यह पृथ्वी अपने योनि रूप जल सहित आकर्षण करनेवाले सूर्य के चारों ओर घूमती है, उसी से दिनरात्रि, शुक्ल कृष्णपक्ष और ऋतु और अयन आदि काल विभाग उत्पन्न होते हैं ॥”

(असदत्) असीदत्। प्राप्तवान् (मातरम्) निर्मात्री भूमिम् (पुरः) पुरस्तात्। अग्रे (पितरम्) पालकम् (च) समुच्चये (प्रयन्) इण्—शत्। सञ्चरन्। (स्वः) अ० २।५।२। अन्तरिक्ष लोकम् ॥

सू० ३१ [२०४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२४५)

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः ।

व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥

अन्तः । चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतः ।

वि । व्यख्यत् । महिषः । स्वः ॥ २ ॥

भावार्थ—(प्राणात्) भीतर की श्वास के पोछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालते हुये (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (व्यख्यत्) प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रह कर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य, यजुर्वेद ३ । ७ ।

“(प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर जाने वाले वायु से (अपानतः) नीचे को जाने वाले वायु को उत्पन्न करते हुये (अस्य) इस अग्नि की (रोचना) दीप्ति अर्थात् विजुली (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य (चरति) चलती है, वह (महिषः) अपने गुणों से बड़ा अग्नि (स्वः) सूर्य लोक को (व्यख्यत्) प्रकट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्राणियों के भीतर रहने वाली अग्नि की कान्ति विजुली प्राण और अपान के साथ मिलकर स० चेष्टाओं को सिद्ध करती है ॥”

त्रिंशद् धामा वि राजसि वाक् पतङ्गो अंशिश्नियत् ।

प्रति वस्ते रहस्युभिः ॥ ३ ॥

२—(अन्तः) लोकमध्ये (चरति) गच्छति (रोचना) कान्तिः (अस्य) पृश्नेः—म० १ । सूर्यस्य (प्राणात्) श्वासव्यापारादन्तरम् (अपानतः) प्रश्वासं कुर्वतः (वि) विविधम् (व्यख्यत्) कथा प्रकथने—लङ्घ्येण्डुः, अन्तर्गतार्थः । व्यापयति प्रकाशयति (महिषः) अ० २ । ३५ । ४ । महान् सूर्यः (स्वः) आकाशम् ॥

त्रिंशत् । धाम । वि । राजति । वाक् । पतङ्गः । अशिश्रियत् । प्रति । वस्तीः । अहः । व्युभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्यवाला सूर्य (त्रिंशत् धामा) तीस धामों पर (दिन रात्रि के तीस मुहूर्तों पर) (वस्तीः, अहः) दिन दिन (व्युभिः) अपनी किरणों और गतियों के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रह कर अपनी परिधि के लोकों को गमन, आकर्षण, विकर्षण, वृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥ ३ ॥

दिन रात्रि के तीस मुहूर्त भगवान् मनु ने भी माने हैं—अ० १ श्लोक ६४ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः ।

त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ १ ॥

१८ पलक की १ काष्ठा, ३० काष्ठा की १ कला, ३० कला का १ मुहूर्त और उतने ही, ३० मुहूर्त का दिन रात होता है ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य यजुर्वेद ३ । ८ ॥

“भाषार्थ—(व्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से (प्रति वस्तीः, अहः) प्रति दिन (त्रिंशत्) अन्तरिक्ष, आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि तीस (धाम) स्थानों को (पतङ्गः) चलने चलाने वाला अग्नि (वि राजति)

३—(त्रिंशत् धामा) अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ताख्यानि धामानि स्थानानि (वि) विविधम् (राजति) अन्तर्गतएत्यर्थः । राजयति शास्ति दीपयति वा (वाक्) वेदवाणी (पतङ्गः) पतेरङ्गच् पक्षिणि । उ० १ । ११६ । इति पत गतौ ऐश्वर्ये च—अङ्गच् । गतिशीलः । ऐश्वर्यवान् (अशिश्रियत्) शिश्रिदुस्तुभ्यः० । पा० ३ । १ । ४८ । इति श्रिञ् सेवायाम्—लुङि ल्लेशचङ् । आश्रितवती (प्रति) प्रत्यक्षम् (वस्तीः) ईश्वरे तोसुनकसुनौ । पा० ३ । ४ । १३ । इति वस आच्छा

सू० ३२ [२०५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२४७)

प्रकाशित करता है—(वाक्) इस वचन ने [उस अग्नि में] (अशिधियत्) आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो वाणी प्राणयुक्त शरीर में रहने वाले विजुली नाम अग्नि से प्रकाशित होती है विद्वान् लोग उसका गुण प्रकाश करने के लिये उसका नित्य उपदेश और अवयव करें ॥ ३ ॥

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ६८ वेद विषय में तैंतीस देवता इस प्रकार लिखे हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ ग्यारह रुद्र अर्थात् शरीरस्थ दश प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ग्यारहवां जीवात्मा; १२ आदित्य वा महीने; १ इन्द्र अर्थात् विजुली, और १ प्रजापति अर्थात् यज्ञ । उक्त मन्त्र में उनमें से ऊपर लिखे तीन को छोड़ कर तीस देवताओं का ग्रहण है ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-३ ॥ अग्निः, २ रुद्रः, ३ मित्रावरणौ देवते ॥

१, ३ त्रिष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

रक्षोनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे ३ तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराह रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गुहाणा-
मुप तीतपासि ॥ १ ॥

अन्तः-दावे । जुहुत । सु । एतत् । यातुधान-क्षयणम् । घृतेन ।

दने-कर्त्तरि तोसुन् । दिनम्—निघ० १ । ६ (अहः) दिनम् (द्युभिः) दिवु
क्रीडाविजिगीषादिषु-क्विप् । किरणैः । गतिभिः ॥

आरात् । रक्षांसि । प्रति । दुह । त्वम् । अग्ने । न । नुः ।
गृहाणाम् । उप । तीतपासि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो] (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) पीड़ा देने वालों के नाश करने वाले कर्म को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अन्तर्दात्रि) भीतरी सन्ताप में (सु) अच्छे प्रकार (जुहुत) छोड़ो । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (रक्षांसि) राक्षसों को (आरात्) दूर करके (प्रति-दह) भस्म करदे और (नः) हमारे (गृहाणाम्) घरों का (उप) कुछ भी (न तीतपासि) मत तापकारी हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्धकारनाशक परमेश्वर के ज्ञान से विद्या का प्रकाश करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का जड़ से नाश करे ॥ १ ॥

रुद्रो वै ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्ठीर्वोपि शृणातु यातु-
धानाः । वीरुद् वै विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥२॥
रुद्रः । वः । ग्रीवाः । अशरैत् । पिशाचाः । पृष्ठीः । वः ।
अपि । शृणातु । यातुधानाः । वीरुत् । वः । विश्वतः-वीर्या ।
यमेन । सम् । अजीगमत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिशाचाः) हे मांसभक्षक ! [रोगो वा प्राणियो] (रुद्रः) दुःखनाशक सेनापति ने (वः) तुम्हारे (ग्रीवाः) गले को (अशरैत्) तोड़ डाला है, (यातुधानाः) हे पीड़ादायको ! (वः) तुम्हारी (पृष्ठीः) पसलियाँ

१—(अन्तर्दात्रि) दुन्योरनुपसर्गे । पा० ३ । १ । १४२ । इति दु दु उपतापे—य । अन्तः शत्रूणां हृदयस्य तापे (जुहुत) प्रक्षिपत (सु) सुष्ठु (एतत्) (यातुधानक्षयणम्) पीड़ाप्रदानां नाशकर्म (घृतेन) विद्यादिप्रकाशेन (आरात्) दूरे कृत्वा (रक्षांसि) राक्षसान् । रोगान् (प्रति दह) सर्वथा भस्मसात् कुरु (त्वम्) (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (न) निषेधे (ना) अस्माकम् (गृहाणाम्) निवासानाम् (उप) हीने (तीतपासि) यङ्लुकि च्छान्दसं रूपम् । भृशं तापकरो भव ॥

२—(रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकः सेनापतिः (वः) युष्माकम् (ग्रीवाः) गलावयवान् (अशरैत्) शृ हिंसायां छान्दसं लुङिरूपम् ।

खू० ३२ [२०५]

बृष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१२४८)

(अपि) भी (शृणुति) तोड़े । (विश्वतोवीर्या) सब ओर से सामर्थ्य वाली (वीरुत्) विविध प्रकार से प्रकाशित होने वाली शक्ति [परमेश्वर] ने (वः) तुमको (यमेन) नियम के साथ (सम् अजीगमत्) संयुक्त किया है ॥ २ ॥

भाषार्थ—प्रतापी राजा दुःखदायक शत्रु और रोगों का सदा प्रती-
कार करे । उस परमात्मा ने सब के कर्मों को वेद द्वारा नियम बद्ध किया है ।
अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप-
यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अभयम् । मित्रावरुणौ । इह । अस्तु । नः । अर्चिषा । अ-
त्त्रिणः । नुदतम् । प्रतीचः । मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् ।
विदन्त । मिथः । वि-घ्ना-नाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान ! [अथवा हे दिन और रात्रि !] (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, [तुम दोनों अपने] (अर्चिषा) तेज से (अत्त्रिणः) खा डालने वालों को (प्रतीचः) उलटा (नुदतम्) हटा दो । वे लोग (मा) न तो (ज्ञातारम्) सन्तोषक पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (विदन्त) पावे,

अशारीत् । शीर्णवान् (पिशाचाः) अ० १ । १६ । ३ । हे मांसभक्षक रोगाः प्राणिनो वा (पृष्ठीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वस्थीनि (अपि) एव (शृणातु) क्षिप्तु (यातुधानाः) अ० १ । ७ । १ । हे पीड़ाप्रदाः (वीरुत्) अ० १ । ३२ । १ । वि + रुह प्रादुर्भावे-विषप् । विविधं प्रादुर्भवित्री शक्तिः, परमेश्वरः (वः) युष्मान् (विश्वतोवीर्या) सर्वतःसामर्थ्या (यमेन) नियमेन (सम् अजीगमत्) इण् गम्लु गतौ वा णिचि लुङ् । संगमितवान् ॥

३—(अभयम्) भयराहित्यम् (मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । हे प्राणापानौ । अहोरात्रे (इह) अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (अर्चिषा) तेजसा (अत्त्रिणः) अ० १ । ७ । ३ । भक्षकान् (नुदतम्) प्रेरयतम् (प्रतीचः) अ० ३ । १ । ४ । प्रत्यङ्मुखान् (मा) निषेधे (ज्ञातारम्) ज्ञा खुग० तोषे-तृच् । ज्ञापयितारं सन्तोषकम् (मा) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयम् (मा विदन्त) विद्वद्

(१२५०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३३ [२०६]

(मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुये (मृत्युम्) मृत्यु को (उप यन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और समय का ऐसा सुन्दर प्रयोग करे जिससे शत्रु लोग कहीं शरण न पावें और आपस में कट मरें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ उष्णिक् ॥

सर्वलक्ष्मीप्राप्त्युपदेशः—सर्व लक्ष्मी पाने को उपदेश ॥

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः ।

इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥

यस्य । इदम् । आ । रजः । युजः । तुजे । जनाः । वनम् ।
स्वः । इन्द्रस्य । रन्त्यम् । बृहत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस (युजः) संयोग करने वाले परमेश्वर के (तुजे) बल में (इदम्) यह (रजः) लोक, (जनाः) सब मनुष्य, (वनम्) जल (आ) और (स्वः) सूर्य है । (इन्द्रस्य) उस बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर का (रन्त्यम्) क्रीड़ा स्थान (बृहत्) बड़ा है ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस परमात्मा की शक्ति में यह सब संसार है, उसकी महिमा मनुष्य की लक्ष्मी से बाहर है ॥ १ ॥

लाभे-लुङ्, तकारश्छान्दसः । अविदन् । मा लभन्ताम् (मिथः) परस्परम् (विघ्नानाः) युधियुधिदशः किञ्च । उ० २।६० । इति हन वधे—आनक् कित् । विधातकाः (उपयन्तु) प्राप्नुवन्तु (मृत्युम्) मरणम् ॥

१—(यस्य) (इदम्) पुरोगतम् (आ) चार्थे (रजः) लोकः (युजः) ऋत्विग् दधृक् ॥ पा० ३।२।५६ । इति युजिर् योगे—क्विन् । संयोजकस्य परमेश्वरस्य (तुजे) तुज चुरा० बले—क । बले (जनाः) मनुष्याः (वनम्) उदकम्—निघ० १।१२। (स्वः) अ० २।५।२। सु+ऋ गतौ—विच् । सूर्यः । आदित्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (रन्त्यम्) किञ्चकौ च संज्ञायाम् । पा० ३।३।१७४ । इति रमु क्रीडायाम्-किच् । न किञ्च दीर्घश्च । पा० ६।४।३६ । इति अनुनासिकलोपदीर्घयोरभावः । तत्र भवः पा० ४।३।५३ । इति यत् । क्रीडाभव रमणस्थानम् (बृहत्) महत् ॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।

पुरा यथा व्यथिः अत्र इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥

न । आ-धृषे । आ । दधृषते । धृषाणः । धृषितः । शवः ।

पुरा । यथा । व्यथिः । शवः । इन्द्रस्य । न । आ-धृषे । शवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धृषितः) हारा हुआ शत्रु (धृषाणः = ०-णस्य) हराने वाले [इन्द्र] का (शवः) बल (न) नहीं (आधृषे = ०-ष्टे) कुछ भी हराता है, (आ) कुछ भी (दधृषते) हराता है । (यथा) क्योंकि (व्यथिः) व्यथो में पड़ा हुआ शत्रु (पुरा) निकट होकर (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के (श्रवः) यश और (शवः) बल को (न) नहीं (आधृषे) कुछ भी हराता है ॥ २ ॥

भाषार्थ—अधर्मी दुष्ट मनुष्य धर्मात्मा बलवानों को कदापि नहीं हरा सकते ॥ २ ॥

स नो ददातु तां रुयिमुखं पिशङ्गसंदृशम् ।

इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेषु ॥ ३ ॥

सः । नः । ददातु । ताम् । रुयिम् । उरुम् । पिशङ्ग-संदृशम् ।

इन्द्रः । पतिः । तुवि-तमः । जनेषु । आ ॥ ३ ॥

२—(न) निषेधे (आधृषे) धृष अभिभवे । अदादित्वं छान्दसम् । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । आधृष्टे । ईषद् धर्षयति अभिभवति (आ) ईषदर्थे, किञ्चित् (दधृषते) धर्षयति अभिभवति (धृषाणः) युधिबुधि० । उ० २ । ६० । इति धृष अभिवे—आनच् कित् । षष्ठ्यर्थे सुः । धृषाणस्य धर्षकस्य (धृषितः) अभिभूतः (शवः) बलम्—निघ० २ । ६ (पुरा) समीपे (यथा) यस्मात् (व्यथिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति व्यथ दुःखसंचलनयोः—इन् । दुःखितः (श्रवः) श्रूयमाणं यशः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो जीवस्य (न) (आधृषे) (शवः) ॥

भाषार्थ—(सः) बह (नः) हमें (उरुम्) विस्तृत (पिशङ्गसंहशम्) अपने अवयवों को दिखाने वाली (ताम्) उस (रयिम्) लक्ष्मी को (ददातु) देवे । (आ) हां, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (पतिः) पालने वाला और (जनेषु) सब मनुष्यों में (तुविष्टमः) सब से महान् है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से सब मनुष्य विद्या, सुवर्ण आदि प्राप्त करके आनन्दित रहें ॥ ३ ॥

(तुविष्टमः) के स्थान में पद पाठ में (तुवि-तम्) है ॥

सुक्तम् ३४ ॥

१-५ अग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

प्राग्नये वाचमीरयः वृषभाय क्षितीनाम् ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

प्र । अग्नये । वाचम् । ईरय । वृषभाय । क्षितीनाम् । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (क्षितीनाम्) पृथिवी आदि लोकों के बीच (वृषभाय) महाबली (अग्नये) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर के लिये (वाचम्)

३—(सः) इन्द्रः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) प्रयच्छतु (ताम्) प्रसिद्धाम् (रयिम्) लक्ष्मीम् । रयिः, धननाम निघ० २ । १० । (उरुम्) विस्तृताम् (पिशङ्गसंहशम्) विडादिभ्यः कित् । उ० १ । १२१ । इति पिशङ्गसंहशम्—अङ्गच् कित् + सम्—इति दर्शने—किञ्च् । स्वावयवदर्शयित्रीम् । सर्वपूर्णाम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (पतिः) पालकः (तुविष्टमः) भुवः कित् । उ० २ । ११२ । इति तु वृद्धौ—इसिन् कित्, तमप् । प्रवृद्धतमः । महत्तमः (जनेषु) मनुष्येषु (आ) अङ्गीकारे समुच्चये वा ॥

१—(अग्नये) ज्ञानस्वरूपाय परमेश्वराय (वाचम्) वाणीम् । स्तुतिम् (प्र ईरय) उच्चारय (वृषभाय) अ० ४ । ५ । १ । बलिष्ठाय (क्षितीनाम्) वसेस्ति । उ० ४ । १८० । क्षि निवासगत्योः—ति । क्षितिः पृथिवीनाम्—निघ० १ । १ । पृथिव्यादिलोकानां मध्ये (सः) अग्निः (नः) अहं मान् (पर्षत्)

सू० ३४ [२०७]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२५३)

वाणी (प्र ईरय) अच्छे प्रकार उच्चारण कर, (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति=अतीत्य) उल्लांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) पाले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की स्तुति पूर्वक पुरुषार्थ करके दारिद्र्यता आदि दुःखों को हटावे ॥ १ ॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

यः । रक्षांसि । नि-जूर्वति । अग्निः । तिग्मेन । शोचिषा ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से (रक्षांसि) राक्षसों को (निजूर्वति) मार गिराता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उल्लांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान से अज्ञान मिटावे ॥ २ ॥

यः परस्याः पुरावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

यः । परस्याः । पुरा-वतः । तिरः । धन्व । अति-रोचते ।

स । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (परस्याः) दूर दिशा के भी (पुरावतः) दूर स्थान से (धन्व) अन्तरिक्ष को (तिरः=तिरस्कृत्य) पार करके (अति-

पृ पालनपूरणयोः—लेटि अडागमः । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । पालयेत् । पूर्णान् कुर्यात् ॥

२—(रक्षांसि) राक्षसान् । दारिद्र्यादिदोषान् (निजूर्वति) जुर्व वधे ।

निहन्ति (तिग्मेन) तीक्ष्णेन (शोचिषा) तेजसा । अन्यद् गतम् ॥

३—(यः) परमेश्वरः (परस्याः) दूरदिशायाः (पुरावतः) अ० ३ । ४ । ५ ।

रोचते) अत्यन्त चमकता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति)
उल्लांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दूर और समीप सब स्थान में हमारी रक्षा करता
है ॥ ३ ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

यः । विश्वा । अभि । वि-पश्यति । भुवना । सम् । च ।

पश्यति । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को ।
(अभि) चारों ओर से (विपश्यति) अलग अलग देखता है (च) और
(सम् पश्यति) मिले हुये देखता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति)
उल्लांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब लोकों और पदार्थों को व्यस्त और समस्त
रूप से देखकर उनकी सुधि रखता है ॥ ४ ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

यः । अस्य । पारे । । रजसः । शुक्रः । अग्निः । अजायत ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (शुक्रः) शुद्ध स्वभाव (अग्निः) ज्ञान स्वरूप पर-
मेश्वर (अस्य) इस (रजसः) अन्तरिक्ष के (पारे) पार (अजायत) प्रकट

दूरगतात् स्थानात् (तिरः) तिरस्कृत्य, अन्तर्धाय (धन्व) अ० ४ । ४ । ७ ।
अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । (अतिरोचते) अतिशयेन दीप्यते । अन्यद् गतम् ॥

४—(यः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (अभि) सर्वतः (विप-
श्यति) पृथक् पृथगवलोकयति (भुवना) भुवनानि (च) (सम् पश्यति)
संगतानि निरीक्षते ॥

५—(यः) परमेश्वरः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (पारे) अन्ते (रजसः)

सू०-३५ [२०८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२५५)

हुआ है । (सः) वह (द्विषः) बैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रत्येक स्थान में व्यापक रहकर हमारी रक्षा करता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।

अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

वैश्वानरः । नः । ऊतये । आ । प्र । यातु । परा-वतः ।

अग्निः । नः । सु-स्तुतीः । उप ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारक परमेश्वर (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (परावतः) दूर वा उत्कृष्ट स्थान से (आ) सम्मुख (प्रयातु) आवे । (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमारी (सुष्टुतीः) यथाशास्त्र स्तुतियों को (उप=उपयातु) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—हम सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा जानकर उसकी स्तुति करते रहें ॥ १ ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सृजूरुप ।

अग्निरुक्थेष्वहं सु ॥ २ ॥

अन्तरिक्षलोकस्य—निघ० १ । ७ । (शुक्रः) शुद्धस्वभावः (अजायत) प्रादु-रभवत् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वान्तरहितः (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (आ) अभिमुखम् (प्र) प्रकर्षेण (यातु) गच्छतु (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परागतात् उत्कर्षं प्राप्ताद् दूरगतात् स्थानाद् वा (अग्निः) सर्वव्यापकः (नः) अस्माकम् (सुष्टुतीः) यथाशास्त्रं स्तवान् (उप) उपयात ॥

वैश्वानरः । नः । आ । अगमत् । इमम् । यज्ञम् । स-जूः ।
उप । अग्निः । उक्थेषु । अंह-सु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब का नायक, (सजूः) प्रीति वाला
(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अंहसु) प्राप्ति योग्य (उक्थेषु) प्रकथनीय
गुणों में वर्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (उप=उपेत्य)
प्राप्त करके (नः) हमको (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति गाकर हम सदा पुरुषार्थ
करें ॥ २ ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चक्षुपत् ।

एषु द्युम्नं स्वर्यमत् ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । अङ्गिरसाम् । स्तोमम् । उक्थम् । च । चक्षुपत् ।
आ । एषु । द्युम्नम् । स्वः । यमत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का नायक परमेश्वर (अङ्गिरसाम्)
ज्ञानी महर्षियों के (स्तोमम्) स्तुति-योग्य कर्म (च) और (उक्थम्) प्रकथ-
नीय गुण को (चक्षुपत्) समर्थ करे । (एषु) इन [महर्षियों] में (द्युम्नम्)

२—(वैश्वानरः) सर्वनायकः (नः) अस्मान् (आ अगमत्) प्राप्त-
वान् (इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सजूः) सह +
जुषी प्रीतिसेवनयोः—किप् । ससजुषोरुः । पा० ८ । २ । ६६ । इति क्त्वम् ।
घोरुपधाया दीर्घ इकः । पा० ८ । २ । ७६ । इति दीर्घः । जुषा सह वर्तमानः ।
प्रीतियुक्तः (उप) उपेत्य (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उक्थेषु)
अ० २ । १२ । २ । प्रकथनीयेषु गुणेषु (अंहसु) अहि गतौ—अच् । प्राप्तव्येषु ॥

३—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः (अङ्गिरसाम्) अ० २ । ५ । २ ।
ज्ञानिनां महर्षीणाम् (स्तोमम्) स्तुत्यं कर्म (उक्थम्) प्रकथनीयं गुणम् (च)
(चक्षुपत्) कृपू सामर्थ्ये—लेट् । छान्दसं द्वित्वम् । कल्पयेत् । समर्थं कुर्यात् ।
(एषु) अङ्गिरसु (द्युम्नम्) तृषिणुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । इति
द्युत दीप्तौ—न कित्, तकारस्य मकारः । यद्वा, द्यु अभिगमने—न, मगागमः ।
द्युम्नं द्योततेर्यशो वाजं वा—निरु० ५ । ५ । द्योतमानं यशः । अन्नम् (स्वः)

सू० ३६ [२०८]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(२१५७)

प्रकाशमान यश वा अन्न और (स्वः) अच्छे प्रकार प्राप्तियोग्य सुख (आ) सब ओर से (यमत्) स्थिर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के गुणों को जान कर पुरुषार्थ पूर्वक संसार में कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१-३ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ऋतावानं वैश्वानरमुत्तस्य ज्योतिषुस्पतिम् ।

अजस्रं धर्ममीमहे ॥ १ ॥

ऋत-वानम् । वैश्वानरम् । उत्तस्य । ज्योतिषः । पतिम् ।

अजस्रम् । धर्मम् । ईमहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतवानम्) सत्यमय, (ऋतस्य) धन के और (ज्योतिषः) प्रकाश के (पतिम्) पति (वैश्वानरम्) सब के नायक परमेश्वर से (अजस्रम्) निरन्तर (धर्मम्) प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्यमय ज्योतिःस्वरूप परमात्मा से प्रार्थनापूर्वक विद्या का प्रकाश प्राप्त करें ॥ १ ॥

स विश्वा प्रति चाकृप ऋतून् रुत् सृजते वशी ।

यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥

सः । विश्वा । प्रति । चाकृपे । ऋतून् । रुत् । सृजते ।

वशी । यज्ञस्य । वयः । उत्तिरन् ॥ २ ॥

सुष्ठु अरणीयं प्राप्तव्यं सुखम् (यमत्) यमु उपरमे—लेट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ६७ । इकारलोपः । उपरमेत् । तिष्ठेत् ॥

१—(ऋतवानम्) छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०६ । इति मत्वर्थे—वनिप् । सत्यमयम् (वैश्वानरम्) सर्वस्य नायकम् (ऋतस्य) धनस्य—निघ० २ । १० । (ज्योतिषः) प्रकाशस्य (पतिम्) स्वामिनम् (अजस्रम्) सततम् (धर्मम्) अ० ४ । १२ । प्रकाशम् (ईमहे) ईङ् गतौ, श्यनो लुक् द्विकर्मकः, याचामहे—निघ० ३ । १६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (विश्वा प्रति) सब लोकों में व्यापकर (चक्रूपे) समर्थ हुआ है, (वशी) वह वश में रखने वाला (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (वयः) बल को (उत्तिरन्) बढ़ाता हुआ (ऋतून्) सब ऋतुओं को (उत्) उत्तमता से (सृजते) बनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा मनुष्य के सुख के लिये उत्तम उत्तम पदार्थ और सब ऋतुयें बनाता है, उसकी स्तुति सदा करनी चाहिये ॥२॥

अग्निः परेषु धामसु कामौ भूतस्य भव्यस्य ।

सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अग्निः । परेषु । धाम-सु । कामः । भूतस्य । भव्यस्य ।

सु-राट । एकः । वि । राजति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामः) कामना के योग्य, (एकः) एक (सम्राट्) राजा धिराज (अग्निः) सर्वव्यापक परमात्मा (भूतस्य) बीते हुये और (भव्यस्य) होनहार काल के (परेषु) दूर दूर (धामसु) धामों में (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो उस परमात्मा की उपासना करके अपनी उन्नति करो जो अकेला ही इस सब संसार का स्वामी है ॥ ३ ॥

२—(सः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि भुवनानि (प्रति) व्याप्य (चक्रूपे) कृपू सामर्थ्ये-लिट् । समर्थो दभूव (ऋतून्) वसन्तादिकालावय-धाम् (उत्) उत्कर्षेण (सृजते) निर्मिमीते (वशी) वशयिता । स्वतन्त्रः (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (वयः) अ० २ । १० । ३ । सामर्थ्यम् (उत्ति-रन्) तृ प्लवनतरणयोः-शतृ । ऋत इच्छातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः प्रवर्धयन् ॥

३—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (परेषु) दूरेषु (धामसु) स्थानेषु (कामः) कमु कान्तौ-घञ् । कमनीयः (भूतस्य) अतीतस्य (भव्यस्य) भविष्यतः कालस्य (सम्राट्) राजाधिराजः (एकः) अद्वितीयः (वि) विविधम् (राजति) ईष्टे ॥

सू० ३७ [२१०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२५८)

सूक्तम् ३७ ॥

१-३ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथे रथम् ।

शुप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥१॥

उप । प्र । अगात् । सहस्र-अक्षः । युक्त्वा । शपथः । रथम् ।

शुप्तारम् । अनु-दुच्छन् । मम । वृकः-इव । अवि-मतः । गृहम् ॥१॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार में दृष्टि वाला (शपथः) शांतिपथ बताने वाला (रथम्) रथ को (युक्त्वा) जोत कर (मम) मेरे (शुप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (अन्विच्छन्) दृढ़ता हुआ (उप) समीप (प्र अगात्) आया है, (इव) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविमतः) भेड़ वाले के (गृहम्) घर में [आता है] ॥ १ ॥

भाषार्थ—राजा बहुदर्शी होकर कुवचन भाषियों को दण्ड देता रहे ॥१॥

परि णो वृद्धिश्च शपथ हृदमग्निरिवा दहन् ॥

शुप्तारमन्नं नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

परि । नः । वृद्धिश्च । शपथ । हृदम् । अग्निः-इव । दहन् ।

शुप्तारम् । अन्नं । नः । जहि । दिवः । वृक्षम्-इव । अशनिः २

भाषार्थ—(शपथ) हे शान्ति मार्ग दिखाने वाले राजन् ! (नः) हमें

१—(उप) समीपे (प्र) प्रकर्षेण (अगात्) आगतवान् (सहस्राक्षः) अ० ३ । ११ । ३ । सहस्रेषु व्यवहारेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः । बहुदर्शी (युक्त्वा) संयोज्य (शपथः) अ० २ । ७ । २ । शम् शान्तिकरणे—ड+पथ गतौ—अच् । शस्य मङ्गलस्य पथो यस्मात् सः । शान्तिमार्गदर्शकः (रथम्) यानम् (शुप्ता-रम्) शपकारिणम् । कुवचन भाषिणम् (अन्विच्छन्) अनुसृत्य गच्छन् (मम) (वृकः) हिंस्रजन्तुविशेषः (इव) यथा (अविमतः) अवीनां मेषाणां स्वामिनः पुरुषस्य (गृहम्) गेहम् ॥

२—(परि) सर्वतः (नः) अस्मान् (वृद्धिश्च) अ० १ । २५ । १ । वर्जय

(१२६०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३७ [२१०]

(परि वृद्धिः) छोड़ दे (इव) जैसे (दहनः) जलता हुआ (अग्निः) अग्नि (हूदम्) अग्निहोत्र की लौ को [छोड़ जाता है] । (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (शप्तराम्) कोसने वाले को (जहि) नाश करदे, (इव) जैसे (दिवः) आकाश से (अग्निः) विजुली (वृक्षम्) स्वीकरणीय वृक्ष को ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों के कलङ्क लगाने से धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ २ ॥

यो नः शपादशपतुः शपतो यश्च नः शपात् ॥

शुने पेष्टृमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥३॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात्
शुने । पेष्टृम्-इव । अवक्षामम् । तम् । प्रति । अस्यामि । मृत्यवे ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (अवक्षामम् तम्) उस निर्बल को (मृत्यवे) मृत्यु के सामने (प्रति अस्यामि) मैं फँके देता हूँ (इव) जैसे (पेष्टृम्) रोटी का टुकड़ा (शुने) कुत्ते के सामने ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो अधर्मी धर्मात्माओं में दोष लगावे राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ ३ ॥

(शपथ) म० १ । हे शान्तिपथदर्शक (हूदम्) हूद खने-अच् । अग्निधजला-
शयम् (अग्निः) पाषाणः (इव) यथा (दहनः) भस्मीकुर्वन् (शप्तराम्) कुमा-
विणम् (अत्र) अस्मिन् राज्ये (नः) अस्माकम् (जहि) नाशय, (दिवः)
आकाशात् (वृक्षम्) स्वीकरणीयं हुमम् (इव) यथा (अग्निः) विद्युत् ॥

३—(यः) कुमाविणशीलः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । पक्ष-
भाषयेत् (अशपतः) अशपितः (शपतः) शपकारिणः (यः) (च) (नः)
(शपात्) (शुने) कुकुराय (पेष्टृम्) सर्वधातुभ्यः ष्टून् । उ० । ४ । १५६ । इति
पिब्लु संचूर्णने—ष्टून् । रोटिकाखण्डम् (इव) यथा (अवक्षामम्) क्षायो-
मः । पा० ८ । २ । ५३ । इति क्षये—निष्ठातकारस्य मः । अवक्षायिणां दुर्बलम्
(तम्) शप्तराम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (अस्यामि) क्षिपाभि (मृत्यवे) मरणाय ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-४ ॥ त्विषिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्यं पाने कं लिये उपदेशः ।

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये य
 इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना १
 सिंहे । व्याघ्रे । उत । या । पृदाकौ । त्विषिः । अग्नौ । ब्रा-
 ह्मणे । सूर्ये । यो । इन्द्रम् । या । देवी । सु-भगा । जजान ।
 सा । नः । आ । एतु । वर्चसा । सुस्-विदाना ॥ १ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (सिंहे) सिंह में, (व्याघ्रे)
 बाघ में (उत) और (पृदाकौ) फुंसकारते हुये सांप में; और (या) जो
 (अग्नौ) अग्नि में, (ब्राह्मणे) वेदवेत्ता पुरुष में और (सूर्ये) सूर्य में है ।
 (या) जिस (देवी) दिव्य गुणवाली, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्यवाली [ज्योति]
 ने (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य को (जजान) उत्पन्न किया है, (सा) वह (वर्चसा)
 अक्ष से (संविदाना) मिलती हुई (नः) हमें (आ) आकर (एतु)
 मिले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब बलवान् तेजस्वी पदार्थों में संयम
 करके ऐश्वर्य और पराक्रम प्राप्त करे ॥ १ ॥

यही भावार्थ अगले मन्त्रों भी समझो ॥

१—(सिंहे) अ० ४ । ८ । ७ । हिंसके जन्तौ (व्याघ्रे) अ० ४ । ३ ।
 १ । शार्दूले (उत) अपि (या) (पृदाकौ) अ० ३ । २७ । ३ । कुत्सितशब्द-
 कारिणि सर्पे (त्विषिः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति त्विष दीप्तौ—
 इन् कित् । कान्तिः । उत्साहशक्तिः (अग्नौ) पावके (ब्राह्मणे) अ० २ । ६ । ३ ।
 वेदज्ञे पुरुषे (सूर्ये) आदित्ये (या) (इन्द्रम्) परमैश्वर्यम् (देवी) दिव्य-
 गुणा (सुभगा) बह्वैश्वर्ययुक्ता (जजान) जनयामास (सा) त्विषिः (नः)
 अस्मान् (आ) आगत्य (एतु) प्राप्नोतु (वर्चसा) अक्षेन-निघ० २ । ७ ।
 (संविदाना) अ० २ २८ । २ । संगच्छमाना ॥

या ह॒स्तिनि॑ द्वी॒पिनि॑ या हि॒र॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु गो॑षु
या पु॒रुषे॑षु । इन्द्रं॑ या दे॒वी सु॑भगा॒ जु॒जान॑ सा न
ऐतु॑ वर्च॑सा संवि॒द्वाना ॥ २ ॥

या । ह॒स्तिनि॑ । द्वी॒पिनि॑ । या । हि॒र॑ण्ये । त्विषिः । अ॒प्-सु
गो॑षु । या । पु॒रुषे॑षु । इन्द्रं॑ । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । जु॒जान॑ ।
सा । नः । आ । एतु॑ । वर्च॑सा । सु॒स्-वि॒द्वाना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि)
चीते में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, और (या) जो (अप्सु) जल में
(गोषु) गौ आदिकों में और (पुरुषेषु) पुरुषों में है । (या) जिस.....१॥२॥
रथे॑ अ॒क्षेष्वा॑ष॒भस्य॑ वा॒जे वा॒ते पर्ज॑न्ये वरु॑णस्य
शु॒ष्मे । इन्द्रं॑ या दे॒वी सु॑भगा॒ जु॒जान॑ सा न ऐतु॑
वर्च॑सा संवि॒द्वाना ॥ ३ ॥

रथे॑ । अ॒क्षेष्वा॑ । ऋ॒षभ॑स्य । वा॒जे । वा॒ते । पर्ज॑न्ये । वरु॑णस्य ।
शु॒ष्मे । इन्द्रं॑ । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । जु॒जान॑ । सा । नः ।
आ । एतु॑ । वर्च॑सा । सु॒स्-वि॒द्वाना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रथे) रथ में, (अक्षेषु) पहियों में, (ऋषभस्य) बैल के
(वाजे) बल में, (वाते) पवन में, (पर्जन्ये) मेघ में, और (वरुणस्य) सूर्य
के (शुष्मे) सुखाने वाले सामर्थ्य में [जो ज्योति है] । (या) जिस
म० १॥ ३ ॥

२—(हस्तिनि) अ० ३ । २२ । ३ । गजेन्द्रे (द्वीपिनि) अ० ३ । ८ । ७ ।
चित्रके (हिरण्ये) सुवर्ण (अप्सु) उदकेषु (गोषु) गवादिपशुषु (पुरुषेषु)
मनुष्येषु ॥

३—(रथे) याने (अक्षेषु) रथचक्रेषु (ऋषभस्य) बलीवर्दस्य
(वाजे) बले (वाते) पवने (पर्जन्ये) अ० २ । १ । २ । मेघे (वरुणस्य) सूर्यस्य
(शुष्मे) शोषके सामर्थ्ये । अन्यद्गतम् ॥

सू० ३८ [२१२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२६३)

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य
मायौ । इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न तेन
वर्चसा संविदानो ॥

राजन्ये । दुन्दुभौ । आ-यतायास् । अश्वस्य । वाजे । पुरुषस्य ।
मायौ । इन्द्रम् । या । देवी । सु-भगा । जुजाने । सा । नः । आ-
प्तु । वर्चसा । सु-विदाना ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(राजन्ये) क्षत्रिय में, (आयतायाम्) फली हुई (दुन्दुभौ)
दुन्दुभी में, (अश्वस्य) घोड़े के (वाजे) बल में, (पुरुषस्य) मनुष्य के
(मायौ) पिता वा शब्द में [जो ज्योति है] (या) जिस... ॥ ४ ॥

सुक्तम् ३८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप् ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यशः पाने का उपदेश ॥

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सह-
स्कृतम् । प्रसस्त्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा
वर्धय ज्येष्ठतातये ॥ १ ॥

यशः । हविः । वर्धताम् । इन्द्र-जुतम् । सहस्र-वीर्यम् । सु-भृ-
तम् । सहः-कृतम् । प्र-सस्त्राणम् । अन्तु । दीर्घाय । चक्षसे ।
हविष्मन्तम् । मा । वर्धय । ज्येष्ठ-तातये ॥ १ ॥

४—(राजन्ये) अ० ५ । १७ । ६ । क्षत्रियकुले (दुन्दुभौ) अ० ५ ।
२० । १ । वृद्धककायाम् (आयतायाम्) दीर्घायाम् (अश्वस्य) तुरङ्गस्य
(वाजे) बले (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (मायौ) कृपापात्रिमि० । उ० १ । १ । इति
मिञ् प्रक्षेपणे-उण् अथवा माङ् माने शब्दे च-यु । पित्ते । शब्दे । अन्यद्गतम् ॥

(१२६४)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३८ [२१२]

भाषार्थ—(इन्द्रजुतम्) परमेश्वर का भेजा हुआ (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्यवाला (सुभृतम्) अच्छे प्रकार भरा गया (सहस्कृतम्) पराक्रम से किया गया (यशः) यश और (हविः) अन्न (वर्धताम्) बढ़े । [हे परमेश्वर ।] (दीर्घाय) बड़े और (ज्येष्ठतातये) अत्यन्त प्रशंसनीय (चक्षसे) दर्शन के लिये (प्रसर्त्ताणम्) आगे धड़ने वाले और (हविष्मन्तम्) भक्तिवाले (मा) मुझको (अनु) निरन्तर (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना करके पुरुषार्थपूर्वक संसार में कीर्ति और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ १ ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसुना
विधेम । स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजुतं तस्य ते रातौ
यशसः स्याम ॥ २ ॥

अच्छ । नः । इन्द्रम् । यशसम् । यशः-भिः । यशस्विनम् ।
नमसुनाः । विधेम । सः । नः । रास्व । राष्ट्रम् । इन्द्र-जु-
तम् । तस्य । ते । रातौ । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यशसम्) यशस्वी, (यशोभिः) अपनी व्याप्तियों से (यशस्विनम्) बड़े कीर्ति वाले (इन्द्रम्) सम्पूर्ण पेश्वर्य वाले परमेश्वर को (नमः)

१—(यशः) कीर्तिः । (हविः) देवयोग्यान्तम् (वर्धताम्) समृद्धताम् (इन्द्रजुतम्) परमेश्वरेण प्रेरितम् (सहस्रवीर्यम्) बहुसामर्थ्ययुक्तम् (सुभृतम्) यथावत्पोषितम् (सहस्कृतम्) बलान् सम्पादितम् (प्रसर्त्ताणम्) स्रु गतौ—यङ्लुकि ताच्छील्ये चानश् । अतिप्रसरणशीलम् । उद्योगिनम् (अनु) पश्चात् । निरन्तरम् (दीर्घाय) प्रवृद्धाय (चक्षसे) दर्शनाय (हविष्मन्तम्) भक्तिमन्तम् (मा) माम् (वर्धय) समर्धय (ज्येष्ठतातये) ज्येष्ठा प्रशस्ता तातिर्विस्तारो यस्य तस्मै । यद्वा । वृक्ज्येष्ठाभ्यां तिल्लातिलौ च च्छन्दसि । पा० ५ । ४ । ४१ । इति प्रसंशायां तातिल् । अतिविस्तारयुक्ताय । अत्यन्तप्रशंसनीय ॥

२—(अच्छ) सुष्ठु (नः) अस्मभ्यम् । स्वहिताय (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (यशसम्) सुप आत्मनः क्यच् ! पा० ३ । १ । ८ । इति यशःसब्दात्—क्यच् ।

सू० ३८ [२१२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२६५)

सानाः) नमस्कार करते हुये हम (नः) अपने लिये (अच्छ) अच्छे प्रकार (विधेम) पूजे । (सः) वह तू (इन्द्रजितम्) तुझ परमेश्वर से भेजा हुआ (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य ते) उस तेरे (रातौ) दान में हम लोग (यशसा) यशस्वी (स्याम) होंगे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना करके पुरुषार्थ करते हैं, वे संसार में कीर्ति पाते हैं ॥ २ ॥

युशा इन्द्रो^१ युशा अग्निर्युशाः सोमो^२ अजायत ।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

युशाः । इन्द्रः^१ । युशाः^२ । अग्निः । युशाः । सोमः^३ । अजायत ।

युशाः । विश्वस्य । भूतस्य^४ । अहम् । अस्मि । यशः-तमः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) सूर्य (युशाः) यश वाला, (अग्निः) अग्नि (युशाः) यश वाला, और (सोमः) चन्द्रमा (युशाः) यश वाला (अजायत) हुआ है । (युशाः) यश चाहने वाला (अहम्) मैं (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अतियशस्वी (अस्मि) हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर महायशस्वी होवे ॥ ३ ॥

क्वपि । अलोपयल्लोपौ । आत्मनो यश इच्छन्तम् । (यशोभिः) अशेर्देवने युद्ध च । उ० ४ । १६१ । इति अशू व्याप्तौ—असुन्, युट् च धातोः । व्याप्तिभिः (यशस्विनम्) कीर्त्तिमन्तम् (नमसानाः) पूर्ववद् यशस्यतेः क्वपि शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । नमस्यन्तः (विधेम) परिचरेम (सः) स त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) रास्व दाने । देहि (राष्ट्रम्) राज्यम् (इन्द्रजितम्) परमेश्वरेण त्वया प्रेरितम् (तस्य) प्रसिद्धस्य (ते) तव (रातौ) दाने (यशसाः) आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम) भवेम ॥

३—(युशाः) म० २ । यशस्यतेः क्वपू । यशस्कामः (इन्द्रः) सूर्यः (युशाः) यशस्वी (अग्निः) पावकः (सोमः) चन्द्रः (अजायत्) प्रादुरभवत् (युशाः) यशस्कामः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) भूतजातस्य । संसारस्य (अहम्) पुरुषार्थी (अस्मि) भवामि (यशस्तमः) अतिशयेन यशस्वी ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-३ ॥ सविता ॥ देवता १, २ जगती, ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणीपदेशः—शत्रुओं से रक्षा के लिये उपदेश ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः
कृणोतु । अभयं नोऽस्तुर्व १ न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च
हविषाभयं नो अस्तु ॥ १ ॥

अभयम् । द्यावापृथिवी इति । इह । अस्तु । नः । अभयम् ।
सोमः । सविता । नः । कृणोतु । अभयम् । नः । अस्तु । उरु ।
अन्तरिक्षम् । सप्त-ऋषीणाम् । च । हविषा । अभयम् । नः । अस्तु १

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (इह) यहाँ पर
(नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (सोमः) बड़े ऐश्वर्य
वाला (सविता) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (नः) हमारे लिये
(अभयम्) अभय (कृणोतु) करे । (उरु) बड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष
(नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (च) और (सप्तऋ-
षीणाम्) सात व्यापनशीलों वा दर्शन शीलों के [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान,
जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नयने, दो आंख, और मुख
इन सात छिद्रों के] (हविषा) ठीक-ठीक दान और ग्रहण से (नः) हमारे
लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि संसार के सब पदार्थ और अपने
शरीर के सब अवयव यथावत् उपकार करके शान्तिप्रद होवे ॥ १ ॥

१—(अभयम्) भयराहित्यम् (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ (इह)
अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) (सोमः) परमैश्वर्यवान् (सविता)
सर्वोत्पादको जगदीश्वरः (नः) (कृणोतु) करोतु (अभयम्) भयरहितम् ।
शान्तम् (नः) (अस्तु) (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सप्त-
ऋषीणाम्) अ० ४ । ११ । ६ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीनाम् । अथवा,
शीर्षण्यानां सप्तच्छिद्राणाम् (च) (हविषा) यथावद् दानेन ग्रहणेन च
(अभयम्) (नः) (अस्तु) ॥

सू० ४० [२१३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२६७)

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति
सविता नः कृणोतु । अशत्रुवन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र
राज्ञामभि यातु मन्युः ॥ २ ॥

अस्मै । ग्रामाय । प्र-दिशः । चतस्रः । ऊर्जम् । सु-भूतम् । स्व-
स्ति । सविता । नः । कृणोतु । अशत्रु । इन्द्रः । अभयम् । नः ।
कृणोतु । अन्यत्र । राज्ञाम् । अभि । यातु । मन्युः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) सयका चलाने वाला परमेश्वर (अस्मै) इस
(ग्रामाय) गांव के लिये और (नः) हमारे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः)
दिशाओं में (ऊर्जम्) पराक्रम, (सुभूतम्) बहुत धन और (स्वस्ति) कल्याण
(कृणोतु) करे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला परमात्मा (नः) हमारे लिये
(अशत्रु) निर्वैर (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का
(मन्युः) क्रोध (अन्यत्र) औरों पर (अभि यातु) चला जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्मपूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके शान्त
चित्त रहे और ऐसे शुभ कर्म करे जिससे राजपुरुष उनसे सदा प्रसन्न रहे ॥२

अनुमित्रं नो अधुरादनिमित्रं न उत्तरात् ।

इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

अनुमित्रम् । नः । अधुरात् । अनुमित्रम् । नः । उत्तरात् । इन्द्रः ।
अनुमित्रम् । नः । पश्चात् । अनुमित्रम् । पुरः । कृधि । ॥३॥

२—(अस्मै) समीपस्थाय (ग्रामाय) जनसमूहाय (प्रदिशः) अत्य-
न्तसंयोगे द्वितीया । प्राच्यादिविशाः प्रति (चतस्रः) चतुः संख्यकाः (ऊर्जम्)
पराक्रमम् (सुभूतम्) अ० १ । ३१ । ३ । सुभूतिम् । प्रभूतं धनम् (स्वस्ति)
क्षेमम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यं च (कृणोतु) करोतु
(अशत्रु) शत्रुरहितम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (अभयम्) भय-
रहित्यम् । शान्तिम् (नः) (कृणोतु) (अन्यत्र) अन्येषु शत्रुषु (राज्ञाम्)
शासकनाम् (अभि) (यातु) प्राप्नोतु (मन्युः) क्रोधः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (अधरात्) नाचे से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (अनमित्रम्) निर्वैरता और (पुरः) आगे से (अनमित्रम्) निर्वैरता (कृधि) तू कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थान और सब काल में शान्तिदायक कर्म करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४१ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

मनसे चेतसे धिये आकूतये उत चित्तये ।

मृत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

मनसे । चेतसे । धिये । आ-कूतये । उत । चित्तये । मृत्यै ।

श्रुताय । चक्षसे । विधेम । हविषा । वयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनसे) उत्तम मनन साधन मन के लिये, (चेतसे) ज्ञान के साधन चित्त के लिये, (धिये) धारणवती बुद्धि के लिये, (आकूतये) अच्छे सङ्कल्प वा उत्साह के लिये (उत) और (चित्तये) स्मृति के हेतु विवेक के लिये, (मृत्यै) समझ के लिये, (श्रुताय) श्रवण के लिये और (चक्षसे) दर्शन के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान द्वारा आत्मिक शक्तियों को बढ़ा कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

३—(अनमित्रम्) अमेर्द्धिषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम पीड़ने—भावे इत्रच् । निर्वैरत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (अधरात्) अधस्तात् (उत्तरात्) उपरिदेशात् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् जगदीश्वर (पश्चात्) अ० ४ । ४० । ३ । पृष्ठतो देशात् (पुरः) अग्रदेशात् (कृधि) कुरु । अन्यद्गतम् ॥

१—(मनसे) मननसाधनाय हृदयाय (चेतसे) चित्ती संज्ञाने—असुन् । ज्ञानसाधनाय चित्ताय (धिये) धारणवत्यै प्रज्ञायै (आकूतये) सङ्कल्पाय । उत्साहाय (उत) अपिच (चित्तये) स्मृतिहेतवे विवेकाय (मृत्यै) ज्ञानजनन्यै शक्तये (श्रुताय) श्रवणाय (चक्षसे) दर्शनाय (विधेम) परिचरेम—इन्द्रम्, इति शेषः (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (वयम्) धार्मिकाः ॥

अपानाय' व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।

सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

अपानाय' । वि-आनाय' । प्राणाय' । भूरि-धायसे । सरस्वत्यै ।
उरु-व्यचे । विधेम' । हविषा । वयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अपानाय) बाहिर निकलने वाले अपानवायु के लिये,
(व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु के लिये, (भूरिधायसे) अनेक प्रकार
से धारण करने वाले (प्राणाय) जीवन वायु प्राण के लिये और (उरुव्यचे)
दूर दूर तक फैलने वाले (सरस्वत्यै) विज्ञानवती सरस्वती [विद्या] के लिये
(वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को आत्म समर्पण करके आत्मा और शरीर
से स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार से विज्ञान प्राप्त करें ॥ १ ॥

मा नो हासिषु ऋषयो दैव्या ये तनुपा ये नस्तन्व-
स्तनुजाः । अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त
प्रतुरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

मा । नः । हासिषुः । ऋषयः । दैव्याः । ये । तनु-पाः । ये ।
नः । तन्वः । तनु-जाः । अमर्त्याः । मर्त्याँ । अभि । नः ।
सचध्वम् । आयुः । धत्त । प्र-तुरम् । जीवसे । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दैव्याः) दिव्यगुण वाले (ऋषयः) व्यापनशील वा दर्शन-
शील [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि; अथवा दो कान

१—(अपानाय) शरीराद्वहिर्गन्ते वायवे (व्यानाय) शरीरव्यापकाय
पवनाय (प्राणाय) जीवनसाधनाय समीराय (भूरिधायसे) अ० १।२।१।
बहुपोषकाय (सरस्वत्यै) विज्ञानवत्यै विद्यायै (उरुव्यचे) अ० ५।३।८।
उरु+वि+अव गतौ—विच् । बहुलं व्याप्नुवत्यै । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मा हासिषुः) ओहाक् त्यागे—लुङ् । मा त्यजन्तु (नः) अस्मान्
(ऋषयः) अ० ४।११।६। व्यापनशीलाः । दर्शनशीलाः । त्वक्चक्षुःश्रवण-

दो नथने, दो आंख और मुख] (नः) हमें (मा हासिषुः) न त्यागें, (ये) जो (तनूपाः) शरीर की रक्षा करने वाले और (ये) जो (नः) हमारे (तन्वाः) शरीर के (तनूजाः) विस्तार के साथ उत्पन्न हुये हैं । (अमर्त्याः) हे अमर । [नित्य उत्साहियो] (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले (नः) हम से (अभि) सब ओर से (सचध्वम्) मिले रहो, और (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) आयु (जीवसे) जीवन के लिये (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, विद्याप्राप्ति आदि कर्मों से दृष्ट पुष्ट रह कर संसार का उपकार करके कीर्ति पावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र स्वामी दयानन्द कृत “संस्कार विधि, जातकर्म” में आशीर्वाद का है ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-३ ॥ मन्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशान्त्युपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः ।

यथा संमनसौ भुत्वा सखायाविव सचावहै ॥ १ ॥

अव । ज्याम्-इव । धन्वनः । मन्युम् । तनोमि । ते । हृदः ।

यथा । सम्-मनसौ । भुत्वा । सखायौ-इव । सचावहै ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हृदः) हृदय से (मन्युम्) क्रोध

रसनः श्रौणमनो बुद्धयः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (दैव्याः) अ० २ । २ । २ । दिव्यगुणयुक्ताः (ये) ऋषयः (तनूपाः) तन्वाः शरीरस्य पातारः (ये) (नः) अस्माकम् (तन्वाः) शरीरस्य (तनूजाः) तन्वा विस्तृत्या सह जाताः (अमर्त्याः) अ० ४ । ३७ । १२ । अमराः । नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) अ० ४ । ३७ । १२ । मर्तेभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् (अभि) अभितः (नः) अस्मान् (सचध्वम्) समवेत (आयुः) जीवनम् (धत्त) दुधाञ् धारणपोषणदानेषु । दत्तं (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीवसे) जीवनाय (नः) अस्मभ्यम् ॥

१—(ज्याम्) अ० १ । १ । ३ । मौर्वीम् (इव) यथा (धन्वनः)

सू० ४२ [२१५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२७१)

को (अव तनोमि) मैं उतारता हूँ, (इव) जैसे (धन्वनः) धनुष से (ज्याम्) डोरी को । (यथा) जिस से (संमनसौ) एकमन (भूत्वा) होकर (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ईर्ष्या द्वेष छोड़कर सदा मित्र होकर रहना चाहिये ॥ १ ॥

सखायाविव सचावहु। अव म॒न्युं त॑नोमि ते ।

अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि यो गुरुः ॥ २ ॥

सखायौ-इव । सु॒चोव॑है । अव॑ । म॒न्युस् । त॒नोमि॑ । ते॒ । अधः॑ । ते॒ । अश्म॑नः । म॒न्युस् । उप॑ । अ॒स्याम॑सि । यः । गुरुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें, (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) मैं उतारता हूँ । (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अश्मनः) उस पत्थर के (अधः) नीचे (उप अस्यामसि) दबाकर हम गिराते हैं (यः) जो (गुरुः) भारी [पत्थर] है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध छोड़कर परस्पर प्रीति से रहें ॥ २ ॥

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पा॑र्षण्या प्र॒पदे॑न च ।

यथा॑वृ॒शो न॒ वादि॑षो म॒म चि॒त्तमु॑पायसि ॥ ३ ॥

अ॒भि । ति॑ष्ठामि । ते॒ । म॒न्युस् । पा॑र्षण्या । प्र-प॒देन॑ । च॒ । यथा॑ । अ॒वृ॒शः । न॒ । वादि॑षः । म॒म । चि॒त्तस् । उ॒प-आ॑यसि ॥ ३ ॥

धनुषः (मन्युम्) क्रोधम् (अव तनोमि) अवरोपयामि । अवतरामि (ते) तव (हृदः) हृदयात् (यथा) येन प्रकारेण (संमनसौ) समानमनस्कौ परस्परा-नुरागिणौ (भूत्वा) (सखायौ) सुहृदौ (सचावहै) षच समवाये—लोड् । समवेतौ नित्यसंगतौ भवाव ॥

२—पूर्वार्धो यथा म० १ । (अधः) अधस्तात् (ते) तव (अश्मनः) पाषाणस्य (मन्युम्) क्रोधम् (उप) उपेत्य (अस्यामसि) क्षिपामः (यः) अश्मा (गुरुः) भारोपेतः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को [तेरी] (पाण्य्या) एड़ी से (च) और (प्रपदेन) ठोकर से (अभि तिष्ठामि) मैं दबाता हूँ । (यथा) जिस से (अवशः) परवश (न = न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात चीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप-आयसि) तू पहुँच करता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य क्रोधवश न होकर परस्पर शान्त चित्त रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१-३ ॥ दुर्भो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशमनोपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अयं दुर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।

मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयम् । दुर्भः । वि-मन्युकः । स्वाय । च । अरणाय । च । मन्योः ।

वि-मन्युकस्य । अयम् । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (दुर्भः) दुर्भ अर्थात् दुःख नाश करने वाला वा सुकर्म गूथने वाला पुरुष (स्वाय) अपने समुदाय के लिये (च च) और (अरणाय) प्राप्ति योग्य शूद्र अन्त्यज आदि के लिये (विमन्युकः) क्रोध हटाने वाला है ।

३—(अभि तिष्ठामि) अभिभवामि (ते) तव (मन्युम् क्रोधम्) (पाण्य्या) पादापरभागेन (प्रपदेन) पादाग्रेण (यथा) येन प्रकारेण (अवशः) परवशः । क्रोधवशः (न) न भूत्वा (वादिषः) वदेलैटि अडागमः, सिप् च । त्वं ब्रूयाः (मम) (चित्तम्) अन्तःकरणम् (उप—आयसि) अ० १ । ३४ । २ । उपागच्छसि । आदरेण सर्वतः प्राप्नोसि ॥

१—(अयम्) पुरोवर्ती (दुर्भः) दूदलिभ्यां भः । उ० ३ । १५१ । इति दू विदारणे—भ । यद्वा । दुर्भो अन्ये—वञ् । दुःखविदारकः । सुकर्मग्रन्थकः (विमन्युकः) शेषाद् विभाषा । पा० ५ । ४ । १५४ । इति कप् । वि विगमितो मन्युर्येन सः । क्रोधनिवारकः (स्वाय) ज्ञातये (च च) समुच्चये (अरणाय) ऋ गतौ—ल्यु । प्राप्तव्याय शूद्रान्त्यजादये (मन्योः) मनुषो लोपः । मन्यु-

सू० ४३ [२१६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२९३)

(अयम्) यह (मन्योः) क्रोधी का (विमन्युकः) क्रोध दूर करने वाला और (मन्युशमनः) क्रोध शान्ति करनेवाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि बड़े और छोटे से शान्त चित्त होकर बर्ताव करे ॥ १ ॥

(दर्भ) अर्थात् कुश घास औषध विशेष भी है जो वात पित्त कफ त्रिदोष आदि रोग नाश करता है ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।

दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

अयम् । यः । भूरि-मूलः । समुद्रम् । अव-तिष्ठति । दर्भः ।

पृथिव्याः । उत्थितः । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥ २ ॥

भावार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (भूरिमूलाः) बहुत प्रतिष्ठा वाला होकर (समुद्रम्) अन्तरिक्ष लोक तक (अवतिष्ठति) फैलता है । (दर्भः) वह दर्भ सुकर्मों का गूथने वाला पुरुष (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) उठकर (मन्युशमनः) क्रोध शान्त करने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विवेक द्वारा प्रतिष्ठित होकर अन्तरिक्ष आदि लोक तक अधिकार जमाता है, वह संसार में यशस्वी और शान्त चित्त माना जाता है ॥ २ ॥

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।

यथावृशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

वि । ते । हनव्याम् । शरणिम् । वि । ते । मुख्याम् । नयामसि ।

मतः पुरुषस्य (विमन्युकस्य) सुपां सुपो भवन्तीतिवक्तव्यम् । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति प्रथमार्थे षष्ठी । विमन्युकः । क्रोधनिवारकः (अयम्) (मन्यु-शमनः) क्रोधशान्तिकरः (उच्यते) अभिधीयते ॥

२—(अयम्) (यः) दर्भः (भूरिमूलः) मूल प्रतिष्ठायां गोपणे च-क बहुप्रतिष्ठितः सन् (समुद्रम्) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । (अवतिष्ठति) व्याप्य वर्तते (दर्भः) म० १ । सुकर्मणां ग्रन्थकः (पृथिव्याः) भूमेः शकाशात् (उत्थितः) उपरि स्थितः सन् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हनव्याम्) ठोड़ी में वर्त्तमान और (ते) तेरे (मुख्याम्) मुख पर वर्त्तमान (शरणिम्) हिंसा के चिह्न को (वि वि नयामसि) सर्वथा हम हटाते हैं । (यथा) जिससे (अवशः) परवश (न= न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात च्छित करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप आयसि) तू पहुँच करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के सब अङ्गों से सुचेष्टा करके सबका प्रिय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।

अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् ।

इदम् । जगत् । अस्थुः । वृक्षाः । ऊर्ध्व-स्वप्नाः । तिष्ठात् ।

रोगः । अयम् । तव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्)

३—(ते) तव (हनव्याम्) शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हनु-यत् । ओगुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७६ । इति अवादेशः । हनौ वर्त्तमानाम् (शरणिम्) अर्त्तिसूधू० । उ० २ । १०२ । इति शृ हिंसायाम्-अनि । हिंसा लक्षणम् (मुख्याम्) मुख-यत् पूर्व-वत् । मुखे वर्त्तमानाम् (वि वि नयामसि) सर्वथा विनयामः । अपगमयामः । अन्यद् गतम्-सू० ४२ । म० ३ ॥

१—(अस्थात्) स्थिरोऽभूत् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अस्थात्) (पृथिवी) विसृता भूमिः (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम्

सू० ४४ [२१७]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२७५)

ठहरा है। (ऊर्ध्वस्वप्नाः) ऊपर को मुख करके सोने वाले (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) ठहरे हुये हैं, [पेसे ही] (तव) तेरा (अयम्) यह (रोगः) रोग (तिष्ठत्) ठहर जावे [और न बढ़े] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे संसार के सब लोक परस्पर धारण और आकर्षण द्वारा अपनी अपनी कक्षा और परिधि में स्थित हैं, वैसे ही मनुष्य अपने दोषों को नियम में रखे ॥ १ ॥

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।

श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

शतम् । या । भेषजानि । ते । सहस्रम् । सम्-गतानि । च ।
श्रेष्ठम् । आस्त्राव-भेषजम् । वसिष्ठम् । रोग-नाशनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (या) जो (शतम्) सौ (च) और (सहस्रम्) सहस्र (भेषजानि) औषधियाँ (संगतानि) परस्पर मेल वाली हैं, [उनमें से] (वसिष्ठम्) अतिशय धनी वा निवास करने वाला ब्रह्म (श्रेष्ठम्) अति श्रेष्ठ (आस्त्रावभेषजम्) रुधिर के बहाव वा घाव की औषध और (रोगनाशनम्) रोगों का नाश करने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—योगीजन सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके उस परब्रह्म की आज्ञा पालन से सदा स्वस्थ और सुखी रहते हैं ॥ २ ॥

(जगत्) लोकः (अस्थुः) स्थिता अभूवन् (वृक्षाः) पादपाः (ऊर्ध्वस्वप्नाः) उपरिमुखाः सन्तो निद्रालवः (तिष्ठत्) गतिनिवृत्तो भूयात् (रोगः) शारीरिको मांसिको वा व्याधिः (अयम् तव) ॥

२—(शतम्) (या) यानि (भेषजानि) भयनिवर्त्तकानि । औषधानि (ते) तुभ्यम् (सहस्रम्) बहूनि (संगतानि) परस्परमिलितानि (च) (श्रेष्ठम्) सर्वेषां प्रशस्ततमम् (आस्त्रावभेषजम्) आस्त्रावः—अ० १ । २ । ४ । आङ् + स्त्रु स्त्रवणे-ण । आस्त्रावस्य रुधिरादिस्त्रवणस्य आघातस्थ औषधम् (वसिष्ठम्) अ० ४ । २६ । ३ । अतिशयेन धनयुक्तम् । वस्तुतमं ब्रह्म (रोगनाशनम्) सर्वव्याधिनाशकम् ॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणुका नाम वा
असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

रुद्रस्य । मूत्रम् । असि । अमृतस्य । नाभिः । वि-सानुका । नाम ।
वै । असि । पितृणाम् । मूलात् । उत्थिता । वातीकृत-नाशनी ।

भाषार्थ—[हे पुरुष] (रुद्रस्य) रत्नाने वाले भीषण क्लेश का (मूत्रम्)
छुड़ाने वा बन्ध करने वाला बल और (अमृतस्य) अमरपन वा मुक्ति का
(नाभिः) मध्यस्थ (असि) तू है । (विषाणुका) विषाणुका, विविध भक्ति का
उपदेश करने वाली (नाम) प्रसिद्ध (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के
(मूलात्) मूल से [आदि कारण परमेश्वर से] (उत्थिता) प्रकट हुई और
(वातीकृतनाशनी) हिंसा कर्म की नाश करने वाली शक्ति (वै) निश्चय करके
(असि) तू है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अनेक क्लेशों को सहते हैं और परमेश्वर का
विश्वास करते हैं, वे ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

विषाण और विषाणिका ओषधि विशेष भी हैं ॥

३—(रुद्रस्य) रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रोदयते—रक् ।
रुद्रो रौतीतिसतो रोरुयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । निरु० १० । ५ । रोदक-
स्य भीषणक्लेशस्य (मूत्रम्) सिविमुच्योष्टेरु च । उ० ४ । १६३ । इति मुच्य-
मोक्षणे—ष्टृन्, टेः ऊ । यद्वा, मूबन्धने—ष्टृन् । मोचकम् । मावकं बन्धकं बलम्
(अमृतस्य) मोक्षस्य (नाभिः) मध्यस्थानम् (विषाणुका) वि + षण समकौ-
घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति विषाणु + कै शब्दे-क । टाप् ।
उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । विषाणं विविधं सम्भजनं
काययति कथयति या सा शक्तिः (नाम) प्रसिद्धौ (वै) निश्चयेन (असि)
(पितृणाम्) पालकगुणानाम् (मूलात्) आदिकारणात् परमेश्वरात्
(उत्थिता) प्रादुर्भूता (वातीकृतनाशनी) वातेर्नित् । उ० ५ । ६ । इति वा-
गतिहिंसनयोः—अति । छान्दसो दीर्घः । वातेर्हिंसायाः कृतस्य कर्मणो नाश-
यित्री ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-३ ॥ अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ १ पथ्या प्रङ्क्तिः;

२ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप् ॥

मानसिकपापनाशोपदेशः—मानसिक पाप के नाश का उपदेश ॥

पुरोपेहि मनस्पापं किमशस्तानि शंससि । परेहि न त्वा
 कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥१॥
 परः । अप । इहि । मनः-पाप । किम् । अशस्तानि । शंससि ।
 परा । इहि । न । त्वा । कामये । वृक्षान् । वनानि । सम् ।
 चर । गृहेषु । गोषु । मे । मनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनस्पाप) हे मानसिक पाप ! (परः) दूर (अप इहि)
 हट जा, (किम्) क्या (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) तू बताता है ।
 (परा इहि) दूर चला जा, (त्वा) तुझको (न कामये) मैं नहीं चाहता,
 (वृक्षान्) वृक्षों और (वनानि) वनों में (सम् चर) फिरता रह, (गृहेषु)
 घरों में और (गोषु) गौ आदि पशुओं में (मे) मेरा (मनः) मन है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि वनचर डाकू आदियों के समान
 दुष्कर्मों में अपना मन न लगावें, किन्तु सत्य व्यवहारी होकर परस्पर रक्षा
 करें ॥ १ ॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसौपारिम जाग्रतो यत्

१—(परः) परस्तात् । दूरदेशे (अपेहि) अपगच्छ (मनस्पाप) हे
 मनसि चेतसि वर्तमान पाप (किम्) निन्दायाम् (अशस्तानि) अशोभनानि
 कर्माणि (शंससि) कथयसि (परेहि) दूरे गच्छ (न) निषेधे (त्वा) त्वाम्)
 (कामये) अभिलषामि (वृक्षान्) वृक्षवासिनः पुरुषान्-इत्यर्थः (वनानि)
 वनचरान् दस्यवादीनिति यावत् (सं चर) सम्यक् प्राप्नुहि (गृहेषु) गृहाव-
 स्थितेषु जनेषु (गोषु) गवादिपशुषु, तेषां रक्षण इत्यर्थः (मे) मम (मनः)
 अन्तःकरणम् ॥

स्वपन्तः । अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे
अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

अव-शसा । निः-शसा । यत् । परा-शसा । उप-आरिम् ।
जाग्रतः । यत् । स्वपन्तः । अग्निः । विश्वानि । अप ।
दुः-कृतानि । अजुष्टानि । आरे । अस्मत् । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो पाप (अवशसा) विश्वास घात से (निःशसा)
मृणा से, और (पराशसा) अपवाद से, अथवा (यत्) जो पाप (जाग्रतः)
जागते हुये वा (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम्) हम ने किया है । (अग्निः)
सर्वव्यापक परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) अप्रिय (दुष्कृतानि)
दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अप दधातु) हटारक ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमेश्वर का भय मानकर
कभी कोई दुष्कर्म न करे ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६४ । ३ ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।

प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पातृवंहसः ॥ ३ ॥

यत् । इन्द्र । ब्रह्मणः । पते । अपि । मृषा । चरामसि ।

प्रचेताः । नः । आङ्गिरसः । दुः-इतात् । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के स्वामी (इन्द्र) सम्पूर्ण

२—(अवशसा) शंसु हिंसायाम्—किप् । अपशसनेन । विश्वासघातेन
(निःशसा) नितरां हिंसनेन । अतिघृणया (यत्) यत्किञ्चित् पापम् (पराशसा)
पराङ्मुखहिंसनेन अपवादेन (उप—आरिम्) ऋ गतौ—लिट् । वयं समापे
प्राप्तवन्तः । कृतवन्तः (जाग्रतः) जागृ निद्राक्षये—शतृ । जागरदवस्थापन्नाः
(स्वपन्तः) निद्रावस्थां प्राप्ताः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (विश्वानि)
सर्वाणि (अप) अपकृत्य (दुष्कृतानि) दुष्कर्माणि (अजुष्टानि) अप्रियाणि
(आरे) दूरे (अस्मत्) अस्मत्तः (दधातु) स्थापयतु ॥

३—(यत् अपि) यत् किञ्चिदपि पापम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् जग-

सू० ४६ [२१८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२७८)

पेश्वर्यवाले जगदीश्वर ! (यत् अपि) जो कुछ भी पाप (भृषा) असत्य व्यवहार से (चरामसि) हम करें । (आङ्गिरसः) ज्ञानियों का हितकारी (प्रचेताः) बड़ी बुद्धि वाला परमात्मा (नः) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य न्यायकारी परमात्मा का ध्यान रखते हैं, वे पापों से बचकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४६ ॥

१-३ ॥ स्वप्नो देवता ॥ १ बृहती; २ विद्म त इत्यनुष्टुप्,
तं त्वेति बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

स्वप्नगुणोपदेशः—स्वप्न के गुणों का उपदेश ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।

वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥ १ ॥

यः । न । जीवः । असि । न । मृतः । देवानाम् । अमृत-गर्भः ।

असि । स्वप्न । वरुणानी । ते । माता । यमः । पिता ।

अरुः । नाम । असि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न) न तो (जीवः) जीवित और (न) न (मृतः) मृतक (असि) है, [परन्तु] (देवानाम्)

दीश्वर (ब्रह्मणस्पते) बृहतां लोकानां पालक (भृषा) असत्यव्यवहारेण (चरामसि) चरामः । वयं कुर्मः (प्रचेताः) प्रकृष्टज्ञानोपेतः परमेश्वरः (नः) अस्मान् (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्-अण् । अङ्गिरोभ्यो ज्ञानिभ्यो हितः (दुरितात्) दुर्गतेः । कष्टात् (पातु) रक्षतु (अंहसः) पापात् ॥

१—(यः) यस्त्वम् (न) निषेधे (जीवः) प्राणधारकः (असि) (न) (मृतः) मृतकः । त्यक्तप्राणः (देवानाम्) इन्द्रियाणाम् (अमृतगर्भः) अमरणस्य सुखस्य गर्भ आधारः (असि) (स्वप्न) स्वप्नो नन् । पा० ३ । ३ ।

६१ । इति जिह्वप् शये—नन् । यद्वा । कृवृजृ० । उ० ३ । १० । इति नन् । हे निद्रे (वरुणानी) वृणोति आच्छादयतीति वरुणः, अन्धकारः—अ० १ । ३ । ३ । इन्द्र-वरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४६ । इति वरुण—डीषानुकौ । वरुणस्य अन्ध-

इन्द्रियों के (अमृतगर्भः) अमरपन का आधार (असि) तू है । (वरुणाणी) वरुण अर्थात् ढकने वाले अन्धकार की शक्ति, रात्रि (ते) तेरी (माता) माता और (यमः) नियम में चलाने वाला सूर्य (पिता) पिता है, और तू (अरुः) हिंसक (नाम) नाम (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वप्न अवस्था में शरीर के कुछ अंग चेष्टा करते रहते हैं और कुछ चेष्टा बिना हो जाते हैं, इससे स्वप्न जीवन और मरण के बीच में है । स्वप्न इन्द्रियों को सुख देता है अर्थात् दिन में परिश्रम करने वालों को रात्रि में सोने से सुख मिलता है परन्तु नियम विरुद्ध सोने से आयु घटती है । विद्वत्तैस्वप्न जुनित्रैर्देवजामीनां पुत्रैःसियमस्य करणः । अन्तकोसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्वत्स नः स्वप्न दुष्स्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

विद्वत् । ते । स्वप्न । जुनित्रम् । देव-जामीनाम् । पुत्रः । असि । यमस्य । करणः । अन्तकः । असि । मृत्युः । असि । तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्वत् । सः । नः । स्वप्न । दुः-स्वप्न्यात् । पाहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न (ते) तेरे (जानित्रम्) जन्म स्थान को (विद्वत्) हम जानते हैं, तू (देवजामीनाम्) इन्द्रियों की गतियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला और (यमस्य) नियम का (करणः) बनाने वाला (असि) है । तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है, और तू (मृत्युः) मरण

कारस्य पत्नी पालयित्रो शक्तिः । रात्रिः (ते) तव (माता) जननी (यमः) नियामकः सूर्यः (पिता) पालकः । जनकः (अरुः) अर्तैररुः । उ० ४ । ७६ । इति ऋ गतिहिंसनयोः—अरु । हिंसकः । वयोनाशकः (असि) ॥

२—(विद्वत्) जानीमः (ते) तव (स्वप्न) म० १ । हे निद्रे (जानित्रम्) अ० १ । २५ । १ । जन्मस्थानम् (देवजामीनाम्) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । इति या प्राप्रणो—मि, यस्य जः । इन्द्रियाणां जामीनां गतीनाम् (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति यः सः । पावकः । शोधकः (असि) (यमस्य) नियमस्य

सू० ४६ [२१८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८१)

करने वाला (असि) है । (स्वप्न) हे स्वप्न ! (तम्) उस (त्वा) तुझको (तथा) वैसा ही (सम्) अच्छे प्रकार (विद्म) हम जानते हैं, (सः) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥ २॥

भावार्थ—जो मनुष्य सदा धर्म कर्म में लगे रहते हैं उनके हृदय में सोते समय भी कुविचार नहीं आते ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शफं यथुर्णं संनयन्ति ।

एवा दुष्वप्नयं सर्वं द्विषते संनयामसि ॥ ३ ॥

यथा । कलाम् । यथा । शफम् । यथा । ऋणम् । सुस्-नयन्ति ।

एव । दुः-स्वप्नयम् । सर्वम् । द्विषते । सम् । नयामसि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यथा यथा) जैसे जैसे (कलाम्) सोलहवां अंश और (यथा) जैसे (शफम्) आठवां अंश [देकर] (ऋणम्) ऋण को (संनय-यन्ति) लोग चुकाते हैं । (एव) वैसे ही (सर्वम्) सब (दुःस्वप्नयम्) नींद में उठे बुरे विचार को (द्विषते) बैरी के लिये (सम् नयामसि) हम यथावत् छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपने आय का सोलहवां वा आठवां अंश देकर ऋण चुकाते हैं वैसे ही स्वप्न के कुविचारों को बैरी पर छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

(करणः) करोतेः—ल्यु । कर्ता (अन्तकः) तत्करोती त्युपसंख्यानम् । वा० पा० ३।१। २६। इति अन्त, णिच्—एवल् । अन्तयतीति अन्तकः । अन्तकरः (असि) (मृत्युः) मरणकर्ता (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (स्वप्न) (तथा) तेन प्रकारेण (सम्) सम्यक् (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (दुःस्वप्न्यात्) अ० ४।६। ६। दुःस्वप्न—यत् । दुर्-दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् ॥

३—(यथा यथा) येनैव प्रकारेण (कलाम्) आयस्य षोडशांशम् (शफम्) गवादिपादचतुष्टयस्य द्विचतुर्त्वाद् एकस्य चतुर्स्याष्टमांशग्रहणम् । अष्टमांशम् (ऋणम्) पुनर्देयत्वेन गृहीतं धनम् (संनययन्ति) सम्प्रदानेन गम-यन्ति (एव) एवम् (दुःस्वप्नयम्) कुनिद्राभवं विचारम् (सर्वम्) (द्विषते) द्वेष्टे, जनाय (सम्) सम्यक् (नयामसि) प्रापयामः ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः; २, ३ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानुरो विश्वकृत्
विश्वशंभूः । स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः
सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥

अग्निः । प्रातः-सवने । पातु । अस्मान् । वैश्वानुरः । विश्व-
कृत् । विश्व-शंभूः । सः । नः । पावकः । द्रविणे । दधातु ।
आयुष्मन्तः । सह-भक्षाः । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (विश्वकृत्) जगत्
का बनाने वाला, (विश्वशंभूः) संसार को सुख पहुंचाने वाला (अग्निः) सर्व
व्यापक परमेश्वर (प्रातः सवने) प्रातःकाल के यज्ञ में (अस्मान्) हमारी
(पातु) रक्षा करे । (सः) वह (पावकः) शुद्ध करने वाला जगदीश्वर (नः)
हमको (द्रविणे) धन के बीच (दधातु) रक्खे, (आयुष्मन्तः) उत्तम आयु
वाले और (सहभक्षाः) साथ साथ भोजन करने वाले (स्याम) हम रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के महा उपकारों को देखकर पुरुषार्थ करके
धन प्राप्त करें और परस्पर सहायक होकर सुख भोगें ॥ १ ॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मान्स्मिन् द्वितीये सवने

१—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (प्रातः सवने) प्रातःकालस्य
यज्ञे (पातु) रक्षतु (अस्मान्) धार्मिकान् (वैश्वानरः) अ० १।१०।४ । सर्व-
नरहितः (विश्वकृत्) सर्वस्य जगतः कर्ता (विश्वशंभूः) भू—किप् । सर्वस्मिन्
जगति सुखस्य भावयिता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मान् (पावकः) शोधकः
(द्रविणे) अ० २।२६।३ । धने (दधातु) धरतु (आयुष्मन्तः) प्रशस्तो
जीवनेन युक्ताः (सहभक्षाः) सहभोजनाः (स्याम) भवेम ॥

सू० ४७ [२२०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८३)

न जह्युः । आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां
सुमृतौ स्याम ॥ २ ॥

विश्वे । देवाः । मरुतः । इन्द्रः । अस्मान् । अस्मिन् । द्वि-
तीये । सवने । न । जह्युः । आयुष्मन्तः । प्रियम् । एषाम् ।
वदन्तः । वयम् । देवानाम् । सु-मृतौ । स्याम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण, (मरुतः) विद्वान् लोग
और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मान्) हमको (अस्मिन्)
इस (द्वितीये) दूसरे (सवने) यज्ञ में (न) नहीं (जह्युः=जहतु) त्याग
करें (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन रखने वाले, (प्रियम्) प्रिय (वदन्तः)
बोलते हुये (वयम्) हम लोग (एषाम्) इन (देवानाम्) उत्तम गुणों की
(सुमृतौ) सुमति में (स्याम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर आदि सब उत्तम पदार्थों
का विचार करके उत्तम बुद्धि प्राप्त करें ॥ २ ॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामुतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वराणशानाः स्वष्टिना अभि वस्यै नयन्तु ३
इदम् । तृतीयम् । सवनम् । कवीनाम् । अतेन । ये । चमसम् ।
रैरयन्त । ते । सौधन्वनाः । स्वः । आनशानाः । सु-इष्टिम् ।
नः । अभि । वस्यैः । नयन्तु ॥ ३ ॥

२—(विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ ।
विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (इन्द्रः) जगदीश्वरः (अस्मान्)
(अस्मिन्) वर्तमाने (द्वितीये) मध्याह्ने भवे (सवने) यज्ञे (न) निषेधे
(जह्युः) ओ हाक् त्यागे लोडर्थे लिट् । यकारश्छान्दसः । जहुः । जहतु । त्यज-
न्तु (आयुष्मन्तः) उत्तमेन जीवनेन युक्ताः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (एषाम्)
एतेषाम् (वदन्तः) कथयन्तः (वयम्) (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (सुमृतौ)
शोभनायां बुद्धौ (स्याम्) ॥

भाषार्थ—(ये) जिन [महात्माओं] ने (कवीनाम्) बुद्धिमानों के (ऋतेन) सत्य से (इदम्) इस (तृतीयम्) तीसरे (सवनम्) यज्ञ में (चमसम्) अन्न (ऎरयन्त) प्राप्त कराया है। (ते) वे (स्वः) सुख (आन-
शानाः) भोगते हुये (सौधन्वानाः) अच्छे अच्छे धनुष वा विज्ञान वाले पुरुष (नः) हमारे (स्विष्टिम्) अच्छे यज्ञ को (वस्यः अभि) उत्तम फल की ओर (नयन्तु) ले चलें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परोपकारी पूर्वज महाशयों से उत्तम धनुर्वेद विद्या और शास्त्र विद्या प्राप्त करके उत्तम फल भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ पुरउष्कि छन्दः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

३ येनोसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रुभे ।

स्वस्ति मा सं वह्रास्य युज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ १ ॥

श्ये नः । असि । गायत्र-छन्दाः । अनु । त्वा । आ । रुभे । स्व-
स्ति । मा । सम् । वह । अस्य । युज्ञस्य । उत्-दृचि । स्वाहा ॥ १ ॥

३—(इदम्) (तृतीयम्) सायंकालीनम् (सवनम्) यज्ञ प्रति (कवीनाम्) मेधाविनाम्—निघ० ३ । १५ । (ऋतेन) सत्येन (ये) विद्वांसः (चमसम्) अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । इति चमु अदने—असच् । चमसः कस्माच्चमन्त्यस्मिन्निति-निरु० १० । १२ । अन्नम् (ऎरयन्त) ईर गतौ कम्पने च, द्विकर्मकः । प्रापितवन्तः (ते) प्रसिद्धाः (सौधन्वानाः) कनिन् युवृषि-
तक्षि० । उ० १ । १५६ । इति धवि, धन्व गतौ—कनिन् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति सुधन्वन्—अण् । सुधन्वानि शोभनानि धनूषि विज्ञानानि वा येषां ते । शोभनधनुर्वेदयुक्ताः । शोभनविज्ञानाः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० १ । ११० । ४, ८ (स्वः) सुखम् (आनशानाः) अ० २ । १ । ५ । प्राप्नुवन्तः (स्विष्टिम्) शोभनं यज्ञम् (नः) अस्माकम् (अभि) अभिलक्ष्य (वस्यः) वसु-ईयसुन् । ईकारलोपः । वसीयः । अतिप्रशस्तं फलम् (नयन्तु) गमयन्तु ॥

सू० ४८ [१२१]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८५)

भाषार्थ—तू (गायत्रच्छन्दाः) गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला (श्येनः) महाज्ञानी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (आ रभे) मैं ग्रहण करता हूँ । (मा) मुझ को (अस्य) इस (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म को (उद्वचि) उत्तम स्तुति में (स्वस्ति) आनन्द से (सम्) यथावत् (वह) ले चल, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जान कर पुरुषार्थ करते हैं, वेही उत्तम कर्मों को समाप्त करके कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥१॥

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे ।

स्वस्ति मा सं वह्रास्य यज्ञस्योद्वचि स्वाहा ॥ २ ॥

ऋभुः । असि । जगत्-छन्दाः । अनु । त्वा । आ । रभे ।

स्वस्ति । मा । सम् । वह । अस्य । यज्ञस्य । उत्-वचि । स्वाहा २

भाषार्थ—तू (जगच्छन्दाः) जगत् में स्वतन्त्र (ऋभुः) मेधावी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को.....म० । १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ २ ॥

१—(श्येनः) अ० । ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञान-कर्मणः—निरु० । १४ । १३ । महाज्ञानी परमात्मा (असि) (गायत्रच्छन्दाः) अमिनक्षियजि० । उ० । ३ । १०५ । इति गौ गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण् कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति—युक् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, निरु० । १ । ८ । चन्देरादेश्च छुः । उ० । ४ । २१६ । इति चदि आह्लादने—असुन् चस्य छुः । छन्दति, अर्चतिकर्मा—निघ० । ३ । १४ । गायत्राणि गानयोग्यानि छन्दास्याह्लादकर्माणि यस्य सः (अनु) पश्चात् निरन्तरम् (त्वा) त्वाम् (आ रभे) परिगृह्णामि । आश्रयामि (स्वस्ति) कल्याणेन (मा) माम् (सम्) सम्यक् (वह) गमय (अस्य) वर्तमानस्य (यज्ञस्य) पूजनीयव्ययहारस्य (उद्वचि) उत्तमायां स्तुतौ (स्वाहा) अ० । २ । १६ । १ । सुवाणी । आशीर्वादः ॥

२—(ऋभुः) अ० । १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० । ३ । १५ । (जगच्छन्दाः) जगत्सु लोकेषु । छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वां रभे ।

स्वस्ति मा सं वह्नास्य युज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

वृषा । असि । त्रिस्तुप्-छन्दाः । अनु । त्वा । आ । रभे ।
स्वस्ति । मा । सम् । वह्नु । अस्य । युज्ञस्य । उद्-दृचि स्वाहा ॥

भाषार्थ—तू (त्रिष्टुप्छन्दाः) तीनों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] ताप छोड़ाने में समर्थ (वृषा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझको.....म० । १ । ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥

प्रलयसृष्टि विद्योपदेशः—प्रलय और सृष्टि विद्या का उपदेश ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश्च मर्त्यः ।

कपिर्वभस्ति तेजंस्व जुरायु गौरिञ्च ॥ १ ॥

नहि । ते । अग्ने । तन्वः । क्रूरम् । आनंश्च । मर्त्यः ।

कपिः । बभस्ति । तेजंस्व । जुरायु । गौः-डव ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (मर्त्यः) मनुष्य ते (ते) तेरे (तन्वः) स्वरूप की (क्रूरम्) क्रूरता को (नहि) नहीं (आनंश्च) पाया है । (कपिः) कपाने वाले आप (तेजंस्व) प्रकाशमान सूर्य मण्डल को

३—(वृषा) अ० । १ । १२ । १ । ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्रिष्टुप्छन्दाः) ष्टुभ स्तम्भे—क्विप् । तापत्रयस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपस्य स्तोमने वर्जने छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत्—म० । १ ।

१—(नहि) नैव (ते) तव (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मनः (तन्वः) विस्तृतस्य स्वरूपस्य (क्रूरम्) अ० । ५ । १६ । ५ । क्रूरभावम् (आनंश्च) अश्नोते लिट् । परस्मैपदं छान्दसम् । प्राप (मर्त्यः) अछन्द्यादयश्च । उ० । ४ । ११२ । इति मृङ् प्राणत्यागे-यक्, तुडागमः । मनुष्य, -निघ० । १ । ३

सू० ४८ [२२२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८७)

(बभस्ति) खा जाते हैं (इव) जैसे (गौः) गौ (सम्) अपनी (जगयु) जरायु को [खा लेती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्ति को नहीं जान सकता है । परमेश्वर ही इस संसार को बना कर फिर अपने में प्रविष्ट कर लेता है, जैसे गौ बच्चा उत्पन्न होने के पीछे अपने पेट से निकली भिल्ली को आप निगल जाती है ॥ १ ॥

मे॒ ष इ॒व वै सं च॒ वि चोर्वच्यसे॒ यदु॑त्तर॒द्रावुप॑रश्च॒
खाद॑तः । शी॒र्ष्णा शिरो॑प्स॒साप्सो॑ अ॒र्दय॑न् शून् ब॒भस्ति॑
हरि॑तेभि॒रास॑भिः ॥२॥

मे॒ षः-इ॒व । वै । सम् । च॒ । वि । च॒ । उरु॑ । अ॒च्यसे॑ । यत् ।
उत्तर॑-द्रौ । उप॑रः । च॒ । खाद॑तः । शी॒र्ष्णा । शिरः॑ । अप्स॑सा ।
अप्सः॑ । अ॒र्दय॑न् । अं शून्ः । ब॒भस्ति॑ । हरि॑तेभिः । आस॑-भिः ॥२॥

भाषार्थ—[हे अग्ने परमात्मन्] (मेषः इव) मेढ़ा के समान तू (वै) निश्चय करके (सम् अच्यसे) सिमट जाता है (च च) और (उरु) बहुत (वि=वि अच्यसे) फैल जाता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्रौ) ऊंची शाखा पर (खादतः=खादन्) खाता हुआ तू (च) निश्चय करके (उपरः) ठहरने वाला होता है । (शीर्ष्णा) शिर से (शिरः) शिर को, और (अप्ससा)

(कपिः) कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० । ४ । १४४ । इति कपि चलने—इ ।
कम्पकः (बभस्ति) भस्म भर्त्सनदीप्त्योः, अदने च । बभस्तिरत्तिकर्मा—निरु० ।
५ । १२ । भक्षयति (तेजनम्) अ० । १ । २ । ४ । प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम्
(स्वम्) स्वकीयम् (जरायु) अ० । १ । ११ । ४ । गर्भवेष्टनम् (गौः) प्रसूता
धेनुः ॥

२—(मेषः) मिष स्पर्धने सेचने च—अच् । पशुभेदः (इव) यथा (वै) निश्चयेन (सम्) संगत्य (च च) समुच्चये (वि) व्याप्य (उरु) बहुलम् (अच्यसे) गच्छसि (यत्) यदा (उत्तरद्रौ) द्रु गतौ—डु । उच्च शाखा-
याम् (उपरः) उप+रमु उपरमे—ड । उपरतः । स्थितो वर्तसे (च) (खादतः)

रूप से (अप्सः) रूप को (अर्दयन्) दबाते हुये आप (हरितेभिः) हरण शील (आसभिः) गिराने के सामर्थ्यों से (अशून्) सूर्य आदि लोकों को (बभस्ति) खा जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे भेड़ बकरी सिमट कर और फैल कर पेड़ों की पत्ती खा जाती है, वैसे ही परमात्मा सृष्टि और प्रलय करके सब से ऊपर विराजमान रहता है। वही सब पदार्थों को आपस में टकराकर परमाणुओं की अवस्था में करता है ॥ २ ॥

सुपुर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखुरे कृष्णा इषिरा अनतिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरुरेतौ दधिरे सूर्यश्चितः।
सु-पुर्णाः । वाचम् । अक्रतु । उप । द्यवि । आ-खुरे । कृष्णाः ।
इषिराः । अनतिषुः । नि । यत् । नि-यन्ति । उपरस्य ।
निः-कृतिम् । पुरु । रेतः । दधिरे । सूर्य-श्चितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्यश्चितः) सूर्य में ठहरी हुई (सुपुर्णाः) अच्छे प्रकार पालन करने वाली वा बड़ी शीघ्रगामी किरणों ने (आखुरे) खनन योग्य (द्यवि) अन्तरिक्ष में (उप=उपेत्य) मिलकर (वाचम्) शब्द (अक्रत) किया, और (कृष्णाः) रस खँचने वाली (इषिराः) चलने वाली [उन किरणों]

प्रथमार्थे षष्ठी । खादन् भक्षयन् (शीष्णां) शिरसा (शिरः) मस्तकम् (अप्ससा) रूपेण (अप्सः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो जुट्च वा । उ० ४ । २०८ । इति आप्ल व्याप्तौ—असुन्, अकारलोपः । अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति आदर्शनीयं व्यापनीयं वा—निरु० । ५ । १३ । रूपम् । आकारम् (अर्दयन्) पीडयन् (अंशून्) अंश विभाजने—कु । सूर्यादिलोकान् (बभस्ति) म० १ । भक्षयति भवान् (हरितेभिः) हरितैः । हरणशीलैः (आसभिः) असु क्षेपणे—घञ् । आसैः । असनसामर्थ्यैः ॥

३—(सुपुर्णाः) अ० १ । २४ । १ । सुपालकाः । शोभनपतनाः किरणाः (वाचम्) शब्दम् (अक्रत) करोतेर्लुङि । मन्त्रे घसहरणश० । पा० २ । ४ । ८० । इति चलेर्लुक् । अकृषत । कृतवन्तः (उप) उपेत्य (द्यवि) गमेर्डोसिः । उ० । २ । ६६ । इति द्युत दीप्तौ—ङोसि । द्योतते द्यौः । अन्तरिक्षे (आखुरे) इतो

सू० ५० [२२३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८६)

ने (अनर्तिषुः) नृत्य किया । (यत्) जब वे (उपरस्य) मेघ की (निष्कृतिम्) रचना की ओर (नि) नियम से (नियन्ति) मुकती हैं, [तब] उन्होंने (पुरु) बहुत (रतः) वृष्टि जल (दधिरे) धारण किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा से सूर्य की किरणें विशाल आकाश में शब्द करके पार्थिव रस को खींचकर इधर उधर चेष्टा करती हैं । उससे मेघ, मेघ से वृष्टि होकर संसार का उपकार करती है । इसी प्रकार प्रलय के पीछे सृष्टि और सृष्टि के पीछे पलय होती है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६४ म० ५ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-३ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ जगती; २, ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

आत्मदोषनिवारणोपदेशः—आत्मा के दोष निवारण का उपदेश ॥

हुतं तुर्दं समङ्गमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्ठीः
शृणीतम् । यवान्नेददानपि नहयत् मुखमथाभयं
कृणुत धान्याय ॥ १ ॥

हुतम् । तुर्दम् । सम-अङ्गम् । आखुम् । अश्विना । छिन्तम् ।
शिरः । अपि । पृष्ठीः । शृणीतम् । यवान् । न । इत् । अदान् ।
अपि । नहयत् । मुखम् । अथाभयम् । कृणुतम् । धान्याय ॥१॥

वक्तव्यः । वा० पा० । ३ । ३ । १२५ । इति आङ्+खनु अवधारणे—डर । सम-
स्तात् खननीये (कृष्णाः) अ० ५ । २३ । ५ । रसानामाकर्षकाः (इधिराः) अ० ।
५ । १ । ६ । गमनशीलाः (अनर्तिषुः) नृती गात्रविनामे—लुङ् । नृत्यन्ति स्म ।
चेष्टां कृतवन्तः (नि) नियमेन (यत्) यदा (नियन्ति) नीचैः प्राप्नुवन्ति
(उपरस्य) म० । २ । उपर उपलो मेघोभवत्युपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राण्युपरता आप
इति वा—निरु० २ । २१ । मेघस्य (निष्कृतिम्) अ० ४ । २७ । ६ । निर्माणम्
(उरु) बहुलम् (रतः) अ० २ । २८ । ५ । जलम्—निघ० १ । १२ । (दधिरे)
धृतवन्तः (सूर्यश्रितः) शिञ्-सेवायाम्—क्विप् । सूर्य प्राप्ताः किरणाः ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे कामों में व्याप्त रहने वाले स्त्री पुरुषों । (तर्दम्) हिंसा करने वाले कौवे आदि को, (समङ्कम्) पृथिवी में अङ्क करने वाले शूकर आदि को और (आखुम्) कुतरने वाले चूहे आदि को (हतम्) तुम मारो, (शिरः) उनका शिर (छिन्तम्) काटो और (पृष्ठीः) पसलियाँ (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ो । वे (यवान्) जवादि अन्नों को (न इत्) कमी न (अदान्) खावें, (मुखम्) उनका मुख (अपि) भी (नह्यतम्) तुम बाँधो, (अथ) और (धान्याय) धान्य के लिये (अभयम्) अभय (कृणुतम्) करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हानिकारक पक्षी पशु आदि से खेती की रक्षा करके धान्य प्राप्त करते हैं । वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष काम क्रोध आदि शत्रुओं से अपनी रक्षा करके सुख भोगें ॥ १ ॥

तर्दं है पतङ्गं है जभ्यं हा उपक्वस । ब्रह्मेवासंस्थितं
हविरनन्दन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥ २ ॥
तर्दं । है । पतङ्गं । है । जभ्यं । है । उपक्वस । ब्रह्मा-इव ।
असं-स्थितम् । हविः । अनन्दन्तः । इमान् । यवान् । अहिं-
सन्तः । अप-उदित ॥ २ ॥

१—(हतम्) हन्तेलौट् । युवां नाशयतम् (तर्दम्) तर्दं हिंसायाम्—
अच् । हिंसकं काकादिकम् (समङ्कम्), अकि लक्षणे—अच् । भूमौ अङ्कनशीलं
शूकरादिकम् (आखुम्) आङ्परयोः खनिशृभ्यां ङिच्च । उ० १ । ३३ । इति
आङ्+खलु अवदाणे—उ, स च ङित् । खननशीलं मूषकादिकम् (अश्विना)
अ० । २ । २६ । ६ । अश्विनौ । हे कर्मसु व्यापनशीलौ स्त्रीपुरुषौ (छिन्तम्)
मिन्तम् (शिरः) ललाटम् (अपि) (पृष्ठीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वस्थीनि
(शृणीतम्) हिंस्तं चूर्णीकृतम् (यवान्) यवाद्यन्नानि (न इत्) नैव (अदान्)
अद भक्षणे—लेट् । भक्षयेयुः (अपि) (नह्यतम्) बध्नीतम् (मुखम्) (अथ)
अनन्तरम् (अभयम्) भयराहित्यं कुशलम् (कृणुतम्) कुरुतम् (धान्याय)
अन्नवर्धनाय ॥

सू० ५० [२२३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८१)

भाषार्थ—(है) हे (तर्द) हे हिंसक काक आदि ! (है) हे (पतङ्ग) फुदकने वाले टिड्डी आदि । (हा) हे (जम्भ) वधयोग्य (उपकस) भूमि पर रेंगने वाले कीड़े ! (ब्रह्मा इव) विद्वान् पुरुष ब्रह्मा के समान (असंस्थितम्) बिना संस्कार किये हुये (हविः) अन्न को, (इमाम्) इन् (यवान्) जव आदि अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुये और (अहिंसन्तः) न तोड़ते हुये (अपोदित) उड़ जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् पुरुष कुपथ्य अन्न को छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार हिंसक पशु आदि जवादि अन्नों के खेतों को छोड़कर चले जावें ॥२॥ तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे । य आरुण्या व्यद्वुरा ये के च स्थ व्यद्वुरास्तान्तसर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

तर्द-पते । वघा-पते । तृष्ट-जम्भाः । आ । शृणोत । मे । ये । आरुण्याः । वि-अद्वुराः । ये । के । च । स्थ । वि-अद्वुराः । तान् । सर्वान् । जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तर्दपते) हे हिंसकों के स्वामी ! (वघापते) हे टिड्डी आदिकों के स्वामी ! (तृष्टजम्भाः) हे प्यासे मुख वाले कीड़े ! (मे) मेरी (आ) अच्छे प्रकार (शृणोत) सुनो । (ये) जो तुम (आरुण्याः) जंगली और

२—(तर्द) हिंसककाकादे (है) हे (पतङ्ग) पतनशील शलभादे (है) (जम्भ) हिंस्य (हा) हे (उपकस) उप+कु+अस गतौ—अच् । उप हीनतया कौ भूमौ असति गच्छतीति यः सः, तत्सम्बुद्धौ । हे कीटादे (ब्रह्मा) ऋत्विक् । महाविद्वान् (इव) यथा (असंस्थितम्) असंस्कृतम् । अपथ्यम् (हविः) अन्नम् (अनदन्तः) अभक्षयन्तः (इमान्) समीपस्थान् (यवान्) यवाद्यन्नानि (अहिंसन्तः) अविनाशयन्तः (अपोदित) अप+उत्+इण गतौ लोट् । उड़डीय गच्छत् ॥

३—(तर्दपते) सांहितको दीर्घः । तर्दानां हिंसकानां स्वामिन् (वघापते) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अव+हन् हिंसागत्योः—ड । वष्टि भागुरिरल्लोपम्—अव शब्दस्य अलोपः—टाप । हे अवहननशीलानां जन्तूनां कीटा-

(व्यद्वराः) विविध प्रकार खाने वाले (च) और (ये) (के) जो कोई दूसरे जन्तु (व्यद्वराः) भख लेने वाले (स्थ) हो, (तान्) उन तुम (सर्वान्) सब को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य छोटे बड़े हिंसक जन्तुओं को मार हटाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपने दोषों को हटावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१-३ ॥ १ सोमः; २ आपः; ३ वरुणो देवता ॥ १ गायत्री;
२ त्रिष्टुप्; ३ जगती ॥

द्रोहनाशोपदेशः—द्रोह के नाश का उपदेश ॥

वायोः पुतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

वायोः । पुतः । पवित्रेण । प्रत्यङ् । सोमः । अति । द्रुतः ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के [बताये हुये] (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (पुतः) शुद्ध किया हुआ, (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष पूजनीय, (अति) अति (द्रुतः) शीघ्रगामी (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा अच्छे गुण वाला पुरुष (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) योगी (सखा) सखा होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदविहित कर्मों को अति शीघ्र करके परमेश्वर के मित्र बन के सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

(वायु) शब्द परमेश्वर वाचक है—देखो [तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः] य० ३२ । १ । ब्रह्म [वायुः] सर्वव्यापक और ब्रह्म ही आनन्द दाता है ॥ यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १ । ३१ ॥

दीनां स्वामिन् (तृष्टजम्भाः) पिपासितमुखाः (आ) सम्यक् (शृणोत) तशब्दस्य तप् । शृणुत (मे) मम वचनम् (ये) (आरण्याः) आरण्ये भवाः (व्यद्वराः) अ० ३ । २८ । २ । विविधमदनशीलाः (ये के) ये केचित् अन्ये जन्तवः (च) (स्थ) भवथ (तान्) तान् युष्मान् (सर्वान्) समस्तान् (जम्भयामसि) जम्भयामः । नाशयामः ॥

१—(वायोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य विज्ञापितेन—तद् यथा [तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः] य० ३२ । १ । (पुतः) शोधितः (पवित्रेण) शुद्धेन धर्माचरणेन (प्रत्यङ्) प्रत्यक्षमश्रितः पूजितः (सोमः) ऐश्वर्यवान् सोमगुणसम्पन्नो वा (अति) अत्यन्तम् (द्रुतः) शीघ्रगामी (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) समाहितः । योगी (सखा) मित्रम् ॥

सू० ५१ [२२४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८३)

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
 विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पुत एमि
 आपः । अस्मान् । मातरः । सूदयन्तु । घृतेन । नः । घृत-प्वः ।
 पुनन्तु । विश्वम् । हि । रिप्रम् । प्र-वहन्ति । देवीः । उत् ।
 इत् । आभ्यः । शुचिः । आ । पुतः । एमि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मातरः) माता के समान पालन करने वाले (आपः) जल
 (अस्मान्) हम को (सूदयन्तु) सींचें, (घृतप्वः) घृतको पवित्र करने वाले
 [जल] (घृतेन) घृत से (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करें । (देवीः)
 दिव्यगुणयुक्त जल (विश्वम्) सब (हि) ही (रिप्रम्) मल को (प्रवहन्ति)
 बहा देते हैं, (आभ्यः) इन जलों से (इत्) ही (शुचिः) शुद्ध और (आ पुतः)
 सर्वथा पवित्र होकर (उत् एमि) मैं ऊँचा चलता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके मलों को शुद्ध
 करके और अनेक शिल्पों में प्रयुक्त होकर उपकारी होते हैं, वैसे ही मनुष्य
 विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त करके परस्पर उपकार करके उदय को प्राप्त हों ॥२॥

यह मन्त्र कुल्ल भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४ । २ ॥

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनैऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति
 अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसा
 देव रीरिषः ॥ ३ ॥

२—(आपः) जलानि (अस्मान्) मनुष्यादीन् (मातरः) मातृवत्पा-
 लिकाः (सूदयन्तु) पूर्य क्षरणे । सिञ्चन्तु । शुन्धयन्तु (घृतेन) आज्येन (नः)
 अस्मान् (घृतप्वः) घृत + पूज् पवने-किप् । घृतं पुनन्ति यास्ता आपः (पुनन्तु)
 पवित्रयन्तु (विश्वम्) सर्वम् (हि) खलु (रिप्रम्) लीरीङो ह्रस्वः पुट् च तरौ
 श्लेषणकुत्सनयोः । उ० ५ । ५५ । इति रीङ् श्रवणे—रप्रत्ययः, ह्रस्वः पुट् च ।
 रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । कुत्सितं मलम् (प्रवहन्ति)
 प्रकर्षेण क्षालयन्ति, अपगमयन्ति (देवीः) देव्यः । दिव्यगुणयुक्ताः (उत्)
 उदित्य (इत्) एव (आभ्यः) अद्भ्यः (शुचिः) शुद्धः (आ) समन्तात् (पुतः)
 पवित्रः (एमि) गच्छामि ॥

यत् । किम् । च । इदम् । वरुणा । दैव्ये । जने । अभि-द्रोहम् ।
मनुष्याः । चरन्ति । अचित्त्वा । च । इत् । तव । धर्म ।
युयोपिम । मा । नः । तस्मात् । एनसः । देव । रीरिषः ॥३॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अति उत्तम परमेश्वर ! (मनुष्याः) मनुष्य
(इदम्) यह (यत् किम् च) जो कुछ भी (अभिद्रोहम्) अपकार (दैव्ये)
विद्वानों के बीच विद्वान् (जने) मनुष्य पर (चरन्ति) करते हैं । (च) और
(इत्) भी (अचित्त्वा) अचेतनपन से (तव) तेरे (धर्म) धर्म को (युयो-
पिम) हमने तोड़ा है, (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् ! (नः) हमें (तस्मात्)
उस (एनसः) पाप से (मा रीरिषः) मत नष्ट कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ—यदि मनुष्य अज्ञान से कोई पाप कर्म करे तो वे दण्ड रूप
प्रायश्चित्त, अनुताप आदि करके धर्म आचरण में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ७ । ८६ । ५ ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सूक्तम् ५२ ॥

१-३ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मदोषनाशोपदेशः—आत्मा के दोष के नाश का उपदेश ॥

उत् सूर्यो दिव ए'ति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।

३—(यत्) (किम् च इदम्) किञ्चिदपि (वरुण) हे अत्युत्तम पर-
मेश्वर (दैव्ये) अ० २ । २ । २ । देवेषु विद्वत्सु जाते विदुषि (जने) मनुष्ये
(अभिद्रोहम्) अपराधम् (मनुष्याः) पुरुषाः (चरन्ति) अनुतिष्ठन्ति (अचित्त्वा)
अ० ५ । १७ । १२ । अज्ञानेन (च) (इत्) अपि (धर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् ।
उ० ४ । १४५ । इति धृ धारणे—मनिन् । धारणसामर्थ्यम् । नियमम् (युयोपिम)
युप् विमोहने—लिट् । विमोहितवन्तः । नाशितवन्तः (नः) अस्मान् (तस्मात्)
(एनसः) अ० २ । १० । ८ । पापात् (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् (मा री-
रिषः) रिष हिंसायाम्, एयन्ताद् माङि लुङि चङि रूपम् । मा हिंसीः ॥

सू० ५२ [२२५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८५)

आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

उत् । सूर्यः । दिवः । एति । पुरः । रक्षांसि । नि-जूर्वन् ।

आदित्यः । पर्वतेभ्यः । विश्व-दृष्टः । अदृष्ट-हा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आदित्यः) सब ओर प्रकाश वाला, (विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया और (अदृष्टहा) न दीखते हुये पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दिवः) अन्तरिक्ष के बीच (रक्षांसि) राक्षसों [अन्धकार आदि उपद्रवों] को (निजूर्वन्) सर्वथा नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः) मेघों वा पहाड़ों से (पुरः) सन्मुख (उत् एति) उदय होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार हटा कर प्रकाश करता है, वैसे ही विद्वान् लोग अविद्या मिटा कर विद्या का प्रकाश करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६१। ८, ६ ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासौ अविक्षत ।

न्युर्मयो नदीनां न्युदृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

नि । गावः । गो-स्थे । असदन् । नि । मृगासः । अविक्षत ।

नि । ऊर्मयः । नदीनाम् । नि । अदृष्टाः । अलिप्सत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गावः) किरणें (गोष्ठे) किरणों के स्थान, अन्तरिक्ष में (नि) पैठ कर (असदन्) ठहरी हैं, (मृगासः) खोजने वाले पुरुषों ने (नि

१—(उत्) उद्गत्य (सूर्यः) लोकस्य प्रेरको दिनकरः (दिवः) अन्तरिक्षस्य मध्यात् (एति) गच्छति (पुरः) अग्रे (रक्षांसि) अ० १। २१। ३। रक्षो रक्षितव्यमस्मात्—निरु० ४। १८। अन्धकारादीन् उपद्रवान् (निजूर्वन्) जूर्वी हिंसायाम्—शतृ । नितरां नाशयन् (आदित्यः) अ० १। ६। १। आदीप्यमानः (पर्वतेभ्यः) मेघेभ्यः शैलेभ्यो वा (विश्वदृष्टः) विश्वेन दृष्टः (अदृष्टहा) अ० ५। २३। ६। अदृष्टान् अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् हन्ति गच्छतीति यः सः ॥

२—(नि) अन्तर्भूय (गावः) किरणाः (गोष्ठे) गवां किरणानां स्थाने अन्तरिक्षे (असदन्) निषण्णा अभूवन् (नि) (मृगासः) मृग

(१२८६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५२ [२२५]

अविज्ञत) [अपने कामों में] प्रवेश किया है । (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) गति क्रियाओं ने (अदृष्टाः) न दीखती हुई पंक्तियों को (नि नि) अति निश्चय करके (अलिप्सत) पाने की इच्छा की है ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—सूर्य के चमकने पर सब मनुष्य आदि प्राणी परमेश्वर की स्तुति करते हुये अभीष्ट पदार्थों को खोजकर अपने २ कर्तव्य कर्म करते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ । १६१ । ४ ।

आयुर्ददं विप्रश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।

आभारिषं विश्वभैषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

आयुः-ददम् । विप्रः-चितम् । श्रुताम् । कण्वस्य । वीरुधम् ।

आ । आभारिषम् । विश्व-भैषजीम् । अस्य । अदृष्टान् ।

नि । शमयत् ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(कण्वस्य) बुद्धिमान् पुरुष की (आयुर्ददम्) जीवन देने वाली, (विप्रश्चितम्) भले प्रकार चेताने वाली, (श्रुताम्) प्रसिद्ध, (वीरुधम्) विविध प्रकार प्रगट होने वाली, (विश्वभैषजीम्) संसार का भय जीतने वाली वेद विद्या को (आ आभारिषम्) मैंने पाया है, वह (अस्य) इस

अन्वेषणे—क, असुक् च । मृगाः । अन्वेषकाः पुरुषाः (अविज्ञत) नेर्विशः । पा० १ । ३ । १७ । इत्यात्मनेपदम् । शल इगुपधादनिटः कसः । पा० ३ । १ । ४५ । इति लुङि क्लेः कसः । स्वकार्याणि प्रविष्टा अभूवन् (नि नि) निश्चयेनैव (ऊर्मयः) अर्त्तेरुच्च । उ० ४ । ४४ । इति ऋ गतौ—मि । गतिक्रियाः (नदीनाम्) नद—ङीप् । नदः स्तोता—निघ० ३ । १६ । स्तोत्रीणां प्रजानाम् (अदृष्टाः) अगोचराः पंक्तीः । अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् (अलिप्सत) लभेः सति । सनिमीमाधुरभलभ० । पा० ७ । ४ । ५४ । इति अचः स्थाने इस् । स्कोः संयोगा० । पा ८ । २ । २६ । सकार लोपः । लब्धुमैच्छन् ॥

३—(आयुर्ददम्) दद दाने—क्विप् । उत्कृष्टजीवनस्य दात्रीम् (विप्रश्चितम्) वि+प्र+चिती संज्ञाने—क्विप्, पृषोदरादि रूपम् । विविधं प्रकृष्टं ज्ञापयित्रीम् (श्रुताम्) प्रसिद्धाम् (कण्वस्य) अशू प्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे—क्वन् । मेधाविनः पुरुषस्य—निघ० ३ । १५ । (वीरुधम्)

सू० ५३ [२२६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८७)

पुरुष को (अदृष्टान्) न दीखते हुये दोषों को (निशमयत्) शान्त कर देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व सुख दायक वेद विद्या द्वारा अपने सबकुसंस्कारों का नाश करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-३ ॥ १ विश्वेदेवाः; २ अग्निः; ३ त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षणोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया
पिपर्तु । अनं स्वधा चिकित्तां सोमो अग्निर्वायुर्नः
पातु सविता भर्गश्च ॥ १ ॥

द्यौः । च । मे । इदम् । पृथिवी । च । प्र-चेतसौ । शुक्रः ।
बृहन् । दक्षिणया । पिपर्तु । अनं । स्वधा । चिकित्ताम् । सोमः ।
अग्निः । वायुः । नः । पातु । सविता । भर्गः । च ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसौ) उत्तम ज्ञान देने वाले (द्यौः) आकाश (च)
और (पृथिवी) पृथिवी (च) और (बृहन्) बड़ा (शुक्रः) प्रकाशमान सूर्य
(मे) मेरे लिये (इदम्) इस घर को (दक्षिणया) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा]
से (पिपर्तु) भरपूर करे । (सोमः) चन्द्रमा और (अग्निः) अग्नि (अनु)
अनुग्रह करके (स्वधा) अन्न को (चिकित्ताम्) जतावे, (वायुः) वायु (च)

धम्) विविध प्रादुर्भविनीम् (आ अमारिषम्) हृज् प्रापयौ, हस्य भव्यम्
आहार्षम् । प्राप्तवानस्मि (विश्वमेघजीम्) सर्वस्य भयस्य शमनीं वेदविद्याम्
(अस्य) पुरुषस्य (अदृष्टान्) अलक्षितान् दोषान् कुसंस्कारान् (निशमयत्)
शम उपशमने, यन्ताल्लेटि अडागमः । निशमयतु ॥

१—(द्यौः) आकाशः (च च) समुच्चये (मे) मह्यम् (इदम्) पुरोवर्ति गृहम्
(पृथिवी) (च) (प्रचेतसौ) प्रचेतः प्रज्ञानं यभ्यां सकाशात् ते । प्रकृष्टज्ञानदाय्यौ
(शुक्रः) शोचमानो दीप्यमानः सूर्यः (बृहन्) महान् (दक्षिणया) अ० ५ ।
७ । १ । दानेन । प्रतिष्ठया (पिपर्तु) प्रपूरयतु (अनु) अनुग्रहेण (स्वधा)

(१२८८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५३ [२२६]

और (सविता) सबका उत्पन्न करने हारा (भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर रचित पदार्थों से यथावत उपकार लेकर सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुनः
ऐतु । वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति
दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥

पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । नः । आ । ऐतु । पुनः ।
चक्षुः । पुनः । असुः । नः । आ । ऐतु । वैश्वानरः । नः ।
अदब्धः । तनू-पाः । अन्तः । तिष्ठाति । दुः-दुरितानि । विश्वा र

भाषार्थ—(पुनः) बार बार (प्राणः) प्राण, (पुनः) बार बार (आत्मा)
आत्मबल (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो, (पुनः) बार बार (चक्षुः) देखने
का सामर्थ्य, (पुनः) बार बार (असुः) बुद्धि (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो ।
(अदब्धः) बेचूक, (तनूपाः) शरीरों का रक्षक, (वैश्वानरः) सब नरों का
हितकारी परमात्मा (नः) हमारे (विश्वा) सब (दुरितानि) कष्टों के
(अन्तः) बीच में (तिष्ठाति) स्थित रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सदा धर्म में प्रवृत्त रह कर परमेश्वर
की आज्ञा पालन करें, जिससे विश्राम के पश्चात् और पुनर्जन्म में भी उत्तम
शरीर और इन्द्रियां प्राप्त करके सुख भोगते रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४८ । म० १५ ।

अन्नम् (चिकिताम्) कित ज्ञाने—अन्तर्गतार्थः । ज्ञापयतु (अग्निः) पावकः
(वायुः) पवनः (नः) अस्मान् (पातु) रक्षतु (सविता) सर्वोत्पादकः
(भगः) भगमैश्वर्य यस्य सः । भगवान् परमेश्वरः (च) ॥

२—(पुनः) बारं बारम् । विश्रामानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा (प्राणः)
जीवस्थितिहेतुः प्राणवायुः (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (नः) अस्मान्
(ऐतु) आगच्छतु । प्राप्नोतु (पुनः) (चक्षुः) दर्शनशक्तिः (पुनः) (असुः)
प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । (नः) (ऐतु) (वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः
(नः) अस्माकम् (तनूपाः) शरीरपालकः (अन्तः) मध्ये । अन्तरान्तरेण युक्ते ।
मा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया (तिष्ठाति) लेट् । तिष्ठेत् (दुरितानि) दुः-
खानि (विश्वा) सर्वाणि ॥

सू० ५३ [२२६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१२८८)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
 त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो माष्टु तन्वोश्च
 यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम् । तनूभिः । अगन्महि । मनसा ।
 सम् । शिवेन । त्वष्टा । नः । अत्र । वरीयः । कृणोतु । अनं ।
 नः । माष्टु । तन्वः । यत् । वि-रिष्टम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वर्चसा) अन्न के साथ, (पयसा) विज्ञान के साथ (सम्)
 यथावत्, (तनूभिः) शरीरों के साथ (सम्) यथाविधि, और (शिवेन)
 मङ्गलकारी (मनसा) मन के साथ (सम् अगन्महि) हम संगत हुये हैं ।
 (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां पर (वरीयः)
 अति विस्तीर्ण धन (कृणोतु) करे और (नः) हमारे (तन्वः) शरीर का
 (यत्) जो (विरिष्टम्) विविध कष्ट है उसे (अनु माष्टु) शुद्ध करता रहे ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर ने कृपा करके हमें अन्न, विद्या, और मनन शक्ति
 पहिले से दी है, हम उन सब से यथावत् उपकार लेकर अपने सब कष्ट दूर करें ॥३॥
 यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २ । २४ ।

३—(सम्) सम्यक् (वर्चसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । (पयसा)
 पय गतौ—असुन् । विज्ञानेन (सम्) यथाविधि (तनूभिः) शरीरैः (सम्
 अगन्महि) समो गम्युच्छिभ्याम् । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । संगता
 अभूम (मनसा) अन्तःकरणेन (शिवेन) कल्याणकरेण (त्वष्टा) अ० २ ।
 ५ । ६ । त्वष्टा..... त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वद्धतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः-
 निरु० ८ । १३ । विश्वकर्मा परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (अत्र) अस्मिन् गृहे
 (वरीयः) अ० १ । २ । २ । उरुतरम् । विस्तीर्णतरं धनम् (कृणोतु) करोतु
 (अनु) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (माष्टु) मृजुष शुद्धौ । शोधयतु
 (तन्वः) शरीरस्य (यत्) यावत् (विरिष्टम्) रिष हिंसायाम्—भावे क ।
 विहिंसनम् । विविध दुःखम् ॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्यरक्षणायोपदेशः—राज्य की रक्षा के लिये उपदेश ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।

अस्य क्षत्रं श्रियं मुहो वृष्टिर्व वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

इदम् । तत् । युजे । उत्-तरम् । इन्द्रम् । शुम्भामि । अष्टये ।

अस्य । क्षत्रम् । श्रियम् । मुहीम् । वृष्टिः-इव । वर्धय । तृणम् ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजा को (अष्टये) इष्ट प्राप्ति के लिये (शुम्भामि) सुशोभित करता हूँ, [जिस से] (युजे) उसके मित्र के लिये (इदम्) यह और (तत्) वह (उत्तरम्) अधिक ऊंचा पद होवे । [हे जगदीश्वर !] (अस्य) इस पुरुष के (क्षत्रम्) राज्य और (महीम्) बड़ी (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा, (वृष्टिः इव) जैसे बरसा (तृणम्) घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर के अनुग्रह से धर्म आचरण करता हुआ सर्वत्र अपने राज्य की वृद्धि करे ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।

इमं राष्ट्रस्याभिवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्रम् । अग्नीषोमौ । अस्मै । धारयतम् । रयिम् ।

इमम् । राष्ट्रस्य । अभि-वर्गे । कृणुतम् । युजे । उत्-तरम् ॥२॥

१—(इदम्) समीपस्थम् (तत्) दूरस्थम् (युजे) युजेः—क्विप् मित्राय (उत्तरम्) उच्चतरं पदं भवतु (इन्द्रम्) राजानम् (शुम्भामि) शुम्भ शोभायाम्, णिजर्थः । शोभयामि (अष्टये) अशू व्याप्तौ—किन् । इष्ट प्राप्तये (अस्य) पुरुषस्य (क्षत्रम्) राज्यम् (श्रियम्) सम्पत्तिम् (महीम्) महतीम् (वृष्टिः) वर्षणम् (इव) यथा (वर्धय) समर्धय (तृणम्) घासम् ॥

सू० ५४ [२२७]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३०९)

भाषार्थ—(अग्नीषोमौ) हे सूर्य और चन्द्रमा ! तुम दोनों (अस्मै) इस पुरुष के लिये (क्षत्रम्) राज्य को और (अस्मै) इसके लिये (रयिम्) सम्पत्ति को (धारयतम्) दृढ़ करो । (इमम्) इस पुरुष को (राष्ट्रस्य) राज्य के (अग्नीवर्गे) मण्डल में (युजे) मित्र वर्ग के लिये (उत्तरम्) अधिक ऊँचा (कृणुतम्) करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य चन्द्रमा नियम बद्ध होकर परस्पर आकर्षण आदि से जगत् का उपकार करते हैं वैसे ही मनुष्य सब से प्रीति करके अपना राज्य और धन बढ़ावे ॥ २ ॥

सर्वबन्धुश्चासर्वबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।

सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

स-बन्धुः । च । असर्वबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।

सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु (सर्वबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असर्वबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्वमथन करने वाले (यजमानाय) विद्वानों का सत्कार करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—धार्मिक पुरुष परमात्मा की आज्ञा मान कर तत्त्वमथन कर के शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ६ । १५-२ । और उत्तरार्द्ध अ० ६ । ६ । १ । में आया है ॥

२—(अस्मै) पुरुषाय (क्षत्रम्) राष्ट्रम् (अग्नीषोमौ) सूर्यचन्द्रौ (अस्मै) (धारयतम्) दृढीकुरुतम् (रयिम्) वैभवम् (इमम्) पुरुषम् (राष्ट्रस्य) राज्यस्य (अग्नीवर्गे) अ० ३ । ५ । २ । राज्यमण्डले (कृणुतम्) कुरुतम् (युजे) मित्रवर्गहिताय (उत्तरम्) उच्चतरम् ॥

३—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० ६ । १५ । २ । उत्तरार्द्धः—अ० ६ । ६ । १ ।

सूक्तन् ५५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्ति प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

ये पन्थानो ब्रह्मो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवी
संचरन्ति । तेषामज्यानिं यतमो वहति तस्मै मा देवाः
परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

ये । पन्थानः । ब्रह्मः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी
इति । स-चरन्ति । तेषाम् । अज्यानिम् । यतमः । वहति ।
तस्मै । मा । देवाः । परि । धत्तु । इह । सर्वे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के यानों, रथादिकों के योग्य
(ब्रह्मः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी के
(अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं । (तेषाम्) उन मार्गों में से
(यतमः) जो कोई मार्ग (अज्यानिम्) अभङ्ग शान्ति (वहति) पहुँचावे ।
(सर्वे देवाः) हे सब विद्वानों ! (तस्मै) उस मार्ग के लिये (मा) मुझे (इह)
यहां पर (परि) अच्छे प्रकार (धत्त) स्थिर करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान विज्ञान पूर्वक वैदिक मार्ग
में चलकर शान्ति प्राप्त करें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ३ । १५ । २ में आ गया है ॥

१—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० ३ । १५ । २ । यथा (ये) (पन्थानः)
मार्गाः (ब्रह्मः) नानाविधाः (देवयानाः) विदुषां यानयोग्याः (अन्तरा)
मध्ये (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (संचरन्ति) वर्तन्ते (तेषाम्) पथां मध्ये
(अज्यानिम्) ज्यावयोहनौ-क्तिन् । अजरां शान्तिम् (यतमः) अ० ४ । ११ ।
५ । यः कश्चित् (वहति) लेटि, अडागमः । वहेत् प्रापयेत् (तस्मै) मार्गाय
(मा) माम् (देवाः) विद्वांसः (परि) सर्वतः (धत्त) स्थापय (इह)
अस्मिन् लोके (सर्वे) समस्ताः ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते
नो दधात । आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद
वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

ग्रीष्मः । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः । शरत् । वर्षाः । सु-इते ।
नः । दधात । आ । नः । गोषु । भजत । आ । प्र-जायां ।
नि-वाते । इत् । वः । शरणे । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसन्तः) वसन्तकाल [चैत्र, वैशाख] (ग्रीष्मः) घाम
ऋतु [ज्यैष्ठ, आषाढ़] (वर्षाः) वरसा [श्रावण भाद्रमास] (शरत्) शरद् ऋतु
[आश्विन, कार्तिक] (हेमन्तः) शीत काल [अग्रहायण, पौष] (शिशिरः)
उत्तरत शीतकाल [माघ, फाल्गुन] यह तुम सब (नः) हमें (स्विते) अच्छे
प्रकार प्राप्त कुशल में (दधात) स्थापित करो । (नः) हमें (गोषु) गौ
आदि पशुओं में (आ) और (प्रजायाम्) प्रजा में (आ) सब ओर से (भजत)
भागी करो, (वः) तुम्हारे (इत्) ही (निवाते) हिंसारहित (शरणे) शरण
में (स्याम) हम रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रत्येक ऋतु में उचित आहार विहार करके गौ आदि
पशुओं और पुत्र पौत्र भृत्य प्रजाओं सहित सुखी रहें ॥ २ ॥

२—(ग्रीष्मः) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४६ । इति प्रसु अदने-मक्,
ग्रीभावः पुगागमश्च । निदाघः । ज्येष्ठाषाढात्मकः कालः (हेमन्तः) अ० ३ ।
११ । ४ । अग्रहायणपौषात्मकः कालः (शिशिरः) अजिरशिशिर० । उ० १ ।
५३ । इति शशं प्लुतगतौ-किरच्, उपधाया इत्वम् । माघफाल्गुनमासात्मकः
शीतान्तः कालः (वसन्तः) अ० ३ । ११ । ४ । चैत्रवैशाखात्मकः पुष्पकालः
(शरत्) अ० १ । १० । २ । आश्विनकार्तिकात्मकः कालः (वर्षाः) वर्ष वर्षा-
मस्त्यासु । वर्ष—अर्शआदिभ्योऽच्, टाप् । यद्वा । त्रियन्ते । वृत्तृवदि० । उ०
३ । ६२ । इति वृज् वरणे-स, टाप् । श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (स्विते) सुष्ठु
प्राप्ते कुशले (नः) अस्मान् (दधात) धत्त । स्थापयत (आ) समुच्चये
(नः) अस्मान् (गोषु) गवादिपशुषु (भजत) भागिनः कुरुत (आ) सम-
न्तात् (प्रजायाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपे जने (निवाते) वा गतिहिंसनयोः—
क् । अहिंसिते (इत्) एव (वः) शुष्माकम् (शरणे) रक्षणे (स्याम) भवेम ॥

इडावत्सुराय परिवत्सुराय संवत्सुराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सु-मतौ यज्ञियांनामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥३॥

इडावत्सुराय । परि-वत्सुराय । सु-वत्सुराय । कृणुत । बृहत् ।
नमः । तेषाम् । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियांनाम् । अपि । भद्रे ।
सौमनसे । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परिवत्सुराय) सब ओर से निवास कराने वाले पिता को,
(इडावत्सुराय) विद्या में निवास कराने वाले आचार्य को और (सं-
वत्सुराय) यथा नियम निवास कराने वाले राजा को तुम (बृहत्) बहुत बहुत
(नमः) नमस्कार (कृणुत) करो । (तेषाम्) उन (यज्ञियांनाम्) उत्तम व्यवहार
करने हारों के (अपि) ही (सुमतौ) सुमतिवाले और (भद्रे) कल्याणकारक
(सौमनसे) हार्दिक स्नेह में (वयम्) हम लोग (स्याम) रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता, आचार्य और राजा की आज्ञा सत्कार
पूर्वकमानकर उत्तम विद्या प्राप्त करके आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध यजुर्वेद में है—अ० १६ । ५० ।

३—(इडावत्सुराय) इडा+वत्सुराय, डस्य वः । वसेश्च । उ० ३ ।
७१ । इति वसं निवासे—सरन् । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति
सस्य तकारः । इडायां विद्यायां निवासकायाचार्याय (परिवत्सुराय) परितो
निवासकाय जनकाय (संवत्सुराय) सं पूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+
वस—सरन्, स च चित् तत्त्वं च । सस्यन् यथाविधि निवासकाय राज्ञे
(कृणुत) कुरुत (बृहत्) प्रभूतम् (नमः) नमस्कारम् (तेषाम्) (वयम्)
(सुमतौ) शोभनबुद्धियुक्तं (यज्ञियांनाम्) यज्ञतिर्गम्यां यज्ञजौ । पा० ५ ।
१ । ७१ । इति घ प्रत्ययः । पूजार्हाणां विदुषाम् (अपि) एव (भद्रे) कल्याण-
कारके (सौमनसे) सुमनस्—अण् । सुमनसो भावे । हार्दिक- स्नेहे
(स्याम) भवेम ॥

सू० ५६ [२२८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३३५)

सूक्तम् ५६ ॥

१-३ ॥ देवजना देवताः ॥ १ बृहती, २, ३ अनुष्टुप् ॥

दोषनाशोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोऽकान्तसुहृद्वरूषान् ।

संयतं न वि स्परद् व्यात्तं न संयमन्ममो देवजनेभ्यः ॥१॥

मा । नः । देवाः । अहिः । वधीत् । स-तोऽकान् । सुह-पु रूषान् ।

सम्-यतम् । न । वि । स्परत् । वि-आत्तम् । न । सम् । यमत् ।

नमः । देव-जनेभ्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (सतोऽकान्) सन्तानों सहित और (सहपूरूषान्) पुरुषों सहित (नः) हमको (अहिः) चोट देने वाला सर्प [सर्प तुल्य अपना दोष] (मा वधीत्) न काटे । वह (संयतम्) मुँदे हुये मुख को (न) न (वि स्परत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (सम् यमत्) मुँदे । (देवजनेभ्यः) विद्वान् जनों को (नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् महात्माओं से शिक्षा पाकर अपने और अपने सन्तानों और बांधव भृत्य आदि पुरुषों के दोषों को इस प्रकार निर्बल करदे जैसे दुष्ट सर्प को मार मार कर निर्बल कर देते हैं ॥१॥

१—(मा वधीत्) हन्तेर्लुङि । माहिंसीत् (नः) अस्मान् (देवाः) हे विद्वांसः (अहिः) आहि अहिनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ् + हन हिंसागत्योः-इङ्, स च डित्, आङो ह्रस्वश्च । आहननशीलः सर्पः । सर्प-तुल्य आत्मदोषः (सतोऽकान्) अपत्यैः सहितान् (सहपूरूषान्) कान्धवभृत्यादि-सहितान् (संयतम्) संकुचितम्- (न) निषेधे (वि) विवृत्य (स्परत्) स्पृष्ट प्रीतिचलनयोः-लेट् । चालयेत् (व्यात्तम्) अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति व्याङ् पूर्वाद् दाओ निष्ठायां तकारः । विवृतं मुखम् (नः) (संयमत्) संश्लिष्येत् (नमः) सत्कारः (देवजनेभ्यः) विद्वत्पुरुषेभ्यः ॥

(१३०६)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५६ [२२८]

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।

स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

नमः । अस्तु । असिताय । नमः । तिरश्चि-राजये । स्वजाय ।
बभ्रवे । नमः । नमः । देव-जनेभ्यः ॥ २ ॥भाषार्थ—(असिताय) काले सांप के लिये (नमः) बज्र (अस्तु)
होवे, (तिरश्चिराजये) तिरछी धारी वाले सांप के लिये (नमः) बज्र और
(स्वजाय) लिपटने वाले (बभ्रवे) भूरे सांप के लिये (नमः) बज्र होवे ।
(देवजनेभ्यः) विद्वान्जनों के लिये (नमः) सत्कार है ॥२॥भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति से अपने पापों का नाश करे, जैसे
सर्प को बज्रादि से मार डालते हैं ॥२॥

सं ते हन्मि दृता दतः सम् ते हन्वा हनू ।

सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्त्राहं आस्यम् ॥ ३ ॥

सम् । ते । हन्मि । दृता । दतः । सम् । जं इति । ते । हन्वा ।
हनू इति । सम् । ते । जिह्वया । जिह्वाम् । सम् । जं इति ।
आस्त्रा । अहे । आस्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहे) हे सर्प । (ते) तेरे (दता) दांत से (दतः) दांतों

२—(नमः) नमयति शत्रून् । वज्रनाम—निध० २ । २० । (अस्तु)
भवतु (असिताय) अ० ३ । २७ । १ । कृष्णसर्पाय (नमः) वज्रः (तिरश्चि-
राजये) अ० ३ । २७ । २ । तिरश्च्यः, तिर्यगवस्थिता राजयः पंक्तयो यस्य
तथाविधाय सर्पाय (स्वजाय) अ० ३ । २७ । ४ । कप्रकरणे मूलविभुजा-
दिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । इति ष्वञ्ज आलिङ्गने—क । अति-
दितां हल उपधाया० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । आलिङ्गनशीलाय
सर्पाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय । अन्यद्गतम् ॥

३—(सम्) संयोज्य (ते) तव (हन्मि) नाशयामि (दता) पदभो

सू० ५७ [२३०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३०७)

को (सम् हन्मि) मिला कर तोड़ता हूँ, (उ) और (ते) तेरे (हन्वा)
जावड़े से (हनू) दोनों जावड़ों को (सम्) मिसल कर, (ते) तेरी (जिह्वा)
जीभ से (जिह्वाम्) जीभ को (सम्) मिसलकर (उ) और (आस्ता)
मुख से (आस्यम्) मुख को (सम्) मिला कर [तोड़ता हूँ] ॥३॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य विषैले साँप को कुचल कर मार डालते हैं, उसी
प्रकार से विद्वान् पुरुष अपने पापों का सर्वथा नाश करे ॥३॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता । १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

दोषनाशायोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

इदमिह वा उं भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।

येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

इदम् । इत् । वै । जं इति । भेषजम् । इदम् । रुद्रस्य । भेषजम् ।

येन । इषुम् । एक-तेजनाम् । शत-शल्याम् । अप-ब्रवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [वेद ज्ञान] (इत्) ही (वै) निश्चय करके
(भेषजम्) भय निवारक वस्तु है, (इदम्) यह (उ) ही (रुद्रस्य) दुःख
नाशक परमेश्वर का (भेषजम्) औषध है । (येन) जिससे [मनुष्य]

मास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दन्तस्य दत् । दन्तेन (दतः) हसिमृग्रिण्० ।
उ० ३ । ८६ । इति दमु शमने—तन् । दन्तान् (सम्) (उ) समुच्चये (हन्वा)
मुखावयवविशेषेण (हनू) हनुद्वयम् (सम्) (ते) (जिह्वा) रसनया
(जिह्वाम्) रसनाम् (सम्) (उ) (आस्ता) पद्वन्० । इति आस्यस्य आसन् ।
आस्येन (अहे) म० १ । हे आहननशील सर्प (आस्यम्) मुखम् ॥

१—(इदम्) प्रत्यक्ष वेदज्ञानम् (इत्) एव (वै) निश्चयेन (उ)
एव (भेषजम्) भयनाशक वस्तु (इदम्) (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःख-
नाशकस्य परमेश्वरस्य (भेषजम्) औषधम् (येन) औषधेन (इषुम्) वाणम्
(एकतेजनाम्) तेज निशाने पालने च-ल्यु । तेजनो वंशः । एकस्तेजतः शरीर-
रूपो वेणुकाण्डो यस्याः सा, तथाविधाम् (शतशल्याम्) व्याधिरुपाधि

(१३०८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५७ [२३०]

(एकतेजनाम्) देहरूप एक दण्डवाले और (शतशल्याम्) व्याधिरूप सैकड़ों अणी वाले (इधुम्) बाण को (अपब्रवत्) हटा कर बोले ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद ज्ञान से अपने पापों को नष्ट कर सुखी होवे, जैसे घाव से तीर निकलने पर सुख मिलता है ॥१॥

जालाषेणाभि सिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।

जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

जालाषेण । अभि । सिञ्चत । जालाषेण । उप । सिञ्चत ।

जालाषम् । उग्रम् । भेषजम् । तेन । नः । मृड । जीवसे ॥२॥

भाषार्थ—(जालाषेण) जल सम्बन्धी द्रव्य से [फोड़े को] (अभि सिञ्चत) सब और से सींचो, (जालाषेण) सुख कारक पदार्थों से [उसे] (उप सिञ्चत) पास से सींचो । (जालाषम्) सुखों का समूह [वेदज्ञान] (उग्रम्) तीक्ष्ण (भेषजम्) औषध है, (तेन) उससे [हे रुद्र] (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिये (मृड) सुखी रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य औषधियों द्वारा रोगों को अच्छा करते हैं वैसे ही मनुष्य वेद ज्ञान से अपने पाप नष्ट कर के सुखी होवे ॥ २ ॥

शतानि बहूनि शल्यानि अयोमुखानि प्रोतानि यस्यां, तादृशीम् (अपब्रवत्) अप वियोगे । वियुज्य ब्रूयात् ॥

२—(जालाषेण) जायते जः । जैर्जातैर्लप्यते वाञ्छयते । ज+लष इच्छायाम्—घञ् । जालाषमुदकम्—निघ० १ । १२ । सुखनाम—निघ० ३ । ६ । तस्येदम् । पा० ४ । १ । ६२ । इति, अण् । जलसम्बन्धिना वस्तुना (अभि) अभितः (सिञ्चत) वणं प्रक्षालयत हे वैद्याः (जालाषेण) सुखकरेण द्रव्येण (उप) उपेत्य (सिञ्चत) शोधयत (जालाषम्) तस्य समूह । पा० ४ । २ । ३७ । इति, अण् । सुखस्य समूहो वेदज्ञानम् (उग्रम्) तीक्ष्णम् (भेषजम्) भयनिवारकं वस्तु (तेन) जालाषेण (नः) अस्मान् (मृड) सुखय (जीवसे) जीवनार्थम् ॥

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं च नाममत् । क्षमा रपो
विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

शम् । च । नः । मयः । च । नः । मा । च । नः । किम् । च न ।
आममत् । क्षमा । रपः । विश्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् ।
सर्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति
(च) और (नः) हमारे लिये (मयः) सुख होवे, (च) और (नः) हमें
(किं च न) कोई भी दुःख (मा आममत्) न पीड़ा देवे । (रपः = रपसः)
पाप की (क्षमा) क्षमा हो । (विश्वम्) सब जगत् (नः) हमारे लिये (भेषजम्)
भयनिवारक (अस्तु) होवे, (सर्वम्) सब (नः) हमारे लिये (भेषजम्)
रोगनाशक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥ -

भावार्थ—मनुष्य रुद्र परमात्मा के अनुग्रह से पुण्यार्थ पूर्वक अपने
विघ्न हटा कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ १ जगती; २ पूवार्धास्त्रिष्टुप् द्विती-
या बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश पाने के लिये उपदेश ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं दावापृथिवी

३—(शम्) शान्तिः । स्वास्थ्यम् (च) निश्चयेन (नः) अस्मभ्यम्
(मयः) अ० १ । १३ । २ । सुखम् (च) समुच्चये (नः) (च) (नः)
अस्मान् (किंचन) किमपि दुःखम् (मा आममत्) अम पीड़ने-लुङि चङि
रूपम् । न पीडयेत् (क्षमा) क्षमूष् सहने-अङ् । क्षान्तिः । षपशमः (रपः) अ०
४ । १३ । २ । रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः-निरु० ४ । २१ । सुपां
सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति षष्ठ्या लुक् । रपसः । दोषस्य (विश्वम्) सर्वं
जगत् (नः) अस्मभ्यम् (भेषजम्) भयनिवारकम् (सर्वम्) समस्तम् (नः)
(अस्तु) (भेषजम्) रोगनाशकम् ॥

उभे इमे । यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो
दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

यशसम् । मा । इन्द्रः । मघवान् । कृणोतु । यशसम् । द्यावा-
पृथिवी इति । उभे इति । इमे इति । यशसम् । मा । देवः ।
सविता । कृणोतु । प्रियः । दातुः । दक्षिणायाः । इह । स्याम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवान्) बड़ा धनी (इन्द्रः) परमेश्वर (मा) मुझे (यश-
सम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे) यह (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी)
सूर्य और पृथिवी लोक (यशसम्) कीर्तिमान् [करें] । (देवः) व्यवहार
कुशल (सविता) विद्याप्रेरक आचार्य (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी
(कृणोतु) करे (दक्षिणायाः) दक्षिणा वा प्रतिष्ठा के (दातुः) देने वाले राजा
का (प्रियः) प्रिय (इह) यहां पर (स्याम्) मैं रहूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर पराक्रम पूर्वक
संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर और सर्वप्रिय होकर कीर्ति प्राप्त करे ॥ १ ॥
यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यश-
स्वतीः । एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥
यथा । इन्द्रः । द्यावापृथिव्योः । यशस्वान् । यथा । आपः ।
ओषधीषु । यशस्वतीः । एव । विश्वेषु । देवेषु । वयम् । सर्वेषु ।
यशसः । स्याम ॥ २ ॥

१—(यशसम्) अर्श आदित्वाद्—अच् । यशस्विनम् । कीर्तियुक्तम्
(मा) माम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (मघवान्) मघं धनम्—निघ्न २ । १० ।
मतुप् । महाधनी (कृणोतु) करोतु (यशसम्) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ
(उभे) (इमे) दृश्यमाने (यशसम्) (मा) (देवः) व्यवहारकुशलः
(सविता) विद्याप्रेरक आचार्यः (प्रियः) प्रीतिकरः (दातुः) दानशीलस्य
राज्ञः (दक्षिणायाः) दानस्य । प्रतिष्ठायाः (इह) अत्र लोके (स्याम्) भवेम्य ॥

सू० ५८ [२३२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३११)

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) सूर्य और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) कीर्तिमान् है, और (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं। (एव) वैसे ही (विश्वेषु) सब (देवेषु) व्यवहारकुशल महात्माओं में और (सर्वेषु) सब गुणों में (वयम्) हम लोग (यशसः) यश चाहने वाले (स्याम) होंगे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और परमेश्वर रचित पदार्थों का महत्त्व जानकर संसार में यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।

यशा विश्वस्य भुतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।

यशाः । विश्वस्य । भुतस्य । अहम् । अस्मि । यशः-तमः ॥३॥

भाषार्थ—यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त ३६ मन्त्र ३ में आबुका है, वह देखलेवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१-३ ॥ अरुन्धती देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

अनुदुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।

अर्धेनवे वयसे शर्म यच्छु चतुष्पदे ॥ १ ॥

अनुदुत्-भ्यः । त्वम् । प्रथमम् । धेनु-भ्यः । त्वम् । अरुन्धति ।

अर्धेनवे । वयसे । शर्म । यच्छु । चतुः-पदे ॥ १ ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (इन्द्रः) परमेश्वरः (द्यावापृथिव्योः) सूर्य-भूलोकयोर्मध्ये (यशस्वान्) कीर्तिमान् (यथा) (आपः) जलानि (ओषधीषु) औषधियादिपदार्थेषु (यशस्वतीः) कीर्तिमत्यः (एव) एवम् (विश्वेषु) सम-स्तेषु (देवेषु) व्यवहारकुशलेषु महात्मसु (वयम्) विश्वानिनः पुरुषाः (सर्वेषु) व्याप्तेषु गुणेषु (यशसः) अ० ६ । ३६ । २ । आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम) भवेम ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६ । ३६ । ३ ॥

भाषार्थ—(अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! परमात्मन् (त्वम्) तू (अनडुद्भ्यः) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले पुरुषों के (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) तृप्त करने वाली स्त्रियों को और (अधेनवे) विष दूध वाले (चतुष्पदे) चौपाये को (वयसे) अन्नप्राप्ति के लिये (प्रथमम्) विस्तृत (शर्म) घर (यच्छु) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्न पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम २ घर बनावे ॥ १ ॥

शर्म यच्छुत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।

करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयुक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥

शर्म । यच्छुतु । ओषधिः । सह । देवीः । अरुन्धती । करत् । पयस्वन्तम् । गो-स्थम् । अयुक्ष्मान् । उत । पूरुषान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओषधिः) तापनाशक (अरुन्धती) न रोक डालने वाली शक्ति परमेश्वर (देवीः सह = देवीभिः सह) उत्तम क्रियाओं के साथ (शर्म) शरण (यच्छुतु) देवे । (गोष्ठम्) हमारी गोशाला को (पयस्वन्तम्) बहुत

१—(अनडुद्भ्यः) अ० ४।११।१। अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकेभ्यः प्राणकेभ्यः पुरुषेभ्यः (त्वम्) (प्रथमम्) अ० १।१२।१। प्रथम्यातौ-अमच् । प्रथ्यातम् (धेनुभ्यः) अ० ३।१०।१। धेनुर्धन्यतेर्वा धिनोतेर्वा-निरु० ११।४२। धि धारणे तर्पणेच-नु । तर्पयित्रीभ्यः स्त्रीभ्यः (त्वम्) (अरुन्धति) अ० ४।१२।१। हे अरोधनशीले शक्ते परमात्मन् (अधेनवे) अ० ३।१०।१। घेद् पाने-नु । दुग्धरहिताय (वयसे) अन्नप्राप्तये—निघ० २।७। (शर्म) गृहम्—निघ० ३।४ (चतुष्पदे) अ० २।३४।१। पादचतुष्टयोपेताय गवादिपशवे ॥

२—(शर्म) शरणम् (यच्छुतु) ददातु (ओषधिः) अ० १।२३।१। तापनाशयित्री (देवीः सह) तृतीयार्थे द्वितीया । देवीभिर्द्वि व्यक्रियाभिः सहिता (अरुन्धती) अरोधनशक्तिः परमेश्वरः (करत्) कुर्यात् (पयस्वन्तम्) प्रभूत-

सू० ५८ [२३२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३१३)

दुग्ध वाली (उत) और (पूरुषान्) पुरुषों को (अयदमान्) नीरोग (करत्)
करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घरों में अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा
स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवताम् ।

सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

विश्व-रूपाम् । सु-भगाम् । अच्छ-आवदामि । जीवताम् । सा ।
नः । रुद्रस्य । अस्ताम् । हेतिम् । दूरम् । नयतु । गोभ्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वरूपाम्) सबका रूप [रचना] करने वाली, (सुभ-
गाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली, (जीवताम्) जीवन देने वाली अथवा जीवन सामर्थ्य
वाली शक्ति परमात्मा को (अच्छावदामि) मैं स्वागत करके आवाहन करता
हूँ । (सा) वह (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर की (अस्ताम्) गिराई हुई
(हेतिम्) ताड़ना को (नः) हमारी (गोभ्यः) भूमियों से (दूरम्) दूर
(नयतु) ले जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सर्व व्यापी जात्रकर पाप
करके दण्ड भागी न होवे ॥ ३ ॥

दुग्धयुक्तम् (गोष्ठम्) गोनिवासदेशम् (अयदमान्) राजरोगरहितान् (उत)
अपि च (पूरुषान्) सम्बन्धिनो मनष्यान् ॥

३—(विश्वरूपाम्) विश्वस्य रूपं रचनं यस्यास्ताम् जगद्रूपकत्रीम्
(सुभगाम्) शोभनैश्वर्यवतीम् (अच्छावदामि) अच्छ सुष्ठु स्वागतेन आव-
दामि आह्वयामि (जीवताम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति जीव-
रा दाने-क, रस्य लत्वम् । जीवनदात्रीम् । यद्वा । सिध्मादिभ्यश्च । पा० ५ । २
६७ । इति जीव-मत्वर्थीयो लच् । जीवनवतीं शक्तिं परमेश्वरम् (सा) शक्तिः
(नः) अस्माकम् (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य
(अस्ताम्) असु क्षेपणे—क । क्षिप्ताम् (हेतिम्) ताडनाम् (दूरम्) (नयतु)
गमयतु (गोभ्यः) भूमिभ्यः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-३ ॥ अर्यमा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का उपदेश ॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।

अस्या इच्छन्नुग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

अयम् । आ । याति । अर्यमा । पुरस्तात् । विषित-स्तुपः ।

अस्यै । इच्छन् । अग्रुवै । पतिम् । उत । जायाम् । अजानये ॥१॥

भाष्यार्थ—(अयम्) यह (विषितस्तुपः) प्रसिद्ध स्तुति वाला (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य (अस्यै) इस (अग्रुवै) ज्ञानवती कन्या के लिये (पतिम्) पति, (उत) और (अजानये) अविवाहित पुरुष के लिये (जायाम्) पत्नी (इच्छन्) चाहता हुआ (पुरस्तात्) हमारे आगे (आ याति) आता है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मचारी वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से सूर्य के समान तेजस्वी अर्थात् ब्रह्मवर्चसी होकर युवा अवस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें ॥ १ ॥

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।

अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनुमायति ॥ २ ॥

अश्रमत् । इयम् । अर्यमन् । अन्यासाम् । समनम् । यती । अङ्गो इति । नु । अर्यमन् । अस्याः । अन्याः । समनम् । आ-अयति ॥२॥

१—(अयम्) पुरोदश्यमानः (आ याति) आगच्छति (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशकः सूर्यः (पुरस्तात्) अस्माकमग्रे (विषितस्तुपः) वि-षो अन्तर्कर्मणि-क्त । स्तुवो दीर्घश्च । उ० ३ । २५ । इति ऋग्वेद स्तुतौ-प । विषितो विज्ञातः स्तुपः स्तुतिर्यस्य सः । प्रसिद्धस्तोमः (अस्यै) प्रसिद्धायै गुणवत्यै (इच्छन्) अभिलष्यन् (अग्रुवै) जत्र्वादयश्च । उ० ४ । १०२ । इति अग्नि गता-रु, ऊङ् । ज्ञानवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (जायाम्) पत्नीम् (अजानये) जायारहिताय । अविवाहिताय पुरुषाय ॥

सू० ६० [२३३] षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३१५)

भाषार्थ—(अर्यमन्) हे शत्रुनाशक परमेश्वर ! (अन्यासाम्) दूसरी कन्याओं के (समनम्) विवाह में (यती) जाती हुई (इयम्) इस कन्या ने (अश्रमत्) तप किया है । (अङ्गो) हे (अर्यमन्) न्यायकारी परमेश्वर ! (अन्याः) दूसरी कन्यायें (अस्याः) इस कन्या के (समनम्) विवाह में (तु) अवश्य (आयति) आवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे यह कन्या अन्य कन्याओं के विवाह संस्कार में मिलती रही है, वैसे ही अन्य कन्यायें इसके विवाह में आकर शोभा बढ़ावें ॥ २ ॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।

धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

धाता । दाधार । पृथिवीम् । धाता । द्याम् । उत । सूर्यम् ।
धाता । अस्यै । अग्रुवै । पतिम् । दधातु । प्रति-काम्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) और (धाता) विधाता ने (द्याम्) आकाश और (सूर्यम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया । (धाता) वही विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) उद्योगशील

२—(अश्रमत्) अमु तपसि खेदे च । अतपत् तपश्चर्यो कृतवती (इयम्) पुरोवर्तिनी (अर्यमन्) हे न्यायकारिन् परमेश्वर (अन्यासाम्) कन्यानाम् (समनम्) सम्+अन प्राणने—अच् । यद्वा । स+मनु ज्ञाने—अच् । समनाः समनसः । समनं समननाद्वा सम्माननाद्वा—निरु० ७ । १७ । समनं संग्रामनाम्—निघ० २ । १७ । विवाहोत्सवम् । संग्रामम् (यती) गच्छन्ती (अङ्गो) आभिमुख्यकरणे (तु) क्षिप्रम् (अर्यमन्) (अस्याः) कन्यायाः (अन्याः) कन्याः (समनम्) (आयति) अय गतौ, एकवचनं छान्दसम् । आयन्ति । आगच्छन्ति ॥

३—(धाता) विधाता सर्वकर्ता (दाधार) तुजादीनां दीर्घो ऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इत्यभ्यासस्य दीर्घः । दधार । धृतवान् (पृथिवीम्) विस्तृतां भूमिम् (धाता) (द्याम्) आकाशम् (उत) अपि च (सूर्यम्) लोकानां प्रेरकमादित्यम् (धाता) (अस्यै) प्रसिद्धान्यै (अग्रुवै) म० ३ ।

कन्या को (प्रतिकाभ्यम्) प्रतिज्ञा करके चाहने योग्य (पतिम्) पति (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सब संसार के धारण पोषण में समर्थ है वैसे ही कन्या और कुमार [उपलक्षण से] विद्या और धन आदि से समर्थ होकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-३ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरमहत्त्वोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

मह्यमापो मधुमदेर्यन्तां मह्यं सूरौ अभरज्ज्योतिषे
कम् । मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः
सविता व्यचौ धात् ॥ १ ॥

मह्यम् । आपः । मधु-मत् । आ । ईर्यन्ताम् । मह्यम् ।
सूरः । अभरत् । ज्योतिषे । कम् । मह्यम् । देवाः । उत ।
विश्वे । तपुः-जाः । मह्यम् । देवः । सविता । व्यचः । धात् ॥ १ ॥

भावार्थ—(मह्यम्) मेरे लिये (आपः) व्यापनशील जल (मधुमत्) मधुरपन से (आ ईर्यन्ताम्) आकर बहें, (मह्यम्) मेरे लिये (सूरः) लोकों को चलाने वाले सूर्य ने (ज्योतिषे) ज्योति करने को (कम्) सुख (अभरत्) धारण किया है । (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये (तपोजाः) तप से उत्पन्न

उद्योगवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (दधातु) ददातु (प्रतिकाभ्यम्)
अ० २ । ३६ । ५ । प्रति प्रतिज्ञया कमनीयम् ॥

१—(मह्यम्) मदर्थम् । ममाज्ञापालनायेत्यर्थः (आपः) व्याप्तिशीला जलधाराः (मधुमत्) यथा तथा माधुर्येण (आ) समन्तात् (ईर्यन्ताम्) गच्छन्तु (मह्यम्) (सूरः) अ० ४ । २ । ४ । लोकप्रेरकः सूर्यः (अभरत्) अभरत् (ज्योतिषे) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशदानाय (कम्) सुखम्—निघ०

सू० ६१ [२३४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३१७)

होने वाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण हैं, (मह्यम्) मेरे लिये (देवः) व्यवहार में अतुर (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (व्यचः) विस्तार (धात= अधात्) धारण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि संसार के सब पदार्थ मेरी आज्ञा में रहकर संसार का उपकार करते हैं ॥ १ ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमुतूरजनयं सुप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२॥
अहम् । विवेच । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् ।
अजनयम् । सुप्त । साकम् । अहम् । सत्यम् । अनृतम् । यत् ।
वदामि । अहम् । दैवीम् । परि । वाचम् । विशः । च ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (विवेच) पृथक् पृथक् किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) व्यापनशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (साकम्) आपस में मिला हुआ (अजनयम्) उत्पन्न किया है । (अहम्) मैं (यत्) जो कुछ (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ है [उसे] (च) और (अहम्)

३। ६। (मह्यम्) (देवाः) उत्तमगुणाः (उत) अपि च (विश्वे) सब (तपोजाः) तपसः सामर्थ्याज्जाताः (मह्यम्) (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्यः (व्यचः) अ० ४। १६। ६। व्याप्तिम् (धात्) बुद्धि रूपम् । अधात् । धृतवान् ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (विवेच) विचिर् पृथग्भावे—लिट् । पृथक् पृथक् कृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) सूर्यलोकम् (अहम्) (ऋतून्) अर्तेश्च—तुः । उ० १। ७२। इति ऋग तौ— तु, स च कित् । ऋतुरर्तैर्गतिकर्मणः—निरु० २। २५। ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२। ३७। सप्त ऋषीन् । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिरूपान् (अजनयम्) उत्पादितवानस्मि (साकम्) सह परस्पर संहतान् (अहम्) (सत्यम्) यथार्थम् (अनृतम्) (यत्) यत् किञ्चित् तदपि (वदामि) कथ-

मैं (दैवीम्) विद्वानों में होने वाली (वाचम्) वाणी को (विशः परि) सब मनुष्यों में भरपूर (वदामि) बताता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य आदि पदार्थों को रचकर सत्य का विधान और असत्य का निषेध वेद द्वारा सब प्राणियों को बताया है ॥ २ ॥
अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे-
सखाया ॥ ३ ॥

अहम् । जजान् । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् ।
अजनयम् । सप्त । सिन्धून् । अहम् । सत्यम् । अनृतम् ।
यत् । वदामि । यः । अग्नीषोमौ । अजुषे । सखाया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (जजान) उत्पन्न किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को और (सिन्धून्) उनकी व्यापक शक्तियों को (अजनयम्) उत्पन्न किया है । (अहम्) मैं (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ (यत्) जो कुछ है [उसे] (वदामि) बताता हूँ । (यः) जिसमें (सखाया) आपस में मित्र (अग्नीषोमौ) अग्नि और जल को (अजुषे) तृप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब पृथिवी आदि पदार्थ और इन्द्रियों और इन्द्रियों की शक्तियों को रचकर धर्म और अधर्म का लक्षण बताया है और अग्नि और जल वायु आदि को संसार की स्थिति का कारण रक्खा है उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ३ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

यामि विधिनिषेधरूपेण (अहम्) (दैवीम्) देव—अज् । विद्वत्सु भवाम् (परि) परीत्या व्याप्य (वाचम्) वेदवाणीम् (विशः) मनुष्यान् निघ० २ । ३ । (च) समुच्चये ॥

३—(जजान) उत्पादितवानस्मि (ऋतून्) म० २ । व्यापनशीलान् ऋषीन् त्वक्चक्षुरादीन् (सप्त) सप्तसंख्यकान् : (सिन्धून्) अ० ४ । ६ । २ । स्यन्दनशीला व्यापिकाः शक्तीः, त्वक्चक्षुरादीनाम् (यः) अहं परमेश्वरः (अग्नीषोमौ) अग्निं च जलं च (अजुषे) जुषी प्रीतिसेवनयोः । तर्पितवानस्मि (सखाया) सखायौ, सहायभूतौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथ सप्तमोऽनुवकः

सूक्तम् ६२ ॥

१-३ ॥ १ मन्त्रोक्तदेवता; २,३ सूनृता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

धनस्य नैरोग्यस्यचोपदेशः—धन और नीरोगता का उपदेश ॥

वैश्वानुरो रुश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनैषिरो नभोभिः।

द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये

नः पुनीताम् ॥ १ ॥

वैश्वानुरः । रुश्मि-भिः । नः । पुनातु । वातः । प्राणेन ।

इषिरः । नभः-भिः । द्यावापृथिवी इति । पयसा । पयस्वती

इति । ऋतावरी इत्युत-वरी । यज्ञिये इति । नः । पुनीताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर (रुश्मिभिः)

विद्या प्रकाशों से और (इषिरः) शीघ्र गामी (वातः) पवन (प्राणेन) प्राण से और (नभोभिः) मेघों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे । (पयस्वती) रसवाली (ऋतावरी) सत्यशील और (यज्ञिये) संगति करने योग्य (द्यावा-पृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (पयसा) अपने रस से (नः) हमें (पुनीताम्) शुद्ध करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी, आदि पदार्थों से शिल्प आदि और शरीर रक्षण आदि में उपकार लेकर सुखी हों ॥ १ ॥

१—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः (रुश्मिभिः) विद्याप्रकाशः (नः) अस्मान् (पुनातु) शोधयतु (वातः) वायुः (प्राणेन) श्वासप्रश्वास-व्यापारेण (इषिरः) अ० ५।१।६। गमनशीलः (नभोभिः) अ० ४।१५।३। मेघैः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (पयसा) रसेन (पयस्वती) रसवत्यौ (ऋतावरी) अ० ३।१३।७। सत्ययुक्ते (यज्ञिये) संगतिकरणयोग्ये (नः) (पुनीताम्) शोधयताम् ॥ १६

वैश्वानरीं सुनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो
वीतपृष्ठाः । तथा गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम
पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

वैश्वानरीम् । सुनृताम् । आ । रभध्वम् । यस्याः । आशाः ।
तन्वः । वीत-पृष्ठाः । तथा । गृणन्तः । सध-मादेषु । वयम् ।
स्याम् । पतयः । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—[हे मनुष्यो !] (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करनेवाली
(सुनृताम्) प्रिय सत्य वेद वाणी को (आ रभध्वम्) तुम आरम्भ करो,
(यस्याः) जिसके (तन्वः) शरीर के (आशाः) विस्तार (वीतपृष्ठाः) सेचन
सामर्थ्य पहुंचाने वाले हैं । (तथा) उस [वेद वाणी] से (सधमादेषु) पर-
स्पर आनन्द उत्सवों पर (गृणन्तः) बात चीत करते हुये (वयम्) हम लोग
(रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होंगे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का सर्वत्र प्रचार करके विद्या धन और
सुवर्णादि धन बढ़ावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १६ । ४४ ॥

वैश्वानरीं वर्चस आरभध्वं शुद्धो भवन्तुः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमः ॥

२—(वैश्वानरीम्) अ० १ । १० । ४ । वैश्वानर—डीप् । सर्वनरहितम्
(सुनृताम्) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिकां वेदवाणीम् (आरभध्वम्)
उपक्रमध्वम् (यस्याः) सुनृतायाः (आशाः) आङ् + अशू व्याप्तौ—अच्, टाप् ।
विस्ताराः (तन्वः) अ० १ । १ । १ । तन्वाः शरीरस्य । स्वरूपस्य (वीतपृष्ठाः)
वी गतिव्याप्त्यादिषु—क्त । तिथपृष्ठ० । उ० २ । १२ । इति पृष्ठु सेचने—यक् ।
वीतानि प्राप्तानि पृष्ठानि सेचनानि वर्धनानि यासां ताः । वृद्धिप्रापिकाः ।
(तथा) सुनृतया (गृणन्तः) गृ शब्दे—शत् । शब्दयन्तः (सधमादेषु) सध
+ मदी हर्षग्लेपनयोः—घञ् । सध मादस्थयोश्चन्द्रसि । पा० ६ । ३ । ६६ ।
सहर्षोत्सवेषु (वयम्) वेदानुगामिनः (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः
(रयीणाम्) बहुधनानाम् ॥

सू० ६३ [२३६] षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥ (१३२९)

वैश्वानरीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः ।
शुचयः । पावकाः । इह । इडया । सध-मादम् । मदन्तः ।
ज्योक् । पश्येम् । सूर्यम् । उत्-चरन्तम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्यो !] (शुद्धाः) शुद्ध, (शुचयः) पवित्र और
(पावकाः) शुद्ध करने वाले (भवन्तः) होते हुये तुम (वैश्वानरीम्) सक-
मरों का हित करने वाली [वेद वाणी] को (वर्चसे) तेज पाने के लिये (आ-
रभध्वम्) आरम्भ करो । (इह) यहां पर (इडया) वेद वाणी से (सधमा-
दम्) परस्पर हर्ष उत्सव को (मदन्तः) आनन्दित करते हुये हम (ज्योक्)
बहुत काल तक (उच्चरन्तम्) चढ़ते हुये (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम्)
देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का आश्रय लेकर आप शुद्ध होकर और
दूसरे अज्ञानियों को शुद्ध करके परस्पर आनन्द भोगते हुये चढ़ते हुये सूर्य के
समाव प्रतापी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१-४ ॥ आत्मा देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष प्राप्ति का उपदेश ॥

यत् ते देवो निऋतिराब्रवन्धु दामं ग्रीवास्वविमोक्षं
यत् । तत् ते वि ध्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमद-
मन्महि प्रसूतः ॥ १ ॥

३—(वैश्वानरीम्) म० २ । विश्वनरहितां वेदवाणीम् (वर्चसे) ब्रह्म-
वर्चसप्राप्तये (आ रभध्वम्) उपक्रमध्वम् (शुद्धाः) पवित्राचाराः (भवन्तः)
सन्तः (शुचयः) निष्पापाः (पावकाः) अन्येषां शोधकाः (इह) अस्मिन्
लोके (इडया) वाचा । वेदवाण्या (सधमादम्)—म० २ । परस्परहर्षोत्सवम्
(मदन्तः) अन्तर्गतार्थः । मादयन्तः । आनन्दयन्तः (ज्योक्) अ० १ । ६ ।
३ । चिरकालम् (पश्येम्) अवलोकयेम (सूर्यम्) आदित्यम् (उच्चरन्तम्)
उच्चरन्तम् ॥

यत् । ते । देवी । निः-ऋतिः । आ-बन्ध । दाम । ग्रीवासु ।
अवि-मोक्षम् । यत् । तत् । ते । वि । स्यामि । आयुषे ।
वर्चसे । बलाय । अदोमदम् । अन्नम् । अद्धि । प्र-सूतः ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—[हे मनुष्य !] (देवी) प्राप्त हुई (निःऋतिः) अलक्ष्मी ।
(यत्) जो (दाम) रस्सी (ते) तेरे (ग्रीवासु) गले में (आबन्ध) बांध
दी है, (यत्) जो [ज्ञानाद् ऋते, ज्ञान बिना] (अमोक्षम्) न खुलने वाली
है । (तत्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) उत्तम जीवन के लिये, (वर्चसे) तेज
के लिये और (बलाय) बल के लिये, [ज्ञानेन, ज्ञान से] (वि स्यामि) मैं
खोलता हूँ, (प्रसूतः) आगे बढ़ाया गया तू (अदोमदम्) अक्षय हर्ष युक्त
(अन्नम्) अन्न का (अद्धि) भोग कर ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—मनुष्य अज्ञान के फल दरिद्रता आदि दुःखों को ज्ञान द्वारा
पुरुषार्थ पूर्वक नाश करके अक्षय आनन्द भोगें ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते निऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चूत
बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

१—(यत्) (ते) तत् (देवी) दिव्य कीड़ागत्यादिषु—अच्, ऊर्ण ।
प्राप्ता (निऋतिः) अ० १ । ३१ । २ । निऋतिर्निरमणादच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः ।
निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः । दरिद्रता कुकर्मफलरूपा (आबन्ध) आबद्धवती
(दाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति जुदाञ् दाने-मनिन् । पाशम्
(ग्रीवासु) कण्ठगतासु धमनीषु (अमोक्षम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ ।
१२४ । इति मुच्ल त्यागे—एयत् । चजोः कुः घिण्णयतोः । पा० ७ । ३ । ५२ ।
इति कुत्वम् । अविमोचनीयम् (यत्) (दाम) (तत्) दाम (ते) तत्
(वि स्यामि) षे अन्तर्कर्मणि, उपसर्गवशाद् विमोचने । स्यतिरुपसृष्टो विमो-
चने-निरु० १ । १७ । विमुञ्चामि ज्ञानेन (आयुषे) उत्तमजीवनाय (वर्चसे)
तेजसे (बलाय) पराक्रमाय (अदोमदम्) अ+दसु उपक्षये—किप् । अदा-
अक्षीणो मदो हर्षो यस्मिन् तत् । अक्षयहर्षयुक्तम् (अन्नम्) अन्न प्रणने—नत् ।
जीवनसाधनभोजनम् (अद्धि) भुङ्क्त्व (प्रसूतः) प्रेरितः सुकर्मभिः ॥

सू० ६३ [२३६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३२३)

नमः । अस्तु । ते । निः-चृते । तिग्म-तेजः । अयस्मयान् ।
वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम् । पुनः । इत् ।
त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥२॥

भाषार्थ—(तिग्मतेजः) हे तेज नाश करने वाली (निःचृते) अलक्ष्मी
(ते) तेरे लिये (नमः) वजू (अस्तु) होवे, (अयस्मयान्) लोह के बनी
(बन्धपाशान्) बन्धन की बेड़ियों को (वि चृत) तोड़ डाल । (यमः) न्याय-
कारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारं बार (इत्) ही (त्वाम्)
तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को
(मृत्यवे) दुःख रूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थ—परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से दुष्कर्मियों को अनेक
दारुण दुःख देता है, इस लिये मनुष्य ज्ञान द्वारा पापों से बचकर मृत्यु अर्थात्
दुःख से बचे रहें ॥ २ ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविद्वान उत्तमं नाकमधि रोहये मम् ॥३॥
अयस्मये । द्रु-पदे । बेधिषे । इह । अभि-हितः । मृत्यु-भिः ।
ये । सहस्रम् । यमेन । त्वम् । पितृ-भिः । सु-विद्वानः ।
उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों

२—(नमः) वजू:-निघ० २ । २० (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (निःचृते)
हे अलक्ष्मी (तिग्मतेजः) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति तिग गतौ हिंसा-
यां च-मक् । तिग्मानि हिंसितानि तेजांसि यया सा तिग्मतेजाः, तत्सम्बुद्धौ ।
हे नाशिततेजः (अयस्मयान्) लोहमयान्, अतिदृढ़ान् (विचृत) चृती
हिंसाग्रन्थनयोः । विहिन्धि । विनाशय (बन्धपाशान्) बन्धनजालान् (यमः)
न्यायकारी परमेश्वरः (मह्यम्) प्राणिने (पुनः) बारं बारम् (इत्) एव
(त्वाम्) निःचृतिम् (ददाति) प्रयच्छति । अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६ । २८ । ३ ॥

३—(अयस्मये) अयोमये (द्रुपदे) दारुनिर्मिते पादबन्धने (बेधिषे)

से, (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं, (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अथस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (वेधिषे = बध्य-से) बंध रहा है । (यमेन) नियम के साथ (पितृभिः) पालन करने वाले जानियों से (संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त करें ॥ ३ ॥

संसृमिद् युवसे वृषन् अग्ने विश्वान्यर्य आ ।

इडस्पदे समिध्यसे स नो वसुन्या भर ॥ ४ ॥

सम्-सम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इडः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (अर्यः) स्वामी होकर तू (विश्वानि इत्) सब ही [सुखों] को (संसम्) यथावत् रीति से (आ = आनीय) ला कर (युवसे) मिलाता है । और (इडः) प्रशंसा

बन्ध बन्धने कर्मणि-लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्व-धातुकार्धधातुकत्वाद् नलोपः, यगभाव इडागमश्च, छान्दसमेत्वम् । बध्यसे बद्धो भवसि (इह) अस्मिन् लोके (अभिहितः) अभिपूर्वो दधातिबन्धने । वेष्टितः (मृत्युभिः) मरणकारणैः । महाकष्टैः (ये) (सहस्रम्) अनेकविधम् (यमेन) नियमेन (त्वम्) मनुष्यः (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (संविदानः) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानः (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (नाकम्) अ० १ । ६ । १२ । दुःखरहितं कं सुखम् (अधि रोहय) उपरि प्रापय (इमम्) आत्मानम् ॥

४—(संसम्) अतिसम्यग् रीत्या (इत्) एव (युवसे) यु मिश्रणा-मिश्रणयोः, तुदादित्वमात्मनेपदत्वं च छान्दसम् । यौषि । मिश्रयसि (वृषन्) बलवान् (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (विश्वानि) सर्वाणि सुखानि (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः । पा० ३ । १ । १०३ । इति ऋ गतौ-यत् प्रत्ययो निपातनात् । स्वामी त्वम् (आ) आनीय (इडः) ईड स्तुतौ-क्विप्, ह्रस्वश्च । प्रशंसायाः

सू० ६४ [२३७]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३२५)

के (पदे) पदपर (सम् इध्यसे) तू सुशोभित होता है, (सः) सो तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धनों को (आ भर) भर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी धर्मात्माओं का आश्रय लेकर सम्पूर्ण धन प्राप्त करे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—अ० १५।३०। और ऋग्वेद में भी है—म० १०।१६१।१।७। जिसके आगे के शेष तीन मन्त्र अगले सूक्त ६४ में हैं ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-३ ॥ संज्ञानं देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

संगतिलाभोपदेशः—संगति के लाभ का उपदेश ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥ १ ॥

सम् । जानीध्वम् । सम् । पृच्यध्वम् । सम् । वः । मनसि ।

जानताम् । देवाः । भागम् । यथा । पूर्वं । सम्-जानानाः ।

उप-आसते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सम् जानीध्वम्) आपस में जान पहिचान करो, (सम् पृच्यध्वम्) आपस में मिले रहो, (जानताम् वः) ज्ञानवाले तुम लोगों के (मनसि) मन (सम्) एकसे होवें [अथवा—(वः) तुम्हारे (मनसि) मन (सम्) एकसे (जानताम्) होवें] । (यथा) जैसे (पूर्वं) प्रथम स्थान

(पदे) अधिकारे (सम्) सम्यक् (इध्यसे) दीप्यसे । (सः) त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

१—(सम् जानीध्वम्) संप्रतिभ्यामनाध्याने । पा० १।३।४६ । इत्यात्मने पदत्वम् । समानज्ञानयुक्ता भवत (सम् पृच्यध्वम्) पृची सम्पर्के । संपृकाः संसृष्टकार्या भवत (सम्) समानानि (वः) युष्माकम् (मनसि) अन्तःकरणानि (जानताम्) ज्ञा अवबोधने—शत्रु । ज्ञानवताम्, अथवा । अकर्मकाञ्च । पा० १।३।४५ । इत्यात्मनेपदम् । लोटि रूपम् । प्रवर्तन्ताम् (देवाः) विद्वांसः (भागम्) भज सेवीयाम्—घञ् । भजनीयमीश्वरम्, अथवा, भग—अण् । भगाना-

वाले, (संजानानाः) यथावत् ज्ञानी (देवाः) विद्वान् लोग (भागम्) सेवनीय परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यों के समूह को (उपासते) सेवन करते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर वेद आदि शास्त्रों का विचार करके ज्ञानी पुरुषों के समान ईश्वर आज्ञा पालन करते हुये अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद के चार मन्त्र वाले अन्तिम सूक्त, म० १० । सू० १६१ के म० २—४ । हैं, पहिला मन्त्र गत सूक्त में आ चुका है । और स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोक्त धर्म विषय में भी आये हैं ॥

सुमानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह
चित्तमेषाम् । समानेन वो हविषा जुहोमि समानं
चेता अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥

सुमानः । मन्त्रः । सम्-इतिः । समानी । समानम् । व्रतम् ।
सह । चित्तम् । एषाम् । समानेन । वः । हविषा । जुहोमि ।
समानम् । चेतः । अभि-संविशध्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो तुम्हारा] (मन्त्रः) मन्त्र, विचार (समानः) एकसा,
(समितिः) समिति [सामाजिक व्यवस्था] (समानी) एकसी, (व्रतम्)
धर्म का आचरण (समानम्) एकसा और (एषाम्) इन तुम सब का (चित्तम्)
चित्त [सब पदार्थों का ज्ञान] (सह) मिला हुआ होवे । (समानेन) एक से

मैश्वर्याणां समूहम् (यथा) येन प्रकारेण (पूर्वे) प्रथमस्थाने वर्तमानाः श्रेष्ठाः
(संजानानाः) सम्+ज्ञा—ज्ञानच् । सम्यग् ज्ञानवन्तः (उपासते) सेवन्ते ॥

२—(समानः) सम्+अन प्राणने—घञ् । तुल्यः । एकरूपः (मन्त्रः)
मन्त्रि गुप्तभाषणे—घञ् । सत्यासत्यविवेकः (समितिः) सम्+इण—क्तिन् ।
संगतिः । सभा (समानी) एकरसा (समानम्) अविबद्धम् (व्रतम्) अ० २ ।
३० । २ । वृज्-अतच् । वरणीयं धर्माचरणम् (सह) संगतम् (चित्तम्) सर्व
पदार्थविषयि ज्ञानम् (एषाम्) एतेषां युष्माकम् (समानेन) एकरूपेण (वः)
युष्मान् (हविषा) आहोणे धर्मणा (जुहोमि) हुं दानादानादनेषु । आददे ।

सू० ६४ [२३७]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३२७)

(हविषा) ग्राह्य धर्म के साथ (वः) तुम को (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूँ, (समानम्) एक से (चेतः) चिन्तन [भूत, भविष्यत् के अनुभव के स्मरण] मैं (अभिसंविशध्वम्) तुम भेती भोंति प्रवेश करो ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सदा वेद मार्ग पर चलकर एकचित्त होकर धर्म सभा, विद्यासभा, राजसभा आदि बनाकर बुद्धि, बल, और पराक्रम आदि उत्तम गुण बढ़ावें ॥ २ ॥

सुमानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

सुमानी । वः । आ-कूतिः । समाना । हृदयानि । वः । समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सु-सह । असति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारा (आकूतिः) निश्चय, उत्साह, अथवा सङ्कल्प (समानी) एकसा और (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय [हार्दिक कर्म] (समाना) एक से होवें । (वः) तुम्हारा (मनः) मन [मनन कर्म] (समानम्) एकसा (अस्तु) होवे, (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (असति) गति (सुसह) बड़ा सहाय्य करने वाली होवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य धर्म के विचारों में प्रीति पूर्वक एक मत होकर अपने सब काम समाज द्वारा सिद्ध करके सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥

स्वीकरोमि (समानम्) साधारणम् (चेतः) पूर्वापरानुभूतं स्मरणात्मकं चिन्तनम् (अभिसंविशध्वम्) अभितः प्रविशत । आत्मनि धारयत ॥

३—(समानी) एकरूपा (वः) युष्माकम् (आकूतिः) अध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिः संकल्पो वा (समाना) अविरोद्धानि (हृदयानि) हार्दिक-कर्माणि (वः) (समानम्) तुल्यम् (अस्तु) भवतु (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् । सङ्कल्पविकल्पात्मकेन्द्रियव्यापारः (यथा) येन प्रकारेण (वः) युष्माकम् (सुसह) अव्ययम् । सुष्ठु धर्मेण सह सहायिका भवतु (असति) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । इति अस गतौ-अति । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति त्रिभक्त्युक् । असतिः । गतिः ॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अव म॒न्युरवा॒य॒ताव॑ ब्रा॒ह्म म॑नो॒युजा॑ । परा॑शर॒ त्वं
तेषां॑ परा॒ञ्च शु॒ष्मम॑र्द॒ याधा॑ नो र॒यिमा॑ कृ॒धि ॥ १ ॥अव॑ । म॒न्युः । अव॑ । आ-य॑ता । अव॑ । ब्रा॒ह्म इति॑ । म॒नः-
युजा॑ । परा॑-शर । त्वम् । तेषा॑म् । परा॑ञ्चम् । शु॒ष्मम् ।
अ॒र्द॒य । अ॒ध । नः । र॒यिम् । आ । कृ॒धि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मन्युः) क्रोध (अव=अवगच्छतु) ढीला होवे, (आयता) फैले हुये शस्त्र (अव=अवगच्छन्तु) ढीले होवें (मनोयुजा) मन के साथ संयोग वाली (ब्राह्म) भुजायें (अव=अवगच्छताम्) नीचे होवें । (पराशर) हे शत्रुनाशक सेनापति ! (त्वम्) तू (तेषाम्) उन [शत्रुओं] का (शुष्मम्) बल (पराञ्चम्) आँधा करके (अर्दय) मिटा दे, (अध) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (आ कृधि) सन्मुख कर ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं को हराकर शान्त चित्त होकर प्रजा में धन की बढ़ती करे ॥ १ ॥

निर्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॑स्तं यं ढै॒वाः शरु॑मस्य॑थ ।

वृ॒श्चामि॑ शत्रू॒णां ब्रा॒ह्म॒न्नेन॑ ह॒विषा॑हम् ॥ २ ॥

१—(अव) अवगच्छतु (मन्युः) क्रोधः (अव) अवगच्छन्तु (आयता) आयतानि प्रसारितानि शस्त्राणि (अव) अवगच्छताम् (ब्राह्म) भुजौ (मनोयुजा) सत्सूद्विषदुहदुहयुजः० । पा० ३ । २ । ६१ । इति मनः+युजिर् योगे—किप् । सजसा संयोजकौ (पराशर) परागत्य शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति परा+शृ हिंसायाम्—अप् । इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परशतयिता यातूनाम्—निरु० ६ । ३० । हे शत्रुनाशक वीर सेनापते (त्वम्) (तेषाम्) शत्रूणाम् (पराञ्चम्) पराङ्मुखं कृत्वा (शुष्मम्) शोषकं ब्रह्म (अर्दय) नाशय (अध) अथ । अनन्तरम् (रयिम्) धनम् (आ कृधि) अभिमुखं कुरु ॥

सू० ६५ [२३८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३२८)

निः-हस्तेभ्यः । नैः-हस्तम् । यम् । देवाः । शरम् । अस्यथ ।
वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी लोगो ! (नैहस्तेभ्यः) निहस्ते [निर्बल-
हम लोगों] के हित के लिये (नैहस्तम्) निहस्त [निर्बल शत्रुओं] के ऊपर
(यम्) जिस (शरम्) बाण को (अस्यथ) तुम छोड़ते हो (अनेन) उसी
ही (हविषा) ग्राह्य शस्त्र से (अहम्) मैं [प्रजागण वा राजगण] (शत्रूणाम्)
शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (वृश्चामि) काटता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और राज पुरुष मिलकर शत्रुओं के नाश करने
के प्रयत्न करें ॥ २ ॥

हन्द्रश्चकार प्रथमं नैहस्तमसुरेभ्यः ।

जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

इन्द्रः । चकार । प्रथमम् । नैः-हस्तम् । असुरेभ्यः । जयन्तु ।

सत्वानः । मम । स्थिरेण । इन्द्रेण । मेदिना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े पेश्वर्य वाले सेनापति ने (असुरेभ्यः) असुर
शत्रुओं को (नैहस्तम्) निहस्तापन (प्रथमम्) पहिले (चकार) किया था ।
(स्थिरेण) स्थिर स्वभाव, (मेदिना) स्नेही (इन्द्रेण) उस बड़े सेनापति के
साथ (मम) मेरे (सत्वानः) वीर लोग (जयन्तु) जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस शूर सेनापति की सहायता से पहिले शत्रुओं को जीता
है उसकी सहायता से शत्रुओं को अब भी जीतें ॥ ३ ॥

२—(निहस्तेभ्यः) निर्गतहस्तसामर्थ्येभ्यः प्रजागणेभ्यः । तेषां हिता-
येत्यर्थः (नैहस्तम्) समूहे —अण् । निर्गतहस्तसामर्थ्यानां शत्रूणां समूहं प्रति
(यम्) (देवाः) विजिगीषवः पुरुषाः (शरम्) अ० १ । २ । ३ । हिंसकं
बाणाद्यायुधम् (अस्यथ) द्विकर्मकोऽयम् । त्विपथ (वृश्चामि) छिनभि
(शत्रूणाम्) बैरिणाम् (बाहून्) भुजान् (अनेन) निर्दिष्टेन (हविषा) ग्राह्येण
शस्त्रेण (अहम्) प्रजागणो राजगणो वा ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (चकार) कृतवान् (प्रथमम्)
पूर्वस्मिन् काले (नैहस्तम्) भावे—अण् । निहस्तत्वं हस्तसामर्थ्यवैकल्यम्
(असुरेभ्यः) देवविरुद्धेभ्यः शत्रुभ्यः (जयन्तु) अभिभवन्तु शत्रून् (सत्वानः) अ०
५ । २ । ८ । उद्योगिनो वीराः (मम) प्रजागणस्य (स्थिरेण) दृढ़स्वभावेन
(इन्द्रेण) सेनापतिना (मेदिना) अ० ३ । ६ । २ । शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् । पा०
३ । २ । १४१ । इति जिमिक्षा स्नेहने—घिनुण् । स्नेहिना ॥

सूक्तम् ६६ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

निर्हस्तः शत्रुं रभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्राव्येषामघहारो विविद्धः ॥१॥
निः-हस्तः । शत्रुः । अभि-दासन् । अस्तु । ये । सेनाभिः ।
युधम् । आ-यन्ति । अस्मान् । सम् । अर्पय । इन्द्र । महता ।
वधेन । द्रातु । एषाम् । अघ-हारः । वि-विद्धः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) शत्रु (नः) हम पर (अभिदासन्) चढ़ाई करता हुआ (निर्हस्तः) निहत्ता (अस्तु) होवे, [और वे भी,] (ये) जो (सेनाभिः) अपनी सेनाओं के साथ (युधम्) युद्ध करने के लिये (अस्मान्) हम पर (आयन्ति) चले आते हैं । (इन्द्र) हे प्रतापी सेनापति इन्द्र ! [उन सब को] (महता) बड़े (वधेन) बध के साथ (समर्पय) मार गिरा, (एषाम्) इन सब का (अघहारः) दुःखदायी प्रधान (विविद्धः) आर पार छिदकर (द्रातु) भाग जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं और उनकी सेनाओं को अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा हरा कर भगा देवे ॥ १ ॥

१—(निर्हस्तः) निर्गतहस्तसामर्थ्यः (शत्रुः) अरिः (अभिदासन्) दास वधे—शत्रु । अभिहिंसन् (अस्तु) (ये) ये तेऽपि (सेनाभिः) सैन्यैः (युधम्) युध संप्रहारे—किप् । चतुर्थ्यर्थे द्वितीया । युधे । युद्धाय (आयन्ति) अभिगच्छन्ति (अस्मान्) धार्मिकान् (समर्पय) अ० पृ. २२ । ६ । ऋ हिंसायाम्—णिच्, पुक् । सम्यग् विनाशय (इन्द्र) हे प्रतापिन् सेनापते (महता) विशालेन (वधेन) हननेन (द्रातु) द्रा कुत्सायां गतौ । पलायताम् (एषाम्) शत्रूणाम् (अघहारः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति—अघ+हृज् हरणे अण् । अघस्य दुःखस्य प्रापयिता (विविद्धः) व्यध ताडने-क्त । विशेषण द्विजः ॥

सू० ६६ [२३८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३३१)

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वीऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

आ-तन्वानाः । आ-यच्छन्तः । अस्यन्तः । ये । च । धावथ ।

निः-हस्ताः । शत्रवः । स्थन । इन्द्रः । वः । अद्य । परा । अशरीत् ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (आतन्वानाः) [धनुष बाण] तानते हुये (च) और (आयच्छन्तः) [तरवारें] खेंचते हुये और (अस्यन्तः) चलाते हुये (धावथ) दौड़े चले आते हो । (शत्रवः) हे शत्रुओं ! तुम सब (निर्हस्ताः) निहत्ते (स्थन) हो जाओ, (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ने (वः) तुम को (अद्य) आज (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं के धावे को रोक कर उन्हें मार गिरावे ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतृशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

निः-हस्ताः । सन्तु । शत्रवः । अङ्गा । एषाम् । म्लापयामसि ।
अथ । एषाम् । इन्द्र । वेदांसि । शतृ-शः । वि । भजामहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः) निहत्ते (सन्तु) हो जावें, (तेषाम्) उन के (अङ्गा) अंगों को (म्लापयामसि) हम शिथिल करते हैं ।

२—(आतन्वानाः) धनूषि वाणान् च अनुसंदधतः (आयच्छन्तः) तर-
चारीन् आकर्षन्तः (अस्यन्तः) निक्षिपन्तः (ये) शत्रवः (च) (धावथ)
शीघ्रं गच्छथ (निर्हस्ताः) लुप्तहस्तबलाः (शत्रवः) अरयः (स्थन)
तप्तनप्तनयनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस्तेल्लोटि तस्य यनादेशः । भवतः
(इन्द्रः) सेनापतिः (वः) युष्मान् (अद्य) अस्मिन् दिने (परा अशरीत्)
अहिंसायाम्—लुङ् । पराहतान् कृतवान् ॥

३—(निर्हस्ताः) लुप्तहस्तसामर्थ्याः (सन्तु) (शत्रवः) (अङ्गा)
अङ्गानि हस्तपादादीनि (एषाम्) शत्रूणाम् (म्लापयामसि) म्लै हर्षक्षये-

(अथ) फिर (इन्द्र) हे महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ! (तेषाम्) उनके (वेदांसि) सब धनों को (शतशः) सैरुड़ों प्रकार से (वि भजामहै) हम बांट लेवें ॥३॥

भावार्थ—विजयी वीर पुरुष शत्रुओं को जीत कर सेनापति की आज्ञा अनुसार राजपिभाग निकाल कर उनका धन बांट लेवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेना पति के लक्षणों का उपदेश ॥

परि वर्तमानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।

मुहयन्त्वदामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

परि । वर्तमानि । सर्वतः । इन्द्रः । पूषा । च । सस्रतुः । मुहयन्तु ।

अद्य । अमूः । सेनाः । अमित्राणाम् । परः-तराम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े पेश्वर्यवाला राजा (च) और (पूषा) पोषण करनेवाला मन्त्री (वर्तमानि) मार्गों पर (सर्वतः) सब दिशाओं में (परि सस्रतुः) सब ओर चलते रहें हैं । (अमित्राणाम्) पीड़ा देनेवाले शत्रुओं की (अमूः) वे सब (सेनाः) सेनायें (अद्य) आज (परस्तराम्) बहुत दूर (मुहयन्तु) धवड़ा कर चली जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल राजा और मन्त्री के उपाय से शत्रु की सब सेनायें भाग जावें ॥ १ ॥

यौ आत्वे पुगागमः । स्तोपयामः । क्षीणहर्षान् शिथिलान् कुर्मः (अथ) अन्तरम् (एषाम्) (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् सेनापते (वेदांसि) धनानि (शतशः) शतप्रकारेण (वि भजामहै) विभज्य प्राप्नुयाम ॥

१—(परि) परितः (वर्तमानि) वृत्तु वर्तने—मनिन् । धर्ममार्गान् (सर्वतः) सर्वासु दिक्षु (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (पूषा) पोषको मन्त्री (च) (सस्रतुः) सृ गतौ—लिट् । जग्मतुः (मुहयन्तु) मूढचित्ताः पलायन्ताम् (अद्य) अस्मिन् दिने (अमूः) दूरे दृश्यमानाः (सेनाः) सैन्यानि (अमित्राणाम्) पीडकानां शत्रूणाम् (परस्तराम्) परः+तरप् । किमेत्तिङव्ययघात्० । ५ । ४ ११ । इति आमु । अधिकदूरदेशे ॥

सू० ६७ [२४०]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१३३३)

मुढा अमित्राश्चरताशीर्षाणं इवाहयः ।

तेषां वा अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

मुढाः । अमित्राः । चरत । अशीर्षाणः-इव । अहयः । तेषाम् ।

वः । अग्नि-मूढानाम् । इन्द्रः । हन्तु । वरम्-वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मुढाः) हे घबड़ाये हुये (अमित्राः) पीड़ा देने वाले शत्रुओं !
 (अशीर्षाणः) बिना शिर वाले [शिर कटे] (अहयः इव) सापों के समान
 (चरत) चेष्टा करो । (इन्द्रः) प्रतापी वीर राजा (अग्निमूढानाम्) अग्नि [आग्नेय
 शक्तों] से घबड़ाये हुये (तेषां वः) उन तुम सबों में से (वरंवरम्) अच्छे
 अच्छों को चुन कर (हन्तु) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुशल सेना पति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि शत्रु के सेना
 दल विध्वंस हो कर घबड़ा जावे और उनके बड़े बड़े नायक मारे जावे ॥ २ ॥

एषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।

पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

आ । एषु । नह्य । वृषा । अजिनम् । हरिणस्य । भियम् ।
 कृधि । पराङ् । अमित्रः । एषतु । अर्वाची । गौः । उप । एषतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हेसेनापति !] (एषु) इन [अपने वीरों] में (वृषा=वृष्णः)
 ऐश्वर्यवान् पुरुष का (अजिनम्) चर्म [कवच] (आ नह्य) पहिना दे, और [शत्रुओं]

२—(मुढाः) मुह वैचित्ये—क । व्याकुलाः (अमित्राः) पीडकाः
 शत्रवः (चरत) चेष्टां कुरुत (अशीर्षाणः) शीर्षश्छन्दसि । प० ६ । १ । ६० ।
 इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् । अशिरसः । छिन्नाशिरस्काः (इव) यथा
 (अहयः) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारः सर्पाः (तेषाम्) तादृशानाम् (वः)
 युष्माकम् (अग्निमूढानाम्) अग्निना आग्नेयास्त्रैर्व्याकृतीकृतानां मध्ये (इन्द्रः)
 प्रतापी वीरो राजा (हन्तु) नाशयतु (वरंवरम्) श्रेष्ठं श्रेष्ठं नायकम् ॥

३—(एषु) स्वभटेषु (आ नह्य) आवधान । आच्छादय (वृषा) सुपांसु-
 लुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति षष्ठ्याः सु । वृष्णः । इन्द्रस्य ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य

में] (हरिणस्य) हरिण का (भियम्) डरपोकपन (कृधि) करदे । (अमित्रः) शत्रु (पराङ्) उलढे मुख हो कर, (एषतु) चला जावे (गौः) भूमि [युव भूमि और राज्य] (अर्वाची) हमारी ओर (उप एषतु) चली आवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति अपने वीरों को कवच आदि पहिना कर शत्रुओं को भयभीत करके रणभूमि और राज्य अपने हाथ करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ पञ्चपदा विराट्; २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

चूडाकरणसंस्कारोपदेशः—मुण्डन संस्कार का उपदेश ॥

आयमगन्तसविता क्षुरेणीष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचैतसः सोमस्य राज्ञो वपतु प्रचैतसः ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । सविता । क्षुरेण । उष्णेन । वायो इति । उदकेन । आ । इहि । आदित्याः । रुद्राः । वसंवः । उन्दन्तु । स-चैतसः । सोमस्य । राज्ञः । वपतु । प्र-चैतसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (सविता) काम का चलानेवाला पुरतीला नापित (क्षुरेण) छुरा सहित (आ अगन्) आया है, (वायो) हे शीघ्रगामी पुरुष ! (उष्णेन) तप्त [तत्ते] (उदकेन) जलसहित (आ इहि) तू आ ।

(अजिनम्) अ० ४ । ७ । ६ । चर्म । कवचम् (हरिणस्य) मृगस्य (भियम्) भीतिम् (कृधि) कुरु शत्रुषु (पराङ्) पराङ्मुखः सन् (अमित्रः) शत्रुः (एषतु) इष गतौ गच्छतु । पलायताम् (अर्वाची) अस्मदभिमुखा । अनुकूला (गौः) पृथ्वी—निघ० । १ । १ । रणभूमिः । राजभूमिः (उप एषतु) समीपं प्राप्नोतु ॥

१—(अयम्) दृश्यमानः (आ अगन्) आगमत् । आगतवान् (सविता) कर्मप्रेरकः स्फूर्तिशीलो नापितः (क्षुरेण) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति च रविलेखने—रन्, रेफलोपः । लोमच्छेदकेनास्त्रेण (उष्णेन) तप्तेन (वायो) हे शीघ्रगामिन् पुरुष (उदकेन) जलेन (आ इहि) आगच्छ (आदित्याः)

सू० ६८ [२४१]

षष्ठं कारुण्यम् ॥ ६ ॥

(१४३५)

(आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) ज्ञानवान्, (वसवः) श्रेष्ठ पुरुष आप
(सचेतसः) एक चित्त हो कर [बालक के केश] (उन्दन्तु) भिगोवे, (प्रचे-
तसः) प्रकृष्ट ज्ञानवाले पुरुषों तुम (सोमस्य) शान्तस्वभाव (राक्षः) तेजस्वी
बालक का (वपत = वपयत) मुण्डन कराओ ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ प्रवीण शुद्ध नापित को बुलाकर गुणगुने जल से मुण्डन
करावें और सब बड़े बड़े विद्वान् पुरुष उत्सव में आकर यथोचित सम्मति दें ॥ १ ॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कारविधि चूडाकर्म
संस्कार में लिखे हैं ॥ १ ॥

अदितिः शमश्रु वपुत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।

चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ २ ॥

अदितिः । शमश्रु । वपुतु । आपः । उन्दन्तु । वर्चसा ।

चिकित्सतु । प्रजा-पतिः । दीर्घायु-त्वाय । चक्षसे ॥ २ ॥

भावार्थ—(अदितिः) अखण्डित छुरा (शमश्रु) केश (वपुतु) काटे
(आपः) जल (वर्चसा) अपनी शोभा से (उन्दन्तु) सींचे । (प्रजापतिः)
सन्तान का पालन करनेवाला पिता (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये और
(चक्षसे) दृष्टि बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) [बालक के] रोग की निवृत्ति करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मुण्डन होने के पश्चात् स्नान करा के यथोचित ओषधि स्नान
पान आदि द्वारा बालक को प्रसन्न करें । इस संस्कार से बालक की आयु
और दृष्टि बढ़ती है ॥ २ ॥

अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमाना विद्वांसः (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । ज्ञान-
दातारः (वसवः) श्रेष्ठा जनाः (उन्दन्तु) आर्द्राकुर्वन्तु । माणवकस्य शिर
इतिशेषः (सचेतसः) समानज्ञानाः (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राक्षः)
तेजस्विनो माणवकस्य (वपत) वपयत । मुण्डनं कारयत (प्रचेतसः) प्रकृष्ट-
ज्ञानाः पुरुषाः ॥

२—(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दो अखण्डने—किन् । अख-
ण्डितस्तीक्ष्णधारश्छुरः (शमश्रु) अ० ५ । १६ । १४ । शम-शरीरम्... शम श्रु लोम,
श्मनि श्रितं भवति । निरु० ३ । ५ । शिरः केशम् (वपुतु) मुण्डतु (आपः)
जलानि (उन्दन्तु) सिञ्चन्तु स्नानेन (वर्चसा) तेजसा (चिकित्सतु) कित
रोगापनयने । भिषज्यतु बालकस्य रोगनिवृत्तिं करोतु (प्रजापतिः) सन्तान-
पालकः पिता (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (चक्षसे) अ० १ । ५ । १ ।
दृष्टिवर्धनाय ॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य
विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपते दमस्य गोमानश्ववान्-
यमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

येन । अवपत् । सविता । क्षुरेण । सोमस्य । राज्ञः । वरुणस्य ।
विद्वान् । तेन । ब्रह्माणः । वपत् । दमस् । अस्य । गो-मान् ।
अश्व-वान् । अयम् । अस्तु । प्रजा-वान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस विधि के साथ (विद्वान्) अपना कर्म जानने
वाले (सविता) फुरतीले नापित ने (क्षुरेण) छुरा से (सोमस्य) शान्त-
स्वभाव, (राज्ञः) तेजस्वी, (वरुणस्य) उत्तम स्वभाव वाले बालक का (अव-
पत्) मुण्डन किया है । (तेन) उसी विधि से (ब्रह्माणः) हे ब्राह्मणो ! (अस्य)
इस बालक का (दमस्) यह शिर (वपत्) मुण्डन कराओ, (अयम्) यह
बालक (गोमान्) उत्तम गौओं वाला, (अश्ववान्) उत्तम घोड़ों वाला और
(प्रजावान्) उत्तम सन्तानों वाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग बालकों का मुण्डन संस्कार कराके उन्हें प्रतापी
धनी और बलवान् बनावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ पूजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

गिरावरुगराटिषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।

३—(येन) यादृशेन विधिना (अवपत्) मुण्डनं कृतवान् (सविता)
म० १ । स्फूर्तिशीलः (क्षुरेण) अस्त्रेण (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राज्ञः)
तेजस्विनः (वरुणस्य) श्रेष्ठबालकस्य (विद्वान्) स्वकर्मज्ञाता नापितः (तेन)
तादृशेन कर्मणा (ब्रह्माणः) हे वेदज्ञातारो ब्राह्मणाः (वपत्) मुण्डनं कारयत
(दमस्) शिरः (अस्य) माणवकस्य (गोमान्) प्रशस्तगोयुक्तः (अश्ववान्)
बहुमूल्यतुरङ्गोपेतः (अयम्) माणवकः (अस्तु) (प्रजावान्) प्रशस्तसन्तान-
युक्तः ॥

सू० ६८ [२४२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३३७)

सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

गिरौ । अरगराटेषु । हिरण्ये । गोषु । यत् । यशः । सुरायाम् ।

सिच्यमानायाम् । कीलाले । मधु । तत् । मयि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गिरौ) उपदेश करने वाले सन्यासी में, (अरगराटेषु) ज्ञान के उपदेशकों में विचरने वालों [ब्रह्मचारो आदिकों] के बीच, (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) विद्याओं में (यत्) जो (यशः) यश है । और (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) बहते हुये जल [अथवा बढ़ते हुये पेशवर्ष] में और (कीलाले) अन्न में (मधु) जो मीठापन है, (तत्) वह (मयि) मुझ में होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विद्या आदि प्राप्त करके अपना पेशवर्ष और स्वास्थ्य स्थिर रखकर यश पावे ॥ १ ॥

अश्विना सारधेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।

यथा भर्गस्वती वाचमावदानि जनुं अनु ॥ २ ॥

अश्विना । सारधेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः ।

पती इति । यथा । भर्गस्वतीम् । वाचम् । आ-वदानि ।

जनान् । अनु ॥ २ ॥

१—(गिरौ) अ० ५ । ४ । १ । गृ विज्ञापने—इ । विज्ञापके । उपदेशके संन्यासिनि (अरगराटेषु) अ गतौ—अच्+गृ विज्ञापने—अच्+अट=गतौ—अच् । अस्य ज्ञानस्य गर्गेषु विज्ञापकेषु आचार्येषु अटन्ति विचरन्ति ये तेषु ब्रह्मचारिषु (हिरण्ये) सुवर्णे (गोषु) बालु । विद्यासु (सुरायाम्) सुसुधाअमृधिम्यः क्त्वा । उ० २ । २४ । इति पुञ् अभिषवे=स्नाने, यद्वा, पु पेशवर्षे—क्रन् । यद्वा । पुर पेशवर्षदीप्त्योः—क, टाप् । सुरा सुनोते । निरु० १ । ११ । सुरा, उदकनाम—दयानन्दसंशोधिते निघण्टौ, १ । ११ । जले । पेशवर्षे (सिच्यमानायाम्) प्रवहन्त्याम् । प्रवर्धमानायाम् (कीलाले) अ० ४ । ११ । १० । अन्ने—निघ० ३ । ७ (मधु) माधुर्यम् । बलवत्त्वम् (तत्) (मयि) पुरुषार्थिनि ॥

भाषार्थ—(शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अग्निना)
हे कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता ! (सारघेण) सार अर्थात् बल वा धन से
पहुँचाने वाले (मधुना) ज्ञान से (मा) मुझ को (अङ्कम्) प्रकाशित करो ।
(यथा) जिससे (जनान् अनु) मनुष्यों के बीच (भर्गस्वतीम्) तेजोमयी
(वाचम्) वाणी को (आवदानि) मैं बोला करूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर
मनुष्यों में सारगर्भित सत्य वचन बोलें ॥ २ ॥

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पर्यः ।

तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

मयि । वर्चः । अथो इति । यशः । अथो इति । यज्ञस्य ।
यत् । पर्यः । तत् । मयि । प्रजा-पतिः । दिवि । द्याम्-इव ।
दृंहतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मयि) मुझ में (वर्चः) प्रताप, (अथो) और (यशः)
यश हो, (अथो) और (यज्ञस्य) देव पूजा आदि यज्ञ का (यत्) जो (पर्यः)
सार है, (तत्) उसको भी (मयि) मुझ में (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर

२—(आश्वना) अ० ६ । ३ । ३ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ
(सारघेण) सार+घट संघाते, चुरादौ—ड । सारं घाटयति संग्राहयतीति
तेन । सारस्य बलस्य धनस्य वा संग्राहकेण (मधुना) मन ज्ञाने—उ, नस्य धः ।
ज्ञानेन (अङ्कम्) अङ्ग व्यक्तिसङ्क्षणकान्तिगतिषु—लोड् । प्रकाशयतम् (शुभा)
शोभनस्य कर्मणः (पती) पालकौ (यथा) येन प्रकारेण (भर्गस्वतीम्) तेजो-
मयीम् (वाचम्) वाणीम् (आवदानि) उच्चारयाणि (जनान्) मनुष्यान् (अनु)
अनुलक्ष्य ॥

३—(मयि) प्रयत्नशीले (वर्चः) प्रतापः (अथो) अपि च (यशः)
कीर्तिः (अथो) (यज्ञस्य) देवपूजादिकस्य (यत्) (पर्यः) तत्त्वम् । फलम्
(तत्) पर्यः (मयि) (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (दिवि) अन्तरिक्षे

सू० १० [२४३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३३८)

(दं हतु) दृढ़ करे, (इव) जैसे (दिवि) अन्तरिक्ष में (घाम्) सूर्य मण्डल को ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैस परमेश्वर ने आकाश में सूर्य को स्थिर करके आकर्षण, प्रकाश आदि द्वारा महा उपकारी बनाया है, वैसे ही मनुष्य उत्तम शिक्षा प्राप्त करके यशस्वी होवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरभक्त्युपदेशः—परमेश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।

यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते अह्न्ये मनोऽधि वृत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

यथा । मांसम् । यथा । सुरा । यथा । अक्षाः । अधि-देवने ।

यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव ।

ते । अह्न्ये । मनः । अधि । वृत्से । नि । हन्यताम् ॥ १ ॥

भावार्थ—(यथा) जैसे (मांसम्) ज्ञान, (यथा) जैसे (सुरा) पेश्वर्य, (यथा) जैसे (अक्षाः) अनेक व्यवहार (अधिदेवने) बहुत व्यवहार-युक्त राजद्वार में रहते हैं । (यथा) जैसे (वृषण्यतः) अपने को पेश्वर्यवान् मानने वाले (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्तुति क्रिया [वा (घाम्) दीप्यमानं सूर्यमण्डलम् (इव) यथा (दं हतु) दृढ़ वृद्धौ । दृढ़ीकरोतु धर्षयतु ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (मांसम्) अ० ४ । १७ । ४ । मन ज्ञाने—सप्रत्ययः, दीर्घश्च । मांसं माननं वा । मानसं वा मनोऽस्मिन्सीदतीति वा निरु० ४ । ३ । ज्ञानम् (यथा) (सुरा) सू० १० । म० १ । पेश्वर्यम् (यथा) (अक्षाः) अक्ष व्याप्तिसंघातयोः—अक्ष । यद्वा । अग्नेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अश्व व्याप्तौ—सप्रत्ययः । व्यवहाराः (अधिदेवने) विदु व्यवहारे—ह्युद ।

अपनी पत्नी] में (निहन्यते) स्थिर रहता है । (एव) वैसे ही (अग्नये)
हे न मारने योग्य प्रजा ! (ते) तेरा (मनः) मनः (वत्से) सब में निवास
करने वाले परमेश्वर में (अधि) अच्छे प्रकार (नि हन्यताम्) दृढ़ होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ भक्ति करके सदा आनन्द भोगे ॥१॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे ।

यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते अग्नये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ २ ॥

यथा । हस्ती । हस्तिन्याः । पदेन । पदम् । उद्-युजे ।

यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव ।

ते । अग्नये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (हस्ती) हाती (हस्तिन्याः) हतिनी के (पदेन)
पद चिह्न से (पदम्) अपना पद (उद्युजे) बढ़ाये जाता है । (यथा) जैसे
म० १ । ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ २ ॥

अधिकव्यवहारस्थाने राजद्वारे । (पुंसः) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुम-
सुन् । रक्षणशीलस्य पुरुषस्य (वृषण्यतः) दुरस्युदविणस्युर्वृषण्यतिरि-
ण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति वृषन्—क्यचि निपातितः । वृषणम् इन्द्रम् ऐश्वर्य-
वन्तमात्मानमिच्छतः (स्त्रियाम्) अ० १ । ८ । १ । ष्टुञ् स्तुतौ—डूट्, डीप् ।
स्तुतिक्रियायाम् । स्तुत्यायां पत्न्यां वा (निहन्यते) स्थाप्यते (मनः) चिन्तम्
(एव) एवम् । तथा (ते) तव (अग्नये) अ० ३ । ३० । १ । अग्न्याऽहन्तव्या
भवत्यघघ्नीतिवा—निरु० ११ । ४३ । हे अहन्तव्ये प्रजे (मनः) (अधि)
(अधिकम्) (वत्से) अ० ३ । १२ । ३ । वृत्तवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ ।
इति वस निवासे—स । सर्वनिवासशीले परमेश्वरे (निहन्यताम्) दृढीक्रिया
ताम् ॥

२—(यथा) (हस्ती) हस्ताज्जातौ । पा० ५ । २ । १३३ । इति-
णिनि । गजः (हस्तिन्याः) करेणवाः (पदम्) पादम् (उद्युजे) युजिर् यीगे,
छान्दसो विकरणस्य लुक् । उद्युक्ते । उन्नमयति । अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा प्रधिर्यथैपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि ।

यथा पुं सो वृषण्युत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा तै अघ्न्ये मनोऽधि वृत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

यथा । प्र-धिः । यथा । उप-धिः । यथा । नभ्यम् । प्र-धौ । अधि ।

यथा । पुं सः । वृषण्युतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव ।

ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वृत्से । नि । हन्यताम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रधिः) पहिये की पुट्टी [अरों के जोड़ से]
और (यथा) जैसे (उपधिः) अरों का जोड़ [पुट्टों से] और (यथा) जैसे
(नभ्यम्) नाभि स्थान (प्रधौ अधि) पुट्टी के भीतर [जमा होता है], (यथा)
जैसे म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

दोषनाशोपदेशः—दोषों के नाश का उपदेश ॥

यदन्ममद्वि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजा-
मविम् । यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टुता सुहुतं
कृणोतु ॥ १ ॥

यत् । अन्नम् । अद्वि । बहु-धा । वि-रूपम् । हिरण्यम् । अश्वम् ।
उत । गाम् । अजाम् । अविम् । यत् । एव । किम् । च । प्रति-जग्रह ।
अहम् । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु ॥ १ ॥

३—(प्रधिः) उपसर्गेशोः कि । पा० ३ । २ । ६२ । इति धाजः—कि ।
रथचक्रस्य नेमिः (उपधिः) अराणां सन्धिः (नभ्यम्) उगवादिभ्यो यत् । पा०
५ । १ । २ । इति नाभि—यत् । नाभये हितं रथाङ्गम्—अन्यत्पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(विरूपम्) अनेक रूप वाला (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (बहुधा) प्रायः (अग्नि) में खाता हूँ, (उत) और (हिरण्यम्) सुवर्ण (अश्वम्) घोड़ा, (गाम्) गौ, (अजाम्) बकरी, (अविम्) भेड़, और (य एव किम् च) जो कुछ भी (अहम्) मैंने (प्रतिजग्रह) ग्रहण किया है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य ज्ञान पूर्वक परमेश्वर को आत्मसमर्पण करते हैं, वे सुखी होते हैं ॥ १ ॥

यन्मा हुतमहु तमाजगाम दत्तं पितृभिरनु मतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मनु उदिव रारंजीत्यग्निष्टहोता सुहु तं कृणोतु
यत् । मा । हुतम् । अहुतम् । आ-जगाम । दत्तम् । पितृ-
भिः । अनु-मतम् । मनुष्यैः । यस्मात् । मे । मनः । उत-
इव । रारंजीति । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु

भाषार्थ—(हुतम्) दिया हुआ [माता पिता आदि से पाया हुआ] अथवा (अहुतम्) न दिया हुआ [स्वयं प्राप्त किया], (पितृभिः) दूसरे विद्वान् महाशयों करके (दत्तम्) दिया हुआ और (मनुष्यैः) मननशील पुरुषों करके (अनुमतम्) अङ्गीकार किया हुआ (यत्) जो कुछ द्रव्य (मा) मुझ

१—(यत्) (अन्नम्) भोजनम् (अग्नि) भक्षयामि (बहुधा) प्रायः (विरूपम्) विविधप्रकारम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (अश्वम्) तुरङ्गम् (गाम्) धेनुम् (अजाम्) जंगीम् (अविम्) मेषम् (यत् एव किम् च) यत्किमपि द्रव्यजातम् (प्रतिजग्रह) हूँ स्वत्वं ह्यन्दसम् । प्रतिजग्राह । प्राप (अहम्) उपासकः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (तत्) सर्वं पूर्वोक्तम् (होता) दाता (सुहुतम्) हूँ दानादानयोः—क । सुष्ठु धार्मिकरीत्या गृहीतम् (कृणोतु) करोतु ॥

२—(यत्) द्रव्यम् (मा) माम् (हुतम्) दत्तं माता पित्रादिभिः (अहुतम्) अदत्तं स्वपौरुषेण प्राप्तम् (आजगाम) प्राप (दत्तम्) वित्तार्थम् (पितृभिः) पालनशीलैर्महात्मभिः (अनुमतम्) अङ्गीकृतम् (मनुष्यैः) मनुजैः ३ । ४ । ६ । मननशीलैः पुरुषैः (यस्मात्) कारणत् (मे) मम (मनः) चित्तम्

सू० ७१ [२४४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३४३)

को (आजगाम) प्राप्त हुआ है । (यस्मात्) जिसके कारण से (मे) मेरा (मनः) मन (उत् इव) उदय होता हुआ सा (रारजीति) अत्यन्त शोभित रहता है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुदुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को जो कुछ पदार्थ अन्य महाशयों से अथवा अपने पुरुषार्थ से मिले, उसे विचार पूर्वक धार्मिक रीति से व्यय करें ॥ २ ॥

यदन्नमदयन्तेन देवा दास्यन्नादास्यन्नुत संगृणामि ।

वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ३

यत् । अन्नम् । अग्नि । अन्तेन । देवाः । दास्यन् । अदास्यन् ।

उत । सुम्-गृणामि । वैश्वानरस्य । महतः । महिम्ना । शि-

वम् । मह्यम् । मधु-मत् । अस्तु । अन्नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अन्तेन) असत्य व्यवहार से (अग्नि) मैं खाता हूँ, (उत) और (दास्यन्) देना चाहता हुआ [अथवा] (अदास्यन्) न देना चाहता हुआ मैं [जो कुछ] (संगृणामि = संगिरामि) खा जाता हूँ । (महतः) पूजनीय (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यम्) मेरे लिये (शिवम्) सुखकारक और (मधुमत्) मीठे रसवाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर दुष्ट कर्म छोड़ कर अपने कर्तव्य सत्यमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

(उत् इव) उन्नतं यथा (रारजीति) राज्ञ दीप्तौ ऐश्वर्यं च, यद्भुक्तिं छान्द-समुपधाह स्वत्वम् । राराजीति । भृशं दीप्यते शोभते । अन्यद्गतम् ॥

३—(यत्) (अन्नम्) (अग्नि) भक्षयामि (अन्तेन) असत्यव्यव-हारेण (देवाः) हे विद्वांसः (दास्यन्) लृट्: सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । इति दास्यते—शतृ । दातुमिच्छन् (अदास्यन्) न दातुमिच्छन् (उत) अपि च (संगृणामि) गृह्णिष्यामि, छान्दसः शना । संगिरामि । भक्षयामि (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य परमेश्वरस्य (महतः) पूजनीयस्य (महिम्ना) प्रतापेन (शिवम्) सुखकरम् (मह्यम्) मद्गन्धम् (मधुमत्) माधुर्य्यपैतम् (अस्तु) भवतु (अन्नम्) भोजनम् ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ जगती; २; ३ अनुष्टुप् ॥

राज्यवर्धनोपदेशः—राज्य बढ़ाने का उपदेश ॥

यथासितः प्रथयते वशान् अनु वपूँषि कृणवन्नसुरस्य मायया
एवा ते शेषः सहस्रायमर्कङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥१॥यथा । असितः । प्रथयते । वशान् । अनु । वपूँषि । कृणवन् ।
असुरस्य । मायया । एव । ते । शेषः । सहसा । अयम् ।
अर्कः । अङ्गेन । अङ्गम् । सम्-समकम् । कृणोतु ॥ १ ॥भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (असितः) बन्धन रहित, स्वतन्त्र
परमात्मा (वशान् अनु) अपने वशवर्त्ती प्राणियों के लिये (असुरस्य) बुद्धि-
मान् की (मायया) बुद्धि से (वपूँषि) अनेक शरीरों को (कृणवन्) बनाता
हुआ (प्रथयते) विस्तार करता है । (एव) वैसे ही (अयम्) यह (अर्कः)
मन्त्र [विचार] (ते) तेरे (शेषः) सामर्थ्य को (सहसा) सहनशक्ति के साथ
और (अङ्गम्) अङ्ग को (अङ्गेन) अङ्ग के साथ (संसमकम्) मली भाँति
संयुक्त (कृणोतु) करे ॥ १ ॥भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता से जगत् को रचकर महा
उपकार किया है, वैसे ही मनुष्य वेदों के विचार से अपनी शक्ति बढ़ा कर
बढ़ती करे ॥ १ ॥१—(यथा) येन प्रकारेण (असितः) अबद्धः । मुक्तस्वभावः परमे-
श्वरः (प्रथयते) विस्तारं करोति (वशान्) वशवर्त्तिनो जीवान् (अनु)
अनुलक्ष्य (वपूँषि) शरीराणि (कृणवन्) रचयन् (असुरस्य) अ० १ । १० ।
१ । असुरस्य प्रज्ञा नाम्—निरु० १० । ३४ । रो मत्वरथीयः । प्रज्ञावतः पुरुषस्य
(मायया) अ० २ । २६ । ६ । प्रज्ञया—निघ० २ । ६ । (एव) एवम् (ते) तव
(शेषः) अ० ४ । ३७ । ७ । शीङ् शयने—प । शेते, शरीरे वर्तते । सामर्थ्यम्
(सहसा) पक्ष मर्षणे—असुन् । सहन शक्त्वा (अयम्) प्रसिद्धः (अर्कः)
अ० ३ । ३ । २ । अर्च पूजायाम्—क । अर्को मन्त्रो भवति यदनेना चन्ति—निरु०
५ । ४ । विचारः । वेदविवेकः (अङ्गेन) शरीरावयेव (अङ्गम्) शरीरावय-
वम् (संसमकम्) अचु गतौ याचनेच—अच् न्यङ्क्वादीनां च । पा ० ७ । ३ ।
५३ । इति कुत्वम् । सम्यक् संगतम् (कृणोतु) करोतु ॥

सू० ७२ [२४५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३४५)

यथा पसस्तायादुरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।

यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

यथा । पसः । तायादुरम् । वातेन । स्थूलभम् । कृतम् । यावत् ।

परस्वतः । पसः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तायादुरम्) प्रबन्ध से आदर योग्य (पसः) राज्य (वातेन) उद्योग से (स्थूलभम्) मनुष्यों में प्रकाश वाला (कृतम्) बनाया जाता है, (यावत्) जितना (परस्वतः) पालने में समर्थ पुरुष का (पसः) राज्य होता है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति निपुण, उद्योगी और प्रजापालक राजा के राज्य में उन्नति होती है, वैसे ही शुभ गुणों द्वारा मनुष्य अपना राज्य बढ़ावे ॥२॥

यावदुद्गोनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दीभं च यत् ।

यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

यावत्-अङ्गीनम् । पारस्वतम् । हास्तिनम् । गार्दीभम् । च ।

यत् । यावत् । अश्वस्य । वाजिनः । तावत् । ते । वर्धताम् ।

पसः ॥ ३ ॥

२—(यथा) (पसः) अ० ४ । ४ । ६ । पस बन्धे बाधे च—असुन् । राज्यम् (तायादुरम्) ताय—आदरम् । तायृ सन्तानपालनयोः—घञ्, सन्तानः प्रबन्धः । तायेन प्रबन्धेनादरः सत्कारो यस्य तद्राज्यम् (वातेन) वा गति-गन्धनयोः—तन् । उद्योगेन (स्थूलभम्) स्थः किञ्च । उ० ५ । ४ । इति ष्टा—ऊरन्, रस्य लः । आ दीप्तौ—ङ । स्थूरेषु मनुष्येषु भातीति तत् (कृतम्) अनु-ष्ठितम् (यावत्) यत्प्रमाणम् । बहुविस्तीर्णमित्यर्थः (परस्वतः) सर्वधातुभ्यो-ऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पृ० पालनपूरणयोः—असुन् । पालनवतः पुरुषस्य (पसः) राज्यप्रबन्धः (तावत्) तत्परिमणविशिष्टम् । (ते) तव (वर्धताम्) प्रवृद्धं भवतु (पसः) राज्यम् ॥

भाषार्थ—(यावदङ्गीनम्) जितने अङ्ग हैं उनसे सिद्ध, (पारस्वतम्) पालन समर्थ पुरुषों से सिद्ध, (च) और (गर्दभम्) [बोझ उठाने वाले] गदहों से सिद्ध, (यत्) जितना राज्य है । और (यावत्) जितना (वाजिनः) अन्नयुक्त (अश्वस्य) बलवान् पुरुष [राज्य] का है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सब राज्य के अङ्ग, अर्थात्, १—राजा, २—मन्त्री, ३—मित्र, ४—कोश, ५—राज्य प्रबन्ध, ६—गदह, ७—सेना, देखो अमर १८ । १७, १८, प्रजापालक अधिकारी और हस्ती गर्दभ आदि पशु और अन्न और बलवान् राजा होते हैं, वहां अनेक प्रकार से वृद्धि होती है, वैसे ही सब मनुष्यों को वृद्धि करनी चाहिये ॥ ३ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७३॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्समागमोपदेशः—विद्वानों से समागम का उपदेश ॥

३—(यावदङ्गीनम्) तेन निर्वृत्तम् । ४ । २ । ६८ । इति—ख । यावन्ति अङ्गानि तावद्भिर्निर्वृत्तं सिद्धम्, तानि यथा । स्वाभ्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः ॥ इत्यमरः, १८ । १७, १८ ॥ (पारस्वतम्) परस्वत्—अण् । परस्वद्धिः पालनसमर्थैः पुरुषैर्निर्वृत्तम् (हास्तिनम्) हस्तिन्—अण् । इनएयनपत्ये । पा० ६ । ४ । १६४ । इति प्रकृतिभावः । हस्तिभिर्निर्वृत्तं सिद्धम् (गर्दभम्) गर्दभ—अण् । गर्दभैर्वहनशीलैः पशुभिर्निर्वृत्तम् (च) (यत्) यत्प्रमाणम् (यावत्) (अश्वस्य) अश्वप्रविलटि० । उ० १ । १५१ । इति अश्व व्याप्तिसंहृत्योः—कवन् । अश्नुते व्याप्नोति कार्याणि सोऽश्वः, बलवान् पुरुषः, तस्य (वाजिनः) वाजः, अन्नम्—निघ० २ । ७ । अश्वतः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्वृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
 अस्य श्रियमुपसंयातु सर्वं उग्रस्य चेत्तुःसंमनसःसजाताः१
 आ । इह । यातु । वरुणः । सोमः । अग्निः । बृहस्पतिः ।
 वसु-भिः । आ । इह । यातु । अस्य । श्रियम् । उप-संयात ।
 सर्वं । उग्रस्य । चेत्तुः । सम्-मनसः । सु-जाताः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) सूर्य समान प्रतापी और (सोमः) चन्द्र
 समान शान्त स्वभाव पुरुष (इह) यहां पर (आ यातु) आवे और (अग्निः)
 अग्नि समान तेजस्वी (बृहस्पतिः) बड़ी वेदवाणी का रक्षा करनेवाला पुरुष
 (वसुभिः) उत्तम उत्तम गुणों वा धनों के साथ (इह) यहां पर (आयातु)
 आवे । (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (सर्वं) तुम सब (संमनसः)
 एक मन होकर, (अस्य) इस (उग्रस्य) तेजस्वी (चेत्तुः) ज्ञानवान पुरुष
 की (श्रियम्) सम्पदा को (उपसंयात) भली भांति प्राप्त करो ॥ १ ॥

भाषार्थ—गृहस्थी को योग्य है कि अनेक अनेक विद्वानों से सत्कारा
 पूर्वक समागम करके गृह लक्ष्मी बढ़ा कर अपनी उन्नति करे ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
 तान्त्सीवयामि ह्रविषा घृतैर्न मयि सजाता रमतिर्वी
 अस्तु ॥ २ ॥

१—(आयातु) आगच्छतु (इह) अस्मिन् गृहे (वरुणः) सूर्यवत्
 प्रतापी पुरुषः (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्याः पालकः (वसुभिः) श्रेष्ठ-
 गुणैर्धनैर्वा (इह आ यातु) (अस्य) गृहस्थस्य (श्रियम्) सम्पदाम् (उपसंयात)
 उप आदरेण सम्यक् प्राप्नुत (सर्वं) समस्ताः पूर्वोक्ता यूयम् (उग्रस्य) तेज-
 स्विनः (चेत्तुः) कर्तव्याकर्तव्यस्य ज्ञातुः (संमनसः) संमिलितचित्ताः (सजाताः)
 हे समानजन्मानो बान्धवाः ॥

(१३४८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७३ [२४६]

यः । वः । शुष्मः । हृदयेषु । अन्तः । आ-कूतिः । या । कु-
मनसि । प्र-विष्टा । तान् । सीवयामि । हविषा । घृतेन ।
मयि । स-जाताः । रमतिः । वः । अस्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे, विद्वानो !] (यः) जो (शुष्मः) पराक्रम (वः) तुम्हारे (हृदयेषु अन्तः) हृदयों में भरा है, और (या) जो (आकूतिः) उत्साह या शुभसंकल्प (वः) तुम्हारे (मनसि) मन में (प्रविष्टा) प्रवेश हो रहा है । [उसी के कारण] (हविषा) उत्तम अन्न से और (घृतेन) जल से (तान्) उन तुम सब की (सीवयामि=सेवे) मैं सेवा करता हूँ, (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारी (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथावत् शुश्रूषा करके विद्वानों से उत्तम उत्तम विचारों ग्रहण करके अपने आत्मा को सदा सन्तुष्ट करते रहे ॥ २ ॥

इहैव स्तु मापं याताध्युस्मत् पुषा पुरस्तादपथं व-
कृणोतु । वास्तीष्पतिरनु वो जाह्वीतु मयि सजाता
रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

इह । एव । स्तु । मा । अप । यातु । अधि । अस्मत् । पुषा ।
पुरस्तात् । अपथम् । वः । कृणोतु । वास्तोः । पतिः । अनु ।

२—(यः) (वः) युष्माकम् (शुष्मः) पराक्रमः । बलम् निघः २ । ४६
(हृदयेषु) विषयाणां ग्रहणशक्तेषु चित्तोषु (अन्तः) मध्ये (आकूतिः) उत्साहः ।
शिवसंकल्पः (या) (वः) (मनसि) मननसाधने । अन्तःकरणे (प्रविष्टा)
अन्तर्गता (तान्) तथाविधान् युष्मान् (सीवयामि) षेवृ सेवायाम्, एकारस्य
ईत्वं चुरादित्वं च छान्दसम् । अहं सेवे । शुश्रूषयामि (हविषा) हव्येन देवयोग्य-
घृतेन (घृतेन) उदकेन—निघ० १ । १२ । (मयि) उपासके (सजाताः) हे समान-
जन्मानो बान्धवाः (रमतिः) रमेर्नित् । उ० ४ । ६३ । इति रमु क्रीडायाम्—
अति । क्रीडा । मनःप्रसन्नता (वः) युष्माकम् (अस्तु) भवतु ॥

सू० ७४ [२४७]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१३४८)

वः । जोहवीतु । मयि । सु-जाताः रमतिः । वः अस्तु ॥३॥

भाषार्थ—[हे विद्वाने !] (इह) यहां पर (एव) ही (स्त) रहे (अस्मत् अधि) हम से (मा अप यात) हट कर न जाओ, (पूषा) पोषण करने वाला गृहस्थ (परस्तात्) उत्तर उत्तर काल में (वः) तुम्हारे लिये (अपथम्) अभय (कृणोतु) करे । (वास्तोः) घर का (पतिः) स्वामी [गृहस्थ] (वः) तुमको (अनु) निरन्तर (जोहवीतु) बुलाता रहे । (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारे (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो धार्मिक गृहस्थ विद्वानों को अभय दान करके आदर पूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, वे संसार में आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-३ ॥ भगो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

सांमनस्योपदेशः—एकमता के लिये उपदेश ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः१ः सं मनौसि समं व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगुः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

३—(इह) अस्मिन् समाजे (एव) निश्चयेन (स्त) वत्तं ध्वम् (मा अपयात) दूरे मा गच्छत (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (अस्मत्) अस्मराः (पूषा) पोषको गृहस्थः (परस्तात्) अ० ४ । १६ । ४ । पर—अस्ताति । परस्मिन् पश्चात्काले (अपथम्) अप-थम् । शुङ् संवरणे—ड । थं भयम् । अपगतं च तत् थं च तत् । अभयम् (वः) युष्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (वास्तोः) वसेरगारे णिच्च । ड० १ । ७० । इति वस निवासे तु न स च णित् । वास्तु-र्वसतेर्निवासकर्मणः—निरु० १२ । १६ । गृहस्य (पतिः) स्वामी (अनु) अनन्तरम् (वः) युष्मान् (जोहवीतु) अ० २ । १२ । ३ । ह्यतेर्यङ्लुकि लोट् । पुनः पुनराह्वयतु ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

सम् । वः । पृच्यन्ताम् । तन्वः । सम् । मनांसि । सम् । जं इति
 व्रता । सम् । वः । अयम् । ब्रह्मणः । पतिः । भगः । सम् । वः ।
 अजीगमत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानों ! (वः) तुम्हारी (तन्वः) विस्तृत विद्या
 (सम्) यथावत् (मनांसि) मनन सामर्थ्य (सम्) यथावत् (उ) और (वः)
 सब कर्म (सम्) यथावत् (पृच्यन्ताम्) मिले रहें । (अयम्) इस (ब्रह्म)
 ब्रह्माण्ड के (पतिः) पति (भगः) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमेश्वर]
 (वः) तुमको (वः) तुम्हारे हित के लिये (सम्) यथावत् (सम् अजीगमत्)
 मिलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर उत्तम विद्याये, उत्तम विचार, और
 उत्तम कर्म प्राप्त करके सुख भोगें । यह परमेश्वर कृत नियम है ॥ १ ॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हुदः ।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

सुम्-ज्ञापनम् । वः । मनसः । अथो इति । सुम्-ज्ञापनम् । हुदः
 अथो इति । भगस्य । यत् । श्रान्तम् । तेन । सम्-ज्ञापयामि । वः ।

१—(सम्) सम्यक् यथावत् (वः) युष्माकम् (पृच्यन्ताम्)
 पृची सम्पर्के—कर्मणिलोद् । संमिल्यन्ताम् (तन्वः) अ० १ । १ । विस्तृतविद्या
 दयानन्दभाष्ये यजु० १६ । ४४ । (सम्) (मनांसि) मननानि (सम्) (उ)
 अपि (व्रतानि) वरणीयानि कर्माणि (सम्) (वः) युष्मान् (अयम्) सर्व
 व्यापकः (ब्रह्मणः) बृहतो जगतः । अन्नस्य—निघ० २ । ७ (पतिः) रक्षक
 (भगवान्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः (वः) युष्मदर्थम् (सम् अजीगमत्) अ
 ६ । ३२ । २ । संगतान् कृतवान् ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारे (मनसः) मनन का (संक्षपनम्) विज्ञापन (अथो) और भी (हृदः) हृदय का (संक्षपनम्) संतोषक कर्म होवे । (अथो) और भी (भगस्य) भगवान् [की प्राप्ति] का (यत्) यो (आन्तम्) तप है, (तेन) उस कारण से (वः) तुमको (संक्षपयामि) मैं संतुष्ट-करता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—विद्वान् लोग पूर्ण विद्या प्राप्त करके शुद्ध हृदय से भगवान् की भक्ति करके संसार में विद्या प्रचार करें ॥ २ ॥

यथादित्या वसुभिः संवभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहणीयमा-
नाः । एवा त्रिणामन्नाहणीयमान इमान् जनान्त्संम-
नसस्कृधीह ॥ ३ ॥

यथा । आदित्याः । वसु-भिः । सम्-बभूवुः । मरुत्-भिः ।
उग्राः । अहणीयमानाः । एव । त्रि-नामन् । अहणीयमानः ।
इमान् । जनान् । सम्-मनसः । कृधि । इह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (उग्राः) तेजस्वी (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् [अथवा अदीन देव माता अदिति, पृथ्वी वा वेदवाणी के

२—(संक्षपनम्) ज्ञा भारणतोषणनिशामनेषु ज्ञापने स्तुतौ च—णिचि, ल्युट् । विज्ञापनं प्रकाशनम् (वः) युष्माकम् (मनसः) मननस्य विचारस्य (अथो) अपि च (संक्षपनम्) सन्तोषणम् (हृदः) हृदयस्य (अथो) (भगस्य) भगवतः परमेश्वरस्य (यत्) (अन्तम्) अमु तपसि खेदे च—भावे क । तपः । जितेन्द्रियत्वम् (तेन) कारणेन (संक्षपयामि) संतोषयामि । स्तौमि (वः) युष्मान् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (आदित्याः) अ० १।६।१। आङ् + दीपी दीप्तौ—यक् । यद्वा । अदिति—एय । प्रकाशमाना विद्वांसः । यद्वा । आदितेः अदीनाया देवमातुः पृथिव्या वेदवाण्या वा पुत्रवद्मानकर्तारः (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैः (संवभूवुः) सम् + भू सामर्थ्ये । पराक्रमिणो बभूवुः (मरुद्भिः) अ० १।२०।१। शत्रुमारकैः शूरैः (उग्राः) तेजस्विनः (अहणीयमानाः)

(१३५२)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७५ [२४८]

पुत्र समान मान करने वाले] पुरुष (अहणीयमानाः) सङ्कोच न करते हुए
(वसुभिः) उत्तम गुणों और (मरुद्भिः) शत्रुनाशक वीरों के साथ (संबन्धित)
पराकमी हुये हैं । (एव) वैसे ही (त्रिणामन्) हे तीनों कालों और तीनों
लोकों को भुक्ताने वाले परमेश्वर ! (अहणीयमानः) क्रोध न करता हुआ
(इमानि) इन सब (जनान्) जनों को (इह) यहां पर (संमनसः) एकमत
(कृधि) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से पूर्वज महात्मा विद्वानों से शिक्षा पाकर
उपकारक हुये हैं, इसी प्रकार मनुष्य त्रिलोकीनाथ परमात्मा की भक्ति के साथ
एकचित्त होकर परोपकार करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनिवारणायोपदेशः—शत्रु के हटाने का उपदेश ॥

निरुमुं नुदे ओकसः सपत्नी यः पृतन्यति ।

नैर्बाध्यै न हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥

निः । अमुम् । नुदे । ओकसः । स-पत्नः । यः । पृतन्यति ।

नैः - बाध्यै न । हविषा । इन्द्रः । एनम् । परा । अशरीत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—मैं (अमुम्) उस [शत्रु] को (ओकसः) उसके घर से
(निरुदे) निकालता हूँ, (यः सपत्नः) जो शत्रु (पृतन्यति) सेना चढ़ाता

अ० १ । ३५ । ४ । हणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । असंकुचन्तः (एव)
एवम् । तथा (त्रिणामन्) हे त्रयाणां लोकानां कालानां वा नामयितो वशयितः
परमेश्वर (अहणीयमानः) अकुप्यस्त्वम् (इमान्) अस्मदीयान् (संमनसः)
समानमनस्कान् । परस्परेनुरक्तचित्तान् (कृधि) कुरु (इह) अस्मिन् ग्रामन-
गरादौ ॥

१—(निरुदे) अहं निर्गमयामि (अमुम्) शत्रुम् (ओकसः) तस्य
गृहात् (सपत्नः) शत्रुः (यः) (पृतन्यति) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ ।

है । (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (एनम्) उसको (नैर्वाध्येन) अपने निर्विघ्न (हविषा) ग्राह्य व्यवहार से (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ १ ॥

भाषार्थ—सुपरीक्षित शूर वीरों के समान हम पुरुषार्थ करके अपने शत्रुओं को हटावे ॥ १ ॥

पुरमां तं परावतुमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।

यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

पुरमास् । तस् । परा-वतस् । इन्द्रः । नुदतु । वृत्र-हा । यतः ।

न । पुनः । आ-अयति । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहा) शत्रुओं वा अन्धकार का नाश करने वाला (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तम्) चोर को (परमाम्) अतिशय (परावतम्) दूर भूमि में (नुदतु) भेज देवे । (यतः) जहां से वह (शश्वतीभ्यः) बहुत (समाभ्यः) बरसों तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—राजा दुराचारी लोगों को दूर स्थान में कारागार के भीतर रक्खे ॥ २ ॥

इति पृथना-अच । कव्यध्वरपृथनस्यर्चिलोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इति इत्याकार-लोपः । पृथनां सेनामात्मन इच्छति (नैर्वाध्येन) ऋहलोर्ण्यत् पा० ३ । १ । १२४ । इति निर् + बाधृ लोडने-ण्यत् । प्रज्ञादिभ्यश्च पा० ५ । ४ । ३८ । इति स्वार्थे अण् । निर्वार्ध्येन । अर्वाधनीयेन (हविषा) ग्राह्येण व्यवहारेण (इन्द्रः) प्रतापी राजा (एनम्) शत्रुम् (परा) दूरे (अशरीत्) शृ हिंसायाम्-लुङ् । अशरीत् । पराङ्मुखं हतवान् ॥

२—(परमाम्) अतिशयिताम् (तम्) तर्द हिंसने-ड । तर्दकं चोरम् (परावतम्) अ० ३ । ४ । ५ । दूरगतां भूमिम् । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यतः) यस्या दूरभूमेः सकाशात् (न) निषेधे (पुनः) द्वितीयवारम् (आयति) आवर्तते (शश्वतीभ्यः) बहुभ्यः—निघ० ३ । १ । (समाभ्यः) संवत्सरेभ्यः ॥

एतु' तिस्रः परावत् एतु पञ्च जनाँ अति ।

एतु' तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति

शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

एतु' । तिस्रः । परा-वतः । एतु' । पञ्च' । जनान् । अति ।

एतु' । तिस्रः । अति । रोचना । यतः । न । पुनः । आ-अ-

यति । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः । यावत् । सूर्यः । असत् । दिवि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो पुरुष (तिस्रः) तीन [अपने मानुष स्थान, नाम और जाति रूप] (परावतः) उत्कृष्ट भूमियों [वा धामों] को (अति = अतीत्य) उल्लांघ कर (एतु) चले, और (पञ्च जनान्) पांच [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण, और पाचवें नीच योनि, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि] प्राणियों [की मर्यादा] को [उल्लांघकर] (एतु) चले । वह पुरुष (तिस्रः रोचनाः) तीन [जीव, प्रकृति और परमेश्वर की] रुचि योग्य विद्याओं को [अथवा, सूर्य, चन्द्र और अग्नि के] प्रकाशों को (अति = अतीत्य) उल्लांघ कर [वहाँ] (एतु) चला जावे, (यतः) जहाँ से वह (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) बहुत बरसों

३—(एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (परावतः)

म० २ । परा प्राधान्ये । मानुषस्थाननामजन्मरूपा उत्कर्षगता भूमीर्धामानि वा । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ६ । ३६ (एतु) (पञ्च जनान्) पञ्च जनाः, मनुष्यनाम—निघ० ३ । २ । पञ्च जनाः... गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षासीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौप-मन्यघो निषादः कस्मान्निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः—निरु० ३ । ८ । पञ्चभूतसम्बन्धिनः प्राणिनः । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चतुरो वर्णान् नीचयो-निपशुपक्ष्यादिकं पञ्चमं च (अति) अतीत्य (एतु) (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (अति) उल्लांघ्य (रोचनाः) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४६ । इति क्व दीप्तावभिप्रीतौच-युच् । जीवप्रकृतिपरमेश्वराणां रोचिका विद्याः । यद्वा ।

तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे, (यावत्) जब तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) अन्तरिक्ष में (असत्) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मानुषी मर्यादा को छोड़ कर महाघोर पातक करते हैं. उनकी तामसी वृत्ति हो जाती है, और वे जन्म जन्मान्तरों तक सदा दुःख सागर में डूबे रहते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—ऋग्वेद २। २७। ८, ९ ॥

पदपाठ में (रोचना) पद के स्थान पर सायणभाष्य के अनुसार (रोचनाः) ऐसा पद हमने माना है ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायेऽपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।

संप्रेक्षे अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

ये । एनम् । परि-सीदन्ति । सुस्-आदधति । चक्षसे । सुस्-प्रेक्षेः । अग्निः । जिह्वाभिः । उत् । एतु । हृदयात् । अधि ॥ १ ॥

भावार्थ—(ये) जो पुरुष (चक्षसे) दर्शन के लिये (एनम्) इस [अग्नि] की (परिषीदन्ति) सेवा करते और (समादधति) ध्यान करते हैं । (संप्रेक्षः) [उन करके] अच्छे प्रकार प्रकाशित किया हुआ (अग्निः) अग्नि (जिह्वाभिः) अपनी जिह्वाओं के सहित (हृदयात्) हमारे हृदय से (अधि) अधिकार पूर्वक (उदेतु) उदय होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य, बिजुली आदि अग्नि के गुणों को जानते हैं, उनसे अग्नि विद्या प्राप्त करके मनुष्य संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूर्यचन्द्राग्नीनां रोचमानाः प्रभाः (यावत्) यत्कालपर्यन्तम् (सूर्यः) लोकानां प्रेरक आदित्यः (असत्) भवेत् (दिवि) आकाशे ॥

१—(ये) पुरुषाः (एनम्) अग्निम् (परिषीदन्ति) सेवन्ते (समादधति) समाहितं कुर्वन्ति । ध्यायन्ति (चक्षसे) दर्शनाय (संप्रेक्षः) तैः प्रकर्षेण संदीपितः (अग्निः) सूर्यविद्युदादिरूपः (जिह्वाभिः) स्वज्वालाभिः (उदेतु) उद्गच्छतु (हृदयात्) अस्माकमन्तःकरणात् (अधि) अधिकृत्य ॥

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।

अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

अग्नेः । साम्-तपनस्य । अहम् । आयुषे । पदम् । आ । रभे ।

अद्धातिः । यस्य । पश्यति । धूमम् । उत्-यन्तम् । आस्यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सांतपनस्य) ताप गुण वाले (अग्नेः) अग्नि के (पदम्) प्राप्तियोग्य गुण को (आयुषे) आयु बढ़ाने के लिए (आरभे) प्रस्तुत करता हूँ, (यस्य) जिस [अग्नि] के (आस्यतः) मुख से (उद्यन्तम्) निकलते हुये (धूमम्) धूँयें को (अद्धातिः) सत्य जानने वाला पुरुष (पश्यति) देखता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शरीरस्थ अग्नि और प्रत्यक्ष अग्नि के गुण जान सके, शारीरिक बल बढ़ाते और अस्त्र शस्त्र आदि कला यन्त्रों में उसका प्रयोग करते हैं, वे सुख वृद्धि करके अपना जीवन बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

यो अस्य सुमिधं वेद क्षत्रियेण सुमाहिताम् ।

नाभिहूरे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । अस्य । सुम्-इधम् । वेद । क्षत्रियेण । सुम्-आहिताम् ।

२—(अग्नेः) सूर्यविद्युदादिरूपस्य (सांतपनस्य) संतपन-अण् । सम्पत्तपनयुक्तस्य (अहम्) शिल्पी (आयुषे) जीवनवर्धनाय (पदम्) प्रापणीय गुणम् (आ रभे) उपक्रमे (अद्धातिः) अद्धा-अतिः । अत सातत्यगमने-क्विप् धाञ् धारणे-क्विप् । अतं सततं गमनं ज्ञानं दधातीति अद्धा सत्यम् + अत सातत्यगमने-इन् । सत्यमतति गच्छति जानतीति । सत्यज्ञाता । मेधावी-निघ० ३ । १४५ । इति धूञ् कल्पने-मक् । अग्निनाद्र्काष्ठजातं पदार्थम् (उद्यन्तम्) उद्गच्छन्तम् (आस्यतः) अग्निमुखात् ॥

सू० ७६ [२४८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३५७)

न । अभि-हारे । पदम् । नि । दुधाति । सः । मृत्यवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (क्षत्रियेण) दुःख से बचाने वाले क्षत्रिय करके (समाहिताम्) संभाली हुई (अस्य) इस [अभि] की (समिधम्) प्रकाश किया को (वेद) जानता है, (सः) वह पुरुष (अभिहारे) कुटिल स्थान में (मृत्यवे) मृत्यु पाने के लिये (पदम्) अपना पैर (न) नहीं (निदधाति) जमाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर राजप्रबन्ध से शिल्प, कला, यन्त्र आदि में अभि का यथावत् प्रयोग किया जाता है, वहां मनुष्य मृत्यु के कारण दरिद्रता आदि से निर्भय रहते हैं ॥ ३ ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सुन्नां अवं गच्छति ।

अग्नेयः क्षत्रियो विद्वान्नामं गुह्यात्यायुषे ॥ ४ ॥

न । एनुस् । घ्नन्ति । परि-आयिनः । न । सुन्नान् । अवं । गच्छति ।
अग्नेः । यः । क्षत्रियः । विद्वान् । नामं । गुह्याति । आयुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [क्षत्रिय] को (पर्यायिणः) घेत्ने वाले शत्रु (न) नहीं (घ्नन्ति) मारते हैं, और (न) न वह (सुन्नान्) घात में बैठने वालों को (अवगच्छति) जानता है । (यः) जो (विद्वान्) विद्वान्

३—(यः) विद्वान् (अस्य) अग्नेः (समिधम्) प्रकाशक्रियाम् (वेद) वेत्ति (क्षत्रियेण) क्षत्रे राष्ट्रे साधुः । क्षत्राद् घः । पा० ४ । १ । १३८ । इति क्षत्र-घ, जातौ । राह्वा (समाहिताम्) सम् + आधा-क्त । सम्यक् निष्पादिताम् (न) निषेधे (अभिहारे) हृ कौटिल्ये—घञ् । अतिकुटिलस्थाने । भयास्पदे (पदम्) (निदधाति) निक्षिपति (सः) पुरुषः (मृत्यवे) मृत्युं प्राप्तुम् ॥

४—(न) निषेधे (एनम्) क्षत्रियम् (घ्नन्ति) हिंसन्ति (पर्यायिणः) परि + इण्—घञ्, पर्याय—इति । परितो गमनशीलाः शत्रवः (न) (सुन्नान्) घातस्थान् शत्रून् (अवगच्छति) अवबुध्यते (अग्नेः) भौतिकस्य पावकस्य

(१३५८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७७ [२५०]

(क्षत्रियः) क्षत्रिय (अग्नेः) अग्नि के (नाम) नाम को (आयुषे) आयु बढ़ाने के लिये (गृह्णाति) लेता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो राजा अग्नि के गुण जान कर कला कुशल होकर अपना बल बढ़ाता है वह शत्रुओं से सदा निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ गोपा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

संपदाप्राप्त्युपदेशः—संपदा पाने का उपदेश

अस्थुः द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
 आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थामन्यश्वौ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥
 अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् ।
 इदम् । जगत् । आ-स्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाग्निः ।
 अश्वान् । अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भावार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा हुआ है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी हुई है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्) ठहरा हुआ है । (पर्वताः) सब पर्वत (आस्थाने) विश्रामस्थान में (अस्थुः) ठहरे हुये हैं । (अश्वान्) घोड़ों को (स्थाग्नि) स्थान पर (अतिष्ठिपम्) मैंने खड़ा कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य घोड़े आदि पशुओं को रस्सी से बांधता है, वैसे ही सूर्य आदि लोक परमेश्वर नियम से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं, वैसे ही मनुष्यों को धार्मिक कर्मों के लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये ॥ १ ॥

(यः) (क्षत्रियः) राजा (विद्वान्) (नाम) स्तावकं नामधेयम् (गृह्णाति) उच्चारयति (आयुषे) जीवनवर्धनाय ॥

१—(अस्थात्) तिष्ठति स्म (द्यौः) सूर्यलोक (अस्थात्) (पृथिवी) (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) (आस्थाने) विश्रामस्थाने (पर्वताः) शैलाः (अस्थुः) स्थिता अभवन् (स्थाग्निः) आतो मनिन्कनिबू० । पा० ३ । २ । ७४ । इति घ्रा—मनिन् । स्थितिस्था (अश्वान्) तुरङ्गान् (अतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ग्रन्थात् लुङि चङि रूपम् स्थापितवानस्मि ॥

सू० ७७ [२५०]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१३५८)

य उदानं पुरायणं य उदानन्यायनम् ।

आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

यः। उत्-आनं। पुरा-अयनम् । यः। उत्-आनं। नि-अयनम्

आ-वर्तनम् । नि-वर्तनम् । यः। गोपाः । अपि । तम् । हुवे ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जिस (गोपाः) भूमिपालक राजा ने (परायणम्) निकल जाने का सामर्थ्य (उदानं) पाया है, (यः) जिस ने (न्ययनम्) भीतर जाने का सामर्थ्य, और (यः) जिसने (आवर्तनम्) घूमने और (निवर्तनम्) लौटने का सामर्थ्य (उदानं) पाया है, (तम्) उसको (अपि) ही (हुवे) मैं बुलाता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति निपुण और कला कुशल होवे, उसका आदर सत्कार सब मनुष्य करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १६ म० ५ ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्यावृतः ।

सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

जात-वेदः । नि । वर्तय । शतम् । ते । सन्तु । आ-वृतः ।

सहस्रम् । ते । उप-आवृतः । ताभिः । नः । पुनः । आ । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बहुत धन वाले पुरुषः ! [हमारी ओर] (नि वर्तय) लौट आ । (ते) तेरे (आवृतः) आगमन के उपाय (शतम्)

२—(यः) बलवान् पुरुषः (उदानं) उत् + अश्न व्याप्तौ संघाते च लिटि एश्वे, एशो लुक्, व्रश्चादिना षत्वम् । भूलां जशोऽन्ते । पा० ८ । २ । ३६ । इति ङत्वम् । वाचसाने । पा० ६ । ४ । ५६ । इति टत्वम् । आनं, व्याप्तिकर्मा-निघ० २ । १८ । उत्कर्षेण व्याप प्राप (परायणम्) बहिर्गमनसामर्थ्यम् (यः) (उदानं) (न्ययनम्) सांहितको दीर्घः । अन्तर्गमनम् (आवर्तनम्) चक्रवत् परिक्रमणम् (निवर्तनम्) निवृत्य गमनम् (यः) (गोपाः) गो + पा रक्षणे-विच् । भूमिपालकः । राजा (अपि) एव (तम्) तादृशम् (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(जातवेदः) जातानि वेदांसि धनानि यस्य तत्संबुद्धौ हे महाधनिन् पुरुष (नि वर्तय) निवृत्य आगच्छ (शतम्) बहुसंख्याकाः (ते) तव (सन्तु)

सौ, और (ते) तेरे (उपावृतः) समीप में भ्रमण मार्ग (सहस्रम्) सहा
(सन्तु) होवें । (ताभिः) उन क्रियाओं से (नः) हमें (पुनः) अवश्य (कृधि) स्वीकार कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अपने विद्याबल से अनेक रक्षा के उपाय जानते हैं, मनुष्य उनकी सहायता प्राप्त करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-३ ॥ दस्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥ ✓

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ के धर्म का उपदेश ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः ।

जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

तेन । भूतेन । हविषा । अयम् । आ । प्यायताम् । पुनः । जायाम् । अस्मै । आ-अवाक्षुः । ताम् । रसेन । अभि । वर्धताम् ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह पुरुष (तेन) उस [प्रसिद्ध] (भूतेन) बहुत (हविषा) ग्राह्य अन्न के साथ (आ) सब ओर से (पुनः) अवश्य (प्यायताम्) बढ़ती करे । (अस्मै) इस पुरुष को (याम् जायाम्) जो वीरों के उत्पन्न करने वाली पत्नी (आवाक्षुः) उन लोगों ने प्राप्त करायी है, (ताम् अभि) उस पत्नी के लिये वह [पति] (रसेन) अनुराग से वा पराक्रम से (वर्धताम्) बढ़े ॥ १ ॥

भावार्थ—अन्न आदि पदार्थों के उपार्जन का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करने माता पिता आचार्य आदि की अनुमति से स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुरुषार्थ पूर्वक उन्नति करें ॥ १ ॥

(आवृतः) वृत्त-क्रिप् । आवर्तनानि । आगमनोपायाः (सहस्रम्) बहुप्रकार (ते) (उपावृतः) समीपदेशप्राप्त्युपायाः (ताभिः) आवृद्धिरुपावृद्धिश्च (नः) अस्मान् (पुनः) अवधारणे (आकृधि) स्वीकुरु ॥

१—(तेन) प्रसिद्धेन (भूतेन) प्रभूतेन (हविषा) ग्राह्येण, अन्नेन (अयम्) वरः । उपलक्षणेन कन्यापि (आ) समन्तात् (प्यायताम्) वर्धताम् (पुनः) अवधारणे (जायाम्) अ० ३ । ४ । ३ । जनयति वीरान् तां वीरजननीं पत्नीम् (याम्) (अस्मै) वराय (आवाक्षुः) वह प्राण्येलुडि रूपम् । प्रापित्व अन्तः, मातापिआचार्यादयः (ताम्) पत्नीम् (रसेन) अनुरागेण । वीरभावेन (अभि) अभिरभागे । पा० १ । ४ । ६१ । इति इत्थं भूताद्ययाने कर्मप्रवचनीयत्वम् । प्रति (वर्धताम्) प्रवृद्धो भवतु ॥

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।

रय्या सहस्रवर्चसैर्मौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

अभि । वर्धताम् । पयसा । अभि । राष्ट्रेण । वर्धताम् । रय्या ।

सहस्रवर्चसा । इमौ । स्ताम् । अनुपक्षितौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पयसा) प्राप्ति योग्य अन्न से और (राष्ट्रेण) राज्य वा पेश्वर्य से (अभि) पत्नी के लिये (वर्धताम्) पति बढ़े, और (अभि) पति के लिये (वर्धताम्) पत्नी बढ़े । (सहस्रवर्चसा) सहस्र प्रकार के तेज वाले (रय्या) धन से (इमौ) यह दोनों (अनुपक्षितौ) घटती बिना [सदा भरपूर] (स्ताम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस घर में स्त्री पुरुष प्रसन्न रह कर पुरुषार्थ पूर्वक परस्पर सहाय करते हैं, वहां सब प्रकार की सम्पदा सदा विराजमान रहती है ॥ २॥

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।

त्वष्टा सहस्रमायूषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

त्वष्टा । जायाम् । अजनयत् । त्वष्टा । अस्यै । त्वाम् ।

पतिम् । त्वष्टा । सहस्रम् । आयूषि । दीर्घम् । आयुः ।

कृणोतु । वाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर ने [तेरे हित के लिये] (जायाम्) वीरों का उत्पन्न करने वाली पत्नी को, और (त्वष्टा) विश्वकर्मा

२—(अभि) पत्नीं प्रति (वर्धताम्) पतिः प्रवृद्धो भवतु (पयसा) प्राप्तव्येनाग्नेन । पयः, अन्नम्—निघ० २।७ (अभि) पतिं प्रति (राष्ट्रेण) राज्येन पेश्वर्येण (वर्धताम्) वधूः प्रवृद्धा भवतु (रय्या) रयिः, धननाम—निघ० २।१०। (सहस्रवर्चसा) अपरिमिततेजोयुक्तेन (इमौ) जायापती (स्ताम्) भवताम् (अनुपक्षितौ) अनुपक्षिताौ । सम्पूर्णकामा ॥

३—(त्वष्टा) अ० २।५।६। विश्वकर्मा परमेश्वरः । तुभ्यमिति शेषः (जायाम्) म० १। वीरजननी वधूम् (अजनयत्) उदपादयत् (त्वष्टा) (अस्यै)

ने (अस्यै) इस पत्नी के लिये (त्वाम्) तुझे (पतिम्) पति (अजनयत्) उत्पन्न किया है । (त्वष्टा) वही विश्वकर्मा (सहस्रम् = सहस्राणि) बल देने वाले (आयूषि) जीवन साधन और (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वाम्) तुम दोनों के लिये (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष परमेश्वर की आज्ञा मान कर परस्पर मिल कर रहे हैं, वे अनेक प्रकार की वृद्धि करके अति आनन्द और कीर्ति पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-३ ॥ नभसस्पतिर्देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ षडक्षरा पञ्चपदा गायत्री ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सर्वसम्पत्ति पाने का उपदेश ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु ।

असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥

अयम् । नः । नभसः । पतिः । सम्-स्फानः । अभि । रक्षतु ।
असमातिम् । गृहेषु । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (नभसः) सूर्यलोक का (पतिः) स्वामी परमेश्वर (संस्फानः) यथावत् बढ़ता हुआ (नः) हमारे लिये (नः) हमारे

वधूहिताय (त्वाम्) विद्वांसम् (पतिम्) भर्तारम् (त्वष्टा) (सहस्रम्) सहस्र बलनाम—निघ० २ । ६ । सहः + रा दाने-क, बहुवचनस्यैकवचनम् । सहस्राणि । बलप्रदानि (आयूषि) प्राप्याणि जीवनसाधनानि (दीर्घम्) चिरम् । कीर्ति-युक्तम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (वाम्) युवाभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याम् ॥

१—(अयम्) सर्वव्यापकः (नः) अस्मदर्थम् (नभसः) अ० ४ । १५ । ३ । एह बन्धने-असुन् । हस्य भः । नभ आदित्यो भवति—निघ० २ । १४ । सूर्यस्य (पतिः) पालयिता परमेश्वरः (संस्फानः) स्फायी वृद्धौ-क, आनन्दरूपम् । सम्यक् स्फीतः प्रवृद्धः (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पालु (असमातिम्) धसेस्तिः । उ० ४ । १८० । माड माने-ति, यद्वा, मनु अवबोधने-क्तिन्, दीर्घश्च

सू० ७८ [२५२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(गृहेषु) घरों में (असमातिम्) असामान्य [विशेष] लक्ष्मी वा बुद्धि (अभि)
सब ओर से (रक्षतु) रक्खे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य सूर्य आदि लोकों के स्वामी परमात्मा की महिमा वि-
चारते हुये विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति से असाधारण धन और बुद्धि
पाकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

त्वं नो नभसस्पतु ऊर्जं गुहेषु धारय ।

आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

त्वम् । नः । नभसः । पते । ऊर्जम् । गुहेषु । धारय । आ ।

पुष्टम् । एतु । आ । वसु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नभसस्पते) हे सूर्य लोक के स्वामी (त्वम्) तू (नः)
हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) बल बढ़ाने वाला अन्न (धारय) धारण
कर । (पुष्टम्) पुष्टि (आ) और (वसु) धन (आ एतु) चला आवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके जो मनुष्य
सूर्य की वृष्टि ताप आदि से उपकार लेते हैं, वे ही सब प्रकार की वृद्धि और
धन प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

देवं संस्फान सहस्रापोषस्यैशिषे । तस्य नो रास्व

तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

देवं । सम्-स्फान् । सहस्र-पोषस्यै । ईशिषे । तस्य । नः ।

रास्व । तस्य । नः । धेहि । तस्य । ते । भक्ति-वांसः । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(संस्फान) हे सब प्रकार वृद्धि वाले (देव) प्रकाश स्वरूप

समानस्य सः । असमानां विशेषां मां लक्ष्मीं मतिं बुद्धिं वा (गृहेषु) गृहेषु
(नः) अस्माकम् ॥

२—(त्वम्) (नः) अस्माकम् (नभसस्पते) हे सूर्यलोकस्य पालक
(ऊर्जम्) बलकरमन्त्रम् (गृहेषु) (धारय) स्थापय (आ) चार्थे (पुष्टम्)
पुष्टिम् । वृद्धिम् (एतु) आगच्छतु (वसु) धनम् ॥

३—(देव) हे प्रकाशमय (संस्फान) सम्+स्फायी वृद्धी-क्त, छान्दसं

परमात्मन् ! (सहस्रपोषस्य) सहस्र प्रकार के पोषण का (ईशिषे) तू स्वामी है।
 (तस्य) उस [पोषण] का (नः) हमें (रास्व) दान कर, (तस्य) उसका
 (नः) हमारे लिये (धेहि) धारण कर, (तस्य ते) उस तेरी (भक्तिवांसः)
 भक्तिवाले (स्याम) हम होंवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति पूर्वक पुरुषार्थ करके उसके अन्न
 भंडार से सब प्रकार के अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ परमात्मा देवता ॥ १, २ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमात्ममहिमोपदेशः—परमात्मा की महिमा का उपदेश ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

अन्तरिक्षेण । पतति । विश्वा । भूता । अव-चाकशत् । शुनः ।
 दिव्यस्य । यत् । महः । तेन । ते । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (अन्तरिक्षेण) आकाश के समान अन्तर्यामी
 रूप से (विश्वा) सब (भूता) जीवों को (अवचाकशत्) अत्यन्त देखता हुआ
 (पतति) ईश्वर होता है । (शुनः) उस व्यापक (दिव्यस्य) दिव्य स्वरूप

रूपम् । हे सस्यक् स्फीत । प्रवृद्ध (सहस्रपोषस्य) अपरिमितपोषणस्य
 (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (तस्य) पोषस्य (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) दानं
 कुरु (तस्य) (नः) (धेहि) धारणं कुरु (तस्य) तथाविधस्य (ते) तव,
 परमेश्वरस्य (भक्तिवांसः) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५।१।
 १०६ । इति भक्ति-वनिप् मत्वर्थे, सकारोपजनश्छान्दसः । भक्तिवानः श्रद्धावन्तः
 (स्याम) भवेम ॥

१—(अन्तरिक्षेण) अ० १ । ३० । ३ । आकाशवदन्तर्यामीरूपेण (पतति)
 पत गतौ ऐश्वर्ये च । ईश्वरो भवति स परमात्मा (विश्वा) सर्वाणि (भूता)
 भूतजातानि (अवचाकशत्) पश्यति कर्मा-निघ० ३ । ११ । अव+काशृ दीप्तौ
 -यङ्लुकि, शतरिच्छान्दसो इस्वः । भृशं पश्यन् (शुनः) शुन गतौ—क्रिप।

सू० ८० [२५३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३६५)

परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है, (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर घट घट घासी होकर सब को कर्मों का फल देता है, उसकी आज्ञा पालन करके हम सदा धर्म आचरण करें ॥ १ ॥

ये त्रयः कालकाञ्चा दिवि देवा इव श्रिताः ।

तान्तसर्वानहू ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

ये । त्रयः । कालकाञ्चाः । दिवि । देवाः-इव । श्रिताः । तान् । सर्वान् । अहूँ । ऊतये । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (कालकाञ्चोः) काल अर्थात् सब की संख्या करने वाले परमेश्वर के प्रकाश (दिवि) आकाश में (श्रिताः) आश्रित (त्रयः) तीन (देवाः इव) देवताओं [अग्नि, वायु और सूर्य-निरु० ७।५] के समान वर्तमान हैं । (तान्) उन (सर्वान्) सब [परमेश्वर के प्रकाशों] को (अस्मै) इस [जीव] के हित के लिये (ऊतये) रक्षा करने और (अरिष्टतातये) क्षेम करने को (अहूँ) मैं ने बुलाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्वयं प्रकाश स्वरूप परमात्मा की महिमामें सर्वत्र साक्षात् करके अपनी रक्षा करें ॥ २ ॥

व्यापकस्य (दिव्यस्य) दिव्य क्रीडादिषु—कथम् । मनोहरस्य । परमेश्वरस्य (यत्) (महः) महत्त्वम् (तेन) महत्त्वेन (ते) तुभ्यं परमेश्वराय (हविषा) भक्त्या (विधेम) परिचरणं कुर्याम ॥

२—(ये) (त्रयः) त्रिसंख्याकाः (कालकाञ्चाः) कालक + अञ्चाः । कल गतौ संख्यानं च गन्तात्—पञ्चाद्यच्, स्वार्थे कन् । यद्वा । एबुल्लुचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति कल-एबुल् । अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणादिषु—घञ् । कालकस्य कालस्य सर्वगणकस्य परमेश्वरस्य अञ्जाः प्रकाशाः (दिवि) आकाशे (देवः) यो देवः सा देवता—निरु० ७ । १५ । तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः—निरु० ७ । ५ । (इव) यथा (श्रिताः) आश्रिताः (तान्) प्रसिद्धान् (सर्वान्) कालकाञ्चान् (अहूँ) अ० ४ । २७ । १ । हेञ् आह्वाने—लुङ् । आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षार्थम् (अस्मै) अस्य जीवस्य हिताय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । अरिष्ट-तातिल् करोत्यर्थे । क्षेमकरणाय ॥

अप्सु ते जन्मं दिवि ते सुधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते
पृथिव्याम् । शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा
विधेम ॥ ३ ॥

अप्-सु । ते । जन्मं । दिवि । ते । सुध-स्थम् । समुद्रे
अन्तः । महिमा । ते । पृथिव्याम् । शुनः । दिव्यस्य । यत्
महः । तेन । ते । हविषा । विधेम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(अप्सु) प्राणों में [हे परमेश्वर] (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव है, (दिवि) सूर्य मण्डल में (ते) तेरा (सुधस्थम्) सहवास (समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ते) तेरा (महिमा) महिमा है । (शुनः) व्यापक (दिव्यस्य) दिव्यस्वरूप परमेश्वर (यत् महः) जो महस्व है (तेन) उसी [महस्व] से (ते) तेरे लिये [परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर को परमाणु से लेकर स्थूल से सूक्ष्म पदार्थों में साक्षात् करते हैं, वे योगी जन आत्मबल प्राप्त करके सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगर्भधारणोपदेशः—उत्तम गर्भ धारण का उपदेश ॥

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहृस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥
यन्ता । असि । यच्छसे । हस्तौ । अप । रक्षांसि । सेधसि ।
प्र-जाम् । धनम् । च । गृह्णानः । परि-हृस्तः । अभूत् । अयम् ॥ १ ॥

२—(अप्सु) प्राणेषु—दयानन्दभाष्ये यजु० ८।२५ (ते) तब परमेश्वरस्य (जन्म) प्रादुर्भावः (दिवि) दीप्यमाने सूर्यमण्डले (ते) (सुधस्थम्) सहस्थानम् (समुद्रे) अन्तरिक्षे—निघ० १।३ (अन्तः) मध्ये (महिमा) प्रभावः (ते) (पृथिव्याम्) भूमौ । अन्य द्रुगतम् म० ॥१॥

सू० ८१ [२५४]

षष्ठै कार्डस् ॥ ६ ॥

(१३६७)

भाषार्थ—[हे पुरुष] ! तू (यन्ता) नियम में चलने वाला (असि) है, तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को [सहायता के लिये] (यच्छसे) देने वाला है, तू (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अप सेधसि) हटाता है । (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन को (गृह्णानः) सहारा देते हुये (अयम्) यह आप (परिहस्तः) हाथ का सहारा देने वाले (अभूत्) हुये हैं ॥१॥

भाषार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सब दरिद्रता आदि विघ्नों को हटा कर प्रजा और धन की रक्षा करके गृहस्थ आश्रम चलाने में समर्थ होते हैं ॥१॥

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।

मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

परि-हस्त । वि । धारय । योनिम् । गर्भाव । धातवे । मर्यादे ।

पुत्रम् । आ । धेहि । तम् । त्वम् । आ । गमय । आ-गमे ॥२॥

भाषार्थ—(परिहस्त) हे हाथ का सहारा देने वाले पुरुष ! (योनिम्) घर के (गर्भाय धातवे) गर्भ पुष्ट करने के लिये (वि) विशेष करके (धारय) संभाल । (मर्यादे) हे मर्यादायुक्त पत्नी ! (पुत्रम्) [गर्भस्थ] कुल शोधक सन्तान को (आ) भले प्रकार से (धेहि) पुष्ट कर । (त्वम्)

१—(यन्ता) नियामकः । जितेन्द्रियः (असि) (यच्छसे) पाप्मा-धमास्थाम्नादाय ० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने-यच्छादेशः, आत्मनेपदं छान्दसम् । ददासि सहायार्थम् (हस्तौ) (रक्षांसि) दरिद्र्यादिविघ्नान् (अप सेधसि) अपगमयसि (प्रजाम्) पुत्रभृत्यादिरूपाम् (धनम्) सुवर्णा-दिकम् (च) (गृह्णानः) अवलम्बमानः (परिहस्तः) परिगतः प्रसृतः परोप-काराय हस्तो यस्य सः पुरुषः (अभूत्) (अयम्) प्रसिद्धो भवान् ॥

२—(परिहस्त) हे प्रसृतहस्त सहायार्थम् (वि) विशेषेण (धारय) स्थापय (योनिम्) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (गर्भाय) कर्मणि चतुर्थी । गर्भम् (धातवे) धाजस्तुमर्थे तवेत् । धातुं पोषयितुम् (मर्यादे) मर्यादा-अर्श आद्यच् । हे मर्यादायुक्ते पति (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५ । गर्भस्थं कुलशोधकं

(१३६८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८१ [२५४]

तु (तम्) उस [सन्तान] को (आगमे) योग्य समय पर (आगम्य) उत्पन्न कर ॥ २ ॥

भावार्थ—उचित गृह आदि से यथावत् गर्भरक्षा करके पति पक्ष सावधान रहें जिससे बालक पूरे दिनों में उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

यं परिहृस्तमबिभ्रदितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नात् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥
यम् । परि-हृस्तम् । अबिभः । अदितिः । पुत्र-काम्या । त्वष्टा । तम् । अस्यै । आ । बध्नात् । यथा । पुत्रम् । जनात् । इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पुत्रकाम्या) उत्तम सन्तान की कामना वाली (अदितिः) अखण्डव्रता स्त्री ने (यम्) जिस [जैसे] (परिहृस्तम्) हाथ का सहाय देने वाले पति को (अबिभः) धारण किया है । (त्वष्टा) विश्वकर्मा व शिल्पी परमात्मा (तम्) उस [वैसे ही पति] को (अस्यै) इस पत्नी के लिये (आ बध्नात्) नियमबद्ध करे (यथा) जिससे वह पत्नी (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (जनात्) उत्पन्न करे, (इति) यही प्रयोजन है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री पुरुष वेदविहित रीति से प्रेम के साथ उत्तम सन्तान उत्पन्न करते रहे हैं, उसी प्रकार से स्त्री पुरुष परस्पर अनुराग के साथ श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करें ॥ ३ ॥

सन्तानम् (आ) समन्तात् (धेहि) पोषय (तम्) गर्भम् (त्वम्) (आगम्य) उपादय (आगमे) आगमनकाले । उत्पत्तियोग्यस्थाने ॥

३—(यम्) यादृशम् (परिहृस्तम्) परोपकाराय प्रसृतकरं पुरुषम् (अबिभः) दुभृज् धारणपोषणयोः—लङ्घि रूपम् । धृतवती (अदितिः) । अ० २ । ६८ । ४ । दो अखण्डव्रते-क्तिन् । अखण्डव्रता स्त्री (पुत्रकाम्या) काम्यञ्च पा० ३ । १ । ६१ इति पुत्र-काम्यञ्च इच्छार्थे । पुत्रं कुलशोधकं सन्तानम् आत्मनमिच्छन्ती (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । विश्वकर्मा परमात्मा (तम्) तादृश पतिम् (अस्यै) पत्नीहिताय (आ) समन्तात् (बध्नात्) नियमे बध्नात् (यथा) यत्नेन प्रकारेण (पुत्रम्) कुलशोधकं सन्तानम् (जनात्) जनेर्गर्भेण जनिष्येति आडागमः । ह्यन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । आर्ध्वानुक्त्वात् शिलोपा जनयेत् ॥

सू० ८२ [२५५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३६८)

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेशः ॥

आगच्छन् आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।

इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

आ-गच्छतः । आ-गतस्य । नाम । गृह्णामि । आ-यतः ।

इन्द्रस्य । वृत्र-घ्नः । वन्वे । वासवस्य । शत-क्रतोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आयतः) अति यत्नशाली वा नियमवान् मैं (आगच्छतः) आते हुये और (आगतस्य) आये हुये पुरुष का (नाम) नाम [कीर्ति] (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ । (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशक, (वासवस्य) बहुत धन वाले और (शतक्रतोः) सैकड़ों कर्मों वाले (इन्द्रस्य) संपूर्ण ऐश्वर्य वाले परमात्मन की (वन्वे) मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न करें जिससे उनके आचरण वर्तमान और पूर्वज महात्माओं के समान धार्मिक होवे ॥ १ ॥

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनो हतुः पृथा ।

तेन मामब्रवीद् भगौ जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

येन । सूर्याम् । सावित्रीम् । अश्विनी । ज-हतुः । पृथा । तेन ।

माम् । अब्रवीत् । भगः । जायाम् । आ । वहतात् । इति ॥ २ ॥

१—(आगच्छतः) इदानीं वर्तमानस्य (आगतस्य) भूतकाले प्राप्तस्य पुरुषस्य (नाम) कीर्तनम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (आयतः) (आङ् + यति प्रयत्ने—अच्, यद्वा । आङ् + यम नियमने-क्त । अतिप्रयत्नशाली । प्रशस्त-नियमवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशस्य (वन्वे) वनु याचने । अहं याचे (वासवस्य) वसु-अण् । वसु धनम्-निघ० २ । १० । वसूनि धनानि सन्ति यस्य तस्य (शतक्रतोः) क्रतुः कर्म-निघ० २ । १ । बहुकर्मयुक्तस्य ॥

भाष्यार्थ—(येन पथा) जिस मार्ग से (अश्विना) दिन और रात (सावित्रीम्) सूर्य सम्बन्धी (सूर्याम्) ज्योति को (ऊहतुः) प्राप्त किया है (तेन) उसी [मार्ग से] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली भार्या को (आ) मर्यादा पूर्वक (वहतात्) तू प्राप्त कर, (इति) यह बात (भगः) बड़े पेश्वर्यवाले भगवान् ने (माम्) मुझसे (अब्रवीत्) कही है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने आज्ञा दी है कि जिस प्रकार दिन और रात सूर्य की गति के आश्रित होकर उपकार करते हैं इसी प्रकार तू पुरुष धर्म के निम्न ही विवाह संस्कार करें ॥ २ ॥

यस्तैऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।

तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

यः । ते । अङ्कुशः । वसु-दानः । बृहन् । इन्द्र । हिरण्ययः ।

तेन । जनि-यते । जायाम् । मह्यम् । धेहि । शची-पते ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(इन्द्र) हे बड़े पेश्वर्यवाले जगदीश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (अङ्कुशः) गणना व्यवहार [अथवा, अङ्कुश, दुष्कर्मों का दण्ड] (बृहन्) बहुत बड़ा और (हिरण्ययः) ज्योति स्वरूप और (वसुदानः) धन देने वाला है । (तेन) उसी के द्वारा, (शचीपते) धारणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक

२—(येन) (सूर्याम्) सूर्य-अर्शआद्यच् सूर्यदीप्तिम् (सावित्रीम्) सावित्र-अण्, ङीप् । सूर्यसम्बन्धिनीम् (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । अहोरात्रौ (ऊहतुः) वह प्रापणे-लिट् । प्राप्तवन्तौ (पथा) मार्गेण (तेन) पथा (माम्) (अब्रवीत्) (भगः) पेश्वर्यवान् परमेश्वरः (जायाम्) वीरजननी पत्नीम् (आ) मर्यादायाम् (वहतात्) वह । प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

३—(यः) (ते) तव (अङ्कुशः) सानसिचर्णसि० । उ० ४ । १०७ । इति अङ्क संख्याकरणे, यद्वा, अकि लक्षणे-उशच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इत्यन्तोदात्तः । गणनाव्यवहारः । दुष्कर्मणां दण्डायास्त्रभेदः (वसुदानः) वृद्धातेत्युट् । धनदाता (बृहन्) महान् (इन्द्र) परमेश्वर्यवान् जगदीश्वर (हिरण्ययः) श्रुत्यवास्तव्यवास्त्व० । पा० ६ । ४ । १७५ । इति हिरण्यशब्दात् मयदि मत्तोपः । हिरण्यमयः । तेजोमयः (तेन) अङ्कुशेन जनीयते) धुप

सू० ८३ [२५६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३७१)

परमेश्वर ! (जनीयते) पत्नी की इच्छा वाले (मह्यम्) मुझे (जायाम्) वीरों
को उत्पन्न करने वाली पत्नी (धेहि) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के उत्तम २ गुणों को अपने में धारण करके
विद्यावान् और धनवान् होकर पति पत्नी को और पत्नी पति को अपने सदृश
ग्रहण करें ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वैद्यो देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ जगती छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अपचित् : प्र पतत सुपर्णा वसुतेरिव ।

सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपौच्छतु ॥ १ ॥

अपचितः । प्र । पतत । सु-पर्णाः । वसुतेः-इव । सूर्यः । कृणोतु ।

भेषजम् । चन्द्रमाः । वुः । अप । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपचितः) हे सुख नाश करने वाली गंड माला आदि
पीड़ाओं ! (प्र पतत) चली जाओ, (सुपर्णाः इव) जैसे शीघ्रगामी पक्षी
[श्येन] (वसतेः) अपनी वसती से । (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला [वैद्य

आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति जनि-क्यच्, शतृ । जनिर्जाया तामात्मन
इच्छते पुरुषाय (जायाम्) वीरजननीम् (मह्यम्) (धेहि) देहि । प्रयच्छ
(शचीपते) शच, घाञि—इन्, डीप् । शची वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । कर्म
नाम—२ । १ । प्रज्ञानाम । ३ । ६ । वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा रत्नक परमेश्वर ॥

१—(अपचितः) अप पूर्वाच् चिनोतेः—किप् । हे सुखनाशिका गण्ड-
मालादिपीडाः (प्र पतत) प्रकर्षेण निर्गच्छत (सुपर्णाः) अ० १ । २४ । १ । शोभन-
पतनः शीघ्रगामी पक्षी (वसतेः) वहिष्यत्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० ।
इति वस निवासे—अति । गृहात् नीडात् (इव) यथा (सूर्यः) प्रेरको वैद्यः

वा सूर्य लोक] (भेषजम्) औषध (कृणोतु) करे, और (चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला [वैद्य वा चन्द्र लोक] (वः) तुम को (अप उच्छ्रुतु) निकाल देवे ॥

भावार्थ—जैसे सदैव गंड माला आदि रोगों को सूर्य वा चन्द्रमा की किरणों द्वारा वा अन्य औषधों से अच्छा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्ति से अविद्या का नाश करके सुखी होवे ॥ १ ॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।

सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

एनी । एका । श्येनी । एका । कृष्णा । एका । रोहिणी इति । द्वे इति । सर्वासाम् । अग्रभम् । नाम । अवीर-घ्नीः । अप । इतनु ॥

भाषार्थ—(एका) एक [गण्डमाला आदि] (एनी) चितकवर्ण, (एका) एक (श्येनी) श्वेतवर्ण, (एका) एक (कृष्णा) काली और (द्वे) दो (रोहिणी) लाल रंग हैं । (सर्वासाम्) सब [गण्डमाला आदि पीड़ाओं]

सूर्यलोको वा स्वकिरणद्वारा (कृणोतु) करोतु (भेषजम्) चिकित्सनम् (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । आह्लादकरो वैद्यश्चन्द्रलोको वा स्वकिरणद्वारा (वः) युष्मान् (अपोच्छ्रुतु) उच्छ्री विवासे, अपवालयतु । अपवर्जयतु ॥

२—(एनी) हसिमृगिण्० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ—तन् । वर्णावुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३६ । इति डीप्, तस्य च नः । चित्रवर्णा (एका) गण्डमालादिपीडा (श्येनी) दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति श्यैङ् गतौ—इतन् । पूर्ववद् डीप्, तस्य च नः । श्वेतवर्णा (एका) (कृष्णा) कृष्णवर्णा (एका) (रोहिणी) रोहितशब्दस्य पूर्ववद् डीप् नकारौ । रोहिण्यौ । लोहितवर्णे वातपित्तश्लेष्मवशाद् वर्णनानात्वाद् एतासां नानात्वम् (सर्वासाम्) अपचिताम् (अग्रभम्) अहमग्रहीषम् (नाम) प्रसिद्धौ (अवीरघ्नीः) बहुल छन्दसि । पा० ३ । २ । ८६ । इति वीर + हन वधे—क्विप् । ऋन्नेभ्योऽडीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति डीप् । अलोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । अकार लोपः वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अवीरान् कातरान्

सू० ८३ [२५६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३७३)

हन्त्यः का (नाम) नाम (अगृभम्) मैंने ग्रहण किया है, (अवीरघ्नीः) अवीरों कातारों के नाश करती हुई (अपहतन) तुम चली जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार चिकित्सक रोग का वात पित्त श्लेष्म आदि निदान समझ कर गंडमाला आदि रोगों की निवृत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कुवासनाओं का कारण समझ कर उनका नाश करे ॥२॥

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।

ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

असूतिका । रामायणी । अप-चित् । प्र । पतिष्यति । ग्लौः ।

इतः । प्र । पतिष्यति । सः । गलुन्तः । नशिष्यति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रामायणी) प्राण वायु के रमणस्थान नाड़ियों में मार्गवाली (अपचित्) सुख नाश करने वाली गरडमाला आदि पीड़ा (असूतिका) बाँझ होकर (प्र पतिष्यति) चली जायगी। (ग्लौः) हर्षनाशक घाव (इतः) इस [रोगी] से (प्र पतिष्यति) चला जावेगा (सः) वह [घाव] (गलुन्तः) गलाव से कोमल होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जावेगा ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार सद्धैद्य की ओषधि से रोग बढ़ने से रुककर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या के मिटा कर सुखी होता है ॥३॥

सत्यः (अपेतन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १४५ । इति एतेर्लोपि तस्य तनादेशः । अपगच्छत ॥

३—(असूतिका) पूङ् प्राणिप्रसवे—क, स्वार्थे कन् । बन्ध्या । रोगानुत्पादिका सती (रामायणी) रमते आसु प्राणवायुरिति रामा नाड्यः, ता अयनं मार्गो यस्याः सा तथाभूता (अपचित्) म० १ । हर्षनाशिका गरडमालादिपीडा (प्रपतिष्यति) प्रकर्षेण गमिष्यति (ग्लौः) ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति ग्लौ हर्षक्षये—डौ । हर्षनाशको व्रणः (इतः) एतस्माद् रोगिणः पुरुषात् (प्रपतिष्यति (सः) ग्लौः (गलुन्तः) गल क्षरणे—क्विप् । + उन्दी क्लेदने—क । नुदविदोन्द० पा० ८ । २ । ५६ । इति वैकल्पिकत्वाद् नत्वं न । गला गलनेन उन्तः उन्नः क्लिन्नः कोमलीकृतः (नशिष्यति) राश् अदर्शने । अदृष्टो भविष्यति ॥

वीहि स्वामाहु'तिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा
यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

वीहि । स्वाम् । आ-हु'तिम् । जुषाणः । मनसा । स्वाहा ।
मनसा । यत् । इदम् । जुहोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीति करत
हुआ तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) धर्म से देने लेने योग्य क्रिया को (वीहि)
प्राप्त हो, (यत्) क्योंकि (स्वाहा) सुन्दर वाणी से और (मनसा) उच्च
विचार से (इदम्) ऐश्वर्य का कारण ज्ञान (जुहोमि) मैं देता हूँ ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और विद्वानों के उपदेश अनुसार विचार पूर्वक
पुरुषार्थ के साथ अपना कर्तव्य पालन करके प्रसन्न होवे ॥४॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-४ ॥ निऋतिर्देवता ॥ १ जगती; २ गायत्री; ३, ४ त्रिष्टुप् ।

पापमोचनायोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यस्यास्त आसनि घोरं जुहोम्येषां बहूनामवसर्जनाय
कम् । भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निऋतिरिति
त्वाह पारु वेद सर्वतः ॥ १ ॥

४—(वीहि) प्रामुहि (स्वाम्) स्वकीयाम् । पौरुषेण प्राप्ताम् (आहुतिम्)
हृदनादानयोः—किन् । समन्ताद् दातव्यग्राह्यक्रियाम् (जुषाणः) प्रीयमाण
(मनसा) अन्तःकरणेन । सुविचारेण (स्वाहा) सुवाण्या (मनसा) (यत्)
यस्मात्कारणात् (इदम्) इन्देः कर्मिन् नलोश्च । उ० ४ । १५७ । इति परमं
श्रव्यं—कमिन् । ऐश्वर्यहेतु ज्ञानम् (जुहोमि) ददामि । उपदिशामि ॥

सू० ८४ [२५७]

षष्ठं कारकम् ॥ ६ ॥

(१३७५)

यस्याः । ते । आसनि । घोरे । जुहोमि । एषाम् । बद्धानाम् ।
 अव-सर्जनाय । कम् । भूमिः । इति । त्वा । अभि-प्रमन्वते ।
 जनाः । नि-ऋतिः । इति । त्वा । अहम् । परि । वेदु । सर्वतः ॥१॥

भाषार्थ—(यस्याः) जिस (ते) तेरे (घोरे) भयानक (आसनि)
 मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) बंधे हुये प्राणियों के (अवसर्जनाय)
 छुड़ाने के लिये (कम्) कमनीय व्यवहार को (जुहोमि) मैं देता हूँ । (त्वा)
 उस तुझको (जनाः) पामर लोग (भूमिः इति) यह भूमि अर्थात् आश्रय
 देने वाली है (अभिप्रमन्वते) मानते हैं ; (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (निऋतिः
 इति) यह अलक्ष्मी है (सर्वतः) सब प्रकार से (परि वेद) मली भांति
 जानता हूँ ॥१॥

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य दुष्क्रिया को अपनी उन्नति की (भूमि)
 आश्रय समझते हैं ; और बुद्धिमान् मनुष्य उसको (निऋति) अलक्ष्मी अर्थात्
 अवनति का कारण जानते हैं, इस लिये विद्वान् मनुष्य अज्ञान बन्धन में फंसे
 हुये प्राणियों के छुड़ाने के लिये अलक्ष्मी के कारणों को जताकर उत्तम व्यवहार
 का उपदेश करें ॥ १ ॥

भूतं हविष्मती भवैष तं भागो यो अस्मासु ।

मुञ्चेमान्मूनेनसुः स्वाहा ॥ २ ॥

१—(यस्याः) निऋतेः (ते) तब (आसनि) आस्ये । मुखे (घोरे)
 घुर भीमभावे—अच् । भयानके (जुहोमि) ददामि (एषाम्) प्राणिनाम्
 (बद्धानाम्) बन्धं गतानाम् (अवसर्जनाय) दुःखाद् विमोचनाय (कम्)
 अ० २ । १ । ५ । कः कमनीया वा क्रमणा वा सुखो वा । निरु० १० । २२ । कमनीयं
 व्यवहारम् (भूमिः) आश्रयभूता (इति) वाक्यसमाप्तौ (त्वा) तां त्वाम्
 (अभिप्रमन्वते) मनु अवबोधने । अभितः प्रबुध्यन्ते (जनाः) पामरलोकाः
 (निऋतिः) अ० २ । १० । १ । निऋतिः—कृच्छापत्तिः—निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः
 (इति) (त्वा) निऋतिम् (अहम्) तत्त्वज्ञानी पुरुषः (परि) परितः (वेद)
 जानामि (सर्वतः) सर्वस्मात्कारणात् ॥

भूते । हविष्मती । भव । एषः । ते । भागः । यः । अस्मासु ।
मुञ्च । इमान् । अमून् । एनसः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(भूते) हे चिन्ता योग्य [अलक्ष्मी !] [हमारे लिये]
(हविष्मती) देने और लेने योग्य क्रिया वाली (भव) हो, (एषः) यह (ते)
तेरा (भागः) सेवनीय व्यवहार है, (यः) जो (अस्मासु) हम लोगों के
बीच होवे । “ (इमान्) इन [इस जन्म वाले] और (अमून्) उन [अगले वा
पिछले जन्म वाले] जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर दे, (स्वाहा)
यह सुन्दर वाणी है” ॥२॥

भाष्यार्थ—मनुष्य तीव्र तप अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ करके भूत भविष्य
और वर्तमान क्लेशों के फल को नाश करके सुखी होवे ॥ २ ॥

एवो ष्व१ स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता
बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनस्ति त्वां ददाति तस्मै
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

एवो इति । सु । अस्मत् । निः-ऋते । अनेहा । त्वम् ।
अयस्मयान् । वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम् ।
पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः ।
अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

२—(भूते) किञ्चकौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति चौरादिको

भू चिन्तने—किञ् । आमन्त्रितस्य च । पा० ६ । १ । १६८ इति आदिरुदात्तः ।
हे चिन्तनीये निर्ऋते (हविष्मती) दातव्य ग्राह्यक्रियायुक्ता (भव) (एषः)
वक्ष्यमाणः—मुञ्चेमानम्... (ते) तव (भागः) भजनीयः स्वीकरणीयो व्यव
हारः (यः) (अस्मासु) अस्माकं मध्ये भवतु (मुञ्च) विसृज (इमान्)
इदानींतनान् जीवान् (अमून्) दूरस्थान् पूर्वपरजन्मनि वर्तमानान् (एनसः)
पापात् । कष्टात् (स्वाहा) सुवाणी । सुप्रार्थना ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे अलक्ष्मी ! (त्वम्) तू (अनेहा) न मारने वाली होकर (अस्मत्) हमसे (अयस्मयान्) लोहे की यनी (बन्धपाशान्) बन्धन की वेड़ियों को (एवो) अवश्य ही (सु) भले प्रकार (विचृत) खोल दे। (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारं बार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःखरूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पाप कर्मों को छोड़ कर सदा धर्म आचरण करें। परमेश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से पापियों को सदा दण्ड देता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ६। ६३। २ में आ चुका है ॥

अयस्मये द्रुपदे वैधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविद्वान उत्तमं नाकमधि रोहये मम् ॥ ४ ॥
अयस्मये । द्रु-पदे । वै-धिषे । इ-ह । अभि-हितः । मृत्यु-भिः ।
ये । सहस्रम् । यमेन । त्वम् । पितृ-भिः । सु-विद्वानः ।
उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों से (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (वैधिषे=बधसे) बंध रहा है। (यमेन) नियम से (पितृभिः) पालन करने वाले ज्ञानियों से

३—(एवो) एव—उ । अवश्यमेव (सु) सुष्ठु । यथाविधि (अस्मत्) अस्मत्तः (निर्ऋते) म० १ । हे कृच्छापत्ते (अनेहा) नहि हन एह च । उ० ४ । २२४ । इति हन्तेर्नङ्युपपदेऽसिः, धातोरेहादेशश्च । ऋदुशनस्पुरुषं शोऽने हसां चा पा० ७ । १ । ६४ । इति सावनङ् । अहन्त्री । अवाधमाना (त्वम्) अन्यद् गतम्—अ० ६ । ६३ । २ ॥

४—(अयस्मये द्रुपदे) इत्येवा व्याख्याता—अ० ६ । ६३—३ ॥

(संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० ६।६३।३। में आ चुका है ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

वरुणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।

यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तम् देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

वरुणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः । यक्ष्मः । यः ।

अस्मिन् । आ-विष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः । अवीवरन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्य गुणवाला, (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरुणः) स्वीकार करने योग्य [वैद्य अथवा वरुण अर्थात् वरुणवृक्ष] [राजरोग आदि को] (वारयातै) हटावे । (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस पुरुष में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है (तम्) उसको (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों

१—(वरुणः) सुयुखवृजो युच् । उ० २। ७४। इति वृज्—वरुणे स्वीकरणे—युच् । स्वीकरणांयः । वैद्यो वरुणवृक्षो वा । वरुणस्य गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम्, रक्तदोषशान्तातवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम्, दीपनत्वम्—इति शब्दकलाद्रुमात् (वारयातै) अ० ४। ७। १। वारयानेर्लेटि आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा० ३। ४। ६६। इति ऐकारः । वारयतु । निवर्तयतु (अयम्) प्रसिद्धः (देवः) दिव्यः (वनस्पतिः) अ० १। ३५। ३। वनसेवने—अच् । वन + पतिः, सुदृक् । सेवनीयगुणानां रक्षकः (यक्ष्मः) अ० २। १०। ५। राजरो गः क्षयः (यः)

ने (अवीवरन्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से सदैव पूर्वज विद्वानों से शिक्षा पाकर बड़े बड़े रोगों का वरण वा अन्य ओषधि द्वारा मिटाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम गुण को प्राप्त करके दुष्कर्मों का नाश करे ॥ १ ॥

(वरणः) ओषधि विशेष भी है जिसको वरुण, वरणा और उरण आदि कहते हैं। वरुण कटु, उष्ण, रक्तदोष, शीत घात हरने वाला, चिकना और दीपन है ॥

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।

देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥

इन्द्रस्य । वचसा । वयम् । मित्रस्य । वरुणस्य । च । देवानां । सर्वेषाम् । वाचा । यक्ष्मम् । ते । वारयामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) प्रतापी, (मित्रस्य) स्नेही (च) और (वरुणस्य) सेवनीय पुरुष के (वचसा) वचन से और (सर्वेषाम्) सब (देवानाम्) व्यवहार जानने वाले विद्वानों के (वाचा) वचन से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वयम्) हम लोग (वारयामहे) हटाते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों से शिक्षा पाकर वैद्य रोगों की निवृत्ति करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों की निवृत्ति करे ॥ २ ॥

यथा वृत्र हुमा आपस्तुस्तम्भं विश्वधा युतीः ।

एवा तं अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

(अस्मिन्) पुरुषे (आविष्टः) प्रविष्टः (तम्) यक्ष्मम् (उ) एव (देवाः) व्यवहारकुशला विद्वानः (अवीवरन्) वारयतेर्लुङि चङि रूपम् । निवारितवन्तः ॥

२—(इन्द्रस्य) प्रतापिनः पुरुषस्यः (वचसा) वचनेन । उपदेशेन (वयम्) पुरुषार्थिनः (मित्रस्य) स्नेहिनः (वरुणस्य) वरणीयस्य । सेवनीयस्य (च) (देवानाम्) व्यवहारिणां विदुषाम् (सर्वेषाम्) समस्तानाम् (वाचा) वचनेन (यक्ष्मम्) राजरोगम् (ते) तव (वारयामहे) निवारयामः ॥

यथा । वृत्रः । इमाः । आपः । तस्तस्म । विश्वधा । यतीः ।
एव । ते । अग्निना । यक्ष्मम् । वैश्वानरेण । वारये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वृत्रः) मेघने (विश्वधा) सब ओर (यतीः) बहती हुई (इमाः) इन (आपः = अपः) जलधाराओं को (तस्तस्म) रोका था । (एव) वैसे ही (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हित करने वाले (अग्निना) अग्नि से (वारये) मैं हटाता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ ईश्वर नियम से जल की भापों को मेघ मण्डल में रोक लेता है, उसी प्रकार वैद्य रोगी की पाचन शक्ति ठीक करके रोग को रोक दे ॥ ३ ॥

सूक्तसू ८६ ॥

१-३ ॥ एकवृषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

साम्राज्योपदेशः—साम्राज्य पाने का उपदेश ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।

वृषा विश्वस्य भुतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

वृषा । इन्द्रस्य । वृषा । दिवः । वृषा । पृथिव्याः । अयम् ।

वृषा । विश्वस्य । भुतस्य । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (इन्द्रस्य) सूर्य का (वृषा) स्वामी,

३—(यथा) येन प्रकारेण (वृत्रः) अ० २ । ५ । ३ । आवरको मेघः—

निघ० १ । १० । (इमाः) परिदृश्यमानाः (आपः) अगः । जलानि (तस्तस्म) ष्टभि गतिप्रतिबन्धे । अवरोध (विश्वधा) सर्वतः (यतीः) इण् गतौ—शरु डीप् । गच्छन्तीः (एव) एवम् । तथा (ते) त्वदीयम् (अग्निना) जाठराग्निना (यक्ष्मम्) राजरोगम् (वैश्वानरेण) अ० १ । १० । ४ । विश्वानरहितेन (वारये) निवारयामि ॥

१—(वृषा) अ० १ । १२ । १ । वृषु सेचने, प्रजनैश्वरयोः—कनिन् । ईश्वरः । स्वामी (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (दिवः) अन्तरिक्षस्य (पृथिव्याः) भूम्याः (अयम्)

सू० ८६ [२५८]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८१)

(द्विवः) अन्तरिक्ष का (वृषा) स्वामी, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) स्वामी और (विश्वस्य) रुब (भूतस्य) प्राणियों का (वृषा) स्वामी है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वशासकता विचार कर अपनी शक्ति बढ़ा कर चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करे ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।

चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

समुद्रः । ईशे । स्रवताम् । अग्निः । पृथिव्याः । वशी । चन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् । ईशे । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(समुद्रः) समुद्र (स्रवताम्) बहते हुए जलों का (ईशे = ईष्टे) स्वामी है, (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वश में करने वाला है । (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणाम्) चलने वाले नक्षत्रों का (ईशे) अधिष्ठाता है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों की आकर्षण शक्ति देख कर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ २ ॥

सम्राडस्यसुराणां कुकुम्भनुष्याणाम् ।

देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

प्रसिद्धः परमेश्वरः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) प्राणिजातस्य (त्वम्) (एक-वृषः) अ० ४ । २२ । १ । वृषु पेश्वर्ये—क । अद्वितीयप्रधानः । सार्वभौमः (भव) ॥

२—(समुद्रः) सागरः (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (स्रवताम्) प्रवहतामुदकानाम् (अग्निः) सूर्यरूपोऽग्निः (पृथिव्याः) भूमेः (वशी) वशयिता । स्वामी (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (नक्षत्राणाम्) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णञ् गतौ—अत्रन् । गतिशीलानां तारकाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सम्-राट् । असि । असुराणाम् । ककुत् । मनुष्याणाम् । देवानाम् । अर्ध-भाक् । असि । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (असुराणाम्) बुद्धिमानों का (सम्राट्) सम्राट्, और (मनुष्याणाम्) मननशील—मनुष्यों का (ककुत्) शिखा (असि) है । (देवानाम्) जय चाहने वालों की (अर्धभाक्) वृद्धि का बांटने वाला (असि) है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब से अधिक गुणी होकर चक्रवर्ती राजा बने ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-३ राज्ञः स्तुतिदेवता ॥ अनुष्टुप् छन्द ॥

— राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उवदेश ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥

आ । त्वा । अहार्षम् । अन्तः । अभूः । ध्रुवः । तिष्ठ ।

अवि-चाचलत् । विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छन्तु । मा ।

त्वत् । राष्ट्रम् । अधि । भ्रशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वा) तुझको (आ=आनीय) लाकर (अहार्षम्) मैंने स्वीकार किया है । (अन्तः) सभा के मध्य (अभूः) तू वर्तमान

३—(सम्राट्) अ० ४ । १ । ५ । सम्यग्रजमानः । चक्रवर्ती (असि) वर्तसे (असुराणाम्) असुरत्वं प्रज्ञावत्वम्, असुरिति प्रज्ञानाम—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः प्रज्ञावताम् (ककुत्) अ० ३ । ४ । २ । शिखररूपः । प्रधान (मनुष्याणाम्) मननशीलानाम् (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (अर्धभाक्) अर्धवृद्धौ भावे—घञ् । अर्ध+भाज पृथक्कर्मणि—क्विप् । अर्धस्य वर्धनस्य भागी । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(आ) आनीय (त्वा) त्वराजानम् (अहार्षम्) स्वीकृतवानस्मि (अन्तः) सभामध्ये (अभूः) विराजमानोऽभवः (ध्रुवः) स्तुवः कः । ३०

सू० ८७ [२६०]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८३)

हुआ है। (भुवः) निश्चित बुद्धि और (अविचाचलत्) निश्चलस्वभाव होकर (तिष्ठ) स्थिर हो (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें (त्वा वाच्छन्तु) तेरी कामना करे, (राष्ट्रम्) राज्य (त्वत्) तुझसे (मा अधिभ्रशत्) कभी भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—प्रजागण सबसे उत्तम पुरुष को राजा बना कर उपदेश करे, जिससे वह सदा धार्मिक पुरुषार्थी रहे और बुरे आचरण से राज्य नष्ट न होवे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १७३ । १-३ । और यह मन्त्र यजुर्वेद में है—१२ । ११ ॥

इहैवैधि मापं च्योष्टाः पर्वत इवाविचाचलत् ।

इन्द्र इवेह भुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥

इह । एव । एधि । मा । अप । च्योष्टाः । पर्वतः-इव । अवि-चाचलत् । इन्द्रः-इव । इह । भुवः । तिष्ठ । इह । राष्ट्रम् । ऊं इति । धारय ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पर्वतः इव) पहाड़ के समान (अविचाचलत्) निश्चल स्वभाव तू (इह एव) यहां ही (एधि) रह, (मा अप च्योष्टाः) कदापि मत गिर । (इन्द्रः इव) सूर्य के समान (इह) यहां पर (भुवः) स्थिर स्वभाव

२ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्यं—क । निश्चितबुद्धिः (तिष्ठ) स्थिरो भव (अविचाचलत्) चल गतौ—यङ्लुगन्तात्, शतृ । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति लुप्तप्रतिषेधः । निश्चलस्वभावः (विशः) प्रजाः । मनुष्याः—निघ० २ । ३ (सर्वाः) अखिलाः (त्वा) (वाच्छन्तु) वाछि इच्छायाम् । कामयन्तु (त्वत्) त्वत्तः (राष्ट्रम्) राज्यम् (अधि) अधिकम् । कदापि (मा भ्रशत्) भ्रष्ट अधःपतने माङ्गि लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । मा नष्टं स्यात् ॥

२—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) निश्चयेन (एधि) अस भुवि-लोद् । भव । सर्वदा वर्तस्व (मा अप च्योष्टाः) च्युङ् गतौ—माङ्गि लुङि च्लेःसिच् । न माङ्ग्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इत्यङभावः । कदापि प्रच्युतो माभूः (पर्वतः)

(१३८४)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८७ [२६०]

होकर (तिष्ठ) ठहर, (उ) और (इह) यहां पर (राष्ट्रम्) राज्य को (धारय)
अधिकार में रख ॥ २ ॥

भाषार्थ—प्रजागण धार्मिक राजा का यथावत् सहाय करे जिससे वह
प्रजापालन में ऐसा दृढ़ रहे, जैसे सूर्य अपनी कक्षा में स्थिर रह कर वृष्टि आदि
से अनेक लोकों का पालन करता है ॥ २ ॥

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।

तस्मै सोमो अधि ब्रवद् यं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

इन्द्रः । एतम् । अदीधरत् । ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । तस्मै ।
सोमः । अधि । ब्रवत् । अयम् । च । ब्रह्मणः । पतिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परमेश्वर ने (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) देने से
योग्य शुभकर्म के साथ (एतम्) इस राजा को (ध्रुवम्) दृढ़ (अदीधरत्)
स्थापित किया है । (अयम्) यही (सोमः) सब का उत्पन्न करने वाला (च)
और (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड और वेद का पालक परमेश्वर (तस्मै)
राजा को (अधि) अधिक अधिक (ब्रवत्) उपदेश करे ॥३॥

भाषार्थ—राजा को योग्य है कि परमेश्वर में श्रद्धा करके प्रजा पालन
विद्या आदि शुभकर्म करता हुआ सदा उन्नति करे ॥ ३ ॥

महीधरः (इव) यथा (अविचाचलत्) म० १ । दृढस्वभावः (इन्द्रः)
(इव) (इह) अस्मिन् राज्ये (ध्रुवः) स्थिरः (तिष्ठ) वर्तस्व (इह)
लोके (राष्ट्रम्) राज्यम् (उ) चार्थे (धारय) स्वाधिकारे स्थापय ॥

३—(इन्द्रः) परमेश्वरः (एतम्) राजानम् (अदीधरत्) धारयते
लुण्ठि चङ्गि रूपम् । धारितवान् । स्थापितवान् (ध्रुवम्) स्थिरम् (ध्रुवेण)
दृढेन (हविषा) दातव्यग्राह्यशुभकर्मणा (तस्मै) राज्ञे (सोमः) सर्वोत्पादकः
(अधि) अधिकमधिकम् (ब्रवत्) ब्रूयात् । उपदिशेत् (च) (ब्रह्मणस्पतिः)
ब्रह्माण्डस्य वेदस्य च पालकः परमेश्वरः ॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

राजसूयहोपदेशः—राज तिलक यज्ञ को उपदेश ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।

ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥

ध्रुवा । द्यौः । ध्रुवा । पृथिवी । ध्रुवम् । विश्वम् । इदम् । जगत् ।

ध्रुवासः । पर्वताः । इमे । ध्रुवः । राजा । विशाम् । अयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (ध्रुवा) इदं है, (पृथिवी) पृथिवी (ध्रुवा)

इदं है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (ध्रुवम्) इदं है । (इमे)

यह सब (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) इदं हैं, (विशाम्) प्रजाओं का (अयम्)

यह (राजा) राजा (ध्रुवः) इदंस्वभाव है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य आदि पदार्थ अपने अपने कर्त्तव्य में इदं

हैं, ऐसे ही निश्चलस्वभाव धर्मात्मा पुरुष को प्रजा लोग अपना राजा चुने ॥१॥

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।

ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥

ध्रुवम् । ते । राजा । वरुणः । ध्रुवम् । देवः । बृहस्पतिः । ध्रुवम् ।

ते । इन्द्रः । च । अग्निः । च । राष्ट्रम् । धारयताम् । ध्रुवम् ॥२॥

भाषार्थ—(राजा) सब का राजा (वरुणः) वरुणा, सेवनीय परमेश्वर

१—(ध्रुवा) स्थिरा (द्यौः) अहर्निम्—निघ० १ । २ । द्यौवो द्योत-

नात्—निघ० २ । २० । प्रकाशमानः सूर्यलोकः (ध्रुवा) (पृथिवी) (ध्रुवम्)

इदम् (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) लोकः (ध्रुवासः)

ध्रुवाः स्थिराः (पर्वताः) शैलाः (इमे) पुरोवर्तमानाः (ध्रुवः) निश्चलः ।

धार्मिकः (राजा) शासकः (विशाम्) प्रजानाम् (अयम्) परोवर्त्ती शूरः ॥

२—(ध्रुवम्) स्थिरम् । इदम् (ते) तुभ्यम् (राजा) सर्वेश्वरः (वरुणः)

(ते) तेरे लिये (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (ध्रुवम्) स्थिर, (देवः) प्रकाशमान
(बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालन करने वाला परमात्मा (ध्रुवम्) स्थिर,
(च) और (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (ध्रुवम्) स्थिर, (च)
और (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वर (ध्रुवम्) स्थिर (धारयताम्) रक्खे ॥२॥

भावार्थ—बली प्रतापी राजा परमात्मा की शासन शक्ति विचार कर
प्रजा पालन में सदा कटिबद्ध रहे ॥२॥

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून् शत्रून् यतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सुधीचीध्रुवाय ते समितिः
कल्पतामिह ॥३॥

ध्रुवः । अच्युतः । प्र । मृणीहि । शत्रून् । शत्रून् यतः । अधरान् ।
पादयस्व । । सर्वाः । दिशः । । सम्-मनसः । सुधीचीः ।
ध्रुवाय । ते । सम्-इतिः । कल्पताम् । इह ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे राजन् !] (ध्रुवः) दृढ़ और (अच्युतः) अचल होकर
तू (शत्रून्) शत्रुओं को (प्र मृणीहि) नाश कर दे और (शत्रून् यतः) शत्रु समाप्त
आचरण करने वाले (अधरान्) नीचों को (पादयस्व) अपने पैर से दबा दे ।
(इह) यहां पर (ध्रुवाय ते) तुझ निश्चल स्वभाव के लिये (सुधीचीः) साथ

सेवनीयः परमेश्वरः (देवः) प्रकाशमानः (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः
(ते) तव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (च) (अग्निः) सर्वव्यापक
ईश्वरः (च) (राष्ट्रम्) राज्यम् (धारयताम्) धारयतु । रक्षतु ॥

३—(ध्रुवः) दृढ़ः (अच्युतः) अचलः (प्र मृणीहि) मृज् हिंसायाम्
सर्वथा नाशय (शत्रून्) शातयितृन् । अरीन् (शत्रून् यतः) अ० ३ । १ । ३ ।
शत्रु-क्यच् शत्रुवदाचरतः (अधरान्) नीचजनान् (पादयस्व) प्रातिपदिकाद्
धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च । गणसूत्रं सिद्धान्तकौमुद्यां चुरादिप्रकरणे । इति
पाद-धात्वर्थे णिच् । स्वपादाभ्यां निक्षिप (सर्वाः) प्राच्यादयः (दिशः) दिशाः ।
तत्रस्थाः प्राणिन इत्यर्थः (संमनसः) समानमनस्काः (सुधीचीः) अ० ३ ।
३० । ५ । सह + अञ्जु गतो—किन्, सहस्यं सन्नि, डीप् पूर्वसुवर्णदीर्घश्च ।

(१३८९)

अथववेदभाष्ये

साथ रहने वाली (सर्वाः) सब (विशः) दिशायें (संमनसः) एक मनवाली हों, और (समितिः) यह सभा (कल्पताम्) समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरवीर प्रतापी राजा सब विरोधी दुष्कर्मियों को नाश करके सब देशों की प्रजाओं को वश में रख कर अपनी राज सभा को प्रबल बनावे ॥३॥

सूक्तम् ८८ ॥

१-३ ॥ पुरुषार्थो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रु का जीतने का उपदेश ॥

इदं यत् प्रेयः शिरि'दुत्तं सोमेन वृण्यम् ।

ततः परि प्रजातेन हार्दि' ते शोचयामसि ॥ १ ॥

इदम् । यत् । प्रेयः । शिरः । दुत्तम् । सोमेन । वृण्यम् ।

ततः । परि । प्र-जातेन । हार्दिम् । ते । शोचयामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रेयः=प्रेयाः) वृत्त करने वाली ओषधि का (यत्)

जो (इदम्) यह (शिरः) मस्तकबल और (सोमेन) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर करके (दुत्तम्) दिया हुआ (वृण्यम्) जो वीरत्व है ।

(ततः) उस से (परि) सब प्रकार (प्रजातेन) उत्पन्न हुये [साहस] से (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से और परमेश्वर के दिये बल से शत्रुओं को पीड़ित करें ॥ १ ॥

सधीच्यः । सहाञ्जनशीलाः । सहवर्तमानाः (ध्रुवाय) दृढस्वभावाय (ते) तुभ्यम् (समितिः) इयं राजसभा (कल्पताम्) समर्था भवतु (इह) अस्मिन् राज्ये ॥

१—(इदम्) शरीरस्थम् (यत्) (प्रेयः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । ७० ४ । ४८ । इति प्रीड् प्रीतौ, वा प्रीज् तर्पणे कान्तौ च-नि, वा डीष् छान्दसो ह्रस्वः । प्रेयाः । तर्पयिज्याः सोमलताद्योषध्याः (शिरः) शिरोबलम् (दुत्तम्) (सोमेन) सर्वोत्पादकेन परमेश्वरेण (वृण्यम्) अ० ४ । ४ । ४ । वीरत्वेन (ततः) तस्माद् बलात् (परि) सर्वतः (प्रजातेन) उत्पन्नेन साहसेन (हार्दिम्) बाह्वादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ६६ । इति ह्रद्—इज् । हार्दिकां शक्तिम् (ते) तव हे शत्रो (शोचयामसि) शोचयामः सन्तापयामः ॥

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।

वातं धूम इव सध्र्यं ड् माम् एवान्वेतु ते मनः ॥२॥

शोचयामसि । ते । हार्दिम् । शोचयामसि । ते । मनः । वातम् ।

धूमः-इव । सध्र्यं ड् । माम् । एव । अन्व । एतु । ते । मनः ॥२॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं, (ते) तेरे (मनः) मन अर्थात् मनन सामर्थ्य को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं । (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव अनु) मेरे ही पीछे पीछे (एतु) चले, (इव) जैसे (सध्र्यं) [वायु से] मिला हुआ (धूमः) धुआं (वातम्) वायु के [साथ साथ चलता है] ॥ २ ॥

भाषार्थ—बलवान् मनुष्य शत्रु को उसके शरीर और आत्मा से व्याकुल करके सदा अपने वश में रखे ॥ २ ॥

महयं त्वा मित्रावरुणौ महयं देवी सरस्वती ।

महयं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३॥

महयम् । त्वा । मित्रावरुणौ । महयम् । देवी । सरस्वती । महयम् ।

त्वा । मध्यम् । भूम्याः । उभौ । अन्तौ । सम् । अस्यताम् ॥३॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] [मित्रावरुणौ] मेरे प्राण और अपान वायु (त्वा)

२—(मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकं मननसामर्थ्यम् (वातम्) वायुम् (धूमः) (इव) यथा (सध्र्यं ड्) अ० ३ । ३० । ५ । सह अश्च तीति, सहस्य सधि । वातेन सह गन्ता (माम्) पुरुषार्थिनम् (एव) अवश्यम् (अतु) अतु सत्य (एतु) गच्छतु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मह्यम्) महर्थम् (त्वा) त्वां शत्रुम् (मित्रावरुणौ) प्राणापानौ

(१३८८)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८० [२६३]

तुभको, और (देवी) दिव्यगुणवाती (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (त्वा)
तुभको (मह्यम्) तुभसे, और (भूम्याः) भूमिका (मध्यम्) मध्यस्थान
और (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्त (त्वा) तुभको (मह्यम्) तुभसे (सम
अस्यताम्) संयुक्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और सांसारिक
पदार्थों के अनुकूल वर्तन से शत्रुओं को अपने वश में रखे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कर्मफलोपदेशः—कर्म के फल का उपदेश ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।

इदं तामद्य त्वह वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

याम् । ते । रुद्रः । इषुम् । आस्यत् । अङ्गेभ्यः । हृदयाय ।

च । इदम् । ताम् । अद्य । त्वत् । वयम् । विषूचीम् । वि ।

वृहामसि ॥ १ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (रुद्रः) पापियों के रुलाने वाले परमेश्वर ने
(ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अंगों [शरीर] को पीड़ा देने (च) और (हृदयाय)
हृदय [आत्मा] दुखाने के लिये (याम्) जिस (इषुम्) बरछी [पीड़ा] को

ममशारीरिकबलमित्यर्थः (मह्यम्) (देवी) दिव्यगुणा (सरस्वती) विज्ञान—
वती विद्या (मह्यम्) (त्वा) (मध्यम्) मध्यस्थितं प्राणिजातमित्यर्थः
(भूम्याः) पृथिव्याः (उभौ) द्वौ (अन्तौ) ऊर्ध्वाधःप्रदेशौ (समअस्यताम्)
असु क्षेपणे । संयोजयताम् ॥

१—(याम्) (ते) तव (रुद्रः) अ० १ । १६ । ३ । पापिनां रोदयिता
(इषुम्) अ० १ । १३ । ४ । शक्तिनामायुधम् । पीडाम् (आस्यत्) असु क्षेपणे—
लङ् । अक्षिपत् (अङ्गेभ्यः) क्रियाधौपपदस्य च कर्मणिस्थानिनः । पा० २ ।
३ । १४ । इत्यप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । अहानि पीडयितुम् ॥

(आस्यत्) छोड़ा है । (इदम्) सो (अद्य) अब (विषूचीम्) नाना गति वाली
(ताम्) उस [बरछी] को (वयम्) हम लोग (त्वत्) तुझ से (वि वृह-
मसि=०-मः) उखाड़ते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से पापियों को शारीरिक
और आत्मिक दुःख देता और सुकर्म करने पर उन्हें उस क्लेश से छुड़ाकर
आनन्दित करता है ॥ १ ॥

यास्ते शतं धूमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।

तासां ते सर्वासाम् वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ २ ॥

याः । ते । शतम् । धूमनयः । अङ्गानि । अनु । वि-स्थिताः ।
तासाम् । ते । सर्वासाम् । वयम् । निः । विषाणि । ह्वयामसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (शतम्) सौ [असंख्य-] (धूमनयः) नाड़ियां
(ते) तेरे (अङ्गानि अनु) अंगों में (विष्ठिताः) फैली हुई हैं । (ते) तेरी
(तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (विषाणि) विषों को
(निः=निष्कृष्य) निकाल कर (वयम्) हम (ह्वयामसि=०-मः) पुकारते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य शरीर के भीतरी रोगों को समझ कर दूर करता
है, वैसे ही विद्वान् आत्मदोषों को मिटावे ॥ २ ॥

(हृदयाय) हृदयं दुःखयितुम् (च) (इदम्) तत्प्रतीकारार्थम् (ताम्) इषुम्
(अद्य) इदानीम् (त्वत्) त्वत्तः (वयम्) सुकर्मिणः (विषूचीम्) अ० १।
१६।१। विषु + अञ्चु गतिपूजनयोः-किन् । डीप् । नानागतिम् (वि वृह-
मसि) वृह उद्यमने । विवृहामः । उत्क्षिपामः ॥

२—(याः) (ते) तव (शतम्) बह्वयः (धूमनयः) नाड्यः, अङ्गानि)
शरीरावयवान् (अनु) अनुसृत्य (विष्ठिताः) विविधं स्थिताः (तासाम्) (ते)
तव (सर्वासाम्) धमनीनाम् (वयम्) (निः) निष्कृष्य (विषाणि) दुःखानि
(ह्वयामसि) आह्वयामः ॥

ब्रू० ट१ [२६४] षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८१)

नमस्ते रुद्रस्यते नमः प्रतिहितायै ।

नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥३॥

नमः । ते । रुद्र । अस्यते । नमः । प्रति-हितायै । नमः ।

वि-सृज्यमानायै । नमः । नि-पतितायै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे पापियों के कलाने वाले परमेश्वर ! (अस्यते) [बरछी वा बाण] छोड़ने वाले (ते) तुझको (नमः) नमस्कार है, (प्रतिहितायै) तानी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है । (विसृज्यमानायै) छुटती हुई को (नमः) नमस्कार है, और (निपतितायै) लक्ष्य पर पड़ी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की विविध दण्ड व्यवस्था को विचार कर उसकी उपासना करके पापों से बचे ॥३॥

सूक्तम् ट१ ॥

१-३ ॥ आत्मादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मिकदोषनाशोपदेशः—आत्मिक दोष नाश करने का उपदेश ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगैर्भिरचकृषुः ।

तेन ते तन्वो३ रपौऽप्राचीनमप व्यये ॥ १ ॥

इमम् । यवम् । अष्टा-योगैः । षट्-योगैर्भिः । अचकृषुः ।

तेन । ते । तन्वः । रपः । अप्राचीनम् । अप । व्यये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमम्) इस [सर्वव्यापी] (यवम्) संयोग वियोग करने

३—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (रुद्र) हे पापिनां रोदयितः परमेश्वर (अस्यते) इषुं क्षिपते (प्रतिहितायै) हननाय संहितायै त्वदीयेष्वे (विसृज्यमानायै) प्रेर्यमानायै (निपतितायै) लक्ष्ये अभ्यः पतितायै ॥

१—(इमम्) दृश्यमानं सर्वव्यापिनम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—

वाले परमेश्वर को (अष्टायोगैः) आठ प्रकार के [यम नियम आदि] योगों से और (षड्योगेभिः) छह प्रकार के [पढ़ना पाढ़ाना आदि ब्राह्मणों के कर्मों से (अचर्कृषुः) उन [महात्माओं] ने कर्षण अर्थात् परिश्रम से प्राप्त किया है । (तेन) उसी [कर्म] से (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के (रपः) पाप को (अपाचीनम्) विपरीत गति करके (अप व्यये) मैं हटाता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से महर्षियों ने योगसाधन और ब्राह्मण कर्म से ईश्वर को प्राप्त किया है, इसी प्रकार विद्वान् मनुष्य ईश्वर प्राप्ति से आत्मदोष त्यागकर आनन्दित होवे ॥१॥

आठ प्रकार के योगाङ्ग यह हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ योगदर्शने २ । २६ ।

अर्थात् १—यम, २—नियम, ३—आसन, ४—प्राणायाम, ५—प्रत्याहार, अर्थात् जितेन्द्रियता, ६—धारणा, ७—ध्यान और ८—समाधि, यह आठ योग के अङ्ग हैं ॥

ब्राह्मणों के छह कर्म यह हैं :—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनुः १ । ८८ ।

१—पढ़ना, २—पाढ़ाना, ३—यज्ञ करना, ४—यज्ञ कराना, ५—दान देना और ६—दान लेना, यह छह कर्म [प्रभु ने] ब्राह्मणों के बताये हैं ॥

न्यग् वातौ वाति न्यक् तपति सूर्यः ।

नोचीनमध्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥२॥

अप् । यवः, मिश्रणामिश्रणकर्ता—इति दयानन्दभाष्ये यजुः ० ५ । २६ । संयोजकं वियोजकं परमात्मानम् (अष्टायोगैः) यमनियमाद्यष्टयोगाङ्गैः—योगदर्शने २ । २६ (षड्योगेभिः) अध्यापनाध्ययनादिब्राह्मणषट्कर्मभिः—मनुस्मृत १ । ८८ (अचर्कृषुः) कृष विलेखने स्वार्थे एयन्ताल्लुङि चङि रूपम् । कर्षणेन श्रमेण प्राप्तवन्तः (तेन) कर्षणकर्मणा (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (रपः) अप ० । ४ । १३ । २ । दोषम् (अपाचीनम्) विभाषाश्चतेरदिक् स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति अपाच्—स्वार्थे ल, लस्य ईनादेशः । अपगतम् । अपाङ्मुक्तम् (अप व्यये) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च । अपगमयामि ॥

सू० ८१ [२६४]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८३)

न्यक् । वातः । वाति । न्यक् । तपति । सूर्यः । नीचीनम् ।
अधन्या । दहे । न्यक् । भवतु । ते । रपः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वातः) वायु (न्यक्) नीचे की ओर (वाति) बहता है,
(सूर्यः) सूर्य (न्यक्) नीचे की ओर (तपति) तपता है (अधन्या) न मारने
योग्य गौ (नीचीनम्) नीचे को (दुहे=दुग्धे) दूध देती है, [हे मनुष्य !]
(ते) तेरा (रपः) दोष (न्यक्) नीचे की ओर (भवतु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु आदि पदार्थ निर्दोष होकर उपकार करते
हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों को त्याग कर उपकारी हों ॥ २ ॥

आप् इह वा उ भेषजीरापौ अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

आपः । इत् । वै । ऊ । इति । भेषजीः । आपः । अमीव-चातनीः
आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । ते । कृण्वन्तु । भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) शुभकर्म वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः=
०-ज्यः) भय निवारक हैं, (आपः) शुभकर्म वा जल (अमीवचातनीः=
०-न्यः) पीड़ा नाशक हैं । (आपः) शुभकर्म वा जल (विश्वस्य) सब के

२—(न्यक्) नि + अञ्चु गतिपूजनयीः—किन् । निम्नम् (वातः) वायुः
(वाति) गच्छति (न्यक्) (तपति) उपतापयति (सूर्यः) सगणशील आदित्यः
(नीचीनम्) विभाषाञ्चतेर० । पा० ५ । ४ । ८ । इति न्यच्—स्वार्थे ख, खस्य
ईनादेशः (अधन्या) अहन्तव्या गौः—निघ० २ । ११ । (दुहे) लोपस्त आत्म-
नेपथेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । दुग्धे दुग्धं ददाति (न्यक्) अधो-
मुखम् (भवतु) (ते) तव (रपः) पापम् ॥

३—(आपः) आपोतेर्ह स्वश्च उ० २ । ५८ । इति आप्ल व्याप्तौ—क्लिप्
अप्तुनत्त्वं । पा० ६ । ४ । ११ । इत्युपधादीर्घः । अपः कर्मनाम—निघ०
२ । १ । आप्यन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि यमिस्ता आपः कर्माणि—इति महीधर-
भाष्ये यजु० ४० । ४ । वेदविहितकर्माणि (इत् वै उ) इति सर्वेऽवधारणे (भेष-
जीः) अ० ३ । ७ । ५ । भेषज्यः । भयनिवारकाः (अमीवचातनीः—रोगाणां

(भेषजीः) भय निवारक हैं, (ताः) वे (ते) तेरा (भेषजम्) भय निवारक (कृण्वन्तु) करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविहित कर्मों को करके अपने आत्मिक, और शारीरिक दोष मिटावे, और जल चिकित्सा करके शारीरिक रोगों की निवृत्ति करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३।७।५।

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता, १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे
मनोजवाः । युज्यन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते
त्वष्टा पुत्सु ज्वं दधातु ॥ १ ॥

वात-रंहाः । भव । वाजिन् । युज्यमानः । इन्द्रस्य । याहि
प्र-सवे । मन-जवाः । युज्यन्तु । त्वा । मरुतः । विश्व-वेदसः ।
आ । ते । त्वष्टा । पुत्-सु । ज्वम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे अन्न वा बलवाले राजन् ! (युज्यमानः)
सावधान होकर (वातरंहाः) वायु के समान वे वाला (भव) हो,
और (इन्द्रस्य) परम पेश्वर्य वाले जगदीश्वर की (प्रसवे) आज्ञा में (मनो-
जवाः) मन के समान गति वाला होकर (याहि) चल । (विश्ववेदसः)

नाशयिष्यः (विश्वस्य) सर्वस्य (ताः) आपः (ते) तब (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु
(भेषजम्) रोगनिवर्तनम् ॥

१—(वातरंहाः) रमेश्वर । उ० ४।२१४। इति रमु क्रीडायाम्-अपुत्र
हुक् च । रंहो वेगः । वायुवद्वेगयुक्तः (भव) (वाजिन्) वाज-इति । वाजोऽन्नम्
—निघ० २।७। बलम्—२।६। अन्नवन् । बलवन् राजन् युज्यमानः) समा-
तिहः सन् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो जगदीश्वरस्य (याहि) गच्छ (प्रसवे)

सू० ८२ [२६५]

षष्ठं कारुडम् ॥ ६ ॥

(१३८५)

समस्त विद्याओं वा धनों वाले (मरुतः) दोषों के नाश करने वाले विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (युञ्जन्तु) [राज कार्य में] युक्त करें, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी मनुष्य (ते) तेरे (परत्तु) पगों में (जवम्) वेग को (आ) अच्छे प्रकार (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भाषार्थ—राजा परमेश्वर की वेदविहित आज्ञा में चलकर और नीतिज्ञ विद्वानोंसे मिल करके राज्य की रक्षा करे और यान विमान द्वारा अभीष्ट देशों में जाकर यथायत् कार्य सिद्ध करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० ६ म० ८, ६ ॥

जु रस्त अर्वन् निहिन्तो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः । तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलैनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२॥

जुवः । ते । अर्वन् । निहितः । गुहा । यः । श्येने । वाते । उत । यः । अचरत् । परीत्तः । तेन । त्वम् । वाजिन् । बलवान् । बलैनाजिम् । पारयिष्णुः । २ ॥

भाषार्थ—(अर्वन्) हे विज्ञानयुक्त राजन ! (यः) जां (जवः) वेग (ते) तेरे (गुहा=गुहायाम्) हृदय में (निहितः) धरा हुआ है और (यः) जो (परीत्तः) सब प्रकार दिया हुआ [वेग] (श्येने) श्येन अर्थात् वाज पक्षी

पू प्रेरणे-अप् । अनुज्ञायाम् (मनोजवाः) जु रंहासि-असुन् । मनोवद्वेगवान्- (युञ्जन्तु) राजकार्ये संयोजयन्तु (त्वा) त्वाम् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । दोष-नाशकाः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (विश्ववेदसः) विद—असुन् सर्वज्ञाः । सर्वधनाः (आ) समन्तात् (ते) तव (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मदर्शी मनुष्यः (पत्तु) पादेषु (जवम्) वेगम् (दधातु) स्थापयतु ॥

२—(जवः) वेगः (ते) तव (अर्वन्) अ० ४ । ६ । २ । ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । हे शीघ्रगामिन् । विज्ञानिन् (निहितः) धाजू-क्त । नितरां धृत्तः (गुहा) अ० १ । ८ । ४ । गुहायाम् । हृदये (यः) जवः (श्येने) अ० ३ । ३ । पक्षिविशेषे वाजे (वाते) वायौ (उत) अपि च (अचरत्) अवततं (परीत्तः)

में (उत) और (चाते) पवन में (अचरत्) विचरा है । (वाजिन्) हे वेगवान् राजन् ! (त्वम्) तू (तेन) उस (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् और (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) पार लगाने वाला होकर (आजिम्) युद्ध को (जय) जीत ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—विद्वान् राजा आत्मिक बल बढ़ाकर शत्रुओं को शीघ्र जीते ॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु
शर्म तुभ्यम् । अहृतो महे धरुणाय देवो दिवि
ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

तनूः । ते । वाजिन् । तन्वंम् । नयन्ती । वामम् । अस्म-
भ्यम् । धावतु । शर्म । तुभ्यम् । अहृतः । महः । धरुणाय ।
देवः । दिवि-इव । ज्योतिः । स्वम् । आ । मिमीयात् ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(वाजिन्) हे बलवान् राजन् ! (ते) तेरा (तनूः) शरीर (तन्वंम्) हमारे शरीर को (नयन्ती) ले चलता हुआ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वामम्) सेवनीय धन और (शर्म) सुख (धावतु) शीघ्र पहुँचावे । (अहृतः) कुटिलता रहित (देवः) विजय चाहते

परि पूर्वाद् ददातेः—क। अच उपसर्गात्तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति आकारस्य तकारः । भरो भरि सवर्ण । पा० ८ । ४ । ६५ । इति तलोपः । दस्ति । पा० ६ । ३ । १२४ । इति इगन्तोपसर्गस्य दीर्घः । सर्वतो दत्तः (तेन) जवेन (त्वम्) (वाजिन्) हे वेगवान् (बलवान्) अतिबलयुक्तः (बलेन) पौरुषेण (आजिम्) अ० २ । १४ । ६ । युद्धम् (जय) अभिभावय । उत्कर्षेण प्राप्नुहि (समने) अ० ६ । ६ । २ । संग्रामे (पारयिष्णुः) अ० ५ । २८ । १४ । पारप्रापकः ॥

३—(तनूः) शरीरयष्टिः (ते) तव (वाजिन्) हे बलवान् राजन् (तन्वंम्) अस्माकं शरीरम् (नयन्ती) प्रेरयन्ती (वामम्) अ० ४ । २२ । ४ । सेवनीयं धनम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (धावतु) धाव जवे, अन्तर्गमयर्थः । शीघ्रं प्रापयतु (शर्म) सुखम् (तुभ्यम्) राज्ञे (अहृतः) ह, हरेश्कुन्दलि पा० ७ । २ । ३१ । इति ह कौटिल्ये—क, ह, आदेशः । अकुटिलः । कुलरहितः (महः) अह-असुन् । महत् (धरुणाय) अ० ३ । १२ । ३ । अस्माकं धारणाय (देवः)

सू० ८३ [२६६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८९)

वाले आप (धरुणाय) हमारे धारण के लिये (महः) बड़ी (स्वम्) अपनी (ज्योतिः) ज्योति (आ) भले प्रकार (मिमीयात्) निर्माण करें (दिवि इव) जैसे सूर्यमण्डल में [ज्योति] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि छल कपट छोड़ कर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शिल्प आदि व्यवहारों से अपने लिये और प्रजा के लिये धन और सुख बढ़ा कर अद्वितीय कीर्तिमान् हो ॥ ३ ॥

इति नवमोऽनुवाकः

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-३ ॥ यमो विश्वे देवाश्च देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सत्सङ्गताभोपदेशः—सत्सङ्ग के लाभ का उपदेश ॥

यमो मृत्युरघमारो निऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नील-
शिखण्डः । देवजुनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं
परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

यमः । मृत्युः । अघ-मारः । निः-ऋथः । बभ्रुः । शर्वः ।
अस्ता । नील-शिखण्डः । देव-जुनाः । सेनया । उत्त-स्थि-
वांसः । ते । अस्माकम् । परि । वृञ्जन्तु । वीरान् ॥ १ ॥

भावार्थ—(यमः) न्यायकारी परमेश्वर [पापियों का] (अघमारः) पाप के कारण मारने वाला, (मृत्युः) प्राण छोड़ाने वाला, (निऋथः) निर-

विजिगीषुर्भवान् राजा (दिवि) सूर्य वर्तमानम् (इव) यथा (ज्योतिः) तेजः (स्वम्) स्वकीयम् (मिमीयात्) माङ्गमाने शब्दे च, विधिलिङि छान्दसं परस्मै-पदम् । मिमीत । निर्माणयेत् ॥

१—(यमः) नियन्ता परमेश्वरः (मृत्युः) पापिनां प्राणत्याजयिता (अघमारः) पुंस्ति संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मृड् प्राणत्यागे-

न्तर पीड़ा देने वाला और [धर्मात्माओं का] (बभ्रुः) पालन करने वाला,
 (शर्वः) कष्ट काटने वाला (अस्ता) ग्रहण करने वाला और (नीलशिखण्डः)
 निधियों वा निवासों का देने वाला है । (सेनया) अपनी सेना के साथ
 (उत्तस्थिवांसः) उठे हुये (ते) वे (देवजनाः) विजय चाहने वाले पुरुष
 (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीर लोगों को [विघ्न से] (परि) सर्वथा
 (वृञ्जन्तु) छुड़ावे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो शूर वीर विद्वान् स्त्री पुरुष परमात्मा को शत्रुनाशक सुख
 वर्धक जान कर परोपकार करते हैं, वे ही कीर्ति पाते हैं ॥१॥

मनसा हेमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भुवाय ।
 नुमस्यैभ्यो नम एभ्यः कृणेभ्युन्यत्रास्मदुघविषा नयन्तु ।
 मनसा । हमैः । हरसा । घृतेन । शर्वाय । अस्त्रे । उत ।
 राज्ञे । भुवाय । नुमस्यैभ्यः । नमः । एभ्यः । कृणोमि । अन्यत्र ।
 असुनत् । अघ-विषाः । नयन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) विज्ञान के साथ, (होमैः) देने और लेने योग्य
 व्यवहारों के साथ, (हरसा) अन्धकार हरने वाले (घृतेन) प्रकाश के साथ
 वर्तमान (शर्वाय) [धर्मात्माओं के] कष्टनाशक, (अस्त्रे) ग्रहण करने वाले

घ । पापेन मारयिता (निऋयः) अवे भृजः । उ० २ । ३ । इति निर् + ऋ हिंसा
 याम्—कथन् । निरन्तरपीडकः (बभ्रुः) कुर्भश्च । उ० १ । २२ । इत भृज् भरणे
 —कु, द्विर्भावश्च । भर्त्ता । पालयिता (शर्वः) अ० ४ । २८ । १ । कष्टनाशक
 (अस्ता) अम ग्रणे—तन् । ग्रहीता (नीलशिखण्डः) अ० २ । २७ । १ ।
 म लानां निनीनां वा नीडानां निवासानां प्रापकः (देवजनाः) विजिगीषु
 पुरुषाः (सेनया) स्वस्वजनसंघेन (उत्तस्थिवांसः) उत्पूर्वात् तिष्ठतेर्लिट्—
 कतुः । उत्कर्षेण स्थिताः (ते) प्रसिद्धाः (अस्माकम्) धार्मिकायाम् (परि)
 सर्वतः (वृञ्जन्तु) वृजी वर्जने । वर्जयन्तु विघ्नात् (वीरान्) पराक्रमिणः पुरुषान् ॥

२—(मनसा) मन ज्ञाने—असुन् । विज्ञानेन सह (होमैः) अ० ४ ।
 ३८ । ५ । इदानीदानयोः—मन् । दातव्यग्राह्यव्यवहारैः (हरसा) अन्धकार
 हारकेण (घृतेन) घृ भासे—क्त । प्रकाशेन (शर्वाय) अ० ४ । २८ । १ । कष्ट

सू० ८३ [२६६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३८८)

(उत) और (भवाय) सुख देने वाले (राज्ञे) राजा परमेश्वर को, और (पभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) नमस्कार योग्य महात्माओं को (नमः) विनति (कृणोमि) करता हूं । वे सब (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों पर [दुष्कर्मियों पर] (अघविषाः) पाप रूप विषवाली पीड़ाओं को (नयन्तु) ले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के और विद्वानों के वेदविहित उपदेशों को मान कर दुराचारों को छोड़ कर धार्मिक होकर आनन्दित हों ॥२॥

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः । अग्नीषोमा वरुणः पुतदक्षा वाता-पृज् न्ययोः सुमतौ स्याम ॥३॥

त्रायध्वम् । नः । अघ विषाभ्यः । वधात् । विश्वे । देवाः । मरुतः । विश्व-वेदसुः । अग्नीषोमा । वरुणः । पुत-दक्षाः । वातापृज् न्ययोः । सु-मतौ । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्यगुणवाले (विश्ववेदसः) संसार के जानने वाले (मरुतः) दोषनाशक विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमें (अघविषाभ्यः) पापरूप विषवाली पीड़ाओं के (वधात्) हनन से (त्रायध्वम्) बचाओ । (अग्नीषोमा) अग्नि और चन्द्रलोक और (वरुणः) सूर्यलोक

नाशकाय (अस्त्रे) म० १ । ग्रहीत्रे (उत) अपि च (राज्ञे) शासकाय (भवाय) अ० ४ । २८ । १ । सुखोत्पादकाय परमेश्वराय (नमस्येभ्यः) नमस्कारार्हैभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) विनतिम् (पभ्यः) (कृणोमि) करोमि (अन्यत्र) अन्येषु दुष्कर्मिषु (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः (अघविषाः) अघं पापमेव विषं विषवन्मृति-करं यासु ताः पीडाः (नयन्तु) प्रापयन्तु ॥

३—(त्रायध्वम्) पालयत (नः) अस्मान् धार्मिकान् (अघविषाभ्यः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति षष्ठ्याः पञ्चमी । पापरूपविष-युक्तानां पीडानाम् (वधात्) हननात् (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे दोषनाशका विद्वान्सः (विश्ववेदसः) विश्वस्य

('पूतदक्षाः) पवित्र बलवाले हैं, [उनकी और] (वातापर्जन्ययोः) वायु और मेघ की (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (स्याम) हम रहें ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य आस विद्वानों के उपदेश और अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों से यथावत् उपकार करके सुखी होंगे ॥३॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ गजापतिर्देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

शान्तिरूपोपदेशः—शान्ति करने के लिये उपदेश ॥

सं वे॒ मना॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑तीर्नमाम॑सि ।

अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन् तान् वः॒ सं नम॑यामसि ॥ १ ॥

सम् । वः । मना॑सि । सम् । व्र॒ता । सम् । आ-कू॑तीः ।

नमाम॑सि । अ॒मी इति॑ । ये । वि-व्र॒ताः । स्थन् । तान् । वः ।

सम् । नम॑यामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मना॑सि) मनो को (सम्) ठीक रीति से, (व्र॒ता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से (आकू॑तीः) संकल्प को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि=०-मः) हम झुकते हैं । (अमी॑ ये) यह जो तुम (विव्र॑ताः) विरुद्ध कर्मों (स्थन्) हो, (तान् वः) उन तुमको (सम्) ठीक रीति से (नमयामसि=०--मः) हम झुकते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों का माने और धर्मपथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत कर लेवे ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ झुका है—अ० ३ । ८ । ५ ॥

जगतो वेत्तारः (अग्नीषोमा) अ० १ । ८ । १ । अग्निश्च चन्द्रश्च तौ (वरुणा) वरुणीयः सूर्यः (पूतदक्षाः) दक्ष वृद्धौ गतौ च—अच् । दक्षो बलम्—निघ० १ । ६ । पवित्रबलाः (वातापर्जन्ययोः) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्यानङ् । वायुमेघयोः (सुमतौ) श्रेष्ठयां बुद्धौ (स्याम) ॥

१—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३ । ८ । ५ ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनसि मम चित्तमनु चित्ते-
भिरितं । मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातम-
नुवर्तमान एतं ॥२॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनसि । मम । चित्तम् । अनु ।
चित्तेभिः । आ । इत् । मम । वशेषु । हृदयानि । वः ।
कृणोमि । मम । यातम् । अनु-वर्तमानः । आ । इत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनसि) तुम्हारे
मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) धामता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त
के पीछे पीछे (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत्) आओ । (मम
वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता
हूं, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्तमानः) मार्ग चलते हुये (आ इत्)
यहां आओ ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों
और प्रजागणों को धर्मपथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और
उत्साही बनावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । ६ ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।

ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चुध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥

ओते इत्या-उते । मे । द्यावापृथिवी इति । आ-उता ।
देवी । सरस्वती । आ-उतौ । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च ।
चुध्यास्म । इदम् । सरस्वति ॥३॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते)
बुने हुये हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता)

२—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३ । ८ । ६ ॥

३—(ओते) आ+वेञ् तन्तुसन्ताने—क । परस्परं स्यूते । अन्तर्व्याप्ति

परस्पर बुनी हुई है। (च) और (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (ओतौ) परस्पर बुने हुये हैं। (सरस्वति) हे विज्ञानवती विद्या ! (इदम्) अब (ऋध्यास्म) हम श्रीमान् होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक विद्या प्राप्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर धनी होवे ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५। २३। १॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३॥ कुष्ठो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तुतीयस्यामितो दिवि ।

तत्राऽमृतस्य चक्षुषं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

अश्वत्थः । देव-सदनः । तुतीयस्याम् । इतः । दिवि । तत्र ।

अमृतस्य । चक्षुषम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश [अधिकार] (तुतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होना है। (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत [पूर्ण सुख] के (चक्षुषम्) दर्शन (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग इस ईश्वर नियम को निश्चय करके मानते हैं कि अति विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य उच्च अधिकार के योग्य होता है ॥१॥

(अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष को भी कहते हैं, इसका गुण—अ० ३।६।१। में वर्णन हो चुका है। (कुष्ठ) कूट ओषधि विशेष भा है देखो—अ० ५।४।१॥

(सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (इन्द्रः) मेघः (ऋध्यास्म) ऋधु वृद्धी श्रीमन्तो भूयास्म । अन्यद् गतम्—अ० ५। २३। १ ॥

१—(अश्वत्थः) अ० ३।६।१ अश्व+घा गतिनिवृत्तौ—क, पृषोड् रादिरूपम् । अश्वानां कर्मसु व्यापनशीलानां वीराणां स्थितिदेशः । (तुतीयस्याम्) निकृष्टमध्यमाभ्यां परायां श्रेष्ठायाम् (दिवि) गतौ (कुष्ठम्) अ० ५। ४।१। कुष निष्कर्षे—कथन् । गुणपरीक्षकम् (अवन्वत) याचितवन्तः । अन्यद् गतम्—अ० ५। ४। ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यबन्धना दिवि ।

तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्य-बन्धना । दिवि । तत्र ।

अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत । ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हिरण्ययी) तेज वाली [अग्नि वा बिजुली वा सूर्य से चलने वाली] (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नौः) नाव (दिवि) चलने के व्यवहार में (अचरत्) चलनी थी । (तत्र) वहां पर (अमृतस्य) अमृत के (पुष्पम्) विकास, (कुष्ठम्) गुण परीणक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अवन्वत) मांगा है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा, अग्नि, बिजुली और सूर्य विद्या से, अग्निपोत, पुष्पक विमान आदि यान बना कर आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ५ । ४ । ४ ॥

गर्भो अश्लेषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।

गर्भो विश्वस्य भुनस्ये मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

गर्भः । अस्ति । अश्लेषधीनाम् । गर्भः । हिम-वताम् । उत ।

गर्भः । विश्वस्य । भुनस्ये । इमम् । मे । अगदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अश्लेषधीनाम्) ताप रखने वाले [सूर्य आदि] लोकों का (गर्भः) स्तुति योग्य आधार (उत) और (हिमवताम्) शीतस्पर्शवाला [जल मेघ आदि] का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और

२—(हिरण्ययी) तेजोमयी अग्निना विद्युता सूर्येण वा गन्त्री (दिवि) गमने ॥ अन्यदूयथा—अ० ५ । ४ । ४ ॥

३—(गर्भः) अ० ३ । १० । १२ । गरणीयः । स्तुत्यः । ग्रहीता । आधारः (अश्लेषधीनाम्) अ० १ । २३ । १ । अश्लेष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । अश्लेषस्य तापस्य धारकाणां सूर्यादिलोकानाम् (हिमवताम्) शीतस्पर्शवतां

(विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिस्मूह का (गर्भः) आधार (अति है । (मे) मेरे लिये (इमम्) इस [संसार] को (अगदम्) नीरोग (रुधि) तू कर ॥३॥

भाष्यार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न पदार्थों का गुण जान प्रयोग करते हैं, वे संसार में सुख भोगते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २५ । ५ । ७ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१-३ ॥ १, २ ओषधयः; ३ सोमो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्
३ त्रिपाद् विराङ्गायत्री ॥

ओषधिगुणोपदेशः—ओषधियों के गुणों का उपदेश ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्ब्रह्मीः शतविचक्षणाः ।

बृहस्पतिप्रसूतारुता नो मुञ्चन्त्वहंसः ॥ १ ॥

याः । ओषधयः । सोम-राज्ञीः । ब्रह्मीः । शत-विचक्षणाः ।

बृहस्पति-प्रसूताः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अहंसः ॥१॥

भाष्यार्थ—(सोमराज्ञीः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा चन्द्रमा वा सोमलता को राजा रखने वाली, (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कथनीय और दर्शनीय शुभ गुणों वाली और (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतियों, बड़े विद्वानों द्वारा काम में लायी गयीं, (ब्रह्मीः) बहुत सी (याः) जो (ओषधयः) ताप

जलमेघादीनाम् (उत) अपि च (भूतस्य) प्राणिजातस्य (इमम्) इक्ष्वाकु
संसारम् (अगदम्) अ० ४ । १७ । ८ । नीरोगम् (रुधि) कुरु । अन्यद् गतम्—
अ० ५ । २५ । ७ ॥

१—(याः) (ओषधयः) अ० १ । २३ । १ । ओष+घेद् पाने—किं
ओषस्य तापस्य पिबन्त्यो नाशयिष्यः (सोमराज्ञीः) सर्वैश्वर्ययुक्तः परमेश्वरअन्तः
सोमो वा राजा शासको यासां ताः (ब्रह्मीः) ब्रह्मणः । अनेकविधाः (शतविचक्षणाः)
चक्षिण्य व्यक्तायां वाचि दर्शने च—एषु । बहुकथनीया दर्शनीयशुभगुणयुक्ता

श्रु० ८६ [२६८]

षष्ठं कारणम् ॥ ६ ॥

(१४०५)

नाश करने वाली ओषधि हैं, (ताः) वे (नः) हमको (अंहसः) रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर रचित ओषधियों का यथावत् परीक्षण पूर्वक सेवन करके स्वस्थ रह कर आनन्द पावे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ६७ । १२, १५ और यजु० १२ । ६२, ८६ ॥

मुञ्चन्तु' मा शपथ्याद् दधो' वरुण्यादुत ।

अथो' यमस्य पड्वीवशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२॥

मुञ्चन्तु' । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।

अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात्

भावार्थ—वे [ओषधे] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रियों के दोष से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमादकारक द्रव्यों को छोड़ कर सात्विक भोजन करें। जिससे साधु स्वभाव रहकर सौगन्द, श्रेष्ठों के अपराध, राजा के बन्धन और इन्द्रियों के विकार से पृथक् रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से है—ऋग्० १० । ६७ । १५, यजु० १२ । ६० ॥

(बृहस्पतिप्रसूताः) विद्वद्भिः प्रेरिता विनियुक्ताः (ताः) ओषधयः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) रोगात् ॥ १ ॥

२—(मुञ्चन्तु) विसृजन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे भवात् (अथो) अपि च (वरुण्यात्) वरुणेषु वरेषु भवादपराधात् (उत) अपि (अथो) (यमस्य) न्यायिनो राज्ञः (पड्वीशात्) सत्तैरटिः । उ० १ । १३४ । इति पशुबन्धने—अटि, स च डित् + विश प्रवेशे—क, छान्दसो दीर्घः । पड्विः पदनाम—निघ० ४ । २ । पड्विः पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति वा—निरु० ५ । ३ । पाशप्रवेशात् (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (देवकिल्बिषात्) किल्बिषम्—अ० ५ । १६ । ५ । इन्द्रियाणां दोषात् ॥

यच्चक्षु'षा मन'सा यच्च' वाचोपारिम जाग्रतो यत्
स्वपन्तः । सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

यत् । चक्षु'षा । मन'सा । यत् । च । वाचा । उ-प-आरिम । जाग्रतो
यत् । स्वपन्तः । सोमः । तानि । स्वधया । नः । पुनातु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ पाप (चक्षुसा) नेत्र से (च) और (यत्)
जो कुछ (मनसा) मन से और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से (जाग्रतो)
जागते हुये [अथवा] (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम) हमने किया है ।
(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (नः) हमारे (तानि) उन पापों को
(स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पुनातु) शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के विचार और युक्त आहार विहार से सोते
जागते सदा धर्म का विचार और अनुष्ठान करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ८७ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अभिभूर्य'ज्ञो अभिभूर'ग्रभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।
अभ्य'हं विश्वाः पृतना यथासान्ये वा विधेमाग्नि-
होत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

अभि-भूः । यज्ञः । अभि-भूः । अग्निः । अभि-भूः । सोमः ।

३—(यत्) पापम् । किल्बिषम् । मन्त्र २ (चक्षुषा) नेत्रेण (मनसा)
मननसाधकेन चित्तेन (वाचा) वाण्या (उपारिम) अ० ६ । ४५ । २ । कृतवन्त
(जाग्रतो) जागृ निद्राक्षये—शत्रु । जक्षित्यादयः षट् । पा० ६ । १ । ६ । इत्यभ्य-
स्तत्वात् । नाभ्यस्ताच्छ्रुतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति नुमभावः । जागरदवस्था-
पक्षाः (स्वपन्तः) निद्रालवः (सोमः) सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (तानि)
किल्बिषाणि (स्वधया) अ० २ । २६ । ७ । स्व+दुधाञ् धारणपोषणयोः—क
टाप् । आत्मधारणशक्त्या (नः) अस्माकम् (पुनातु) शोधयतु ॥

सू० ८७ [२७०]

षष्ठं आखण्डम् ॥ ६ ॥

(१४०७)

अभिभूः । इन्द्रः । अभि । अहम् । विश्वा । पृतनाः । यथा ।
असानि । एव । विधेम् । अग्निहोत्राः । इदम् । हविः ॥ १ ॥

भावार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अहम्) मैं (अभिभूः) दुष्टों का
तिरस्कार करने वाला (यज्ञः) पूजनीय, (अभिभूः) शत्रुओं का जीतने वाला
(अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी, (अभिभूः) वैरियों को वश में करने वाला
(सोमः) चन्द्र समान सुख देने वाला और (अभिभूः) दुराचारियों को हराते
वाला (इन्द्रः) महा प्रतापी होकर (विश्वाः) सब (पृतनाः) शत्रु सेनाओं
को (अभि असानि) हरा दूँ । (एव) वैसे ही (अग्निहोत्राः) अग्नि [परमेश्वर,
सूर्य, बिजुली और आग की विद्या] के लिये बाँधी वाले हम लोग (इदम्) यह
(हविः) देने लेने योग्य कर्म (विधेम्) करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आरिभक्त, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाकर
शत्रुओं का नाश करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधु-
नेह पिबत्वत् । बाधेथां दूरं निःश्रुतिं पराचैः कृतं
चिदेनः प्र मुमुक्तमुस्मत् ॥ २ ॥

स्वधा ॥ अस्तु । मित्रावरुणा । विपः-चिता । प्रजा-वत् ।
क्षत्रम् । मधु'ना । इह । पिबत्वत् । बाधेथास् । दूरम् । निः-

१—(अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्त्ता (यज्ञः) पूजनीयः (अभिभूः)
शत्रुजेता (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (अभिभूः) वैरिणां वशयिता (सोमः)
चन्द्रवदाह्लादकः (अभिभूः) दुराचारिणामभिभावयिता (इन्द्रः) महाप्रतापी
(अहम्) जयकामः (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) अ० ३ । २१ । ३ शत्रुवीः
सेनाः (यथा) येन प्रकारेण (अभि असानि) अभिभवानि (एव) एवम् (विधेम्)
विध विधाने । कुर्याम (अग्निहोत्राः) इयामाश्रुमसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ ।
इति इह दानादानादनेषु—त्रन्, टाप् । होत्रा वाक्—निघ० १ । ११ । अग्नये
परमेश्वरस्य सूर्यविद्वत्पावकस्य वा बोधाय होत्रा वाणी येषां ते तथाभूताः (इदम्)
अनष्टीयमानम् (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म ॥

कृतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः । प्र । मुमुक्तम् ।
अस्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विपश्चिता) हे बड़े बुद्धिमान् (मित्रावरुणा) प्राण और
अपान के समान प्रिय माता पिता ! [हम में] (स्वधा) आत्म धारण शक्ति
(अस्तु) होवे, (प्रजावत्) उत्तम प्रजाओं से युक्त (क्षत्रम्) राज्य को (मधुना)
मधुविद्या से [ईश्वर ज्ञान से] (इह) यहां पर (पिन्वतम्) सींचो ।
(निश्कर्तुम्) अलक्ष्मी को (पराचैः) अधोमुख करके (दूरम्) दूर (बाधेयम्)
हटाओ और [इसके] (कृतम्) किये हुये (एनः) दुःख को (चित्)
(अस्मत्) हम से (प्र) अच्छे प्रकार (मुमुक्तम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सन्तान माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर सुख
भोगते हैं, इसी प्रकार मनुष्य उत्तम ज्ञानियों के सत्संग से क्लेशों का नाश करके
सुखी होवे ॥ २ ॥

इमं वीरमनु' हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितंगोजितं वज्रबाहुं जयन्तमउमं प्रमुह्यन्तमोजं स
इमम् । वीरम् । अनु । हर्षध्वम् । उग्रम् । इन्द्रम् । सखायम् ।
अनु । सम् । रभध्वम् । ग्राम-जितम् । गो-जितम् । वज्र-बाहुम् ।
जयन्तम् । अउमं । प्र-मुह्यन्तम् । ओजं स ॥ ३ ॥

२—(स्वधा) अ० ६ । ६६ । ३ । आत्मधारणशक्तिः (अस्तु) भवतु
(मित्रावरुणा) प्राणापानवत् प्रियमातापितरौ (विपश्चिता) अ० ६ । ५२ ।
३ । मेधाविनौ (प्रजावत्) उत्तमप्रजायुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (मधुना)
मधुविद्या । ईश्वरज्ञानेन (इह) अत्र लोके (पिन्वतम्) पिवि सेवके
इदित्वाक्षुम् । लिङ्घतम् । प्रवर्धयतम् (बाधेयम्) निवर्त्तयतम् (दूरम्)
(निश्कर्तुम्) अ० १ । ३१ । २ । अलक्ष्मीम् कृत्वा पत्तिम्—निरु० २ । १० ।
(पराचैः) अ० २ । १० । ५ । पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) निश्कर्त्वा निष्का
दितम् (चित्) अपि (एनः) दुःखम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) छान्दसः अण
शुः । मोचयतम् (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः सकाशात् ॥

भावार्थ—(सखायः) हे परस्पर सहायक मित्रो ! (इमम्) इस (वीरम् अनु) वीर सेनापति के साथ (हर्षध्वम्) हर्ष करो, (ओजसा) अपने शरीर, बुद्धि और सेना बल से (ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूह को जीतने वाले, (गोजितम्) उनकी भूमि को जीतने वाले, (वज्रबाहुम्) अपनी भुजाओं में शस्त्र रखने वाले, (अजम्) संग्राम को (जयन्तम्) विजय करने वाले, (प्रमृणन्तम्) वैश्यों को मार डालने वाले (उग्रम्) तेजस्वी, (इन्द्रम् अनु) महा प्रतापी सेनाध्यक्ष के साथ होकर (सम्) अच्छे प्रकार (रमध्वम्) युद्ध आरम्भ करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति और सैनिक लोग परस्पर सहायक होकर शत्रुओं का राज्य आदि पाकर प्रजापालन करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजा धर्म विषय में पृष्ठ २२४ पर व्याख्यात है, और कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ३८ ॥

सूक्तम् ॥ टं० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः ॥ २ बृहती ॥ ३ विराट् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रो'जयाति न परां जयाता अधिराजो राजंसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसदो नमस्यो भवेह ॥१॥

इन्द्रः । जयाति । न । परां । जयातै । अधि-राजः । राज-सु ।

राजयातै । चर्कृत्यः । ईड्यः । वन्द्यः । च । उप-सदः ।

३—(इमम्) (वीरम्) शूरं सेनापतिम् (अनु) अनुसृत्य (हर्षध्वम्) हर्ष प्रामुत (उग्रम्) तेजस्विनम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनाध्यक्षम् (अनु) अनगत्य (सम्) सम्यक् (रमध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत (ग्रामजितम्) जि-क्विप् । शत्रुसमूहजेतारम् (गोजितम्) शत्रुभूमिविजयिनम् (वज्रबाहुम्) वज्राःशस्त्राणि बाह्वोर्यस्य तं (जयन्तम्) तृभूवद्विवसि० । उ० ३ । १२८ । जि जये—भक् । विजयिनम् (अजम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । अज गतिक्षेपणयोः मनिन् । संग्रामम्—निष्क्र० २ । १७ (प्रमृणन्तम्) प्रकर्षेण शत्रुमारयन्तम् (ओजसा) स्वस्य शरीरबुद्धिसेनावलेन ॥

नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमात्मा [हमें] (जयाति) विजय करावे, और (न पराजयातै) कभी न हरावे, (अधिराजः) महाराज, अधिराज जगदीश्वर [हमें] (राजयातै) राजा बनाये रखे । [हे महाराजेश्वर] (चकृत्यः) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर, (ईड्यः) प्रशंसनीय, (वन्द्यः) वन्दना योग्य, (उपसद्यः) शरण लेने योग्य (च) और (नमस्यः) नमस्कार योग्य तू (इह) यहां [हमारे बीच] (भव) वर्तमान हो ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य राजा और प्रजा एक सर्वनियन्ता सर्वाधीश परमात्मा पिता जगदीश्वर को महाराजाधिराज जान कर धर्म से परस्पर पालन में प्रवृत्त रहें ॥१॥

मन्त्र १, २, अथर्ववेदादिभाष्य भूमिका, राजप्रजाधर्म विषय, पृष्ठ २३१ में व्याख्यात है ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूर्भुविभूतिर्जनानाम् ।
त्वं देवीर्विशद्भुमा वि राजायुष्मत् क्षत्रसृज रते अस्तु ॥ १ ॥
त्वस् । इन्द्र । अधि-राजः । श्रवस्युः । त्वस् । भुः । भूतिः । जनानाम् । त्वस् । देवीः । विशः । द्रुमाः । वि । राज । । आयुष्मत् । क्षत्रसृज । अजरसृ । ते । अस्तु ॥ २ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (जयाति) लेटि रूपं णिजर्थः । विजापयेत् स्वसेवकान् (न परा जयातै) मा पराजयं प्रापयेत् (अधिराजः) राजाहःसखिभ्यष्ट् । पा० । ५ । ४ । ६१ । इति राजशब्दात्-टच्, टेलोपश्च । सर्वेषां राज्ञामधिपतिः (राजसु) चक्रवर्तिराजसु मारुडलिकेषु च (राजयातै) णिचि लेटि रूपम् । राजयेत् । राज्ञः कुर्यात् (चकृत्यः) यङ्लुगन्तात्करोते—क, ततः साध्वर्थे यत् । चकृतेषु, अतिशयेन कर्तव्येषु कर्मसु साधुः कुशलः (ईड्यः) स्तुत्यः (वन्द्यः) वन्दनीयः (उपसद्यः) उपसदनीयः शरणयोग्यः (नमस्यः) नमस्करणीयः । माननीयः (भव) वर्तस्व (इह) अत्र । अस्मासु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (त्वम्) तू (भवस्युः) सब की सुनने वाला (अधिराजः) राजराजेश्वर, (त्वम्) तू ही (जनानाम् अभिभूतिः) अपने भक्तों का सब प्रकार ऐश्वर्यदाता [यद्वा, पामर जनों का तिरस्कार करने वाला] (भूः=अभूः) हुआ है । (त्वम्) तू (इमाः) इन (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं पर (वि) विविध प्रकार से (राज) राज्य कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) राज्य [हमारे लिये] (आयुष्मत्) उत्तम जीवन वाला और (अजरम्) जरारहित [नित्य तरुण] (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमदयालु परमात्मा का शरण लेकर सब प्रकार उन्नति करते हुये चिरस्थायी सुख प्राप्त करे ॥ २ ॥

प्राच्यां दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतीदीच्या दिशो वृत्र-
हन्क्षत्रुहोसि । यत्र यन्ति स्त्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो
वृषभ एषि हव्यः ॥३॥

प्राच्याः । दिशः । त्वम् । इन्द्र । असि । राजा । उत । उदीच्याः ।
दिशः । वृत्रहन् । शत्रु-हः । असि । यत्र । यन्ति । स्त्रोत्याः ।
तत् । जितम् । ते । दक्षिणतः । वृषभः । एषि । हव्यः ॥३॥

२—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् भगवान् (अधिराजः) म० १ ।

राज्ञामधिको राजा (भवस्युः) भू—असुन् । भवः भवणम् । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ।
पा० ३ । १ । ११ । इति क्यङ् । क्यच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उपत्ययः ।
भव इवाचरतीति । सर्वस्य श्रोता (भूः) लुङि अडभावः । अभूः (अभिभूतिः)
अभितः सर्वतो भूतिरैश्वर्यं यस्मात्सः । सर्वैश्वर्यदाता । यद्वा, अभिमवितः
तिरस्कृता (जनानाम्) भक्तानां पामरजनानां वा (दैवीः) दिव्यगुणसम्पन्नोः
(विशः) प्रजाः (इमाः) दृश्यमानाः (वि) विविधम् (राज) राज्य । शधि
(आयुष्मत्) उत्तमजीवनयुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (अजरम्) जरारहितम् ।
नित्यतरुणम् (ते) तब (अस्तु) भवतु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) पूर्व
वा स्वमुख वाली दिशा का (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर वा याम
दिशा का (राजा असि) राजा है, (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक ! तू (शत्रुहः)
हमारे शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है । (यत्र) जिस स्थान में (स्रोत्याः)
जल धाराये (यन्ति) चलती हैं, (तत्) वह स्थान [समुद्र वा अन्तरिक्ष]
(ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (वृषभः) महाप्राक्रमी, (हव्यः) आवाह
योग्य तू (दक्षिणतः) हमारी दाहिनी ओर (एषि) पहुँचता है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर सब स्थान और सब काल में सब का शासक है,
जो ननुष्य उस पर विश्वास करते हैं वह उनका सदा सहायक होता है ॥३॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

संग्रामजयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूणाहुर्वे ।

ह्वयाम्युग्रं चेतारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । इन्द्र । वरिमतः । पुरा । त्वा । अंहूणात् । हुर्वे ।

ह्वयामि । उग्रम् । चेतारम् । पुरुणामानम् । एकजम् ॥ १ ॥

३—(प्राच्याः) पूर्वस्याः । अभिमुखाभूतायाः (दिशः) दिशायाः
(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमात्मन् (असि) (राजा) शासकः (उत)
अपिच (उदीच्याः) उत्तरस्याः । वामभागभवायाः (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक
(शत्रुहः) आशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति हन्तेर्ङ । शत्रूणां हन्ता (यत्र)
यस्मिन् स्थाने (यन्ति) प्रवहन्ति (स्रोत्याः) स्रोतसो विभाषा ह्यङ्ङ्यौ ।
पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्—ङ्य । स्रोतसि भवाः । नद्यः—निघ० १ । १३ ।
जलधाराः (तत्) स्थानम् । समुद्रोऽन्तरिक्षं वा (जितम्) वशीकृतम् (ते)
तव (दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन (वृषभः)
अ० ४ । ५ । १ । वृषु परमैश्वर्ये—अभच् । महाप्राक्रमी (एषि) गच्छसि (हव्यः)
बहुलं ह्वयसि पा० ६ । १ । ३४ । इति ह्वयतेः सम्प्रसारणे । अचो यत् । पा० ३ ।
१ । ६७ । इति यत् । आह्वातव्यः ॥

दू० ८८ [२७२]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१३१३)

भाषार्थ—(इन्द्र) हे संपूर्ण ऐश्वर्य वाले इन्द्र जगदीश्वर ! (त्वा त्वा) तुझको, तुझको (वरिमतः) तेरे विस्तार के कारण (अंह्रणात्) पाप वाले कर्म से (पुरा) पहिले (अभि) सब ओर से (हुवे) मैं बुलाता हूँ । (उग्रम्) तेजस्वी, (चेत्तारम्) सत्य और असत्य के जानने वाले, (पुरुनामानम्) अनेक उत्तम नाम वाले, (एकजम्) अकेले उत्पन्न [अद्वितीय, तुझ प्रभु] के (ह्वामि) मैं पुकारता हूँ ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि उस जगदीश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् जान कर पाप कर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करते रहें ॥१॥

यो अद्य सेन्यो वृधो जिघांसन् न उदीरते ।

इन्द्रस्य तत्र बाहू समुन्तं परि दध्नः ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वृधः । जिघांसन् । नः । उत्-दीरते ।

इन्द्रस्य । तत्र । बाहू इति । समुन्तम् । परि । दध्नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (यः) (सेन्यः) शत्रु सेना सम्बन्धी (वृधः) शस्त्र समूह (जिघांसन्) मारने की इच्छा करता हुआ (नः) हम पर (उदीरते) चढ़ा आता है । (तत्र) उसमें (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के

१—(अभि) अभितः (त्वा) त्वाम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर (वरिमतः) अ० ४ । ५ । २ । उरुत्वात् । विस्तारहेतीः (पुरा) पूर्वम् (त्वा) (अंह्रणात्) अर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ । उ० ४ । ६० । इति अहि गतौ-ऊर-प्रत्ययः, इदिस्वानुम् । पामादिभ्यो नः । वा० पा० ५ । २ । १०० । इति मत्वर्थे नः । आङ्पूर्वार्द्धन्तेर्वा रूपमुन्नेयम् । अंहरोऽहंस्वाअंह्रणमित्यप्यस्य भवति—निरु० ६ । २७ । अंहस्वतः पापयुक्तात् कर्मणः (हुवे) ह्वामि (ह्वामि) (उग्रम्) तेजस्विनम् (चेत्तारम्) सत्यासत्ययोर्विज्ञातारम् (पुरुनामानम्) पुरुमिर्बहुभिः प्रशस्तैर्नामधेयैर्युक्तम् (एकजम्) एकं जातम् । अद्वितीयम् ॥

२—(यः) (अद्य) वर्तमाने दिने (सेन्यः) सेना-यत् । शत्रुसेनासंबन्धी (वृधः) हननसाधकः शस्त्रसमूहः (जिघांसन्) हन्तुमिच्छन् (नः) अस्मान् (उदीरते) उद्गच्छति (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (तत्र) तस्मिन्

(बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तः) सब प्रकार (परिदक्षः) हम ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य कठिन समय में परमात्मा का आश्रय लेकर शत्रु का साम्हना करके दुःख से निवृत्त होवें ॥ २ ॥

परि देव्य इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोमं राजन्सुमनसं मा कुरु स्वस्तये ॥ ३ ॥
परि । देव्यः । इन्द्रस्य । बाहू इति । समन्तम् । त्रातुः । त्रा-
यताम् । नः । देव । सवितः । सोमं । राजन् । सु-मनसम् ।
मा । कुरु । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भावार्थ—(त्रातुः) रक्षा करने वाले (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तम्) सब प्रकार (परिदक्षः) हम ग्रहण करते हैं, वह (नः) हमारी (त्रायताम्) रक्षा को (देव) प्रकाश स्वरूप, (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) संपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) राजन् जगदीश्वर ! (स्वस्तये) कल्याण पाने के लिये (मा) मुझे (सुमनसम्) उत्तम विचार वाला (कुरु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्म की भुजाओं में शरण लेकर शुद्ध अन्तःकरण से पुरुषार्थ करके सुखी रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०० ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाह द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।

कर्मणि (बाहू) भुजवद्बलपराक्रमौ (समन्तम्) सर्वतः (परिदक्षः) अङ्गीकुर्मः । आश्रयामः ॥

३—(त्रातुः) रक्षकस्य (त्रायताम्) स रक्षतु (नः) अस्मान् (देव) हे प्रकाशस्वरूप (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) परमैश्वर्यवान् (राजन्) सर्वनियामक (सुमनसम्) शोभनमननयुक्तम् (मा) माम् (कुरु) कुरु (स्वस्तये) वीमाय ॥

सू० १०० [२७३]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१४१५)

तिस्रः सरस्वतीरदुः सचिन्ता विषदूषणम् ॥१॥

देवाः । अदुः । सूर्यः । अदात् । द्यौः । अदात् । पृथिवी । अदात् ।

तिस्रः । सरस्वतीः । अदुः । स-चिन्ताः । विष-दूषणम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जलदाता भेदों ने (विषदूषणम्) विषनाशक ओषध रूप विज्ञान को (अदुः) दिया है, (सूर्यः) सूर्य ने (अदात्) दिया है, (द्यौः) अन्तरिक्ष ने (अदात्) दिया है, (पृथिवी) पृथिवी ने (अदात्) दिया है । (सचिन्ताः) समान ज्ञानवाली (तिस्रः) तीनों (सरस्वतीः) विज्ञान वाली देवियों ने (अदुः) दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ सूर्य आदि पदार्थों और विद्याओं से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

तीन देवियां यह हैं [अ० ५ । १२ । ८] १—भारती, पोषण करने वाली विद्या, २—इडा, स्तुति योग्य नीति और ३—सरस्वती, विज्ञानवाली बुद्धि ॥

यद् देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्पुङ्कम् ।

तेन देवप्रसूतेन दं दूषयता विषम् ॥२॥

यत् । वः । देवाः । उप-जीकाः । आ-असिञ्चन् । धन्वन्ति ।

उदकम् । तेन । देव-प्रसूतेन । इदम् । दूषयत् । विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) हे [परमेश्वर के] आश्रित प्राणियो । (वः) तुम्हारे लिये (देवाः) विद्वानों ने (धन्वन्ति) निर्जल स्थान में (यत् उदकम्)

१—(देवाः) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा-
निरु० ७ । १५ । जलप्रदा मेघाः (अदुः) दत्तवन्तः (सूर्यः) आदित्यः (अदात्)
दत्तवान् (द्यौः) अन्तरिक्षम् (पृथिवी) भूमिः (तिस्रः) त्रिखंख्याकाः (सर-
स्वतीः) सरस्वत्यः । विज्ञाननवत्यो विद्याः, भारती, इडा, सरस्वतीति—अ० ५ ।
१२ । ८ (सचिन्ताः) समानज्ञानाः (विषदूषणम्) विषनिवारकौषधरूपं विज्ञानम् ॥

३—(यत्) (वः) युष्मदर्थम् (देवाः) विद्वांसः (उपजीकाः) अ०
२ । ३ । ४ । उप + जीव प्राणधारणे—ईकन्, स च ङित् । उपजीविनः । परमेश्वरा-

जिस जल को (आ—असिञ्चन्) लाकर सींचा है । (देवप्रसूतेन) विद्वान् को दिये हुये (तेन) अमृत से (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयत) नष्ट करो ॥ २ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार विद्वान् लोग मरु स्थल में कूप, तड़ाग, जनाली आदि द्वारा जल लाकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्वान् द्वारा आत्मबोध मिटाकर सुखी होंवें ॥ २ ॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।

दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चक्रार्थारसं विषम् ॥३॥

असुराणाम् । दुहिता । असि । सा । देवानाम् । असि । स्वसा । दिवः । पृथिव्याः । सम्-भूता । सा । चक्रार्थम् । अरसम् । विषम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (असुराणाम्) श्रेष्ठ बुद्धिमानों की (दुहिता) कामनायें पूरी करने वाली (असि) है, (सा) सो तू (देवानाम्) उत्तम पुरुषों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली (असि) है । (दिवः) स्वर्ग से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (संभूता) उत्पन्न हुई (सा) उस दुष्ट (विषम्) विष को (अरसम्) निर्बल (चक्रार्थम्) कर दिया है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जैसे सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से उत्पन्न ओषधियों से उपकार होता है, वैसे ही मनुष्य परोपकार करके परस्पर लाभ उठावें ॥ ३ ॥

श्रिताः प्राणिनः (आ—असिञ्चन्) आनीय सिक्तवन्तः (धन्वनि) मरुदेवों (उदकम्) जलम् (तेन) तब सहने हासे च, यद्वा तर्द हिंसे—ड । अमृतम् (देवप्रसूतेन) विद्वद्भिः प्रेषितेन (इदम्) (दूषयत) नाशयत (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

३—(असुराणाम्) प्रज्ञावताम्—निरु० १० । ३४ । (दुहिता) अ० ५ । १० । १३ । कामानां पूरयित्री (असि) (स्वसा) अ० ५ । ५ । १ । सु+अस् दीप्तौ-ऋन् । सुष्ठु दीपयित्री । स्वसा सुअसा स्वेषु सीदतीति वा—निरु० ११ । ३२ । (दिवः) आदित्यात् (पृथिव्याः) भूमेः (सम्भूता) उत्पन्ना (चक्रार्थम्) कृतवती (अरसम्) निर्वीर्यम् (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

सू० १०१ [२७४] षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१४१७)

सूक्तम् ॥ १०१ ॥

१-३ ॥ राजा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा का धर्म का उपदेश ॥

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च ।

यथाङ्गं वर्धतां शोपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ १ ॥

आ । वृष-यस्व । श्वसिहि । वर्धस्व । प्रथयस्व । च । यथा-
अङ्गम् । वर्धताम् । शोपः । तेन । योषितम् । इत् । जहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (आ) भले प्रकार (वृषायस्व) इन्द्र, बड़े
 धैर्य-वाले पुरुष के समान आचरण कर, (श्वसिहि) जीता रह, (वर्धस्व)
 बढ़ती कर (च) और [हमें] (प्रथयस्व) फैला । (यथाङ्गम्) प्रत्येक अंग में
 [तेरा] (शोपः) सामर्थ्य (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) इसलिये (योषितम्)
 सेवनीय नीति को (इत्) ही (जहि) तू प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा पुरुषार्थ पूर्वक अपनी और प्रजा की उन्नति में सदा
 तत्पर रहे ॥ १ ॥

राज्य की बढ़ती के चार अंग वा उपाय यह हैं [सामदाने भेददण्डा-
 वित्युपायचतुष्टयम्—अमर १८। २०] १—साम, प्रियवचन; २—दान धन देना;
 ३—भेद, शत्रुओं में फूट कर देना; ४—दण्ड ॥

येन कुशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।

तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुर्निवा तानया पसः ॥ २ ॥

३—(आ) समन्तात् (वृषायस्व) कर्तुःक्यङ् सलोपश्च । पा० ३ ।
 १। ११ । इति वृषन्—क्यङ् । वृषा इन्द्र इकाचर (श्वसिहि) श्वस प्राणने ।
 प्राणिहि । बलवान् भव (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (प्रथयस्व) विस्तारय प्रजागणान्
 (च) (यथाङ्गम्) अङ्गान्यनतिक्रम्य । सर्वाङ्गम् (वर्धताम्) वृद्धिं प्राप्नोतु
 (शोपः) अ० ४ । ३७ । ७ । शोते वर्तते शरीरे तत् सामर्थ्यम् (तेन) कारणेन
 (योषितम्) अ० १ । १७ । १ । युयु सेवने-इति । सेव्यां नीतिम् (इत्) एव (जहि)
 हन गतौ । गच्छ ॥

येन । कृशम् । वाजयन्ति । येन । हिन्वन्ति । आतुरम् । तेन ।

अस्य । ब्रह्मणः । पुते । धनुः-इव । आ । तानय । पसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस कर्म से (कृशम्) दुर्बल को (वाजयन्ति) बली करते हैं और (येन) जिस से (आतुरम्) अशान्त पुरुष को (हिन्वन्ति) प्रसन्न करते हैं । (तेन) उसी कर्म से (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः) अनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा निर्बल और रोगियों को यथावत् सुख देकर अपने राज को सदा बढ़ावे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ४।४।६ ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।

क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ३ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्-इव । धन्वनि ।

क्रमस्व । ऋशः-इव । रोहितम् । अनव-ग्लायता । सदा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूँ (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि) अधि धनुष में । (अनवग्लायता) बिना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशः इव) जैसे हिंसक जगु सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्यों से निरालसी होकर शत्रुओं को वश में करके सदा प्रजापालन करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४।४।७ ॥

२—(येन) कर्मणा (कृशम्) दुर्बलम् (वाजयन्ति) वाजयन्ति-अर्चति-निघ० ३।१४। वाजो बलम्-निघ० २।६। अर्श आद्यच् । वाजं बलिं कुर्वन्ति वाजयन्ति (हिन्वन्ति) हिचि प्रीणने । प्रीणयन्ति (आतुरम्) मद्गुण दयश्च । उ० १।४१। अत सातत्य-गमने उरच्, धातो दीघः । अशान्तम् । रोगार्तम् (तेन) कर्मणा । अन्यद्गतम्-अ० ४।४। ६ (पसः) पस दन्त्ये प्राधे च-असुन । राष्ट्रम्-दयानन्द भाष्ये यजु० २३।२२।

३—अयं मन्त्रो व्याख्येयो यथा—अ० ४।४।४७ ॥

सू० १०२ [२७५]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१४९८)

सूक्तम् ॥ १०२ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

जितेन्द्रियत्वोपदेशः—जितेन्द्रिय होने का उपदेश ॥

यथायं ब्राह्मी अश्विना समैति सं च वर्तते ।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥

यथा । अयम् । ब्राह्मः । अश्विना । सम्-येति । सम् । च ।
 वर्तते । एव । माम् । अभि । ते । मनः । सम्-येतु' । सम् ।
 च । वर्तताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम
 वाले पुरुष ! (यथा) जैसे (अयम्) यह (ब्राह्मः) लद्दू पशु [घोड़ा बैल
 मूआदि] (समैति) मिलकर आता है (च) और (सम्) ठीक ठीक (वर्तते)
 वर्तता है । (एव) वैसे ही [हे जीव !] (माम् अभि) मेरी ओर (ते मनः)
 तेरा मन (समैतु) मिल कर आवे (च) और (सम् वर्तताम्) ठीक ठीक
 वर्ताने करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य पशु आदि को शिक्षा देकर सुमार्ग पर चलाता है,
 वैसे ही जितेन्द्रिय पुरुष मन को वश में करके शुभ मार्ग में अपने को चलावे ॥१॥

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्टयामिव ।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं सयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

आ । अहम् । खिदामि । ते । मनः । राज-अश्वः । पृष्टयाम्-इव ।

१—(यथा) येन प्रकारेण (अयम्) पुरोवर्तमानः (ब्राह्मः) भार-
 वाहकः पशुः (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसादित्येके—
 निरु० १२ । १ । हे सूर्यचन्द्रतुल्यनियमवन् पुरुष (समैति) संगत्यागच्छति
 (सम्) सम्यक् (च) (वर्तते) भवति (एव) एवम् (माम्) जितेन्द्रिय
 (अभि) प्रति (ते) तव (मनः) मननसाधनं चित्तम् (समैतु) संगत्या-
 गच्छतु (सम् च वर्तताम्) ॥

(१४२०)

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १०२ [२७५]

रेष्मच्छिन्नम् । यथा । तृणम् । मयि । ते । वेष्टताम् । मनः ॥२॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (अहम्) मैं (ते मनः) तेरे मन को (आ-
खिदामि) ऐसे खींचता हूँ (इव) जैसे (राजाश्वः) बड़ा अश्ववार (पृष्ट्याम्)
बागडोर को । (मयि) मुझ में (ते मनः) तेरा मन (वेष्टताम्) लिपटा रहे
(यथा) जैसे (रेष्मच्छिन्नम्) व्याकुल करने वाली आंधी से तोड़ा गया
(तृणम्) घास ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य अपने मन को कुविषयों से खींच कर तत्त्व विचार में
पेसा लगावे, जैसा सुसारथी चंचल घोड़े को बागडोरी से वश में करता है,
अथवा जैसे घास आंधी से दूट कर आंधी के वश में हो जाती है ॥ २ ॥

आञ्जनस्य मृदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।

तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्गरे ॥ ३ ॥

आ-आञ्जनस्य । मृदुघस्य । कुष्ठस्य । नलदस्य । च । तुरो
भगस्य । हस्ताभ्याम् । अनु-रोधनम् । उत् । भुरे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आञ्जनस्य) संसार के प्रकट करने वाले, (मृदुघस्य)
आनन्द के सींचने वाले, (कुष्ठस्य) गुण जांचने वाले, (नलदस्य) बन्धन काटने

२—(अहम्) जितेन्द्रियः (आखिदामि) आकर्षामि (ते) तव (मनः)
अन्तःकरणम् (राजाश्वः) अश्वमारोहतीति अश्वारूढः, स एव अश्वः । विनापि
प्रत्यं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० पू० ३ । ८३ । इत्यारूढपद-
लोपः राजाश्वारूढः=राजाश्वः, कुशलोऽश्वारूढः (पृष्ट्याम्) पृष्ठ से चन हिंसा
संकलेशनेषु—किन्, ततो यत् । पृष्टौ क्लेशसाधनायां रज्ज्वां भवं रश्मिं प्रग्रहम्
(इव) यथा (रेष्मच्छिन्नम्) रिष हिंसायाम्—मनिन् । रेषकेण तीव्रवायुना
भग्नम् (यथा) येन प्रकारेण (मयि) ममवशे (ते) तव (वेष्टताम्) आच्छाद्य-
ताम् (मनः) ॥

३—(आञ्जनस्य) अ० । ४ । ६ । ३ आङ् + अञ् व्यक्ती—व्युद् ।
यथाघत्संसारस्य व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (मृदुघस्य) मृमृशीङ् ० । ३० । १ । ७ । इति
मद हर्षे—उप्रत्ययः + घृ सेके भासे च—ङ । हर्ष सेचकस्य (कुष्ठस्य) अ० ५ ।

सू० १०३ [२७६]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

(१४२१)

घाले, (तुरः) शीघ्रकारी, (च) और (भगस्य) बड़े ऐश्वर्यवाले ब्रह्म के (अनुरोधनम्) यथावत् पूजन को (हस्ताभ्याम्) अपने दोनों हाथों [में बल] के लिये (उत्) उत्तम रीति से (भरे) मैं धारण करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस जगदीश्वर के अनन्त शुभगुणों का विचार करके अथवा पूर्वक सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

इति दशमोऽनुवाकः ।

~~~~~

## अथैकादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १०३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रु पराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

सुन्दानं वो बृहस्पतिः सुन्दानं सविता कर्तु ।

सुन्दानं मित्रो अर्यमा सुन्दानं भगो अश्विनी ॥ १ ॥

सुम्-दानम् । वः । बृहस्पतिः । सुम्-दानम् । सविता । कर्तु ।

सुम्-दानम् । मित्रः । अर्यमा । सुम्-दानम् । भगः । अश्विनी ॥१॥

भाषार्थ—[ हे शत्रु लोगो ! ] ( बृहस्पतिः ) बड़े बड़े सैनिकों का स्वामी ( वः ) तुम्हारा ( सुन्दानम् ) खण्डन, ( सविता ) प्रेरणा करने वाला सेनाध्यक्ष

४।१। कुष निष्कर्षे—कथन् । गुणपरीक्षकस्य ( मल्लस्य ) अ० ४। ३७। ३।  
 यत्त बन्धने—अच्+दे अवखण्डने—क । बन्धनच्छेदकस्य ( च ) ( तुरः )  
 तुर त्वरणे—किप् । वरणशीलस्य ( भगस्य ) ऐश्वर्यवतो ब्रह्मणः ( हस्ताभ्याम् )  
 हस्तयोर्बलप्राप्तये ( अनुरोधनम् ) यथावत्पूजनम् ( उत् ) उत्कर्षेण ( भरे ) हृदये धरामि ॥

१—( सुन्दानम् ) वो अवखण्डने—ल्युट् । सम्यग् बन्धनं खण्डनं वा ( वः ) युष्माकम् ( बृहस्पतिः ) बृहतां सैनिकानां स्वामी, सेनापतिः ( सविता )



( १४२२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १०३ [ २७६ ]

( सन्दानम् ) तुम्हारा बन्धन, ( मित्रः ) सब का मित्र ( अर्यमा ) न्यायाधीश  
 ( सन्दानम् ) तुम्हारा खण्डन, ( अश्विना ) सूर्य चन्द्रमा के समान नियम वाला  
 ( भगः ) ऐश्वर्यवान् राजा ( सन्दानम् ) तुम्हारा बन्धन ( करत् ) करे ॥१॥

भावार्थ—रणक्षेत्र में सब सेनापति लोग अपनी अपनी सेना से शत्रुओं को मारें और बांधें ॥१॥

सं परमान्तसमवमानथो सं द्यामि मध्यमान् ।

इन्द्रस्तान् पर्यहृदाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

सम् । परमान् । सम् । अवमान् । अथो इति । सम् । द्यामि ।  
 मध्यमान् । इन्द्रः । तान् । परि । अह्राः । दाम्ना । तान् ।  
 अग्ने । सम् । द्या । त्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( परमान् ) ऊंचे बैरियों को ( सम् ) यथावत्, ( अवमान् ) नीचे शत्रुओं को ( सम् ) यथावत् ( अथो ) और ( मध्यमान् ) बीच वाले शत्रुओं को ( सम् ) यथावत् ( द्यामि ) खण्ड खण्ड करता हूँ । ( इन्द्रः ) महाप्रतापी राजा ने ( तान् ) चारों को ( परि ) सब ओर से ( अह्राः ) नाश कर दिया है, ( अग्ने ) हे विद्वान् राजन् ! ( त्वम् ) तू ( दाम्ना ) पाश से ( तान् ) म्लेच्छों को ( सम् य ) बांध ले ॥२॥

भावार्थ—प्रत्येक सैनिक सेनादल में शत्रुओं को सब स्थान से मारें और बांधें ॥२॥

सर्वप्रेरकः । सेनाध्यक्षः ( करत् ) कुर्व्यात् ( मित्रः ) सर्वसखा ( अर्यमा ) अ० ३ । १४ । २ । न्यायाधीशः ( भगः ) ऐश्वर्यवान् ( अश्विना ) सूर्यचन्द्रवद्वे-  
 नियमवान् पुरुषः ॥

२—( सम् ) सम्यक् ( परमान् ) उच्चस्थान् शत्रून् ( सम् ) ( अवमान् ) नीचस्थान् ( अथो ) अपि च ( द्यामि ) दो अवखण्डने । खण्डशः करोमि ( मध्यमान् ) मध्यस्थान् ( इन्द्रः ) प्रतापी राजा ( तान् ) तर्दकांश्चोरान् । ( परि ) परितः ( अह्राः ) हरतेर्लुङि च्लेः लिच् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ३ । ६७ । इति ईडभावे । हलङ्ग्याभ्यः ० । पा० ६ । १ । ६८ । इति तलोपे । रात् सस्य । पा० ८ । २ । २४ । इति सलोपः । हतवान् नाशितवान् ( दाम्ना ) पाशेन ( अग्ने ) हे विद्वन् राजन् ( सम् य ) बंधान् ( त्वम् ) ॥



सू० १०४ [ २७७ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४२३ )

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।

इन्द्रस्तान् पर्यहृदाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अमी इति । ये । युधम् । आ-यन्ति । केतून् । कृत्वा ।

अनीक-शः । इन्द्रः । तान् । परि । अहः । दाम्ना । तान् ।

अग्ने । सम् । द्या । त्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अमी ये ) वे जो शत्रु ( केतून् ) ध्वजा पताकायें ( कृत्वा ) बनाकर ( अनीकशः ) टोली टोली से ( युधम् ) युद्ध में ( आयन्ति ) आते हैं । ( इन्द्रः ) महाप्रतापी राजा ने ( तान् ) उन चोरों को ( परि ) सब ओर से ( अहः ) नाश कर दिया है, ( अग्ने ) हे विद्वन् राजन् ! ( त्वम् ) तू ( दाम्ना ) पाश से ( तान् ) म्लेच्छों को ( सम् द्य ) बांध ले ॥ ३ ॥

भाषार्थ—शत्रुओं को रणक्षेत्र में आते हुये देखकर सेनापति ब्यूह रचना करके उन्हें रोके ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।

अपाना ये चैषां प्राणा असुनासुन्तसमच्छिदन् ॥ १ ॥

आ-दानेन । सु-दानेन । मित्रान् । आ । द्या । मसि । अपानाः ।

ये । च । एषाम् । प्राणाः । असुना । असून् । सम् । अच्छिदन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( आदानेन ) आकर्षणपाश से और ( सदानेन ) बन्धन

३—( अमी ) दूरे दृश्यमानाः ( ये ) शत्रवः ( युधम् ) संग्रामम् ( केतून् ) चायः किः । उ० १ । ७४ । चायू पूजानिशामनयोः—तु, यद्वा, कि ज्ञाने—तु । केतुः प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । केतुना कर्मणा प्रजया वा—निरु० ११ । २७ । आप-कान् ध्वजान् ( कृत्वा ) अनुष्ठाय ( अनीकशः ) अ० ५ । २१ । ८ । संघशः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

१—( आदानेन ) आदीयते आबध्यते अनेन । आकर्षणपाशेन ( सदानेन )



पाश से ( अमित्रान् ) अपने शत्रुओं को ( आद्यामसि ) हम बाँधते हैं । ( च ) और ( एषाम् ) इनके ( ये ) जो ( अपानाः ) अपान वायु और ( प्राणाः ) प्राण वायु हैं । ( असून् ) उनके प्राणों को ( असुना ) अपनी बुद्धि से ( सम अच्छिदन् ) उन [ हमारे वीरों ] ने छिन्न भिन्न कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—शूरवीर धावा करके अपने अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीव से हताश करके निर्बल करें ॥ १ ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।

अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥१॥  
इदम् । आ-दानम् । अकरम् । तपसा । इन्द्रेण । सम्-शितम् ।  
अमित्राः । ये । अत्र । नः । सन्ति । तान् । अग्ने । आ । द्या । त्वम् ।

भाषार्थ—( इन्द्रेण ) बड़े पेश्वर्य वाले आचार्यकरके ( संशितम् ) तीक्ष्ण किया गया ( इदम् ) यह ( आदानम् ) आकर्षण यन्त्र ( तपसा ) तप से ( अकरम् ) मैं ने बनाया है । ( अत्र ) यहां पर ( नः ) हमारे ( ये ) जो ( अमित्राः ) शत्रु ( सन्ति ) हैं, ( तान् ) उनको ( अग्ने ) हे तेजस्वी राजन् ! ( त्वम् ) ( आ द्य ) बाँध ले ॥ २ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति से सेनापति लोग अस्त्र शस्त्र बना कर शत्रुओं को वश में करें ॥ २ ॥

बन्धनपाशेन ( अमित्रान् ) शत्रून् ( आद्यामसि ) बध्नीमः ( अपानाः ) बहिर्गमनशीलाः श्वासवृत्तयः ( ये ) ( च ) ( एषाम् ) शत्रूणाम् ( प्राणाः ) अन्तर्गमनश्वासाः ( असुना ) स्वप्रज्ञया—निघ० ३ । ६ । ( असून् ) शत्रुप्राणान् ( सम ) सम्यक् ( अच्छिदन् ) छिदिर् द्वैधीकरणे । छिन्नवन्तः शूराः ॥

२—( इदम् ) निर्दिष्टम् ( आदानम् ) आकर्षणपाशम् ( अकरम् ) अकरम् ( तपसा ) तपोबलेन ( इन्द्रेण ) पेश्वर्यवता गुरुणा ( संशितम् ) सम्यक् तीक्ष्णीकृतम् ( अमित्राः ) शत्रवः ( ये ) ( अत्र ) अस्मिन् संग्रामे ( नः ) अस्माकम् ( सन्ति ) वर्तन्ते ( तान् ) शत्रून् ( अग्ने ) हे तेजस्विन् राजन् ( आ द्य ) बध्ना पाशयन्त्रेण गृहाण ( त्वम् ) ॥



सू० १०५ [ २७८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४२५ )

ऐनान् दत्तामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मे दिनौ ।

इन्द्रो मरुत्वानादानमभिन्नेभ्यः कृणोत नः ॥ ३ ॥

आ । एनान् । दत्ताम् । इन्द्राग्नी इति । सोमः । राजा ।

च । मे दिनौ । इन्द्रः । मरुत्वान् । आ-दानम् । अभिन्नेभ्यः ।

कृणोतु । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( इन्द्राग्नी ) वायु और अग्नि के समान गुणवान् ( मेदिनौ ) प्रीति करने वाले ( सोमः ) सेनाप्रेरक युद्धमन्त्री ( च ) और ( राजा ) ऐश्वर्यवान् न्यायाधीश दोनों ( एनान् ) इन शत्रुओं को ( आद्यताम् ) बांध लेवें । ( मरुत्वान् ) शूनों को साथ रखने वाला ( इन्द्रः ) महाप्रतापी राजा ( नः ) हमारे ( अभिन्नेभ्यः ) शत्रुओं के लिये ( आदानम् ) आकर्षण यन्त्र ( कृणोतु ) बनावे ॥३॥

भाषार्थ—सेनासचिव, न्यायमन्त्री और मुख्य सेनापति अपने शूरवीरों से शत्रुओं को परास्त करें ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०५ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्कर्षप्राप्त्युपदेशः—महिमा पाने के लिये उपदेश ॥

यथा मनौ मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पतु मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा । मनः । मनुः-केतैः । पुरा-पतति । आशु-मत् । एव ।

त्वम् । कासे । प्र । पतु । मनसः । अनु । प्र-वाय्याम् ॥ १ ॥

३ —( एनान् ) शत्रून् ( आद्यताम् ) बन्धीताम् ( इन्द्राग्नी ) वायवसिबद्ध गुणवन्तौ । इन्द्राग्नी=वायवग्नी—दयानन्द भाष्ये यजु० २१ । २० ( सोमः ) सेनाप्रेरको युद्धमन्त्री ( राजा ) ऐश्वर्यवान् न्यायसचिवः ( च ) ( मेदिनौ ) मिद स्नेहने—यिनि । स्नेहिनौ ( इन्द्रः ) महाप्रतापी राजा ( मरुद्भिः ) मरुद्भिः शूरवीरैर्युक्तः—अ० १ । २० । १ । ( आदानम् ) आकर्षणयन्त्रम् ( अभिन्नेभ्यः ) शत्रूणां बन्धाय ( कृणोतु ) करोतु ( नः ) अस्माकम् ॥



भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( मनः ) मन ( मनस्कैतैः ) मन के विषयों के साथ ( आशुमत् ) शीघ्रता से ( परापतति ) आगे बढ़ता जाता है । ( एव ) वैसे ही [ हे मनुष्य ! ] ( त्वम् ) तू ( कासे ) ज्ञान वा उपाय के बीच ( मनसः ) मन के ( प्रवाय्यम् अनु ) प्राप्ति योग्य देश की ओर ( प्र पत ) आगे बढ़ ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य मन की कुवृत्तियों को रोक कर ज्ञान पूर्वक शुभकर्म से शीघ्र लगावे ॥१॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा । बाणः । सु-संशितः । परा-पतति । आशु-मत् । एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । पृथिव्याः । अनु । सु-संवतम् ॥२॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( सुसंशितः ) यथाविधि तीक्ष्ण किया हुआ ( बाणः ) बाण वा शब्द ( आशुमत् ) वेग से ( परापतति ) आगे बढ़ा जाता है । ( एव ) वैसे ही [ हे मनुष्य ! ] ( त्वम् ) तू ( कासे ) ज्ञान वा उपाय के बीच ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( संवतम् अनु ) यथावत् सेवनीय देश की ओर ( प्रपत ) आगे बढ़ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार यथावत् सन्धान किया हुआ बाण और ठीक ठीक बोला गया शब्द लक्ष्य पर शीघ्र पहुँचता है, वैसे ही मनुष्य यथावत् ज्ञान और उपाय से पृथिवी पर अभीष्ट पदार्थ को शीघ्र प्राप्त करे ॥ २ ॥

१—( यथा ) येन प्रकारेण ( मनः ) मननसाधकमिन्द्रियम् ( मनस्कैतैः ) कित ज्ञाने—घञ् । अन्तःकरणस्य ज्ञायमानैर्विषयैः सह ( परापतति ) आभिख्येन गच्छति ( आशुमत् ) यथा तथा । शीघ्रम् ( एव ) एवम् ( त्वम् ) हे मनुष्य त्वम् ( कासे ) कस गतौ—घञ् । ज्ञाने । उपाये ( मनसः ) अन्तःकरणस्य ( अनु ) अनुलक्ष्य ( प्रवाय्यम् ) भय्यप्रवय्येचच्छन्दसि । पा० ६ । १ । ८३ । इति प्र + घी गतौ—यत्, अयादेशश्च, छान्दसो दीर्घः । प्रघय्यं प्रगन्तव्यं देशम् । अवधिम् ।

२—( बाणः ) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति षण् शब्दे—घञ् । बाणो वाक्—निघ० १ । ११ । शरः । शब्दः ( सुसंशितः ) शो तनूकरणे—क । सुष्ठु सम्यक् तीक्ष्णीकृतः ( पृथिव्याः ) भूम्याः ( संवतम् ) अ० ६ । २६ । ३ । सम् + वन संभक्तौ—किप्, नकारलोपे तुक् । सम्यगू वनतीय सेवनीय देशम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥



सू० १०६ [ २७८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥ .

( १४२७ )

यथा सूर्यस्य रुश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु' विक्षुरम् ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यस्य । रुश्मयः पुरा-पतन्ति । आशु-मत् । एव ।

त्वम् । कासे । प्र । पतु । समुद्रस्य । अनु । वि-क्षुरम् ॥३॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे (सूर्यस्य) सूर्य की ( रुश्मयः ) किरणें (आशुमत्) शीघ्र ( परापतन्ति ) आगे बढ़ती जाती हैं । ( एव ) वैसे ही [ हे मनुष्य ! ] ( त्वम् ) तू ( कासे ) ज्ञान वा उपाय के बीच (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (विक्षुरम् अनु) प्रवाहस्थान [ मेघ मण्डल आदि ] की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥३॥

भाषार्थ—मनुष्य सूर्य की किरणों के समान बे रोक शीघ्रगामी होकर विज्ञान पूर्वक पुष्पक विमान आदि द्वारा अन्तरिक्ष में प्रवेश करे ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०६ ॥

१-३ ॥ शालादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

दुर्गनिर्माणोपदेशः—गढ़ बनाने का उपदेश ॥

आयने ते पुरायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।

उत्सौ वा तत्र जायतां हृदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥

आ-अयने । ते । पुरा-अयने । दूर्वाः । रोहन्तु । पुष्पिणीः ।

उत्सः । वा । तत्र । जायताम् । हृदः । वा । पुण्डरीक-वान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे ( आयने ) आगमनमार्ग और ( परायणे ) निकास में ( पुष्पिणीः ) फूलवाली ( दूर्वाः ) दूब घासे ( रोहन्तु )

३—( सूर्यस्य ) भूचन्द्रादिलोकप्रेरकस्यादित्यस्य ( रुश्मयः ) अ० २ । ३२ । १ । व्यापनाः किरणाः (समुद्रस्य) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (विक्षुरम्) विविधं क्षरणं प्रवाहो यस्मिन् तं देशं मेघमण्डलादिलोकम् । अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—( आयने ) आङ्+इण् गतौ—ल्युट् । आगमने (ते) तव ( परायणे ) इण्-ल्युट् । बहिर्गमने ( दूर्वाः ) दुर्वी हिंसायाम्—अ । स्वनामख्यातघासाः ।



उगे । ( वा ) और ( तत्र ) वहां ( उत्सः ) कुआ ( वा ) और ( पुण्डरीकवान् ) कमलों वाला ( हृदः ) ताल ( जायताम् ) होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्ग और घरों के आस पास के दृश्य को सुख बढ़ाने वाले दूध, जल, कमल आदि से स्वस्थता के लिये सुशोभित रखे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० स० १४२ म० ८॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।

मध्ये हृदस्य नो गुहाः पराचीना मुखी कृधि ॥ २ ॥

अपाम् । इदम् । नि-अयनम् । समुद्रस्य । नि-वेशनम् ।

मध्ये । हृदस्य । नः । गुहाः । पराचीना । मुखी । कृधि ॥२॥

भाषार्थ—( अपाम् ) प्रजाओं का ( इदम् ) यह ( न्ययनम् ) निवास स्थान ( समुद्रस्य ) जल समूह का ( निवेशनम् ) प्रवेश हो । ( नः गुहाः ) हमारे घर ( हृदस्य ) ताल वा खाई के ( मध्ये ) बीच में हों, [ हे राजन् शत्रुओं के ] ( मुखी ) मुखों को ( पराचीना ) उलटा ( कृधि ) कर दे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये दुर्ग के चारों ओर जल की गहरी खाई रखे जिससे शत्रुओं का मार्ग रुका रहे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ७ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि वययामसि ।

सहस्रवीर्याः । हरिताः ( रोहन्तु ) उद्भवन्तु ( पुष्पिणीः ) बहुपुष्पयुक्ताः ( उत्सः ) अ० १ १५ । ३ । कूपः—निघ० ३ । २३ । ( वा ) चार्थे ( तत्र ) तस्मिन् देशे ( जायताम् ) वर्तताम् ( हृदः ) अगाधजलाशयः ( पुण्डरीकवान् ) फर्फरीक-दयश्च । उ० ४ । २० । इति पुडि खण्डने—यद्वा पुण शुभकर्मणि—ईकन्, उभय-पक्षे पृषोदरादित्वात्साधुः । कमलैर्युक्तः ॥

२—( अपाम् ) प्रजानाम् । आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये—यजु० ६ । २७ । ( इदम् ) ( न्ययनम् ) इण—ल्युट् । निवासस्थानम् ( समुद्रस्य ) जलोघस्य ( निवेशनम् ) प्रवेशनम् ( मध्ये ) ( हृदस्य ) जलाशयस्य । परिक्षायाः ( नः ) अस्माकम् ( गुहाः ) गेहानि ( पराचीना ) प्रतिकूलानि ( कृधि ) कुरु ॥



शीतहृदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

हिमस्य । त्वा । जरायुणा । शाले । परि । व्ययामसि । शीत-  
हृदा । हि । नः । भुवः । अग्निः । कृणोतु । भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( शाले ) हे शाला ! ( हिमस्य ) शीत के ( जरायुणा ) जीवन करने वाले वस्त्र वा अग्नि के साथ ( त्वा ) तुझको ( परि ) अच्छे प्रकार ( व्ययामसि ) हम प्राप्त होते हैं । ( हि ) क्योंकि [ जब ] तू ( नः ) हमारे लिये ( शीतहृदा ) ताल के समान शीतल ( भुवः ) होवे, ( अग्निः ) अग्नि [ ताप ] ( भेषजम् ) भय निवारक कर्म ( कृणोतु ) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शीत के लिये उष्ण सामग्री और उसी प्रकार उष्ण श्रुत के लिये शीतल वस्तुओं का भण्डार दुर्ग और घरों में रखे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ५ ॥

सूक्तम् ॥ १०७ ॥

१-४ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि । त्रायमाणे

द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥

विश्व-जित् । त्रायमाणायै । मा । परि । देहि । त्रायमाणे । द्वि-

पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( विश्वजित् ) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! ( त्राय-

३—( हिमस्य ) शीतस्य ( त्वा ) त्वाम् ( जरायुणा ) किंजरयोः धियाः । उ० १ । ४ । इति जरा + इण् गतौ—जुण । जरामेति येन जरायुस्तेन वस्त्रेणाग्निना वा ( शाले ) हे गृह ( परि ) परितः ( व्ययामसि ) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च । प्राप्नुमः ( शीतहृदा ) शीता हृद इव ( हि ) यस्मात् कारणात् ( नः ) अस्मभ्यम् ( भुवः ) त्वं भवेः ( अग्निः ) तापः ( कृणोतु ) करोतु ( भेषजम् ) भयनिवारकं कर्म ॥

१—( विश्वजित् ) हे जगद्विजयिन् परमेश्वर ( त्रायमाणाये ) त्रैङ्



माणायै ) त्रायमाणा, रक्षा करने वाली [ शाला वा ओषधि विशेष ] को ( मा ) मुझे ( परि देहि ) सौंप । ( त्रायमाणे ) हे रक्षा करने वाली शाला ! ( नः ) हमारे ( सर्वम् ) सब ( द्विपात् ) दो पाये ( च ) और ( चतुष्पात् ) चौपाये ( च ) और ( नः ) हमारे ( यत् स्वम् ) सब कुछ धन की ( रक्ष ) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से दृढ़स्थान बनाकर और त्रायमाणा आदि ओषध का सेवन करके मनुष्यों, पशुओं और धन की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

इस मन्त्र में ( शाला ) शब्द की अनुवृत्ति गतमन्त्र ३ से आती है, और ( त्रायमाणा ) ओषधि विशेष भी है जिसके नाम त्रायन्ती, बलभद्रिका आदि हैं ॥

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वजिह  
द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥२॥  
त्रायमाणे । विश्व-जिते । मा । परि । देहि । विश्व-जित् । द्वि-  
पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ २ ॥

भावार्थ—( त्रायमाणे ) हे त्रायमाणा, रक्षा करने वाली ! ( विश्वजिते ) संसार के जीतने वाले परमेश्वर को ( मा ) मुझे ( परिदेहि ) सौंप । ( विश्व-जित् ) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ( नः ) हमारे ( सर्वम् ) सब.....  
म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तमधर और ओषध के सेवन से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

विश्वजित् कल्याणायै मा परि देहि । कल्याणि  
द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥३॥

पालने—शानच् । रक्षाशीलायै शालायै ओषधिविशेषायै वा ( मा ) माम् ( परि देहि ) समर्पय ( त्रायमाणे ) हे रक्षाशीले ( द्विपात् ) पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् ( सर्वम् ) अखिलम् ( नः ) अस्माकम् ( रक्ष ) पालय ( चतुष्पात् ) गोमहिषादिकम् ( यत् ) यत्किञ्चित्सर्वम् ( स्वम् ) धनम् ॥

२—यथा व्याख्यातम्—म० १ ।



सू० १०८ [ २८१ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४३१ )

विश्व-जित् । कल्याण्यै । सा । परि । देहि । कल्याणि । द्वि-  
पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( विश्वजित् ) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर !  
( कल्याण्यै ) कल्याणी, मङ्गल करने वाली [ शाला अथवा ओषधि विशेष ] को  
( मा ) मुझे ( परिदेहि ) सौंप । ( कल्याणि ) हे कल्याणि ( नः ) हमारे ( सर्वम् )  
सब..... म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक तथा दो के समान ॥ ३ ॥

( कल्याणी ) ओषधि विशेष भी है जिसका नाम मासपर्णी है ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्वि पाञ्च  
सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

कल्याणि । सर्व-विदे । मा । परि । देहि । सर्व-वित् । द्वि-पात् ।  
च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( कल्याणि ) हे कल्याणी, मङ्गलकारिणी ! [ शाला व ओषधि  
विशेष ] ( सर्वविदे ) सर्वज्ञ परमेश्वर को ( मा ) मुझे ( परिदेहि ) सौंप  
( सर्व विद् ) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! ( नः ) हमारे ( सर्वम् ) सब ( द्विपात् )  
दोपाये ( च ) और ( चतुष्पात् ) चौपाये ( च ) और ( नः ) हमारे ( यत् स्वम् )  
सब कुछ धन की ( रक्ष ) रक्षाकर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक और दो के समान ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १०८ ॥

१-५ ॥ अथा देवता ॥ १, ४, ५ अनुष्टुप्; २, ३ बृहती ॥

बुद्धिधनयोः प्राप्त्युपदेशः—बुद्धि और धन की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वैभिरा गंहि ।

३—( कल्याण्यै ) कल्यं शुभम् अणयते शब्धते । अकर्तरि च कारकं ।

पा० ३ । ३ । १६ । कल्य + अण शब्दे जीवने च—घञ्, ङीप् । हे मङ्गलकारिणि  
शाले मासपर्णि वा । अन्यद्गतम् ॥

४—( सर्वविदे ) विद् ज्ञाने—किप् । सर्वज्ञाय परमेश्वराय । ( सर्ववित् )  
हे सर्वज्ञ ॥ अन्यत्पूर्ववत् ॥



त्वं सूर्यस्य रुश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥

त्वम् । नः । मे धे । मयुसा । गोभिः । अश्वेभिः । आ । गृहि ।  
त्वम् । सूर्यस्य । रुश्मि-भिः । त्वम् । नः । असि । यज्ञिया ॥१॥

भाषार्थ—( मेधे ) हे धारणावती बुद्धि वा संपत्ति ! ( प्रथमा ) प्रख्यात  
( त्वम् ) तू ( गोभिः ) गौओं और ( अश्वेभिः ) घोड़ों के साथ ( नः ) हमको  
( आ गृहि ) प्राप्त हो । ( त्वम् ) तू ( सूर्यस्य ) सूर्य की ( रुश्मिभिः ) फैलने  
वाली किरणों के साथ वर्तमान, और ( त्वम् ) तू ( नः ) हमारी ( यज्ञिया ) पूजनीय  
( असि ) है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान प्रख्यात स्मरणशील बुद्धि और श्रेष्ठ  
धन प्राप्त करके सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहार सिद्ध करें ॥१॥

मे धामहं प्रथमां ब्रह्मणवतीं ब्रह्मजुतामृषिष्ठुताम् ।

प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥

मे धाम् । अहम् । मयुसाम् । ब्रह्मण-वतीम् । ब्रह्म-जूताम् । ऋषि-  
स्तुताम् । प्र-पीताम् । ब्रह्मचारि-भिः । देवानाम् । अवसे । हुवे ॥२॥

भाषार्थ—( अहम् ) मैं ( प्रथमाम् ) पहिली [ अति श्रेष्ठ ] ( ब्रह्मणवतीम् )  
ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, वा वेद वा अन्न वा धन की धारण करनेवाली, ( ब्रह्मजुताम् )  
ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों से प्राप्त वा प्रीति की गयी, ( ऋषिष्ठुताम् ) ऋषियों,

१—( त्वम् ) ( नः ) अस्मान् ( मेधे ) मिधू मेधू संगमे च, चकारात्  
हिंतामेधयोश्च—घञ् । मेधा धननाम—निघ० २ । १० । मेधावी कस्मान्मेधया  
तद्वान् भवति मेधा मतौ धीयते—निरु० ३ । १६ । हे धारणावति बुद्धे हे धन  
( प्रथमा ) प्रख्याता । मुख्या ( गोभिः ) गवादिपशुभिः ( अश्वेभिः ) अश्वैः ।  
अश्वेभ्योऽपि हनशीलैः ( सूर्यस्य ) प्रेरकस्य । आदित्यस्य ( रुश्मिभिः ) व्यापनशीलैः  
किरणैः ( नः ) अस्माकम् ( असि ) वर्तसे ( यज्ञिया ) यज्ञ—घ । यज्ञार्हा पूजनीया ॥

२—( मेधाम् ) म० १ । सत्यधारणावतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा ( प्रथमाम् )  
श्रेष्ठाम्—( ब्रह्मणवतीम् ) मादुपधायाश्च० । पा० ८ । २ । ६ । इति मनुष्यो वत्वम् ।  
अनोनुट् । पा० ८ । २ । १६ । इति नुडागमः । ब्रह्म—अन्नम्—निघ० २ । ७ । धनम्—



सू० १०८ [ २८१ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४३३ )

वेदार्थ जानने वाले मुनियों से स्तुति की गई, (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों अर्थात् वेदपाठी और वीर्यनिग्राहक पुरुषों से (प्रपीताम्) अच्छे प्रकार पान की गयी (मेधाम्) सत्यधारणा करने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (देवानाम्) दिव्य गुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हुवे) आवाहन करता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य वेद आदि शास्त्र और ऋषि, मुनि, महात्माओं के इतिहासों के विचार से सदा स्मरण वाली बुद्धि और ऐश्वर्य प्राप्त करके संसार में उन्नति करे ॥२॥

यां मे धाम्भवौ विदुर्यां मे धामसुरा विदुः ।

ऋषयो भद्रां मे धां यां विदुस्तां मय्या वैश्यामसि ॥३॥

याम् । मे धाम् । ऋभवः । विदुः । याम् । मे धाम् । असुराः ।

विदुः । ऋषयः । भद्रास् । मे धाम् । याम् । विदुः । तास् ।

मयि । आ । वैश्यामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( याम् ) जिस ( मेधाम् ) शुभगुण धारण करने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को ( ऋभवः ) सत्य के साथ चमकने वाले महात्मा (विदुः) जानते हैं, ( याम् ) जिस ( मेधाम् ) धारणावती बुद्धिवा सम्पत्ति को ( असुराः ) बड़े बुद्धिमान पुरुष ( विदुः ) जानते हैं । ( याम् ) जिस ( भद्राम् ) कल्याण करने वाली ( मेधाम् ) निश्चल बुद्धि वा सम्पत्ति को ( ऋषयः ) ऋषि लोग

—२। १०। ईश्वरवेदान्नधनैर्युक्ताम् ( ब्रह्मजूताम् ) जु गतौ प्रीतौ च—क । जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजुतं देवगतं देवप्रीतं वा—निक० १०। २८। ब्राह्मणैः प्राप्तां प्रीतां वा ( ऋषिण्डुताम् ) ऋषिः—अ० २। ६। १। वेदार्थदर्शि भिर्मुनिभिः प्रशंसितम् ( प्रपीताम् ) प्रपूर्वात् पिबतेः—क, घुमास्था०। पा० ६। ४। ६६। ईत्वम् । कृतपानाम् । सेविताम् ( ब्रह्मचारिभिः ) ब्रह्म+चर—शिनि । वेदपाठि-भिर्वीर्यनिग्राहीतृभिः ( देवानाम् ) दिव्यगुणानाम् ( अवसे ) रक्षणाय ( हुवे ) आह्वयामि ॥

३—( याम् ) ( मेधाम् ) म० १। निश्चलां बुद्धिं सम्पत्तिं वा ( ऋभवः ) अ० १। २। ३। ऋतेन भान्तीति वा—निक० ११। १५। ( विदुः ) विद्वन्ति । जानन्ति ( असुराः ) प्रज्ञावन्तः—निक० १०। ३४। ( ऋषयः ) सम्मानं दर्शकाः



( विदुः ) जानते हैं ( ताम् ) उसी को ( मयि ) अपने में ( आ ) सब ओर से ( वेशयामसि ) हम स्थापित करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य बड़े आप्त विज्ञानी पुरुषों के समान निश्चल बुद्धि और सम्पत्ति प्राप्त करके धर्म के आचरण के साथ सदा उपकार करें ॥ ३ ॥

यामृषयो भूतकृतौ मेधां मेधाविनैः विदुः ।

तया मामुद्य मेधयाग्ने मेधाविनैः कृणु ॥ ४ ॥

याम् । ऋषयः । भूत-कृतः । मेधाम् । मेधाविनैः । विदुः ।

तया । माम् । मुद्य । मेधया । अग्ने । मेधाविनैः । कृणु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( याम् ) जिस ( मेधाम् ) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को ( भूतकृतः ) उचित कर्म करने वाले, ( मेधाविनैः ) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाले ( ऋषयः ) ऋषि लोग ( विदुः ) जानते हैं । ( अग्ने ) हे विद्या प्रकाशक परमेश्वर वा आचार्य ! ( तया मेधया ) उसी धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति से ( माम् ) मुझको ( अद्य ) आज ( मेधाविनम् ) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाला ( कृणु ) कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना और आप्त धर्मज्ञ विद्वानों की सेवा से शुद्ध विज्ञान प्राप्त करके उन्नति करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ मेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२ । म० १४ ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्याह्नं परि ।

मेधां सूर्यस्य रुश्मिभिर्वक्षसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

( भद्राम् ) कल्याणीम् । वेदशास्त्रादिविषयाम् ( मयि ) आत्मनि ( आ ) समन्तात् । ( वेशयामसि ) प्रवेशयामः । स्थापयामः ॥

४—( याम् ) ( ऋषयः ) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणाः ( भूतकृतः ) भूतमुचितं कर्म कुर्वन्ति ते ( मेधाम् ) धारणावती बुद्धि सम्पत्तिं वा ( मेधाविनैः ) धीमन्तः, पेश्वर्यवन्तः ( विदुः ) साक्षात्कुर्वन्ति ( तया ) ( माम् ) उपासकम् ( अद्य ) अस्मिन् दिने ( मेधया ) धारणावत्या बुद्ध्या सम्पत्त्या वा ( मेधाविनम् ) बुद्धिमन्तं धनिनं वा ( कृणु ) कुरु ॥



मेधास् । सायम् । मेधास् । प्रातः । मेधास् । मध्यन्दिनम् । परि ।  
मेधास् । सूर्यस्य । रश्मिभिः । वचसा । आ । वेश्यामहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( मेधाम् ) शुभ गुण वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को ( सायम् ) सायंकाल, ( मेधाम् ) शास्त्रादि विषयवाली बुद्धि वा संपत्ति को ( प्रातः ) प्रातःकाल, ( मेधाम् ) धर्म का स्मरण रखने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को ( मध्यन्दिनम् परि ) मध्याह्न समय में, ( मेधाम् ) सत्य व्यवहार वाली बुद्धि वा संपत्ति को ( सूर्यस्य ) सूर्य की ( रश्मिभिः ) फैलने वाली किरणों के साथ ( वचसा ) परस्पर बात चीत से ( आ ) भले प्रकार ( वेश्यामहे ) हम स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सोते, जागते, और कर्म करते धार्मिक बुद्धि और सम्पत्ति को सूर्य के प्रकाश के समान विस्तीर्ण करके आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

सूक्तम् ॥ १०८ ॥

१-३ ॥ पिप्पली देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्युः तार्तिविद्वभेषजी ।

तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवित्वा अलम् ॥ १ ॥

पिप्पली । क्षिप्त-भेषजी । उत । अतिविद्व-भेषजी । तास् ।

देवाः । तस् । अकल्पयन् । इयम् । जीवित्वै । अलम् ॥१॥

५—( मेधाम् ) शुभगुणवती बुद्धि सम्पत्ति वा ( सायम् ) सायंकाले ( मेधाम् ) शास्त्रादिविषयां बुद्धि सम्पत्ति वा ( प्रातः ) प्रातःकाले ( मेधाम् ) धर्मस्मरणशीलां बुद्धि सम्पत्ति वा ( मध्यन्दिनम् ) दिनस्य मध्यं राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः । पृषोदरादित्वात्कारागमः । मध्याह्नम् ( परि ) लक्षणेत्थंभूताख्यान० पा० १ । ४ । ६० । इति इत्थंभूताख्याने कर्मप्रवर्चनीयत्वम् । प्रति ( मेधाम् ) सत्यव्यवहारां बुद्धि सम्पत्ति वा ( सूर्यस्य ) आदित्यस्य ( रश्मिभिः ) व्यापकैः किरणैः ( वचसा ) परस्परसम्वादेन ( आ ) समस्तात् ( वेश्यामहे ) आत्मनि स्थापयामः ॥



भाषार्थ—( पिप्पली ) पालन करने वाली, पिप्पली [ ओषधि विशेष ] ( क्षिप्तभेषजी ) विक्षिप्त, उन्मत्त की ओषधि, ( उत ) और ( अतिविद्धभेषजी ) बड़े घाव वाले की ओषधि है । ( देवाः ) विद्वानों ने ( ताम् ) उसको ( सम् अकल्पयन् ) अच्छे प्रकार माना है कि ( इयम् ) यह ( जीवितवै ) जिलाने के लिये ( अलम् ) समर्थ है ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार पीपली, ओषधि विशेष के सेवन से अनेक रोग की निवृत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य कर्मों के फल भोग से सुख पावे ॥१॥

पिप्पली के गुण ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, स्त्रीह, शूल, आम आदि रोगों का नाश करना है—शब्दकल्पद्रुम ॥

पिप्पल्यः१ः समवदन्तायुतीर्जननादधि ।

यं जीवमुश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

पिप्पल्यः । सस् । अवदन्त । आ-युतीः । जननात् । अधि ।

यस् । जीवस् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पूरुषः ॥२॥

भाषार्थ—( पिप्पल्यः ) पीपली ओषधियों ने ( जननात् अधि ) जन्म से ही ( आयतीः ) आती हुयी ( सम् ) आपस में ( अवदन्त ) बातचीत की ( यम् ) जिस ( जीवम् ) जीव को ( अश्नवामहै ) हम प्राप्त होवे, ( सः पूरुषः ) वह पुरुष ( न ) नहीं ( रिष्याति ) नष्ट होवे ॥ २ ॥

१—( पिप्पली ) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति पा । पालने, वापुः पालनपूरणयोः—कल । पृषोदरादिरूपम्, डीष् । पालयित्री पूरयित्री वा । ओषधिविशेषा । अस्या गुणा ज्वरकुष्ठादिनाशकाः ( क्षिप्तभेषजी ) विक्षिप्त-स्योन्मत्तस्य रोगनिवर्तिका ( उत ) अपिच ( अतिविद्धभेषजी ) व्यथ ताडने—क । अतिक्षतस्य पुरुषस्य व्याधिनिवर्तिका ( ताम् ) ( देवाः ) वैद्याः ( सम् ) सम्यक् ( अकल्पयन् ) कल्पितवन्तः ( इयम् ) पिप्पली ( जीवितवै ) जीव प्राणधारणे णिचि तुमर्थे तवै प्रत्ययः । जीवयितुम् ( अलम् ) समर्थ । पर्याप्ता ॥

२—( पिप्पल्यः ) म० १ । ओषधयः ( सम् अवदन्त ) व्यक्तवाचा समुच्चारणे । पा० १ । ३ । ४८ । इत्यात्मनेपदम् । परस्परं सम्वादं कृतवन्त्यः ( आयतीः ) आयत्यः । आगच्छन्त्यः ( जननात् ) जन्मनः प्रभृति ( अधि ) अधिकम् ( यम् ) ( जीवम् ) प्राणिनम् ( अश्नवामहै ) वयं व्याप्तवाम ( न ) निषेधे ( सः ) रिष्याति । रिष हिंसायाम्—लेट् । विनश्येत् ( पूरुषः ) मनुष्यः ॥



सू० ११० [ २८३ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४३७ )

भाषार्थ—जैसे सदैव परस्पर संवाद से ओषधियों की उत्पत्ति स्थान और काल का विचार करके उनके प्रयोग से रोगियों को नीरोग करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग आपस में वार्तालाप द्वारा दोषों को हटाकर सुखी होते हैं ॥२॥

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपुन् पुनः ।

वातीकृतस्य भेषजीमर्थो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

असुराः । त्वा । नि । अखनन् । देवाः । त्वा । उत् । अवपुन् । पुनः । वाती-कृतस्य । भेषजीम् । अथो इति । क्षिप्तस्य । भेषजीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे पिप्पली ] ( असुराः ) बुद्धिमान् पुरुषों ने ( वातीकृतस्य ) गठिया के रोगी की ( भेषजीम् ) ओषधी, ( अथो ) और ( क्षिप्तस्य ) उन्मत्त की ( भेषजीम् ) ओषधि ( त्वा ) तुझको ( नि ) निरन्तर ( अखनन् ) खोदा है और ( देवाः ) व्यवहार कुशल पुरुषों ने ( त्वा ) तुझको ( पुनः ) फिर ( उत् ) उत्तम रीति से ( अवपुन् ) बोया है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जैसे सदैव परीक्षा करके पिप्पली आदि ओषधियों को जोड़ते और खोते और काम में लाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष विद्या का सुप्रयोग करते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥ ११० ॥

१-३ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यवर्धनायोपदेशः—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

प्रतो हि कमीड्यो अध्वरेषु सुनाच्च होता नव्यश्च सत्सि । स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभ-  
गमा यजस्व ॥ १ ॥

३—( असुराः ) प्रज्ञावन्तः ( त्वा ) पिप्पलीम् ( नि ) निरन्तरम् ( अखनन् ) खननेन प्राप्तवन्तः ( देवाः ) व्यवहारकुशलाः ( उत् ) उत्कर्षेण ( अवपुन् ) दुवप् बीजतनुसन्ताने । रोपितवन्तः ( वातीकृतस्य ) वातरोगग्रस्तस्य पुरुषस्य ( भेषजीम् ) भयनिवर्तिकाम् ( अथो ) अपि च ( क्षिप्तस्य ) विक्षिप्तस्य ( भेषजीम् ) ओषधिम् ॥



प्रुत्नः । हि । कम् । ईड्यः । अध्वरेषु । सनात् । च । होता ।  
नव्यः । च । सत्सि । स्वास् । च । अग्ने । तन्वस् । पित्रायस्व ।  
अस्मभ्यस् । च । सौभगस् । आ । यजस्व ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् आचार्य ! ( प्रत्नः ) प्राचीन, [ अनुभवी ]  
( च ) और ( नव्यः ) नूतन [ उद्योगी, ] ( ईड्यः ) स्तुतियोग्य ( च ) और  
( होता ) दाता होकर ( सनात् ) सदा से ( अध्वरेषु ) सन्मार्ग देने वाले या  
हिंसा रहित व्यवहारों में ( हि ) अवश्य ( कम् ) सुख से ( सत्सि ) तू वैठता  
है । ( च ) निश्चय करके ( स्वास् ) अपने ( तन्वस् ) शरीर को ( पित्रायस्व )  
प्रीतियुक्त कर ( च ) और ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये ( सौभगम् ) अनेक सुख  
ऐश्वर्य ( आ ) आकर ( यजस्व ) दान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वृद्ध, अनुभवी उत्साही, उत्तम आचार्य से नम्रता  
पूर्वक उत्तम शिक्षा ग्रहण करके अपना ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ८ । ११ । १० ॥

उये ष्ठुक्ष्यां जातो विचृतार्यमस्य मूलबर्हणात् परि  
पाह्येनम् । अत्यैनं नेषद्दुःखितानि विश्वा दीर्घायु-  
त्वायं शुतशारदाय ॥ २ ॥

उये ष्ठु-क्ष्यास् । जातः वि-चृतौः । यमस्य मूल-बर्हणात् ॥  
परि । पाहि । एनस् । अति । एनस् । नेषत् । दुः-खितानि ।  
विश्वा । दीर्घायु-त्वायं । शुत-शारदाय ॥ २ ॥

१—( प्रत्नः ) नम्र पुराणं प्रात् । या० पा० ५ । ४ । २५ । इति प्र—त्नम् ।  
प्रत्नः पुराणः—निरु० १२ । ३२ । प्राचीनः । अनुभवी ( हि ) अवश्यम् ( कम् )  
सुखेन ( ईड्यः ) स्तुत्यः ( अध्वरेषु ) अ० ३ । १६ । ६ । सन्मार्गदातृषु हिंसा-  
रहितेषु वा व्यवहारेषु ( सनात् ) नित्यम् ( च ) समुच्चये । अवधारणे ( होता )  
दाता ( नव्यः ) अचो यत् । पा० १ । ३ । ६७ । ए स्तुतौ—यत् । नूतनः । पुरुषार्थी  
( सत्सि ) सोदक्षि ( स्वास् ) स्वकीयाम् ( अग्ने ) हे विद्वन् । आचार्य ( तन्वस् )  
शरीरम् ( पित्रायस्व ) प्री प्रीतौ पित्रि छान्दसं काम् । प्रसन्नां कुरु ( अस्मभ्यम् )  
सेवकैः ( सौभगम् ) समृद्धे—प्रणू । बह्वैश्वर्याणि समृद्धम् ( आ ) आगत्य  
( यजस्व ) देहि ॥



भाषार्थ—( ज्येष्ठघ्न्याम् ) ज्येष्ठ अर्थात् अतिवृद्ध वा उत्तम ब्रह्म को प्राप्त करने वाली क्रिया में ( जातः ) प्रसिद्ध तू ( विचृतोः ) अन्धकार से छुड़ाने वाले, सूर्य और चन्द्रमा के ( यमस्य ) नियम के ( मूलबर्हणात् ) मूल छेदन से ( एनम् ) इस जीव को ( परि पाहि ) सब प्रकार बचा । ( विश्वा ) सब ( दुरितानि ) विघ्नों को ( अति=अतीत्य ) उलांछ कर ( शतशारदाय ) सौ वर्ष वाले ( दीर्घायुत्वाय ) दीर्घ जीवन के लिये ( एनम् ) इस [ प्राणी ] को ( नेषत् ) आप ले चलें ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य श्रेष्ठजनों के अनुकरण से पुरुषार्थ के साथ विघ्नों को हटा कर सूर्य और चन्द्रमा के समान सदा नियम में चलकर यश प्राप्त करे ॥ २ ॥

व्याघ्रेऽहूयं जनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।  
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनी-  
ज्जनित्रीम् ॥ ३ ॥

व्याघ्रे । अहि । । अजनिष्ट । वीरः । नक्षत्र-जाः । जाय-  
मानः । सु-वीरः । सः । मा । वधीत् । पितरम् । वर्धमानः ।  
मा । मातरम् । प्र । मिनीत् । जनित्रीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( वीरः ) यह वीर पुरुष ( नक्षत्रजाः ) नक्षत्र के समान गति,

२—( ज्येष्ठघ्न्याम् ) बहुलं छन्दसि । पा० । ३ । २ । ८८ । इति ज्येष्ठ + हन् गतौ—क्विप् । ऋद्धेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । इत्यकारलोपः । ज्येष्ठं वृद्धतमं प्रशस्यतमं वा ब्रह्म हन्ति प्राप्नोति यया तस्यां क्रियायाम् ( जातः ) प्रसिद्धः ( विचृतोः ) अ० २ । ८ । १ । अन्धकाराद् विमोचयित्रोः सूर्याचन्द्रमसोः ( यमस्य ) नियमस्य ( मूलबर्हणात् ) बर्हं हिंसायाम्—ल्युट् । मूलच्छेदनात् ( परि ) सर्वतः ( पाहि ) रक्ष ( एनम् ) जीवम् ( अति ) अतीत्य ( एनम् ) प्राणिनम् ( नेषत् ) नयतु भवान् ( दुरितानि ) विघ्नान् ( विश्वा ) सर्वाणि ( दीर्घायुत्वाय ) चिरकाल-जीवनाय ( शतशारदाय ) अ० १ । ३५ । १ । शतसम्बरसरयुक्ताय ॥

३—( व्याघ्रे ) अ० ४ । २ । १ । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्...व्याघ्रो



उपाय उत्पन्न करने वाला (सुवीरः) महावीर (जायमानः) होता हुआ  
(व्याघ्रे) व्याघ्र के समान बलवान् (अहि) दिन में [माता पिता के बल के  
समय] (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (वर्धमानः) बढ़ता हुआ  
(पितरम्) पिता को (मा वधीत्) न मारे और (जनित्रीम्) जन्म देने वाली  
(मातरम्) माता को (मा प्रमिनीत्) कभी न सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरावीर पुरुष सुशिक्षित बलवान् माता से जन्म पाकर उनके  
कष्ट से बचा कर सदा सुखी रख कर अपना सौभाग्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १११ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवत ॥ १ पङ्क्तिः ; २-४ अनुष्टुप् ॥

मानसविकारनाशोपदेशः—मानसविकार के नाश का उपदेश ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्यं यो बद्धः सुयतो लाल-  
पीति । अतोऽधिते कृणवद्भागधेयं यदनु न्मदितोऽसति  
इमम् । मे । अग्ने । पुरुषम् । मुमुग्धि । अयम् । यः । बद्धः ।  
सु-यतः । लालपीति । अतः । अधि । ते । कृणवत् । भाग-  
धेयम् । यदा । अनुत्-मदितः । असति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (मे) मेरे लिये (इमम् पुरुषम्)  
इस पुरुष को [आत्मा को] (मुमुग्धि) मुक्त कर, (अयम् यः) यह जो  
व्याघ्रणाद् व्याघ्राय हन्तीति वा—निरु० ३ । १८ । व्याघ्रतुल्ये बलवति (अहि)  
दिने । काले (अजनिष्ट) जातोऽभूत् (वीरः) धीर्योपेतः (नक्षत्रजाः) जनस-  
खनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति नक्ष+जन जनने विट् । विट्  
नोरनुर्नालकस्यात् पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । नक्षत्रसमानां गति-  
मुपायं जनयति यः सः (जायमानः) उत्पद्यमानः (सुवीरः) अतिशूरः (सः)  
(मा वधीत्) मा हन्तु (पितरम्) पालकं जनकम् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वन्  
(मातरम्) मानकर्त्रीम् (मा प्रमिनीत्) मीज् हिंसायाम्, लिङि तिपि क्त्व-  
सं रूपम् । मा प्रमिनीयात् न दुःखयेत् (जनित्रीम्) जनयित्रीम् । जननीम् ॥  
१—(इमम्) समीपस्थम् (मे) मह्यम् (अग्ने) विद्वन् (पुरुषम्)  
आत्मनम् (मुमुग्धि) मोक्षय (अयम्) (यः) (बद्धः) बन्धं गतः (सुयतः)



सू० १११ [ २८४ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४४१ )

[ जीव ] ( बद्धः ) बंधा हुआ और ( सुयतः ) बहुत जकड़ा हुआ ( लालपीति )  
आयत्त बर्बराता है। ( अतः ) फिर यह ( ते ) तेरे ( भागधेयम् ) सेवनीय भाग  
को ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( कृणवत् ) करे, ( यदा ) जब वह ( अनुन्मदितः )  
उन्माद रहित ( असति ) हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से दुष्टकर्म छोड़ कर सावधान  
होकर धार्मिक कर्म करे ॥ १ ॥

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।

कुणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽसंसि ॥२॥

अग्निः । ते । नि । शमयतु । यदि । ते । मनः ।

उत्-यु'तम् । कुणोमि । विद्वान् । भेषजम् । यथा । अनु'त्-  
मदितः । असंसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्निः ) विद्वान् पुरुष ( ते ) तेरे [ मन को ] ( नि शम-  
यतु ) शान्त करता रहे, ( यदि ) जब ( ते मनः ) तेरा मन ( उद्युतम् ) व्याकुल  
होवे। ( विद्वान् ) विद्वान् मैं ( भेषजम् ) औषध ( कृणोमि ) करता हूं, ( यथा )  
जिससे तू ( अनुन्मदितः ) उन्माद रहित ( असंसि ) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर अपनी रोग निवृत्ति करे ॥२॥  
देवै नुसादुन्मदितुमुन्मत्तं रक्षंसरुपरि ।

कुणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽसंसि ॥३॥

यम उपरमे-क्त । इदमतिक्रुद्धः ( लालपीति ) भृशं प्रलपति ( अतः ) मोचना-  
नन्तरम् ( अधि ) अधिकृत्य ( ते ) तव ( कृणवत् ) कुर्यात् ( भागधेयम् )  
सेवनीयं कर्म ( यदा ) ( अनुन्मदितः ) अनुन्मत्तः उन्मादरहितः ( असति )  
भवेत् ॥

२—( अग्निः ) विद्वान् पुरुषः ( ते ) तव ( मनः ) ( नि शमयतु )  
नितरां शान्तं करोतु ( यदि ) सम्भावनायाम् ( ते मनः ) ( उद्युतम् ) युञ्-  
बन्धने—क्त । उह्विग्नम् ( कृणोमि ) करोमि ( विद्वान् ) विद्वान् ( भेषजम् )  
औषधम् ( यथा ) येन प्रकारेण ( अनुन्मदितः ) चित्तभ्रमरहितः ( असंसि )  
भूयाः ॥



दे॒व-ए॒न॒सात् । उ॒त-म॑दि॒त्तम् । उ॒त्-म॑त्तम् । र॒क्ष॑सः । परि॑ । कु॒णो॑मि ।  
वि॒द्वान् । भे॒ष॒जम् । य॒दा । अ॒नु॒त्-म॑दि॒तः । अ॒स॑ति ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—( देवैः नसात् ) विद्वानों के लिये [ किये ] पाप से ( उन्मदितम् )  
उन्मत्त, अथवा ( रक्षसः ) राक्षस [ दुःखदायी जीव वा रोग ] से ( उन्मत्तम्  
परि ) उन्मत्त पुरुष के लिये ( विद्वान् ) विद्वान् में ( भेषजम् ) औषध ( कुणोमि )  
करता हूं ( यदा ) जिस से वह ( अनुन्मदितः ) उन्माद रहित ( असति ) हो  
जाये ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखों वा रोगों के कारणों को विचार कर उनको  
निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

पुन॑स्त्वा दु॒र॒प्स॒र॒सः पु॒न॒रिन्द्रः पु॒न॒र्भगः ।

पुन॑स्त्वा दु॒र्वि॒श्वे दे॒वा यथा॑नु॒न्मदि॒तोऽस॑सि ॥ ४ ॥

पुनः॑ । त्वा । दुः । अप्स॒र॒सः । पुनः॑ । इन्द्रः॑ । पुनः॑ । भगः॑ । पुनः॑ ।  
त्वा । दुः । विश्वे॑ । दे॒वाः । यथा॑ । अ॒नु॒त्-म॑दि॒तः । अ॒स॑सि ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—[ हे रोगी । ] ( अप्सरसः ) आकाश, जल वा प्रजाओं में रहने  
वाली विजु लयां ( त्वा ) तुझको [ विद्वानों में ] ( पुनः ) फिर ( दुः ) देवों,  
( इन्द्रः ) सूर्य ( पुनः ) फिर, ( भगः ) चन्द्रमा ( पुनः ) फिर [ देव ] ( विश्वे )  
सब ( देवाः ) उत्तम पदार्थ ( त्वा ) तुझे ( पुनः ) फिर ( दुः ) देवों, ( यथा )  
जिससे तू ( अनुन्मदितः ) उन्माद रहित ( अससि ) होवे ॥ ४ ॥

३—( देवैः नसात् ) अनसन्तान् पुंसकाच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १०३ ।  
इति टच्, समासान्तः । देवेभ्यः कृतात् पापात् ( उन्मादिनम् ) अमितचित्त-  
पुरुषम् ( उन्मत्तम् ) उन्मादविशिष्टम् ( रक्षसः ) राक्षसात् । दुःखदायिनी  
जीषाद् रोगाद् वा ( परि ) प्रति । प्राप्य ( यदा ) यस्य दः । यथा ( असति ) भवेत् ॥

४—( पुनः ) रोगशान्त्यनन्तरम् ( त्वा ) त्वां रोगिणम् ( दुः ) दुःखान् याने  
विधि लिङ् छान्दसं रूपम् । दधुः ( अप्सरसः ) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे  
प्रजासु च सरयशीला विद्युतः ( इन्द्रः ) सूर्यः ( भगः ) चन्द्रः ( विश्वे ) सर्वे  
( देवाः ) विषयपदार्थाः । अन्यद्गतम् ॥



सू० ११२ [ २८५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४४३ )

भावार्थ—वैज्ञानिक पुरुष विजुली, सूर्य आदि सब पदार्थों से यथोचित उपकार लेकर स्वस्थ रह कर सुखी होवे ॥४॥

सूक्तम् ॥ ११२ ॥

१-३ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कुलरक्षोपदेशः—कुल की रक्षा का उपदेश ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमंग एषां मूलबर्हणात् परि पा-  
ह्येनम् । स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं  
देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥

मा । ज्येष्ठम् । वधीत् । अयम् । अग्ने । एषाम् । मूल-बर्ह-  
णात् । परि । पाहि । एनम् । सः । ग्राह्याः । पाशान् । वि ।  
चतु । प्र-जानन् । तुभ्यम् । देवाः । अनु । जानन्तु । विश्वे ॥१॥

भावार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! ( अयम् ) यह [ रोग ] ( एषाम् ) इन [ पुरुषों ] के बीच ( ज्येष्ठम् ) विद्या और वय में बहुत बड़े पुरुष को ( मा वधीत् ) न मारे, ( एनम् ) इस [ पुरुष ] को ( मूलबर्हणात् ) मूल छेदन से ( परि पाहि ) सर्वथा बचा । ( सः ) सो तू ( प्रजानन् ) जानी होकर ( ग्राह्याः ) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के ( पाशान् ) फन्दों को ( विचृत ) खोल दे, ( विश्वे ) सब ( देवाः ) विद्वान् लोग ( तुभ्यम् ) तुझको ( अनु जानन्तु ) अनु-मति देवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सस्मति से श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा का सदा उपाय करे ॥१॥

१—( ज्येष्ठम् ) प्रशस्य वा वृद्ध-इष्टम् । ज्य च । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६१, ६२ । इति प्रशस्य, वृद्धस्य वा ज्य इत्यादेशः । ज्ञाने वयसि वा वृद्धतमम् ( मा वधीत् ) मा हन्तु ( अयम् ) रोगः ( अग्ने ) हे विद्वान् ( एषाम् ) गृह-स्थानां मध्ये ( मूलबर्हणात् ) अ० ६ । ११० । २ । मूलच्छेदनात् ( परि ) सर्वतः ( पाहि ) ( एनम् ) ज्येष्ठम् ( सः ) स त्वम् ( ग्राह्याः ) अ० २ । ६ । १ । अङ्ग-प्रहीज्याः पीडायाः ( पाशान् ) बन्धान् क्लेशान् ( विचृत ) चृता हिंसाप्रस्थानयोः विमुञ्च ( प्रजानन् ) विद्वान् ( तुभ्यम् ) विदुषे ( देवाः ) विद्वांसः ( अनु जानन्तु ) अनुमतिं ददन्तु ( विश्वे ) सर्वे ॥



उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्रे एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभि-  
रासन् । स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पिता-  
पुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥

उत् । मुञ्च । पाशान् । त्वम् । अग्ने । एषाम् । त्रयः । त्रि-  
भिः । उत्सिताः । येभिः । आसन् । सः । ग्राह्याः । पाशान् ।  
वि । चृत । प्र । जानन् । पितापुत्रौ । मातरम् । मुञ्च । सर्वान् ॥२॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वान् । ( त्वम् ) तू ( एषाम् ) इन [ पिता  
पुत्र और माता ] के ( पाशान् ) फन्दों को ( उन्मुञ्च ) खोल दे, ( त्रयः ) जो  
तीनों ( एभिः ) जिन ( त्रिभिः ) तीनों [ ऊँचे, नीचे, मध्यम पाशों ] से ( उत्सिताः )  
जकड़े हुये ( आसन् ) हैं । ( सः ) सो तू ( प्रजानन् ) जानी होकर ( ग्राह्याः ),  
जकड़ने वाले गड़िया आदि रोग के ( पाशान् ) फन्दों को ( वि चृत ) खोल दे,  
( पितापुत्रौ ) पिता पुत्र, ( मातरम् ) माता, ( सर्वान् ) सब को ( मुञ्च )  
[ दुःख से ] मुक्त कर ॥२॥

भाषार्थ—मनुष्य विद्वानों के अनुशासन से माता पिता पुत्र आदि सब  
को यथा योग्य रक्षा करे ॥२॥

येभिः पाशैः परिवित्तो विबुद्धोऽङ्गैर्अङ्गु आपितु उत्सि-  
तश्च । वि ते मुच्यन्तां विमुच्यो हि सन्ति भूण्णि  
पूषन् दुरितानि मृक्षव ॥ ३ ॥

२—( उन्मुञ्च ) वियोजय ( पाशान् ) फलेशान् ( त्वम् ) ( अग्ने )  
विद्वन् ( एषाम् ) पित्रादीनाम् ( त्रयः ) माता पिता पुत्र इति ये त्रयः ( त्रिभिः )  
उत्तमाधममध्यमैः पाशैः ( उत्सिताः ) पित्र् बन्धने—क । उत्कर्षेण बद्धाः ( येभिः )  
यैः ( आसन् ) लङर्थे-लङ् । सन्ति ( पितापुत्रौ ) आनङ् ऋतो ब्रह्मे । पा०  
६ । ३ । २५ । इति पूर्वपदस्य आनङ् । पिता च पुत्रश्च ( मातरम् ) जननीम्  
( मुञ्च ) दुःखाद् विमोचय ( सर्वान् ) । अन्यद् गतम् ॥



सू० ११३ [ २८६ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४४५ )

येभिः । पाशैः । परि-वित्तः । वि-बद्धः । अङ्गै-अङ्गे । आ-  
र्पितः । उत्सितः । च । वि । ते । मुच्यन्ताम् । वि-मुचः । हि ।  
सन्ति । भ्रूण-घ्नि । पुषन् । दुः-दुतानि । मृद्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परिवित्तः) विवाहित छोटे भाई का बिना विवाहित बड़ा  
भाई (येभिः) जिन (पाशैः) फन्दों से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (विबद्धः) बंधा  
हुआ, (आर्पितः) दुखाया गया (च) और (उत्सितः) जकड़ा गया है। (ते)  
वे [फन्दे] (विमुच्यन्ताम्) खुल जावे, (हि) क्योंकि वे (विमुचः) खुलने  
योग्य (सन्ति) हैं, (पुषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्नि) स्त्री के  
गर्भघाती रोग में [वर्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृद्व) दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रयत्न करें कि सब सन्तान गुणी होकर अपने अपने  
समय पर विवाहित होकर सुखी होवे और यथावत् ब्रह्मचर्य सेवन से कुल में  
गर्भ पतन आदि रोग न होवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११३ ॥

१-३ ॥ त्रितो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापशोधनोपदेशः—पाप शुद्ध करने का उपदेश ॥

त्रिते देवा अमृजतै तदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।  
ततो यदि त्वा ग्राहिरानुशेतां तै देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु १

३—(येभिः) यैः (पाशैः) बन्धैः (परिवित्तः) परि+विद ज्ञाने-क ।  
परिविण्णः । परिवित्तः । कृतविवाहस्यः नूढज्येष्ठभ्राता (विबद्धः) विविध  
बद्धः (अङ्गे अङ्गे) सर्वाङ्गे (आर्पितः) आङ्+ऋ हिंसयाम्, णिचि क ।  
भार्ति पीडां प्रापितः (उत्सितः) म० २ । अनिशयेन बद्धः (च) (ते)  
पाशाः (विमुच्यन्ताम्) विसृज्यन्ताम् । (विमुचः) सम्पदादिः क्तिप् । विमो-  
क्षनीयाः पाशाः (हि) यस्मात्कारणात् (सन्ति) वर्तन्ते (भ्रूणघ्नि) भ्रूण आशा-  
विशङ्कयोः—घञ् । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्तिप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति भ्रूण+घन-  
क्तिप् । स्त्रीगर्भघातिनि रोगे वर्तमानानि (दुरितानि) कष्टानि (मृद्व) मृज्  
शीघ्रालङ्कारयोः । शोधय । दूरीकुरु ॥



त्रिते । देवाः । अमृजत् । एतत् । एनः । त्रितः । एनत् ।  
मनुष्येषु । समृजे । ततः । यदि । त्वा । आहिः । आनशे ।  
ताम् । ते । देवाः । ब्रह्मणा । नाशयन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( त्रिते ) तीनों कालों वा लोकों में फैले हुये त्रित परमात्मा के बीच [ वर्तमान ] ( देवाः ) विद्वानों ने ( एतत् ) इस ( एनः ) पाप को ( अमृजत् ) छुड़ किया है, ( त्रितः ) त्रिलोकीनाथ त्रित परमेश्वर ने ( एनत् ) इस [ पाप ] को ( मनुष्येषु ) मनुष्यों में [ ज्ञान द्वारा ] ( समृजे ) शोध है । [ हे मनुष्य ! ] ( ततः ) इस पर भी ( यदि ) जो ( त्वा ) तुझको ( आहिः ) जकड़ने वाली पीड़ा [ गठिया आदि ] ने ( आनशे ) घेर लिया है, ( देवाः ) विद्वान् लोग ( ते ) तेरा ( ताम् ) उस [ पीड़ा ] को ( ब्रह्मणा ) वेद द्वारा ( नाशयन्तु ) नाश करें ॥१॥

भाषार्थ—परमात्मा ने वेद द्वारा मनुष्य को पाप नाश का उपस्र बताया है, यह बात साक्षात् करके विद्वानों ने अपने दोष नाश किये हैं, इतना जानने पर भी यदि मनुष्य पाप में फंसे तो विद्वानों से पूछकर दोष निवृत्ति करें ॥१॥

मरीचीर्धुमान् प्र विशानु' पाप्मन्नुदरान् गच्छोत वा  
नीहारान् । नदीनां फेनां अनु तान् वि नश्य भूण्णि  
पूषन् दुरितानि मृक्षव ॥ २ ॥

१—( त्रिते ) अ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—ड । त्रिषु कालेषु लोकेषु वा विस्तीर्णं परमेश्वरे वर्तमानाः ( देवाः ) विद्वांसः ( अमृजत् ) समृज्य शौचालङ्कारयोः । शोधितवन्तः ( एतत् ) आत्मनि वर्तमानम् ( एनः ) अ० १ । १० । ८ । पापम् ( त्रितः ) त्रिलोकीनाथः ( एनत् ) पापम् ( मनुष्येषु ) ( समृजे ) मृष्टवान् ( ततः ) तदनन्तरमपि ( यदि ) ( त्वा ) ( आहिः ) अ० २ । ६ । १ । अङ्गप्रहीत्री पीडा ( आनशे ) अश्नोतेष्व । पा० ७ । ४ । ७२ । इत्यभ्यासादुत्तरस् नुद् । व्याप ( ताम् ) आहिम् ( ते ) तव ( देवाः ) विद्वांसः ( ब्रह्मणा ) वेदब्रह्मणे ( नाशयन्तु ) ॥



सू० ११३ [ २८६ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४४७ )

मरीचीः। धुमान् । प्र । विश् । अनु । पाप्मन् । उत्-उदरान् ।  
गच्छ । उत् । वा । नीहारान् । नदीनाम् । फेनान् । अनु ।  
तान् । वि । नश्य । भ्रूण-घ्नि । पुषन् । दुः-दुतानि । मृद्व ॥२॥

भावार्थ—( पाप्मन् ) हे पाप । तू ( मरीचीः ) किरणों और ( धुमान् )  
धूँ के ( अनु ) अनुकरण करके ( प्र विश् ) प्रवेश कर. ( उत् ) और ( उदरान् )  
बड़े दाता वा ऊपर चढ़ने वाले मेघों ( वा ) और ( नीहारान् ) कोहरों के  
( गच्छ ) प्राप्त हो । ( नदीनाम् ) नदियों के ( तान् ) उन ( फेनान् ) फेनों के  
( अनु ) पीछे पीछे ( वि नश्य ) विनष्ट हो जा । ( पुषन् ) हे पोषण करने वाले  
विद्वान् । ( भ्रूणघ्नि ) स्त्री के गर्भघाती रोग में [ वर्त्तमान ] ( दुरितानि ) कष्टों  
को ( मृद्व ) दूर कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य, किरणों धूम मेघ, कुहरे और जल फेन की सूक्ष्मता  
और शीघ्र गति के अनुसार ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा सूक्ष्म पापों का बहुत शीघ्र  
नष्ट करके सुखी होवे ॥२॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैः नृसानि । ततो  
यदि त्वा ग्राहिरानुशेतां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३॥  
द्वादश-धा । नि-हितम् । त्रितस्य । अप-मृष्टम् । मनुष्य-नृ-  
सानि । ततः । यदि । त्वा । ग्राहिः । आनुशे । तास् । ते ।  
देवाः । ब्रह्मणा । नाशयन्तु ॥ ३ ॥

२—( मरीचीः ) अ० ४ । ३८ । ५ । अन्धकारनाशकान् किरणान् ( धू-  
मान् ) अ० ६ । ७६ । ४ । अग्निना काष्ठजानान् पदार्थान् ( प्रविश ) ( अनु )  
अनुकृत्य ( पाप्मन् ) अ० ३ । ३१ । १ । पाति यस्मात् । हे पाप ( उदरान् )  
उत् + आ + रा दाने क, यद्वा. उत् + ऋ गतिप्रापणयोः—घञ् । उत्कृष्टं स-  
मन्तात् जलस्य दातृन् ऊर्ध्वं गतान् वा मेघान् ( उत् ) ( वा ) चार्थे ( नीहा-  
रान् ) निपूर्वात् हरतेर्घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ ।  
इति दीर्घः । अवश्यायान् ( नदीनाम् ) सरिताम् ( फेनान् ) अ० १ । ८ । १ ।  
बुद्बुदाकरान् पदार्थान् ( अनु ) अनुसृत्य ( तान् ) प्रसिद्धान् ( वि नश्य )  
अदृष्टं भव । अन्यद् गतम्—अ० ६ । ११२ । ३ ॥



भाषार्थ—(द्वादशधा) बारह [ मन और बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों ] में ( निहितम् = ०-तानि ) ठहरे हुये ( मनुष्यैः सानि ) मनुष्यों के पाप ( त्रितस्य—त्रितेन ) त्रित परमेश्वर करके [ वेद द्वारा ] ( अपमृष्टम् = ०-ष्टानि ) शुद्ध किये गये हैं । ( ततः ) इस पर भी ( यदि ) जो.....म० १ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न पापों को वेदज्ञान द्वारा विद्वानों के सत्संग से सर्वथा शोधकर सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

## अथद्वादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११४ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकुमा वयम् ।

आदित्यास्तस्मान्नो युयमुत्तस्यते न मुञ्चत ॥ १ ॥

यत् । देवाः । देव-हेडनम् । देवासः । चकुम । वयम् । आदि-  
त्याः । तस्मात् । नुः । युयस् । ऋतस्य । ऋतेन । मुञ्चत ॥ १ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विद्वानो ! ( देवासः ) खेल करते हुये ( वयम् ) हम लोगों ने ( यत् ) जो ( देवहेडनम् ) विद्वानों का अनावर ( चकुम ) किया

३—(द्वादशधा) द्वादशसु मनोबुद्धिसहितेषु दशसु ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु ( निहितम् ) सुपां सुपो भवन्ति । पा० पा० ७ । १ । ३६ । इति बहुवचनस्यैक-  
वचनम् । निहितानि । नितरां धृतानि ( त्रितस्य ) तृतीयायाः षष्ठी । त्रितेन  
परमेश्वरेण ( अपमृष्टम् ) अपमृष्टानि । शोधितानि ( मनुष्यैः सानि ) अन-  
सन्ताम्नपुंसकाच्छब्दसि । पा० ५ । ४ । १०३ । इति टच् । मनुष्यपापानि ।  
अन्यद् यथा—म० १ ॥

१—( यत् ) ( देवाः ) हे विद्वानः ( देवहेडनम् ) हेट्ट अनावरे—रुद्ध ।  
विदुषामनावरम् ( देवासः ) देवाः क्रीडकाः ( चकुम ) कृतवन्तः ( वयम् )



बृ० ११४ [ २८७ ]

बठं काण्डसु ॥ ६ ॥

( १४४८ )

हे । ( आदित्याः ) हे सूर्य समान तेजस्वी ! ( यूयम् ) तुम लोग ( तस्मात् ) इस [ पाप ] से ( नः ) हमको ( ऋतस्य ) धर्म के ( ऋतेन ) सत्य व्यवहार द्वारा ( मुञ्चत ) छुड़ाओ ॥ १ ॥

भाषार्थ—यदि मनुष्यों से प्रमाद के कारण विद्वानों का अनादर हो जावे, तो उनको योग्य है कि वे धार्मिक व्यवहार करके विद्वानों को प्रसन्न करें ॥१॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चते ह नः ।

यज्ञं यद् यज्ञत्राहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

ऋतस्यं । ऋतेनं । आदित्याः । यजत्राः । मुञ्चतं । इह । नः ।

यज्ञम् । यत् । यज्ञ-वाहसः । शिक्षन्तः । न । उप-शेकिम ॥२॥

भाषार्थ—( आदित्याः ) हे विद्या से प्रकाशमान ( यजत्राः ) पूजनीय संगति योग्य पुरुषो ! ( ऋतस्य ) धर्म के ( ऋतेन ) सत्य व्यवहार से ( इह )-इस [ पापकर्म ] में ( नः ) हमें ( मुञ्चत ) मुक्त करो । ( यत् ) क्योंकि ( यज्ञ-वाहसः ) हे यज्ञ अर्थात् परमेश्वर की उपासना वा शिल्पविद्या प्राप्त कराने वाले महाशयो ! ( यज्ञम् )-देवताओं की पूजा ( शिक्षन्तः ) करने की इच्छा करते हुये हम लोग ( न उपशेकिम ) उसे न कर सके ॥ २ ॥

मनुष्याः ( आदित्याः ) अ० १ । ६ । १ । सूर्यवत्तेजस्विनः ( तस्मात् ) पापात् ( यूयम् ) ( ऋतस्य ) धर्मस्य ( ऋतेन ) सत्यव्यवहारेण ॥

२—( ऋतस्य ) धर्मस्य ( ऋतेन ) सत्यव्यवहारेण ( आदित्याः ) हे विद्यया प्रकाशमानाः ( यजत्राः ) अग्निनिक्षिपजि० । उ० ३ । १०५ । इति यजेर-षन् । यष्टव्याः । पूजनीयाः । संगमनीयाः ( मुञ्चत ) वियोजयत ( इह ) अस्मिन् पापकर्मणि ( नः ) अस्मान् ( यज्ञम् ) देवपूजनम् ( यत् ) यस्मात्कारणात् ( यज्ञ-वाहसः ) वहिवाधाभ्यश्लुन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति वहेरसुन् । हे यज्ञस्य परमेश्वरोपासनस्य शिल्पज्ञानस्य वा प्रापकाः ( शिक्षन्तः ) शक्यं शक्नोसन्ति । सन्ति भीमाधुरभलभशक० । पा० ७ । ४ । ५४ । इत्यचः स्थान इस् । अत्रलोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इत्यभ्यासलोपः । शक्तुं निष्पादयितुमिच्छन्तः ( न ) निषेधे ( उपशेकिम ) शक्यं-जिह्वा । कर्त्तुं शका बभूविम ॥



भावार्थ—विद्वान् लोग प्रमादी आलसी पुरुषों को धार्मिक व्यवहारों में लगाकर पुरुषार्थी बनावें ॥ २ ॥

मेदस्वता यजमानाः सुवाज्यानि जुह्वतः ।

अक्रामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

मेदस्वता । यजमानाः । सुवा । आज्यानि । जुह्वतः । अक्रामाः ।

विश्वे । वः । देवाः । शिक्षन्तः । न । उप । शेकिम ॥ ३ ॥

भावार्थ—( यजमानाः ) यजमान, ईश्वर उपासक वा पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले विद्वानी लोग ( मेदस्वता ) चिकने घृत आदि पदार्थ वाले (सुवा) सुवा [ चमसे ] से ( आज्यानि ) यज्ञ के साधन घृत, तेल आदि द्रव्यों को ( जुह्वतः ) होमते हुये [ रहते हैं ] । ( विश्वे देवाः ) हे सब विद्वानों । ( वः ) तुम्हारी ( अक्रामाः ) कामना न करने वाले ( शिक्षन्तः ) [ यज्ञ ] करने की ऋद्धि करते हुये हम लोग ( न उप शेकिम ) उसे न कर सके ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैज्ञानिक विद्वानों के समान विद्वानों का सत्कार करके विद्वान सिद्ध ईश्वरविद्या और शिल्पविद्या को प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनैसि चकृमा व्यसम् ।

युयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

यत् । विद्वांसः । यत् । अविद्वांसः । एनैसि । चकृम । व्यसम् ।

३—( मेदस्वता ) मेद मेधाहिंसनयोः—असुज् । स्तिरभ्यपदार्थयुक्तेन ( यजमानाः ) ईश्वरोपासकाः । पदार्थसंयोजकवियोजका विद्वानिनः ( सुवा ) अ० ५ । २७ । ५ । सु-चिक् । आवयन्ति गमयन्ति हविर्येन तेन । सुवेण । यज्ञपात्रेण ( आज्यानि ) अ० ५ । ८ । १ । योगक्रियासाधनानि घृततैलादिकानि ( जुह्वतः ) समर्पयन्तः ( अक्रामाः ) कामनारहिताः ( विश्वे ) सर्वे ( वः ) युष्माकम् ( देवाः ) विद्वांसः । अन्यद्वयथा-म० २ ॥



ययम् । नः । तस्मात् । मुञ्चतु । विश्वे । देवाः । सजोषसुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यत् ) यदि ( विद्वांसः ) जानते हुये, ( यत् ) यदि ( अविद्वांसः ) न जानते हुये ( वयम् ) हम ने ( एनांसि ) पाप कर्म ( चक्रम् ) किये हैं । ( विश्वे देवाः ) हे सब विद्वानो ! ( सजोषसः ) समान प्रीति युक्त ( यूयम् ) तुम ( नः ) हमें ( तस्मात् ) उस [ अपराध ] से ( मुञ्चत ) मुक्त करो ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य सब प्रकार के पापों को छोड़ कर सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।

भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

यदि । जाग्रत् । यदि । स्वपन् । एनः । एनस्यः । अकरम् ।

भूतम् । मा । तस्मात् । भव्यम् । च । द्रुपदात्-इव । मुञ्चताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यदि ) जो ( जाग्रत् ) जागते हुये, ( यदि ) जो ( स्वपन् ) सोते हुये ( एनस्यः ) पापी मैंने ( एनः ) पाप ( अकरम् ) किया है । ( भूतम् ) वर्तमान प्राणी समूह ( च ) और ( भव्यम् ) भविष्यत् प्राणीसमूह ( द्रुपदात् इव ) काठ के बन्धन के सदृश वर्तमान ( तस्मात् ) उस [ पाप ] से ( मा ) मुझको ( मुञ्चताम् ) छोड़ावें ॥ २ ॥

१—( यत् ) यदि . ( विद्वांसः ) जानन्तः ( यत् ) यदि ( अविद्वांसः ) अजानानाः ( एनांसि ) अ० २ । १० । ८ । अपराधान् ( चक्रम् ) कृतवन्तः ( वयम् ) ( यूयम् ) ( नः ) अस्मान् ( तस्मात् ) अपराधात् ( मुञ्चत ) ( विश्वे ) ( देवाः ) ( सजोषसः ) अ० ३ । २२ । १ । समानप्रीतयः ॥

२—( यदि ) सम्भावनायाम् ( जाग्रत् ) अ० ६ । ६६ । ३ । जागरणं प्रातः ( स्वपन ) निद्रां प्राप्तः ( एनः ) पापम् ( एनस्यः ) एनसि साधुः ( अकरम् ) अहं कृतवान् ( भूतम् ) लब्धसत्ताकं प्राणिजातम् ( भव्यम् ) भव्यगेयम् । पा० ३ । ४ । ६८ । इति कर्तरि यत् । भविष्यत्सत्ताकं प्राणिजातम् ( द्रुपदात् ) अ० ६ । ६२ । ३ । काष्ठमयपादबन्धनात् ( इव ) यथा ( मुञ्चताम् ) उभे भूत-भक्ष्ये वियोजयताम् ॥



भावार्थ—मनुष्य ऐसे अपराध कभी भी न करें जिस से वर्तमान भी भविष्यत् प्राणियों को दुःख होवे ॥ २ ॥

द्रुपदादिव मुमुक्षानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।

पुतं पवित्रेण वाज्यं विश्वे शुभन्तु मेनसः ॥ ३ ॥

द्रुपदात्-इव । मुमुक्षानः । स्विन्नः । स्नात्वा । मलात्-इव । पुतम् । पवित्रेण-इव । वाज्यम् । विश्वे । शुभन्तु । मा । मेनसः ॥ ३ ॥

भावार्थ—(द्रुपदात्) काष्ठ बन्धन से (मुमुक्षानः इव) छुटे हुए पुरुष के समान, (स्विन्नः) पसीने में डूबे हुये (स्नात्वा) स्नान करके (मलात्) मल से [छुटे हुये के] (इव) समान (पवित्रेण) शुद्ध करने वाले छद्मा वा अग्नि से (पुतम्) शुद्ध किये हुये (वाज्यम् इव) घृत के समान (विश्वे) सब [दिव्यगुण] (मा) मुझको (मेनसः) पाप से (शुभन्तु) शुद्ध करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सर्वथा पापों से शुद्ध रहकर ज्ञानन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११६ ॥

१-३ ॥ वैवस्वतो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पाप निवृत्त्युपदेशः—पाप से निवृत्ति का उपदेश ॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्ती अग्रे कार्षीं वणा अन्वविदी  
न विद्यया । वैवस्वते राजन्ति तज्जुहोम्यथ यज्ञियं  
मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

३—(द्रुपदात्) काष्ठमयबन्धात् (इव) यथा (मुमुक्षानः) मुमुक्षु-  
शानच्, छान्दसो यकः श्लुः । मुच्यमानः (स्विन्नः) स्वेदयुक्तः पुरुषः (स्नात्वा)  
स्नानं कृत्वा (मलात्) मालिन्यात् (इव) (पुतम्) शोधितम् (पवित्रेण)  
शुद्धिसाधनेन वस्त्रेणाग्निना वा (इव) (वाज्यम्) घृतम् (विश्वे) सर्वे देवा  
दिव्यगुणाः (शुभन्तु) शोधयन्तु (मा) माम् (मेनसः) पापात् ॥



सू० ११६ [ २८८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४५३ )

यत् । यामम् । चक्रुः । नि-खनन्तः । अग्रे । कार्षीवणाः ।  
अन्न-विदः । न । विद्यया । वैवस्वते । राजनि । तत् । जुहोमि ।  
अथ । यज्ञियम् । मधु-मत् । अस्तु । नः । अन्नम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्रे ) पहिले ( निखनन्तः ) [ भूमि को ] खोदते हुये  
( कार्षीवणाः ) खेती के सेवन करने वाले किसानों ने ( विद्यया ) विद्या के  
साथ ( अन्नविदः न ) अन्न प्राप्त करने वाले पुरुषों के समान, ( यत् यामम् )  
जिस नियम समूह को ( चक्रुः ) किया है । ( तत् ) उसी [ नियम समूह ]  
को ( वैवस्वते ) मनुष्यों के स्वामी ( राजनि ) राजा परमेश्वर मैं ( जुहोमि )  
मैं समर्पण करता हूँ, [ जिससे ] ( अथ ) फिर ( नः ) हमारा ( अन्नम् ) प्राण  
साधन अन्न ( यज्ञियम् ) यज्ञ के योग्य और ( मधुमत् ) ज्ञानयुक्त ( अस्तु )  
होवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों के समान किसान लोग भूमि जोत कर, बीज  
बोकर अन्न प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सर्वनियन्ता जगदीश्वर का  
आश्रय लेकर कर्म करते हुये आनन्द भोगें ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणावद् भागधेयं मधुभागोमधुनासंसृजाति ।  
मातुर्य देन इषितं न आगुन्यद्वापितापरं ह्ये । जिहोडे २

१—( यत् ) ( यामम् ) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति यम—  
अण् । नियमानां समूहम् ( चक्रुः ) कृतवन्तः ( निखनन्तः ) भूमिं कर्षन्तः ( अग्रे )  
पुरा ( कार्षीवणाः ) कृषि—डीप्, कृष्या वनं सेवनं कृषीवणं, तदस्ति येषाम् ।  
तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । कृषिसेविनः । कर्षकाः ( अन्नविदः )  
अन्नप्रापकाः ( न ) उपमायाम्—निघ० ३ । १३ । ( विद्यया ) ज्ञानेन ( वैवस्वते )  
तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति विवस्वत्—अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः—  
निघ० २ । ३ । विवस्वत आदित्याद् विवस्वान् विवासनवान्—निरु० ७ । २६ ।  
विवस्वतां मनुष्याणां स्वामिनि ( राजनि ) शासके परमात्मनि ( तत् ) तथा—  
विधायाम् ( जुहोमि ) समर्पयामि ( अथ ) अनन्तरम् ( यज्ञियम् ) यज्ञार्हम्  
( मधुमत् ) ज्ञानयुक्तम् ( अस्तु ) ( नः ) अस्माकम् ( अन्नम् ) जीवनसाधनम् ॥



वैवस्वतः । कृणवत् । भाग-धेयम् । मधु-भागः । मधुना ।  
सम् । सृजाति । मातुः । यत् । एनः । इषितम् । नः । आ-  
अगन् । यत् । वा । पिता । अप-राद्धः । जिहीडे ॥ २ ॥

भाषार्थ—( मधुभागः ) ज्ञान का भाग करने वाला, (वैवस्वतः) मनुष्य का स्वामी परमेश्वर (भागधेयम्) भाग (कृणवत्) करे और (मधुना) [ उस पाप के ] ज्ञान के साथ [ हमें ] (सम् सृजाति) संयुक्त करे । (मातुः) माता को प्राप्त करके (इषितम्) उतावली से किया हुआ (नः) हमारा (यत्) जो (एनः) पाप (आगम्) हो गया है, (वा) अथवा (यत्) जिस पाप के कारण (पिता) पिता, (अपराद्धः) जिसका हमने अपराध किया है, (जिहीडे) क्रोधित हुआ है ॥२॥

भावार्थ—यदि मनुष्य प्रमाद के कारण माता पिता आदि को अपराध करे तो वह उनसे क्षमा मांगकर प्रायश्चित्त करके शुद्ध होवे ॥ २ ॥

यदोद मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतसु  
एन आगन् । यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां  
सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

यदि । इदम् । मातुः । यदि । वा । पितुः । नः । परि । भ्रातुः ।  
पुत्रात् । चेतसः । एनः । आ-अगन् । यावन्तः । अस्मान् ।  
पितरः । सचन्ते । तेषां । सर्वेषाम् । शिवः । अस्तु । मन्युः ॥३॥

२—(वैवस्वतः) म० १ । मनुष्याणां स्वामी (कृणवत्) कुर्यात् (भागधेयम्) भागम् (मधुभागः) मधुना ज्ञानस्य भागकर्ता (मधुना) तस्य एनसो ज्ञानेन (संसृजाति) संयोजयेद् अस्मान् (मातुः) पञ्चमीविधत्वे ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । इति मातरं प्राप्य (यत्) (एनः) पापम् (इषितम्) प्रमादेन प्रेषितम् (नः) अस्माकम् (आगन्) गतेर्लुङि । मन्त्रे घसह्र० । पा० २ । ४ । ८० । इति चलेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् (यत्) पापम् (वा) अथवा (पिता) (अपराद्धः) कृतदोषः सन् विमुखः (जिहीडे) हेड् अनादरे-लिट्, छान्दसं रूपम् । हेडन्ते कृष्यति कर्मा-निघ० २ । १२ । जिहीडे । सुकोश ॥



भाषार्थ—( यदि ) जो ( मातुः ) माता के प्रति, ( यदि वा ) अथवा, ( पितुः ) पिता के प्रति, ( भ्रातुः ) भ्राता के प्रति, अथवा ( पुत्रात् ) पुत्र के प्रति ( नः ) हमारे ( चेतसः ) चित्त से ( इदम् ) यह ( एनः ) पाप ( परि ) सब ओर से ( आगन् ) हो गया है । ( यावन्तः ) जितने ( पितरः ) पिता के समान माननीय ( अस्मान् ) हमको ( सचन्ते ) सदा मिलते हैं [ उनके विषय में भी जो पाप हुआ है ], ( तेषाम् सर्वेषाम् ) उन सब का ( मन्युः ) क्रोध ( शिवः ) शान्त ( अस्तु ) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब कुटुम्बियों और सब मान्य पुरुषों को सदा प्रसन्न रखे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद् विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना च-  
रासि । इदं तदग्ने अनुणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं  
वेत्थु सर्वान् ॥ १ ॥

अप-मित्यम् । अप्रतीत्तम् । यत् । अस्मि । यमस्य । येन ।  
बलिना । चरासि । इदम् । तत् । अग्ने । अनुणः । भवामि ।  
त्वम् । पाशान् । वि-चृतम् । वेत्थु । सर्वान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यमस्य ) नियम करने वाले [ ऋणदाता ] के ( अप्रतीत्तम् )  
बिना चुकाये ( यत् ) जिस ( अपमित्यम् ) अपमान के हेतु ऋण को ( अस्मि =

३—( यदि ) ( इदम् ) ( मातुः )—म० २ । मातरं प्राप्य ( यदि वा ) ( पितुः )  
पितरं प्राप्य ( भ्रातुः ) भ्रातरं प्राप्य ( नः ) अस्माकम् ( चेतसः ) चित्तात् ( परि )  
सर्वतः ( एनः ) पापम् ( आगन् )—म० २ । आगमत् ( यावन्तः ) यत्परिमाणाः  
( अस्मान् ) ( पितरः ) पितृवद् मान्याः ( सचन्ते ) समवयन्ति । संगच्छन्ते  
( तेषाम् सर्वेषाम् ) ( शिवः ) शान्तः ( अस्तु ) ( मन्युः ) क्रोधः ॥

१—( अपमित्यम् ) तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६८ । इति अपमिति—  
यत् । अपमितौ अपमाने साधु । अपमानसाधकमृणम् ( अप्रतीत्तम् ) प्रति-



अस्मिन्) मैं ग्रहण करता हूँ, और (येन बलिना) जिस बलवान् के साथ  
[ श्रुण लेकर ] (चरामि) मैं चेष्टा करता हूँ। (इषम्) अथ (तत्) वसते,  
(अग्ने) हे विद्वान्! मैं (अनुणः) श्रुण रहित (भवामि) हो जाऊँ, (त्वम्)  
तू (सर्वान्) सब (पाशान्) बन्धनों को (विचृतम्) खोलना (वेत्थ)  
जानता है ॥१॥

भाषार्थ—मनुष्य ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ करके माता पिता आचार्य आदि  
की सेवा से देव श्रुण, पितृ श्रुण और श्रुषि श्रुण चुकावे ॥१॥

इहैव सन्तः प्रति दक्ष एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम  
एनत् । अपमित्य धान्यं १ यज्जघसाहमिदं तदग्ने  
अनुणो भवामि ॥ २ ॥

इह । एव । सन्तः । प्रति । दक्षः । एनत् । जीवाः । जीवेभ्यः ।  
नि । हरामः । एनत् । अप-मित्य । धान्यम् । यत् । जघस ।  
अहम् । इदम् । तत् । अग्ने । अनुणः । भवामि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां [ इस शरीर में ] (एव) ही (सन्तः) रहते  
हुये हम (एनत्) इस [ श्रुण ] को (प्रति दक्षः) चुका देवें, (जीवाः) जीते  
हुये हम (जीवेभ्यः) जीते हुये पुरुषों को (एनत्) यह [ उधार ] (नि) नियत

पूर्वाद् ददातेर्निष्ठा । अच उपसर्गात्तः । पा० । ७ । ४ । ४७ । इत्याकारस्य तकारः ।  
वस्ति । ६ । ३ । १२४ । उपसर्गस्य दीर्घः । अप्रत्यर्पितम् (यत्) (अस्मि) अस्  
ग्रहणे भ्वादिः शपो लुक् छान्दसः । अस्मि । गृह्णामि (यमस्य) नियामकस्य ।  
उपसर्गस्य (येन) (बलिना) बलघता श्रुणेन (चरामि) प्रवर्ते (इषम्)  
इदानीम् (तत्) तस्माद् श्रुणात् (अग्ने) विद्वन् (अनुणः) श्रुणरहितः  
(भवामि) (त्वम्) (पाशान्) बन्धान् (विचृतम्) शक्ति समुल्लङ्घनौ ।  
पा० ३ । ४ । १२ । इति विचृती हिंसाग्रन्थनयोः—बाहुलकात् कमुल्ल तुमर्थे ।  
विचर्तितुं मोचयितुम् (वेत्थ) जानासि (सर्वान्)

२—(इह) अस्मिन् शरीरे (एव) (सन्तः) विद्यमाना वयम् (प्रति  
दक्षः) प्रत्यर्पयामः (एनत्) श्रुणम् (जीवाः) जीवन्तो वयम् (नि) नियमेन  
(हरामः) प्रापयामः (एनत्) श्रुणम् (अपमित्य) उद्दीचां माको व्यतीहारे ।



सू० ११० [ २८० ] षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४५० )

हे (हरामः) दे देवे । (यत्) जो (धान्यम्) धान्य (अपमित्य) उधार लेकर (अहम्) मैंने (जघस) खाया है, (अग्ने) हे विद्वान् ! (इदम्) अभी (तत्) इससे मैं (अनृणाः) अश्रूण (भवामि) हो जाऊँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य संसार के सब जीवों का उपकार अपने पर विचार कर अपने और उनके जीवन में ही यथोचित सेवा से उनका श्रूण खुकावे ॥२॥

अनुणा अस्मिन्ननुणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनुणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पृथो अनुणा आक्षियेम ॥ ३ ॥

अनुणाः । अस्मिन् । अनुणाः । परस्मिन् । तृतीये । लोके । अनुणाः । स्याम । ये । देव-यानाः । पितृ-यानाः । च । लोकाः । सर्वान् । पृथः । अनुणाः । आ । क्षियेम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हम (अस्मिन् लोके) इस लोक [ बालकपन ] में (अनुणाः) अश्रूण, (परस्मिन्) दूसरे [ युवापन ] में (अनुणाः) अश्रूण और (तृतीये) तीसरे [ बुढ़ापे ] में (अनुणाः) अश्रूण (स्याम) होंगे । (देवयानाः) विजय वाहने वाले और व्यापारियों के यान अर्थात् विमान रथ आदि के चलने योग्य (च) और (पितृयाणाः) पालन करने वाले विज्ञानियों के गमन योग्य (ये) जो (लोकाः) लोक [ स्थान ] और (पृथः=पन्थानः) मार्ग हैं, (सर्वान्)

पा ३ । ४ । १६ । इति मेङ्ग प्रणिदाने—स्वा, ल्यबादेशे । मयतेरिदमन्यतरस्याम् पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । श्रूणे गृहीत्वा (धान्यम्) अन्नम् (जघस) अह भक्षणे, लिटि घस्त्व आदेशः । भक्षितवानस्मि (अहम्) (इदम्) इदानीम् (तत्) तस्मात् (अग्ने) विद्वन् (अनृणः) श्रूणरहितः (भवामि) ॥

३—(अनुणाः) श्रूणरहिताः (अस्मिन्) प्रथमे बाल्ये (परस्मिन्) द्वितीये यौवने (तृतीये) वार्द्धिके (लोके) लोक दर्शने, भाषायां, दीप्तौ च—चञ् । वयसि । समाजे (स्याम) भवेम (ये) (देवयानाः) अ० ३ । १५ । २ । विजिगीषूणां व्यापारिणां विमानरथार्थानां गमनयोग्याः (पितृयाणाः) पालकैर्विज्ञानिभिर्गमनीयाः (च) (लोकाः) धामानि । समाजाः (सर्वान्) लोकान् पृथक् (पृथः) प्रथमायां द्वितीया । पन्थानः । मार्गाः (आवमन्तात्) (क्षियेम) क्षि



उन सब में (अनृणाः) हम अश्रुण होकर (आ) सब ओर से (क्षिये) चले रहें ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अभ्यास से बालकपन का श्रुण, गृहस्थ आश्रम में धन और प्रजा पालन आदि की सफलता से युवावस्था का श्रुण, और वान प्रस्थ और सन्यास आश्रम के सेवन से बुढ़ापे का श्रुण चुकाकर महात्माओं के समान धार्मिक होकर परोपकारी बनें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ अप्सरसौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

श्रुणाद् विमोचनोपदेशः—श्रुण से छुटने का उपदेश ॥

यदुस्ताभ्यांचकुमकिल्विषाणयक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः

उग्रं पश्ये उग्रं जितौ तदद्याप्सरसावनुदत्तामृणं नः ॥१॥

यत् । हस्ताभ्याम् । चकुम् । किल्विषाणि । अक्षाणां ।

गत्नुम् । उप-लिप्समानाः । उग्रं पश्ये इत्युग्रम्-पश्ये । उग्र-

जितौ । तत् । अद्य । अप्सरसौ । अनु । दत्ताम् । अमृणम् । नः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (अक्षाणाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) पाने योग्य विषय के (उपलिप्समानाः) लाभ की इच्छा करते हुये हमने (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (किल्विषाणि) अनेक पाप (चकुम्) किये हैं । (उग्रपश्ये) तीव्र दृष्टि वाली, (उग्रजितौ) उग्र होकर जीतने वाली, (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में विचरने वाली अप्सरायें सूर्य भूमि दोनों (अद्य) आज (नः) हमारे

निवासगत्योः । गच्छेम ॥

१—(यत्) यदि (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (चकुम्) वर्य कृतघ्नः (किल्विषाणि) बहूनि पापानि (अक्षाणाम्) इन्द्रियाणाम् (गत्नुम्) कृहन्भिर्भ्यां क्त्नु । अनुदात्तोपदेशः । पा० ६ । ४ । ३७ । अनुनासिकलोपः । गन्तव्यं शब्द-स्पर्शादिविषयम् (उपलिप्समानाः) लभेः सति शानच् । उपलब्धम् अनुमष्टिः मिच्छन्तः (उग्रपश्ये) उग्रपश्येरमृणाधिमाश्रय । पा० ३ । २ । ३७ । इति क्षिति



सू० ११८ [ २८१ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४५८ )

( तत् ) उस ( ऋणम् ) ऋण को ( अनु ) अनुग्रह करके ( दत्ताम् ) दे देवें ॥१॥

भाषार्थ—मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अपना कर्त्तव्य करें ॥१॥

उग्रं पश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं  
न एतत् । ऋणाब्धौ नर्णमेत्समानो यमस्य लोके  
अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥

उग्रं पश्ये इत्युग्रं-पश्ये । राष्ट्र-भृत् । किल्बिषाणि । यत् ।  
अक्ष-वृत्तम् । अनु । दत्तम् । नः । एतत् । ऋणात् । नः ।  
न । ऋणम् । एत्समानः । यमस्य । लोके । अधि-रज्जुः ।  
आ । अयत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( उग्रं पश्ये ) हे तीव्र दृष्टि वाली ! ( राष्ट्रभृत् ) हे राज्य को पालने वाली ! [ सूर्य और पृथिवी ] ( किल्बिषाणि ) हमारे अनेक पाप हैं । ( यत् ) जो ( अक्षवृत्तम् ) इन्द्रियों का सदाचार है, ( एतत् ) वह ( नः ) हमें ( अनु ) अनुग्रह करके ( दत्तम् ) तुम दोनों दान करो । ( ऋणात् ऋणम् ) ऋण के पीछे ऋण को ( एत्समानः ) लगातार बढ़ाने की इच्छा करता, हुआ, ( अधिरज्जुः ) रस्सी लिये हुये [ उधार देने वाला ] ( यमस्य ) न्यायाधीश के

निपात्यते । तीक्ष्णदर्शने ( उग्रजितौ ) तीव्रजयशीलें ( तत् ) ( अद्य ) ( अप्सरसौ )  
अ० ४ । ३७ । २ । अन्तरिक्षे सरस्त्यौ द्यावापृथिव्यौ । तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः  
( अनु ) अनुग्रहेण ( दत्ताम् ) प्रयच्छताम् ( ऋणम् ) प्रतिदेयं धनम् ( नः )  
अस्माकम् ॥

२—( उग्रं पश्ये ) म० १ । हे तीव्रदर्शने ( राष्ट्रभृत् ) हे राज्यस्य पोष-  
यित्रि ( किल्बिषाणि ) पापानि ( यत् ) ( अक्षवृत्तम् ) इन्द्रियाणां सञ्चरित्रम्  
( अनु ) अनुग्रहेण ( दत्तम् ) प्रयच्छतम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( एतत् ) अक्षवृत्तम्  
( ऋणात् ) ऋणकारणात् ( ऋणम् ) ( नः ) अस्मान् ( न ) निषेधे ( एत्समानः )  
आ + अश्नु वृद्धौ—सनि चानश् । आप्स्वप्युधामीत् । पा० ७ । ४ । ५५ । अच-  
ईकारः । ताच्छील्यवयो० । पा० ३ । २ । १२६ । इति चानश् । आने मुक् । पा०



(लोके) समाज में ( नः ) हमको ( आ ) आकर ( न ) न ( अयत् ) प्राप्त हो ॥  
 भावार्थ—मनुष्य पापों को छोड़कर सदा सदाचार करें जिस से जन्म  
 संसार में लज्जित न होना पड़े, जिस प्रकार ऋण दाता व्याज पर व्याज बढ़ा  
 कर अपने ऋणी को राजद्वार में लज्जित करता है ॥ २ ॥

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि  
 देवाःते वाचंवादिषुमोत्तरांमदेवपत्नीअप्सरसावधीतम्  
 यस्मै । ऋणम् । यस्य । जायाम् । उप-एमि । यम् । याचमानः ।  
 अभि-एमि । देवाः । ते । वाचम् । वादिषुः । मा । उत्तराम् ।  
 मत् । देवपत्नी इति देव-पत्नी । अप्सरसौ । अधि । इत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विद्वानो ! ( यस्मै ऋणम् ) जिस का मुझ पर  
 उधार है, ( यस्य ) जिसकी ( जायाम् ) स्त्री के पास ( उपैमि ) मैं जाऊँ, अण्ड  
 ( याचमानः ) अनुचित मांगता हुआ मैं ( यम् ) जिसके पास ( अभ्यैमि )  
 पहुँचूँ । ( ते ) वे लोग ( मत् ) मुझसे ( उत्तराम् ) ( वाचम् ) बढ़ कर बात ( मा  
 वादिषुः ) न बोलें, ( देवपत्नी ) हे दिव्यपदार्थों की रक्षा करने वाली ( अप्सरसौ )  
 आकाश में चलने वाली, सूर्य और पृथिवी ! ( अधीतम् ) [ यह बात ] स्मरण  
 रखो ॥ ३ ॥

७। २। ८२। इति मुक् । समन्ताद् वर्धयितुमिच्छन् ( यमस्य ) न्यायाधीशत्वं  
 ( लोके ) समाजे ( अधिरज्जुः ) गृहीतपाशः ( आ ) आगत्य ( अयत् ) अनेक  
 प्राप्नुयात् ॥

३—( यस्मै ) उत्तमर्णाय ( ऋणम् ) प्रतिदेयं धनम् ( यस्य ) ( जायाम् )  
 भार्याम् ( उपैमि ) उपगच्छामि व्यभिचारेण ( यम् ) ( याचमानः ) अनुचित  
 प्रार्थयमानः ( अभ्यैमि ) प्राप्नोमि ( देवाः ) हे विद्वान्सः ( ते ) त्रयो जनाः ( वाचम् )  
 वाणीम् ( मा वादिषुः ) मा ब्रूयन्तु ( उत्तराम् ) उत्कृष्टतराम् । प्रतिकूलामित्यर्थः  
 ( मत् ) मत्तः ( देवपत्नी ) देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः—निरु० १३। ४४। हे  
 दिव्यपदार्थानां पालयित्र्यौ ( अप्सरसौ )—म० १। अन्तरिक्षे स्मरन्त्यौ पाप  
 पृथिव्यौ ( अधीतम् ) इह स्मरणे । अधिकं स्मरतम् ॥



सू० ११८ [ २८२ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४६१ )

भाषार्थ—संसार के मनुष्य स्मरण रखें कि ऋण लेने, व्यभिचार करने और अनुचित मांगने से प्रशंसा में बड़ा लगता है, इस से पुरुषार्थ करके कीर्ति बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

प्रतिष्ठाप्रतिपालनोपदेशः—वचन के प्रति पालन का उपदेश ॥

यददीव्यन्महं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। वैश्वान-  
नरो नोअधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

यत् । अदीव्यन् । ऋणम् । अहम् । कृणोमि । अदास्यन् ।  
अग्ने । उत । सु-गृणामि । वैश्वानरः । नः । अधि-पाः ।  
वसिष्ठः । उत् । इत् । नुयाति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (अदीव्यन्) व्यवहार न करता हुआ  
(अहम्) मैं (यत्) जो (ऋणम्) ऋण (कृणोमि) करूँ (उत) अथवा  
(अदास्यन्) चुकाना न चाहता हुआ (संगृणामि) प्रण करूँ । (वैश्वानरः)  
सब तरों का स्वामी, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला, (वसिष्ठः) अति  
उत्तम परमेश्वर (इत्) ही (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोकम्)  
लोक [ समाज ] में (उन्नयाति) ऊँचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर को साक्षी करके पुरुषार्थ पूर्वक माता पिता  
आदि के ऋण को चुकावे और अपने वचन को मिथ्या न करें ॥ १ ॥

वैश्वानरायु प्रति वेदयामि यद्युणं संगुरो देवतासु ।

१—(यत्) (अदीव्यन्) व्यवहारम् अकुर्वन् (ऋणम्) (अहम्)  
(कृणोमि) करोमि (अदास्यन्) प्रतिदानम् अकरिष्यत् (अग्ने) हे सर्वज्ञ  
परमात्मन् (उत) अपि (संगृणामि) गृह्ण शब्दे । प्रतिजानामि (वैश्वानरः)  
अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (नः) अस्मान् (अधिपाः) अधिकं पालयिता  
(वसिष्ठः) वसु—इष्टन् । अतिश्रेष्ठः परमेश्वरः (इत्) एव (उन्नयाति) ऊर्ध्वं  
प्रापयेत् (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोकम्) समाजम् ॥



स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथं पक्वेन सह  
सं भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानराय । प्रति । वेदयामि । यदि । ऋणम् । संगरः । देवतासु । सः । एतान् । पाशान् । विचृतम् । वेद । सर्वान् । अथ । पक्वेन । सह । सम् । भवेम ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( वैश्वानराय ) सब नरों के हितकारी परमेश्वर से ( प्रति ) प्रत्यक्ष ( वेदयामि ) निवेदन करता हूँ कि ( देवतासु ) विद्वानों के विषय [ ओं और से ] ( यत् ) जो ( ऋणम् ) ऋण और ( संगरः ) प्रण है । ( सः ) वह परमेश्वर ( एतान् ) इन ( सर्वान् ) सब ( पाशान् ) फन्दों को ( विचृतम् ) खोल देना ( वेद ) जानता है, ( अथ ) सो ( पक्वेन सह ) उस पक्के [ सह ] स्वभाव वाले परमेश्वर के साथ ( सम् भवेम ) हम बने रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने ऋण और प्रति को पूरा करके सदा परमेश्वर की आज्ञा पालन करते रहें ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगमभिधावाभ्या-  
शाम् । अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैतौ  
अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । पविता । मा । पुनातु । यत् । सम्-गुरम् । अभि-  
धावामि । आ-शाम् । अनाजानन् । मनसा । याचमानः ।  
यत् । तत्र । एतः । अप । तत् । सुवामि ॥ ३ ॥

२—( वैश्वानराय ) सर्वनरहिताय जगदीश्वराय ( प्रति ) प्रत्यक्ष  
( वेदयामि ) विज्ञापयामि ( यत् ) ( ऋणम् ) ( संगरः ) प्रणयः ( देवतासु )  
विदुषां विषये ( सः ) परमेश्वरः ( एतान् ) ( पाशान् ) बन्धान् ( विचृतम् )  
अ० ६ । ११७ । १ । विचर्तितुं विश्लेषयितुम् ( वेद ) वेत्ति ( सर्वान् ) ( अथ )  
अनन्तरम् ( पक्वेन ) पच पाके, व्यक्तीकारे च-क्त, तस्य धः । हृदस्वभावो  
परमात्मना ( सह ) ( संभवेम ) संगच्छेमहि ॥



सू० १२० [ २८३ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४६३ )

भाषार्थ—( पविता ) सब शुद्ध करने वाला ( वैश्वानरः ) सब नरों का हितकारी ( मा ) मुझे ( पुनातु ) शुद्ध करे, ( यत् ) यदि ( मनसा ) मन से ( अनाजानन् ) अज्ञान होकर ( याचमानः ) [ अनुचित ] मांगता हुआ मैं ( संगरम् ) अपनी प्रतिज्ञा और ( आशाम् ) उनका आशा पर ( अभिधावामि ) पानी फेर दूँ । ( तत्र ) उस [ कर्म ] में ( यत् ) जो ( एनः ) पाप है, ( तत् ) उसको ( अप सुवामि ) मैं हटाऊँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य शुद्धस्वभाव परमात्मा के गुणों को विचारता हुआ अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करे, और प्रमाद करके दुष्ट कर्मों में न पड़े ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराट् छन्दः ॥

गृहमोदवर्द्धनायोपदेशः—घर में आनन्द बढ़ाने का उपदेश ॥

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मान्तरं पितरं वा जिहिं-  
सिम । अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति  
सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

यत् । अन्तरिक्षम् । पृथिवीम् । उत । द्याम् । यत् । मातरम् ।  
पितरम् । वा । जिहिंसिम । अयम् । तस्मात् । गार्हपत्यः ।  
नः । अग्निः । उत् । इत् । नयाति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यत् ) यदि ( अन्तरिक्षम् ) आकाश [ वहाँ के प्राणियों ] को ( पृथिवी ) भूमि [ वहाँ के जीवों ] को ( उत ) और ( द्याम् ) प्रकाशमान लोक

३—( वैश्वानरः ) सर्वनरहितः ( पविता ) सर्वशोधयिता ( मा ) माम् ( पुनातु ) शोधयतु ( यत् ) यदि ( संगरम् ) स्वप्रतिज्ञाम् ( अभिधावामि ) धातु गतिशुद्ध्योः । अमिशोधयामि । अभिभवामि ( आशाम् ) तेषां लालसाम् ( अनाजानन् ) अज्ञानं कुर्वन् ( मनसा ) चेतसा ( याचमानः ) अनुचितं प्रार्थय-  
मानः ( यत् ) ( तत्र ) तस्मिन् कर्मणि ( एनः ) पापम् ( तत् ) ( अप सुवामि ) प्रेरणे । अपगमयामि ॥

१—( यत् ) यदि ( अन्तरिक्षम् ) मध्यलोकम् । तत्रत्यान् जनान् ( पृथिवीम् ) भूमिस्थानप्राणिनः ( उत ) अपि ( द्याम् ) प्रकाशमानलोकम्,



[ प्रकाश के जीवों ] को, ( यत् ) यदि ( मातरम् ) माता ( वा ) अथवा ( पितरम् ) पिता को ( जिहिंसिम ) हमने बताया है । ( अयम् ) यह ( गार्हपत्यः ) घर के स्वामियों का संयोगी ( अग्निः ) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर ( तस्मात् ) उस [ पाप ] से पृथक् करके ( नः ) हमें ( सुकृतस्य ) धर्म के ( लोकम् ) समाज में ( इत् ) अवश्य ( उन्नयाति ) ऊँचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को साक्षात् करके संसार के सब जीवों और माता पिता आदि माननीय महात्माओं का उपकार करते धर्मात्माओं के समाज में प्रतिष्ठा पावें ॥ १ ॥

भूमिर्मातादितिर्नो जुनित्रं भ्रातृन्तरिक्षमभिशस्त्या  
नः । द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवति जामिमृत्वा मा  
पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

भूमिः । माता । अदितिः । नः । जुनित्रम् । भ्राता । अन्तरिक्षम् ।  
अभि-शस्त्या । नः । द्यौः । नः । पिता । पित्र्यात् । शम् । भवति ।  
जामिम् । मृत्वा । मा । अत्र । पत्सि । लोकात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अदितिः ) अविनाशिनी प्रकृति ( नः ) हमारी ( जुनित्रम् ) उत्पत्ति का निमित्त है, ( भूमिः ) सब के आधार पृथिवी के समान ( माता ) माता, ( अन्तरिक्षम् ) मध्यवर्ती आकाश के समान ( नः ) हमारा ( भ्राता ) भ्राता, ( द्यौः ) प्रकाशमान सूर्य के समान ( नः ) हमारा ( पिता ) पिता ( अभि- )

तत्रस्थान् जीवान् ( यत् ) ( मातरम् ) ( पितरम् ) ( वा ) ( जिहिंसिम ) हिंसि  
हिंसायाम्—लिट् । वयं पीडितवन्तः ( अयम् ) सुप्रसिद्धः ( तस्मात् ) तद्विधात्  
पापात् पृथक् कृत्वा ( गार्हपत्यः ) गृहपतिना संयुक्ते ज्ञयः । पा० ४ । ४ । १० ।  
इति ज्ञयः । गृहपतिभिः संयुक्तः ( नः ) अस्मान् ( अग्निः ) सर्वज्ञः परमेश्वरः  
( इत् ) ऊर्ध्वम् ( इत् ) एव ( नयाति ) नयेत् । गमयेत् ( सुकृतस्य ) धर्मस्य  
( लोकम् ) समाजम् ॥

२—( भूमिः ) सर्वाधारभूमितुल्या ( माता ) अ० ५ । ५ । १ । जननी  
( अदितिः ) अ० २ । २८ । ४ । अविनाशिनी प्रकृतिः ( नः ) अस्माकम् ( जुनि-  
त्रम् ) उत्पत्तिस्थानम् ( भ्राता ) अ० ४ । ४ । ५ । भरणशीलः सहोदरः ( अन्त-  
रिक्षम् ) मध्यवर्ती लोकसदृशः ( अभिशस्त्या ) पंचम्यर्थे तृतीया । अपवादत्वात्



सू० १२० [ २८३ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४६५ )

शस्त्या=०—शस्त्याः ) अपवाद से [ अलग करके ] ( शम् ) शान्तिकारक  
( भवाति ) होवे, ( जामिम् ) बन्धुवर्ग को ( ऋत्वा ) पाकर ( पित्र्यात् ) पितरों,  
विद्वानियों के प्रिय ( लोकात् ) समाज से ( मा अव पत्सि ) मैं कभी न  
गिरूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर, परमेश्वर रचित पदार्थों और माता पिता  
आदि कुटुम्बियों का उपकार विचार कर उनकी यथावत् सेवा से मनुष्य समाज  
में कीर्ति बढ़ावे ॥ २ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व १ः  
स्वायाः । अश्लोणा अङ्गैरहताः स्वर्गे तत्र पश्येम  
पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

यत्र । सुहार्दः । सु-कृतः । मदन्ति । वि-हाय । रोगम् ।  
तन्वः । स्वायाः । अश्लोणाः । अङ्गैः । अहताः । स्व-र्गे ।  
तत्र । पश्येम् । पितरौ । च । पुत्रान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यत्र ) जहाँ पर ( सुहार्दः ) सुन्दर हृदय वाले ( सुकृतः )  
पुण्ययात्मा लोग ( स्वायाः ) अपने ( तन्वः ) शरीर का ( रोगम् ) रोग ( विहाय )  
छोड़ कर ( मदन्ति ) आनन्द भोगते हैं । ( तत्र ) वहाँ पर ( स्वर्गे ) स्वर्ग में  
( अश्लोणाः ) बिना लंगड़े हुये और ( अङ्गैः ) अङ्गों से ( अहताः ) बिना टेढ़े

( नः ) अस्माकम् ( द्यौः ) प्रकाशमानः सूर्य इव ( पिता ) जनकः ( पित्र्यात् )  
पितृ र्यत् । पा० ४ । ३ । ७६ । पितृ—यत् । रीङ् ऋतः । पा० ७ । ४ । २७ । रीङ् ।  
पितृणां विद्वानिनां प्रियात् ( शम् ) शान्तिकारकः ( भवाति ) भवेत् ( जामिम् )  
अ० २ । ७ । २ । बन्धुवर्गम् ( ऋत्वा ) प्राप्य ( मा अव पत्सि ) पद गतौ, माङ्कि  
बुद्धि उत्तमैक धवने रूपम् । अवपन्नो मा भूवम् ॥

३—( यत्र ) यस्मिन् गृहे ( सुहार्दः ) अ० ३ । २८ । ५ । सुहृदयाः ।  
अनुकूलकारिणः ( सुकृतः ) पुण्यकर्माणः ( मदन्ति ) हर्षन्ति ( विहाय )  
परित्यज्य ( रोगम् ) व्याधिम् ( तन्वः ) शरीरस्य ( स्वायाः ) स्वकीयायाः  
( अश्लोणाः ) धापवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति श्रु अवश्यो गतौ च—न,



हुये हम ( पितरौ ) माता पिता ( च ) और ( पुत्रान् ) पुत्रों को ( पश्येम ) देखते रहें ॥

भावार्थ—जिस घर में सब स्त्री पुरुष सुकर्म और नीरोग हों उस स्वर्ग में ही सब कुदुम्हों मिलकर सुख के स्थिर रखने का प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध आ चुका है—अ० ३। २८। ५ ॥

सूक्तम् १२१ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराट्; २ त्रिष्टुप्; ३, ४ अनुष्टुप् ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष पाने का उपदेश ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा  
वारुणा ये । दुःस्वपन्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम  
सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

वि-साना । पाशान् । वि । स्य । अधि । अस्मत् । ये । उत्-  
तमाः । अधमाः । वारुणाः । ये । दुःस्वपन्यं दुः-इतम् । निः ।  
स्व । अस्मत् । अथ । गच्छे-म । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे शूर ! ] ( विषाणा = ०-येन ) विविध भक्ति के साथ  
( पाशान् ) फंदों को ( अस्मत् ) हमसे ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( वि ष्य )  
खोल दे, ( ये ) जो ( उत्तमाः ) ऊँचे और ( ये ) जो ( अधमाः ) नीचे फंदे  
( वारुणः ) जो दोष निवारक वरुण परमात्मा से आये हैं । ( दुःस्वपन्यम् ) नींद

यद्वा । धोण संघाते—अच्, रस्य लत्वम्, यद्वा श्लोण संघाते—अच् । अश्रो-  
णाः । अपङ्गवः ( अङ्गैः ) शरीरावयवैः ( अहृताः ) अकुटिलगतयः ( स्वाँ )  
सुखविशेषे ( पश्येम ) साक्षात्कुर्याम ( पितरौ ) मातरं पितरं च । ( च )  
( पुत्रान् ) सुतान् ॥

१—( विषाणा ) अ० ३। ७। १। षण् संभक्तौ-घञ् । सुपां सुलुक् ०।  
पा० ७। १। ३६। इति आत् । विविधसेवनेन ( पाशान् ) बन्धान् ( वि ष्य )  
षो अन्तर्कर्मणि । विमुञ्च ( अधि ) अधिकृत्य ( अस्मत् ) अस्मत्तः ( ये ) पाशाः  
( उत्तमाः ) ऊर्ध्वाकायाभिताः ( अधमाः ) अधःकायाभिताः ( वारुणाः ) तत



सू० १२१ [ २८४ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४६७ )

में उठे कुविचार और ( दुरितम् ) विघ्न को ( अस्मत् ) हम से ( निः ) निकाल दे, ( अथ ) फिर ( सुकृतस्य ) धर्म के ( लोकम् ) समाज में ( गच्छेम ) हम जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भक्ति की शक्ति को बढ़ाकर अपने बुरे कर्म के फल दुःखों को पुरुषार्थ से हटाकर सोते जागते उत्तम विचार करते हैं वे ही पुण्यात्मा कीर्ति पाते हैं ॥ १ ॥

यद् दारुणि ब्रुध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां ब्रुध्यसे  
यच्च वाचा । अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदि-  
न्याति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

यत् । दारुणि । ब्रुध्यसे । यत् । च । रज्ज्वां । यत् । भूम्यां ।  
ब्रुध्यसे । यत् । च । वाचा । अयम् । तस्मात् । गार्हपत्यः । नः ।  
अग्निः । उत् । इत् । न्याति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे जीव । ] ( यत् ) यदि तू ( दारुणि ) काष्ठ में, ( च )  
और ( यत् ) यदि तू ( भूम्याम् ) भूमि में ( च ) और ( यत् ) यदि ( वाचा )  
वचन के साथ ( ब्रुध्यसे ) बंधा है । ( अयम् ) यह ( गार्हपत्यः ) घर के  
स्वामियों का संयोगी ( अग्निः ) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर ( तस्मात् ) उस [ कष्ट ]  
से पृथक् करके ( नः ) हमें ( सुकृतस्य ) धर्म के ( लोकम् ) समाज में ( इत् )  
अवश्य ( उन्नयाति ) ऊंचा चढ़ावे ॥ २ ॥

आगतः । पा० ४ । ३ । ७४ । इत्यण् । वरुणात् कष्टनिवारकात् परमेश्वरात्  
प्राप्ताः ( ये ) ( दुःस्वप्न्यम् ) अ० ६ । ४६ । ३ । कुनिद्राभवं विचारम् ( दुरि-  
तम् ) कष्टम् ( निः स्व ) तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् । वा० पा० ६ । ४ । ८६ ।  
ष प्रेरणे-यण् । निः सुव । निर्गमय ( अथ ) अनन्तरम् ( गच्छेम ) प्राप्नुयाम  
( सुकृतस्य ) पुण्यस्य ( लोकम् ) समाजम् ॥

२—( यत् ) यदि ( दारुणि ) वृक्षनिजनि० । उ० १ । ३ । वृ विदारणे—  
लुण् । काष्ठे ( ब्रुध्यसे ) बद्धो भवसि ( रज्ज्वाम् ) दाम्नि ( भूम्याम् ) भूमि-  
गते ( वाचा ) राजाक्षाप्रकाशकेन वचनेन । अन्यद् गतम्—अ० ६ । १२० । १ ॥



भावार्थ—जो मनुष्य बड़ी विपत्तियों में पड़ कर परमात्मा की शरण लेता और पुरुषार्थ करता है वह से छूट कर उन्नति पाता है ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० ६।१२०।१॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।

प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रेतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

उत् । उदगाताम् । भगवती इति भगवती । विचृतौ । नाम । तारके इति । प्र । इह । अमृतस्य । यच्छताम् । प्र । प्रेतु । बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( भगवती = ०—त्यौ ) दो पेश्वर्य वाले ( विचृतौ ) [ अन्धकार से ] छुड़ाने हारे ( नाम ) प्रसिद्ध ( तारके ) तारे [ सूर्य और चन्द्रमा ] ( उदगाताम् ) उदय हुये हैं । वे दोनों ( इह ) यहां पर ( अमृतस्य ) मरण से बचाव [ पुरुषार्थ ] का ( प्रयच्छताम् ) दान करें, [ तब ] ( बद्धकमोचनम् ) बंधुवे [ आत्मा ] की मुक्ति ( प्र प्रेतु ) हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा नियम पर चलकर जगत् का उपकार करते हैं, इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य ईश्वर आका पालन करके आप दुःख से छूटते और औरों को छुड़ाते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध पहिले आ चुका है—अ० २।८।१।

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।

येन्या इव प्रच्युते मर्भः पथः सर्वा अनु क्षिय ॥ ४ ॥

वि । जिहीष्व । लोकम् । कृणु । बन्धात् । मुञ्चासि । बद्धकम् ।

३—( उदगाताम् ) उदितेऽभूताम् ( भगवती ) भगवत्यौ । पेश्वर्यवत्यौ ( विचृतौ ) अन्धकाराद् विमोचयिष्यौ ( नाम ) प्रसिद्धे ( तारके ) ज्योतिषी । सूर्यचन्द्रौ ( इह ) अस्मिन् पुरुषे ( अमृतस्य ) मरणराहित्यस्य । पुरुषार्थस्य ( प्रयच्छताम् ) । उभे दानं कुरुताम् ( प्र प्रेतु ) प्रकर्षेण गच्छतु ( बद्धकमोचनम् ) कृत्सायां कन । कृत्सितबन्धं प्राप्तस्य मोक्षः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० २।८।१।



सू० १२२ [ २८५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४६८ )

योऽन्याः-इव । प्र-च्युतः । गर्भः । पथः । सर्वान् । अनु । क्षिय ॥४॥

भाषार्थ—[ हे पुरुष ! ] ( वि जिहीष्व ) विविध प्रकार से चल, ( लोकम् ) समाज को ( कृणु ) बना, ( बद्धकम् ) बड़े बंधुधे [ आत्मा ] को ( बन्धात् ) बन्ध से ( मुञ्चासि ) तू छुड़ा दे ( योन्याः ) गर्भाशय से ( प्रच्युतः ) बाहर निकले हुये ( गर्भः इव ) बालक के समान ( सर्वान् ) सब ( पथः अनु ) मार्गों की ओर ( क्षिय ) चल ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे दुःख बन्धन से छूट कर आनन्द भोगता है, जैसे गौ आदि का बच्चा गर्भ से उत्पन्न होकर प्रसन्नता से विचरता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२२ ॥

१-५ प्रजापति देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ विराट्; ५ जगती ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द प्राप्ति की करने का उपदेश ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा  
ऋतस्य । अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तु-  
मनु संतरेम ॥ १ ॥

एतम् । भागम् । परि । ददामि । विद्वान् । विश्व-कर्मन् ।  
प्रथम-जाः । ऋतस्य । अस्माभिः । दत्तम् । जरसः । परस्तात् ।  
अच्छिन्नम् । तन्तुम् । अनु । सम् । तरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—( प्रथमजाः ) श्रेष्ठों में प्रसिद्ध, ( विद्वान् ) विद्वान् मैं ( ऋतस्य ) सत्य धर्म के ( एतम् ) इस ( भागम् ) सेवनीय व्यवहार को ( विश्वकर्मन् )

४—( वि ) विविधम् ( जिहीष्व ) ओहाऊ गतौ । गच्छ ( लोकम् ) स्थानम् । समाजम् ( कृणु ) कुरु ( बन्धात् ) दुःखबन्धनात् ( मुञ्चासि ) लेखि रूपम् । विमोचय ( बद्धकम् ) कुत्सितबन्धं गतम् ( योन्याः ) गर्भाशयात् ( इव ) यथा ( प्रच्युतः ) बहिर्निगतः ( गर्भः ) बालकः ( पथः ) मार्गान् ( सर्वान् ) समस्तान् ( अनु ) अनुलक्ष्य ( क्षिय ) क्षि निवासगत्योः । गच्छ ॥

१—( एतम् ) क्रियमाणम् ( भागम् ) भजनीय व्यवहारम् ( परि ददामि ) समर्पयामि ( विद्वान् ) तत्त्वं ज्ञानम् ( विश्वकर्मन् ) अ० २ । ३४ । ३ । सुपांशु-



जगत् के रचने वाले विश्वकर्मा परमेश्वर में (परि ददामि) समर्पण करता हूँ।  
( जरसः ) बुढ़ापे से ( परस्तात् ) दूर देश में ( अस्माभिः दत्तम् ) अपने शिरो  
हुये ( अच्छिन्नम् ) बिना टूटे ( तन्तुम् अनु ) फैले हुये [ अथवा वस्त्र में सूत  
के समान सर्वव्यापक ] परब्रह्म के पीछे पीछे ( सम् ) यथावत् ( तरेम ) हथ  
पार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके अमर  
अमर के समान तत्त्वज्ञान प्राप्त करके विद्यादान करें ॥ १ ॥

तुतं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।  
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिह्नान्तस्वम्  
एव ॥ २ ॥

तुतम् । तन्तुम् । अनु । एके । तरन्ति । येषाम् । दत्तम् ।  
पित्र्यम् । आ-अयनेन । अबन्धु । एके । ददतः । प्र-यच्छन्तः ।  
दातुम् । च । इत् । शिह्नान् । सः । स्वः-गः । एव ॥ २ ॥

भाषार्थ—( येषाम् ) जिन लोगों का ( पित्र्यम् ) पितरों, माननीयों का  
प्रिय ( दत्तम् ) दान ( आयनेन ) यथाशास्त्र होता है, ( एके ) वे कोई ( तन्तुम् )  
फैले हुये ( तन्तुम् अनु ) वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक ब्रह्म के पीछे पीछे

सू० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । जगत्कर्तारि परमात्मनि (प्रथमजगत्)  
जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति जनी प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनोरपु  
नासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । प्रथमेषु श्रेष्ठेषु जातः प्रादुर्भावे  
( ऋतस्य ) सत्यधर्मस्य ( अस्माभिः ) उपासकैः ( दत्तम् ) समर्पितं  
( जरसः ) जराया सकाशात् ( परस्तात् ) अ० ४ । १६ । ४ । परस्मिन् दूर देश  
यावज्जरा न भवेत् तावत्, इत्यर्थः ( अच्छिन्नम् ) अभिन्नम् ( तन्तुम् ) अ० १  
१ । ५ । विस्तीर्णम् । यद्वा । वस्त्रे सूत्रवत् सर्वव्यापकं ब्रह्म ( अनु ) अनुलक्ष्य  
( सम् ) सम्यक् ( तरेम ) पारयेम ॥

२—( ततम् ) विस्तृतम् ( तन्तुम् )—म० १ । पटे सूत्रवत्सर्वव्यापकं  
( अनु ) अनुलक्ष्य ( एके ) केचन धीराः ( तरन्ति ) पारं गच्छन्ति ( येषाम् )  
धीराणाम् ( दत्तम् ) दानम् ( पित्र्यम् ) अ० ६ । १२० । २ । पितृणां मित्रं



सू० १२२ [ २८५ ]

षष्ठं कारणम् ॥ ६ ॥

( १४७१ )

(तरन्ति) तरते हैं । ( एके ) कोई कोई ( अवन्धु ) बन्धुरहितों [ अनाथों ] को ( ददतः ) देते हुये और ( प्रयच्छन्तः ) सौंपते हुये रहते हैं, [ जो ] ( दातुम् ) दान करने को ( च इत् ) अवश्य ही ( शिद्धान् ) समर्थ हैं, ( सः एव ) वही [ उनको ] ( स्वर्गः ) स्वर्ग है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सुपात्रों का सत्कार करके परमात्मा की आज्ञा पालन करते हैं, वे ही विशेष सुख के भागी होते हैं ॥ २ ॥

अन्वारभेथामनुसंभेथामेतं लोकं श्रद्धधानाः सचन्ते।  
यद् वा पृथ्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती  
सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥

अनु-आरभेथाम् । अनु-संभेथाम् । एतम् । लोकम् । श्रु-  
द्धधानाः । सचन्ते । यत् । वाम् । पृथ्वम् । परि-विष्टम् । अ-ग्नौ  
तस्य । गुप्तये । दम्पती इति दम्-पती । सम् । श्रयेथाम् ॥३॥

भाषार्थ—( दम्पती ) हे स्त्री पुरुषो ! [ सत्कर्म को ] ( अन्वारभेथाम् )  
निरन्तर आरम्भ करो, ( अनुसंभेथाम् ) मिल कर आरम्भ करते रहे, ( श्रद्धधानाः )  
श्रद्धा वाले लोग ( एतम् ) इस [ स्वर्ग ] ( लोकम् ) लोक को ( सचन्ते )

( आयनेन ) आ + अय गतौ—ल्युट् । आगमेन । यथाशास्त्रम् ( अवन्धु ) सुपात्रों  
सुलुक्० । इति चतुर्थ्या लुक् । अवन्धुभ्यः । बन्धुरहितेभ्यः । अनाथेभ्यः ( एके )  
सुजनाः ( ददतः ) दानं कुर्वन्तः ( प्रयच्छन्तः ) समर्पयन्तः सन्ति ( दातुम् )  
( च इत् ) अवश्यमेव ( शिद्धान् ) शक्नु शक्तौ सन्ति । सन्निमीमा० । पा० । ७ । ४ ।  
५४ । इत्यचः स्थाने इस् । अवलोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इत्यभ्यास-  
लोपः । लेटि आडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ६७ । इकार-  
लोपः । संयोगान्तलोपे तस्य असिद्धत्वात्तलोपाभावः । शकुमिच्छेयुः । समर्था  
भवेयुः ॥ २ ॥

३—( अन्वारभेथाम् ) निरन्तरमारम्भं कुरुतं सत्कर्मणः ( अनुसं-  
भेथाम् ) निरन्तरं संयुक्तौ भूत्वा आरम्भं कुरुतम् ( एतम् ) ( लोकम् ) दर्शनीयं  
स्वर्गम् ( श्रद्धधानाः ) श्रद्धावन्तः कर्मानुष्ठानतत्पराः ( सचन्ते ) सेवन्ते—



निरन्तर सेवते हैं । ( अग्नौ ) अग्नि में ( पक्वम् ) पका हुआ ( यत् ) जो [अग्नौ]  
( वाम् ) तुम्हारे लिये ( परिधिष्टम् ) उपस्थित है, ( तस्य गुप्तये ) उसकी रक्षा  
के लिये ( सम् श्रयेथाम् ) तुम दोनों परस्पर आश्रय लो ॥ ३ ॥

भाषार्थ—सब स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में यथावत् प्रवेश करके परमात्मा  
में श्रद्धा रखते हुये अपने कर्तव्य का यथावत् पालन करके सदा सुख मोगे ॥३॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः ।  
उपहृता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाकैः सध्मादं  
मदेम ॥ ४ ॥

यज्ञम् । यन्तम् । मनसा । बृहन्तम् । अनु-आरोहामि । तप-  
सा । स-योनिः । उपहृताः । अग्ने । जरसः । परस्तात् । तृतीये ।  
नाकैः । सध्मादम् । मदेम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( मनसा ) विज्ञान और ( तपसा ) तप अर्थात् उत्साह के  
साथ ( सयोनिः ) निवास करता हुआ मैं ( यन्तम् ) व्याप्तिशील ( बृहन्तम् )  
सब में बड़े ( यज्ञम् ) पूजनीय ब्रह्म को ( अन्वारोहामि ) निरन्तर ऊँचा होकर  
प्राप्त करता हूँ । ( अग्ने ) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! ( जरसः ) वयोहानि से  
( परस्तात् ) दूर देश में ( उपहृताः ) बुलाये गये हम ( तृतीये ) तीसरे [ जीव और

निरु० ३ । २१ । ( यत् ) अन्नम् ( वाम् ) युवाभ्याम् ( पक्वम् ) पाकेन संस्कृतम्  
( परिधिष्टम् ) प्राप्तम् ( अग्नौ ) पावके ( तस्य ) अन्नस्य ( गुप्तये ) रक्षणाय  
( दम्पती ) राजदन्तादिषु परम् । पा० २ । २ । ३१ । अत्र पाठात् जायाया दम्भावी  
निपात्यते । भार्यापती ( सम् ) समन्तात् ( श्रयेथाम् ) श्रिज् सेवायाम् ।  
सेवेथाम् ॥

४—( यज्ञम् ) यजनीयं पूजनीयं परमात्मानं ( यन्तम् ) गच्छन्तं व्याप्ति-  
शीलम् ( बृहन्तम् ) महान्तम् ( अन्वारोहामि ) निरन्तरमारुह्य प्राप्नोमि  
( मनसा ) विज्ञानेन ( तपसा ) श्रमेण । उत्साहेन ( सयोनिः ) समानगृहः सन् ।  
योनिः—गृहनाम—निरु० ३ । ४ । ( उपहृताः ) आदरेणानुज्ञाताः ( अग्ने ) सर्व व्यापक  
परमात्मन् ( जरसः ) वयोहानेः सकाशात् ( परस्तात् ) परे दूरे देशे ( तृतीये )



सू० १२२ [ २८५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४७३ )

प्रकृति से भिन्न ] ( नाके ) सुख स्वरूप परमात्मा में ( सधमादम् ) हर्षोत्सव ( मदेम ) मनावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूरण विज्ञान और तपस्या से परब्रह्म को खोज कर उपकारी होते हैं, वे अजर अमर होकर उस परमात्मा के साथ आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

शुद्धाः पुता योषितौ यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु  
प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमि-  
न्द्रो मरुत्वान्तस ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

शुद्धाः । पुताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणां ।  
हस्तेषु । प्र-पृथक् । सादयामि । यत्-कामः । इदम् । अभि-  
षिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददातु ।  
तत् । मे ॥ ५ ॥

भावार्थ—( शुद्धाः ) शुद्ध स्वभाव वाली, ( पुताः ) पवित्र आचरण वाली, ( यज्ञियाः ) पूजनीय ( इमाः ) इन ( योषितः ) सेवा योग्य स्त्रियों को ( ब्रह्मणाम् ) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के ( हस्तेषु ) हाथों के बीच [ विज्ञान के बलों में ] ( प्रपृथक् ) नाना प्रकार से ( सादयामि ) मैं बैठाऊँगा हूँ । [ हे विद्वान् स्त्री पुरुष ! ] ( यत्कामः ) जिस उत्तम कामना वाला ( अहम् ) मैं ( इदम् ) इस समय ( वः ) तुम्हारा ( अभिषिञ्चामि ) अभिषेक करता हूँ, ( सः ) वह

जीवप्रकृतिभ्यां भिन्ने ( नाके ) सुखस्वरूपे परमात्मनि ( सधमादम् ) अ० ६  
६२ । २ । सहर्षम् ( मदेम ) हृष्येम ॥

५—( शुद्धाः ) निर्मलस्वभावाः ( पुताः ) पवित्राचाराः ( योषितः )  
अ० १ । १७ । १ । सेव्याः स्त्रीः ( यज्ञियाः ) पूजार्हाः ( इमाः ) विदुष्यः ( ब्रह्मणाम् )  
ब्रह्मज्ञानिनाम् ( हस्तेषु ) करेषु । विज्ञानबलेषु ( प्रपृथक् ) प्रथेः कित् सम्प्रसारणं  
च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ प्रक्याने—अजि, स च कित् । पृथक् प्रथतेः—  
निरु० ५ । २५ । विस्तारेण । नाना प्रकारेण ( सादयामि ) स्थापयामि ( यत्कामः )  
यत्पदार्थं कामयमानः ( इदम् ) इदानीम् ( अभिषिञ्चामि ) अभिषिक्तान् करोमि



( मरुत्वान् ) दोषनाशक गुणों वाला ( इन्द्रः ) सम्पूर्ण पेश्वर्यवाला जगदीश्वर  
( तत् ) वह वस्तु ( मे ) मुझे ( ददातु ) देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने विज्ञान प्राप्ति में स्त्री पुरुषों को समान रचा है, इसलिये मनुष्य को विद्वान् स्त्री पुरुषों से सादर विज्ञान प्राप्त करके परमात्मा में भ्रञ्जालु होकर आनन्दित होवें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२३ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्भिः सत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों से सत्संग का उपदेश ॥

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जा-  
तवेदाः । अन्वागुन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत  
परमे व्योमन् ॥ १ ॥

एतम् । सध-स्थाः । परि । वः । ददामि । यम् । शे-धिम् ।  
आ-वहात् । जात-वेदाः । अनु-आगुन्ता । यजमानः । स्वस्ति ।  
तम् । स्म । जानीत । परमे । वि-व्योमन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सधस्थाः ) हे साथ साथ बैठने वाले सज्जनो ! ( वः ) तुम्हारे लिये ( एतम् ) इस ( शेवधिम् ) सुखनिधि परमेश्वर को ( परिददा मि ) सब प्रकार से देता हूँ [ उपदेश करता हूँ ], ( यम् ) जिस [ परमेश्वर ] को ( जातवेदाः ) विज्ञान को प्राप्त वेदार्थ जानने वाला पुरुष ( आवहात् ) अच्छे

( वः ) युष्मान् विदुषः स्त्रीपुरुषान् ( मरुत्वान् ) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति  
दोषानिति मरुतः । दोषनाशकगुणैर्युक्तः ( सः ) प्रसिद्धः ( ददातु ) प्रयच्छतु  
( तत् ) इष्टं फलं ( मे ) ममम् ॥

१—( एतम् ) सर्वव्यापकम् ( सधस्थाः ) सहस्थानाः ( परि ) सर्वतः  
( वः ) युष्मभ्यम् ( ददामि ) ( यम् ) ( शेवधिम् ) शेवं सुखं धीयते यस्मिंस्तं  
निधिम्—निरु० २ । ४ । सुखनिधिं परमात्मानम् ( आवहात् ) लेटि रूपम् । सम-  
न्तात् प्रामुयात् ( जातवेदाः ) जातप्रज्ञो वेदार्थवित् ( अन्वागुन्ता ) गमेर्लुट् ।



सू० १२३ [ २८६ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४७५ )

प्रकार प्राप्त होवे, और [ जिसके द्वारा ] ( यजमानः ) परमेश्वर का पूजने वाला ( स्वस्ति ) कल्याण ( अन्वागन्ता ) लगातार पावेगा, ( परमे ) परम उत्तम ( व्योमन् ) आकाश में वर्तमान ( तम् ) उस परमेश्वर को तुम ( स्म ) अवश्य ( जानीत ) जानों ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो मनुष्य विद्वानों से मिलकर सदाचारी होते हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर से मिलते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० १८। ५६। ६०, इनका अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर यहां किया गया है ॥

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोक-  
क्षमत्र । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म  
कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

जानीत । स्म । एनम् । परमे । वि-ओमन् । देवाः । सध-  
स्थाः । विद । लोकम् । अत्र । अनु-आगन्ता । यजमानः ।  
स्वस्ति । इष्टापूर्तम् । स्म । कृणुत । आविः । अस्मै ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सधस्थाः ) हे साथ साथ बैठने वाले ( देवाः ) विद्वानो !  
( परमे ) परम उत्तम ( व्योमन् ) आकाश में वर्तमान ( एनम् ) इस [ परमात्मा ]  
को ( स्म ) अवश्य ( जानीत ) जानो, और ( अत्र ) इस [ परमात्मा ] में

निरन्तरमागमिष्यति । प्राप्स्यति ( यजमानः ) परमेश्वरपूजकः ( स्वस्ति ) कल्याणम्  
( तम् ) परमात्मानम् ( स्म ) अवश्यम् ( परमे ) प्रकृष्टे ( व्योमन् ) अन्येभ्योऽपि  
इत्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अव रक्षणे—मनिन् । ज्वरत्वरत्निव्यवि० ।  
पा० ६ । ४ । २० । इति ऊठि कृते गुणः । सुपांसु लुक्० । सप्तम्या लुक् । न डि-  
सम्बुद्धयोः । पा० ८ । २ । ८ । नलोपामावः । व्योमन्=व्यवने—निरु० ११ । ४० ।  
व्योमनि । आकाशे ॥

२—( एनम् ) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् ( देवाः ) विद्वान्सः ( विद )  
लोडर्थे—लट् । वित्त, जानीत ( लोकम् ) संसारम् ( अत्र ) अस्मिन्  
परमात्मनि ( इष्टापूर्तम् ) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाभ्यग्रनाशप्रदानादिपुण्य-



(लोकम्) संसार को (विद) जानो [और जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदान आदि पुण्यकर्म को (अस्मै) उस परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (स्म) अवश्य (आविः) प्रकाशित (कृणुत) करो ॥ २ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से योगाभ्यास और धर्म का आचरण करके परमेश्वर को जान कर आनन्द करें ॥ २ ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥३॥

देवाः । पितरः । पितरः । देवाः । यः । अस्मि । सः । अस्मि ॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (पितरः) माननीय, और (पितरः) पालन करने वाले लोग (देवाः) विजयी होते हैं । मैं (यः) चलने फिरने वाला [उद्योगी] (अस्मि) हूँ, मैं ही (सः) दुःख मिटाने वाला (अस्मि) हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—विद्वान् ही परस्पर पालन करके विजयी, और आत्म विश्वासी और उद्योगी ही परस्पर सहायक होते हैं ॥ ३ ॥

स पचामि स ददामि स यजे स दुत्तान्मा यूषम् ॥४॥

सः । पचामि । सः । ददामि । सः । यजे । सः । दुत्तात् । सा । यूषम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) क्लेशनाशक मैं [अन्न] को (पचामि) परि पक करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूँ, (सः) वही मैं (यजे)

कर्म । (कृणुत) कुरुत (आविः) प्रकाशे (अस्मै) परमात्मप्राप्तये । अन्व गतम्—म० १ ॥

३—(देवाः) विद्वान्सः (पितरः) पालयितारः । माननीयाः (देवाः) विजयीषवः (यः) या प्रापये—ड । गन्ता । उद्योगी (अस्मि) अहं वर्ते (सा) यो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः ॥

४—(सः)—म० ३ । क्लेशनाशकः (पचामि) पाकेन संस्क्रौषि (सः) प्रसिद्धः (ददामि) दानानि करोमि (यजे) देवान् पूजयामि (दुत्तात्)



सू० १२४ [ २८९ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४७७ )

विद्वानों को पूजता हूँ ( सः ) वह मैं ( दत्तात् ) दान से [ सुपात्रों के लिये ]  
( मा यूषम् ) पृथक् न होऊँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुपात्रों का सत्कार करके कीर्तिमान्  
होवे ॥ ४ ॥

नाकं राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।

विद्धि पुतस्य नो राजन्तस देव सुमना भव ॥ ५ ॥

नाकं । राजन् । प्रति । तिष्ठ । तत्र । एतत् । प्रति ।

तिष्ठतु । विद्धि । पुतस्य । नः । राजन् । सः । देव ।

सु-मनाः । भव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( राजन् ) हे समर्थ मनुष्य ! ( नाकं ) सुख स्वरूप परमात्मा  
में ( प्रति तिष्ठ ) प्रतिष्ठा पा, ( तत्र ) उसी [ परमात्मा ] में ही ( एतत् ) यह [ तेरा  
पुण्य कर्म ] ( प्रति तिष्ठतु ) प्रतिष्ठा पावे । ( राजन् ) हे विद्या से प्रकाशमान ! ( नः )  
हमारे लिये ( पुतस्य ) अन्न दान आदि पुण्य कर्म का ( विद्धि ) ज्ञान कर,  
( सः ) वह तू, ( देव ) हे गतिशील ! ( सुमनाः ) प्रसन्नचित्त ( भव ) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके  
पुण्य कर्म करता हुआ सदा प्रसन्न रहे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२४ ॥

१-३ ॥ अग्नि देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मशुद्ध्युपदेशः—आत्मा की शुद्धि का उपदेश ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादुपांस्तोको अभ्यपस्तुद्

सुपात्रेभ्यो दानात् ( मा यूषम् ) यु मिश्रणामिश्रणयोः—माङ्गि लुङि च्लेः सिच्,  
छान्दसो दीर्घः । पृथक्कृतो मा भूवम् ॥

५—( नाकं ) दुःख रहिते सुखस्वरूपे परमात्मनि ( राजन् ) हे समर्थ  
जीव ( प्रति तिष्ठ ) प्रतिष्ठया स्थितो भव ( तत्र ) तस्मिन् परमात्मनि ( एतत् )  
पुतम् । पुण्यकर्म ( प्रति तिष्ठतु ) प्रतिष्ठया स्थितं भवतु ( विद्धि ) ज्ञानं कुर्व  
( पुतस्य ) अ० २ । १२ । ४ । अन्नप्रदानादिपुण्यकर्मणः ( नः ) अस्मभ्यम्  
( राजन् ) ( सः ) सत्त्वम् ( देव ) उद्योगिन् ( सुमनाः ) प्रसन्नचित्तः ( भव ) ॥



रसेन । समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सु-  
कृतां कृतेन ॥ १ ॥

दिवः । नु । माम् । बृहतः । अन्तरिक्षात् । अपाम् । स्तोकः ।  
अभि । अपुप्तत् । रसेन । सम् । इन्द्रियेण । पयसा । अहम् ।  
अग्ने । छन्दः-भिः । यज्ञैः । सु-कृताम् । कृतेन ॥ १ ॥

भाषार्थ—( दिवः ) प्रकाशमान सूर्य से, ( नु ) अथवा ( बृहतः ) [ सूर्य  
से ] बड़े ( अन्तरिक्षात् ) आकाश से ( अपाम् ) जल का ( स्तोकः ) विन्दु  
( माम् अभि ) मेरे ऊपर ( रसेन ) रस के साथ ( अपुप्तत् ) गिरा है । ( सु-  
ताम् ) सुकर्मियों के ( कृतेन ) कर्म से, ( अग्ने ) हे सर्वव्यापी परमेश्वर ।  
( इन्द्रियेण ) इन्द्रपन अर्थात् सम्पूर्ण पेश्वर्य के साथ, ( पयसा ) अन्न के  
साथ ( छन्दोभिः ) आनन्ददायक कर्मों के साथ ( यज्ञैः ) विद्या आदि दानों  
के साथ ( अहम् ) मैं ( सम्=संगच्छेय ) मिला रहूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल सूर्य द्वारा खिंच कर मेघमण्डल से बरस कर  
संसार को पुष्ट करता है, वैसे ही धर्मात्माओं से उत्तम गुण ग्रहण करते  
मनुष्य अपना पेश्वर्य बढ़ावे ॥ १ ॥

यदि वृक्षादभ्यपुप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ-  
वायुरेव । यत्रास्पृक्षत् तन्वो ३ यच्च वासंसु आपो

१—( दिवः ) प्रकाशमानात् सूर्यात् ( नु ) अथवा ( माम् ) प्राणिनः  
( अभि ) अभिलक्ष्य ( बृहतः ) विशालात् ( अन्तरिक्षात् ) आकाशात् ( अपाम् )  
जलानाम् ( स्तोकः ) अ० ४ । ३८ । ६ । विन्दुः ( अपुप्तत् ) अ० ५ । ३० । ६ ।  
पतितोऽभूत् ( रसेन ) सारेण ( सम् ) क्रियाग्रहणम् । संगच्छेय ( इन्द्रियेण )  
इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टं । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्  
पेश्वर्यम् । धनम्—निघ० २ । १० । ( पयसा ) अन्नेन—निघ० २ । ७ । ( अहम् )  
मनुष्यः ( अग्ने ) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ( छन्दोभिः ) अ० ४ । ३४ । १ । आहम्  
द्वनैः ( यज्ञैः ) विद्यादिदानैः सह ( सुकृताम् ) पुण्यकर्मिणाम् ( कृतेन )  
कर्मणा ॥



नुदन्तु निऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

यदि । वृक्षात् । अभि-अप्यत् । फलम् । तत् । यदि । अन्तरि-  
क्षात् । सः । ऊ-इति । वायुः । एव । यत्र । अस्पृक्षत् । तन्वः ।  
यत् । च । वाससः । आपः । नुदन्तु । निः-ऋतिम् । पराचैः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यदि ) यदि ( वृक्षात् ) वृक्ष से ( तत् फलम् ) वह [ अशुद्ध ]  
फल, और ( यदि ) यदि ( अन्तरिक्षात् ) आकाश से ( सः उ वायुः ) वही  
[ अशुद्ध ] वायु ( एव ) वैसे ही ( अभ्यपत्तत् ) गिर पड़ा है, और ( यत् )  
जिसने ( यत्र ) जहां पर ( तन्वः ) शरीर का ( च ) और ( वाससः ) वस्त्र  
का ( अस्पृक्षत् ) स्पर्श किया है, ( आपः ) जल ( निऋतिम् ) अलक्ष्मी  
[ अशुद्धि ] को ( पराचैः ) उलटे मुंह ( नुदन्तु ) हटा देंगे ॥ २ ॥

भाषार्थ—जैसे अशुद्ध फल वा अशुद्ध वायु से मलिन वस्त्र वा शरीर  
को जल से शुद्ध करते, हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों से दूषित आत्मा को यथार्थ  
ज्ञान से शुद्ध कर लेवे ॥ २ ॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा सम्दुर्हिरण्यं वर्चस्तदु पुत्रि-  
ममेव । सर्वा पवित्रा वित्ताध्यस्मत् तन्मा तारोन्नि-  
ऋतिर्मा अरातिः ॥ ३ ॥

अभि-अञ्जनम् । सुरभि । सा । सम्-दुर्द्धिः । हिरण्यम् ।  
वर्चः । तत् । ऊ-इति । पुत्रिमम् । एव । सर्वा । पवित्रा ।

२—(यदि) (वृक्षात्) (अभ्यपत्तत्) म० १ । अभितः पतितम् (फलम्)  
(तत्) (यदि) (अन्तरिक्षात्) (सः) (उ) अवधारणे (वायुः) (एव)  
एवं तथा (यत्र) यस्मिन् भागे (अस्पृक्षत्) स्पर्शतेर्लुङि रूपम् । स्पर्शम्  
अकरोत् (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (च) (वाससः) वस्त्रस्य (आपः)  
जलानि (नुदन्तु) प्रेरयन्तु (निऋतिम्) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्मीम् । अशु-  
द्धिम् (पराचैः) पगाङ्मुखी कृत्वा ॥



वि-संता । अधि । अस्मत् । तत् । मा । तारीत् । निः-च'तिः ।  
मो इति । अरातिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अभ्यञ्जनम् ) तेल आदि लगाना, ( सुरभि ) सुगन्ध  
चन्दनादि, ( सा समृद्धिः ) वह सम्पत्ति, ( हिरण्यम् ) सुवर्ण, ( वर्चः ) तेज,  
( तदु ) वही ( पवित्रमम् ) पवित्रता ( एव ) वैसे ही है, ( सर्वा ) सब ( पवित्रा )  
शोधन के साधन ( अस्मत् अधि ) हमारे ऊपर ( वितता ) फैले हुए हैं  
( तत् ) इस लिये [ हम को ] ( मा ) न तौ ( निःच'तिः ) अलक्ष्मी ( मो ) और न  
( अरातिः ) कजूस पुरुष ( तारीत् ) दबावे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पवित्र धार्मिक व्यवहारों से संसार के आवश्यक  
पदार्थों को प्राप्त करके सदा सुख भोगे ॥ ३ ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

## अथ त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१-३ ॥ सुवीरो देवता ॥ १ विराट्; २ जगती; ३ चिष्टुप् ॥

सेनासेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेना और सेनापति के कर्तव्य का उपदेश  
जनसपते व्रीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्स'खा प्रतरणः सु-

३—( अभ्यञ्जनम् ) अभ्यङ्गसाधकं तैलादिकम् ( सुरभि ) सुगन्ध चन्द  
नादिकम् ( सा ) प्रसिद्धा ( समृद्धिः ) सम्पत्तिः ( हिरण्यम् ) सुवर्णम् ( वर्चः )  
तेजः । वलम् ( तत् ) ( उ ) ( पवित्रमम् ) द्धितः क्तिः । पा० ३ । ३ । ८८ ।  
इति बाहुलकात् पूञ् पवने—क्तिः । भ्रमम् नित्यम् । पा० ४ । ४ । २० । इति म् ।  
शुद्धिसाधनम् ( एव ) ( एवम् ) ( सर्वा ) सर्वाणि ( पवित्रा ) शोधनानि ( वित  
ता ) विस्तृतानि ( अस्मदधि ) अस्माकमुपरि ( तत् ) तस्मात् ( मा ) निषे  
( निःच'तिः ) अलक्ष्मीः ( मो तारीत् ) अ० २ । ७ । ४ । मैवातिक्रामतु ( अरातिः )  
अ० २ । ७ । ४ । अदाता । कृपणः ॥



अ० १२५ [ २८८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८९ )

वीरः । गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयन्तु  
जेत्वानि ॥ १ ॥

वनस्पते । वीडु-अङ्गः । हि । भूयाः । अस्मत्-सखा । प्र-  
तरणः । सु-वीरः । गोभिः । सम्-नद्धः । असि । वीडयस्व ।  
आ-स्थाता । ते । जयन्तु । जेत्वानि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे किरणों के पालन करनेवाले सूर्य के समान  
राजन् । (वीड्वङ्गः) बलिष्ठ अङ्गों वाला तू (हि) ही (प्रतरणः) बढ़ाने वाला  
(सुवीरः) अच्छे अच्छे वीरों से युक्त (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (भूयाः)  
हो । तू (गोभिः) बाणों और वज्रों से (संनद्धः) अच्छे प्रकार सजा हुआ  
(असि) है, [ हमें ] (वीडयस्व) दृढ़ बना, (ते) तेरा (आस्थाता) शत्रुवान्  
सेनापति (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयन्तु) जीते ॥१॥

भाषार्थ—परस्पर नित्य संबन्ध वाले सूर्य और किरणों के समान राजा,  
सेना और प्रजा का परस्पर नित्य संबन्ध होवै, और जितेन्द्रिय बलवान् राजा  
के समान सेना और प्रजा भी जितेन्द्रिय और बलवान् होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३ कुछ भेद से अ० ६ । ४७ । २६-२८ और यजुर्वेद २६ । ५२-५४ में हैं ।  
इन का भाष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योजु उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं

१—(वनस्पते) अ० १ । ३५ । ३ । वनानां किरणानां पालकः सूर्य इव  
राजन् (वीड्वङ्गः) वीलु बलम्-निघ० २ । ६ । बलिष्ठाङ्गः (हि) (भूयाः) भवेः  
(अस्मत्सखा) अस्माकं मित्रम् (प्रतरणः) प्रतारकः । प्रवर्धकः (सुवीरः) कल्याण-  
वीरः-निर० ६ । १२ । सुष्ठु वीरयुक्तः (गोभिः) इषुभिः । वज्रैः । स्वर्गेषुपशु-  
वाग्वज्रविद्धन्त्रवृण्मिभूजले-इत्यमरः, २३ । २५ । (सन्तद्धः) सम्यक् सज्जः (असि)  
(वीडयस्व) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निर० ५ । १६ । यद्वा, वीर विक्रान्तौ,  
रस्पृष्टः । दृढान् कुरु (आस्थाता) आस्थया श्रद्धया युक्तः (ते) तव (जयन्तु)  
(जेत्वानि) कृत्याथै तवैकेन ० । पा० ३ । ४ । १४ । मि जये—चन् । जेतव्यानि  
शत्रुसैन्यानि ॥



सहः । अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं  
हविषा रथं यज ॥ २ ।

दिवः । पृथिव्याः । परि । ओजः । उत्-भृतम् । वनस्पतिभ्यः ।  
परि । आ-भृतम् । सहः । अपाम् । ओज्मानम् । परि ।  
गोभिः । आ-वृतम् । इन्द्रस्य । वज्रम् । हविषा । रथम् । यज ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( दिवः ) विजुली वा सूर्य से और ( पृथिव्याः ) भूमि वा  
अन्तरिक्ष से ( उद्भृतम् ) उत्तम रीति से धारण किये गये ( ओजः ) बल को  
( परि ) प्राप्त करके, ( वनस्पतिभ्यः ) बट आदि वनस्पतियों से ( आभृतम् )  
अच्छे प्रकार पुष्ट किये गये ( सहः ) बल को ( परि ) प्राप्त करके ( गोभिः )  
किरणों से ( आवृतम् ) ढाँपे हुये ( अपाम् ) जलों के ( ओज्मानम् ) बल को  
( परि ) प्राप्त करके ( वज्रम् ) शस्त्र समूह और ( रथम् ) रथ को ( इन्द्रस्य )  
विजुली के ( हविषा ) ग्राह्य गुण के साथ ( यज ) संयुक्त कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथ्वी आदि भूतों और उनसे उत्पन्न पदार्थों के  
सम्बन्ध से बल और पराक्रम बढ़ा कर विमान आदि यानों को बना कर आत-  
न्वित होंगे ॥ २ ॥

इन्द्रस्योजो मस्तुमनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य  
नाभिः । स इमां नो हव्यदाति जुषाणो देव रथं प्रति  
हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

२—( दिवः ) विद्युतः सूर्याद् वा ( पृथिव्याः ) भूमेरन्तरिक्षाद् वा  
( परि ) लक्षणेभ्यः भूताख्यान० । पा० । १ । ४ । ६० । इति कर्मप्रवचनीयावम् ।  
प्राप्य ( ओजः ) बलम् ( उद्भृतम् ) उत्तमनया धृतम् ( वनस्पतिभ्यः ) बट  
दिभ्यः ( परि ) प्राप्य ( आभृतम् ) समन्तात् पोषितम् ( सहः ) बलम् ( अपाम् )  
जलानाम् ( ओज्मानम् ) अ० ४ । १६ । ८ । बलम् ( परि ) प्राप्य ( गोभिः )  
किरणैः ( आवृतम् ) आच्छादितम् ( इन्द्रस्य ) विद्युतः ( वज्रम् ) शस्त्रसमूहम्  
( हविषा ) ग्रहणो ( रथम् ) रमणोयं विमानादियानम् ( यज ) संयोजय ॥



सू० १२६ [ २८८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८३ )

इन्द्रस्य । ओजः । मरुताम् । अनीकम् । मित्रस्य । गर्भः ।  
वरुणस्य । नाभिः । सः । इमाम् । हव्य-दातिम् । जुषाणः ।  
देव । रुय । प्रति । हव्या । शुभाय ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे राजन् ! यहां पर ] ( मरुताम् ) शूरों का ( अनीकम् )  
सेनादल, ( इन्द्रस्य ) विजुली का ( ओजः ) बल, ( मित्रस्य ) प्राण [ चढ़ने वाले  
वायु ] का ( गर्भः ) गर्भ [ अधिष्ठान ] और ( वरुणस्य ) अपान [ उतरने वाले  
वायु ] का ( नाभिः ) नाभि [ मध्यस्थान ] है । ( सः ) सो तू ( देव ) हे प्रकाशमान !  
( रथ ) रमणीय स्वरूप विद्वान् ! ( नः ) हमारे लिये ( इमाम् ) इस ( हव्यदातिम् )  
वेने योग्य पदार्थों की दान क्रिया को ( जुषाणः ) सेवता हुआ ( हव्या ) प्राण  
वस्तुओं को ( प्रति ) प्रतीति के साथ ( शुभाय ) ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जिस सेना में शूर वीर सैनिक विजुली की शक्ति और वायु  
के बहाव उतार क्रियाओं में कुशल होते हैं, वे सेनापति और सेनादल परस्पर  
सहाय करके विजयी होते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२६ ॥

१-३ ॥ वीरा देवताः ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ विराट् ॥

राजसेनयोः कर्तव्योपदेशः—राजा और सेना के कर्तव्यों का उपदेश ॥

उप' श्वासय पृथि'वीमु'त द्यां पु'रु'त्रा तै' वन्व'तुं वि'ष्टि'तुं  
जग'त् । स दु'न्दु'भे स'जूरि'न्द्रे'ण ठे'वैर्दु'राद् द'वी'यो अप'  
सेधु' शत्रून् ॥ १ ॥

उप' । श्वासय । पृथिवीम् । उत । द्याम् । पुरु-त्रा । ते ।

३—( इन्द्रस्य ) विद्युतः ( ओजः ) बलम् ( मरुताम् ) अ० १ । २० ।  
१ । शूराणाम् ( अनीकम् ) सैन्यम् ( मित्रस्य ) प्राणस्य ( गर्भः ) आधारः  
( वरुणस्य ) अपानस्य ( नाभिः ) बन्धनम् । मध्यस्थानम् ( सः ) स त्वम्  
( नः ) अस्मभ्यम् ( हव्यदातिम् ) दातव्यदानक्रियाम् ( जुषाणः ) सेवमानः  
( देव ) हे दिव्यविद्य ( रथ ) रमणीयस्वरूप ( प्रति ) प्रतीत्या ( हव्या )  
प्राणवस्तुनि ( शुभाय ) शुभाय ॥



वन्वताम् । वि-स्थितम् । जगत् । सः । दुन्दुभे । सज्जुः ।  
इन्द्रेण । देवैः । दूरात् । दवीयः । अप । सेध । शत्रून् ॥१॥

भाषार्थ—[ हे राजन् ] ( पृथिवीम् ) भूमि वा अन्तरिक्ष को ( उत )  
और ( घाम् ) सूर्य वा बिजुली में ( उप ) उपयोग के साथ ( श्वासय ) जीवत  
डाल, ( पुरुत्रा ) अनेक पदार्थों में ( ते ) तेरे लिये ( विष्टितम् ) व्याप्त ( जगत् )  
जगत् की ( वन्वताम् ) वे [ वीर लोग ] याचना करें । ( दुन्दुभे ) हे दुन्दुभि  
[ ढोल ) के सहश गर्जने वाले वीर ! ( सः ) सो तू ( इन्द्रेण ) ऐश्वर्य व  
बिजुली के अस्त्र समूह से और ( देवैः ) विजयी वीरों से ( सज्जुः ) प्रीति करता  
हुआ ( दूरात् ) दूर से ( दवीयः ) अति दूर ( शत्रून् ) शत्रुओं को ( अपसेध )  
हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा वीरों द्वारा बिजुली आदि के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं से  
हटा कर चक्रवर्ती राज्य करके आकाश और भूमि पर शान्ति करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, ३ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ४७ । २४, ३१, यजु०  
२४ । ५५ । ५७ । इन मन्त्रों का अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर  
किया गया है ॥

आ क्रन्दय बलमोजो नु आ धा अभि ह्यन दुरिता  
बाधमानः । अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य  
मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥

आ । क्रन्दय । बलम् । ओजः । नुः । आ । धाः । अभि । स्तुन ।

१—( उप ) उपयोगेन ( श्वासय ) प्राणायाम । आश्रय ( पृथिवीम् ) भूमि-  
मन्तरिक्ष वा ( उत ) अपि ( घाम् ) सूर्य विद्युत वा ( पुरुत्रा ) बहुषु पदार्थेषु  
( ते ) तुभ्यम् ( वन्वताम् ) वनु याचने । याचन्तां वीराः ( विष्टितम् ) व्याप्तम्  
( जगत् ) जगद्राज्यम् ( सः ) स त्वम् ( दुन्दुभे ) अ० ५ । २० । १ । दुन्दुभिरिव  
गर्जक ( सज्जुः ) अ० ६ । ३५ । २ । प्रीतिसहितः ( इन्द्रेण ) विद्युदस्त्रेण ( देवैः )  
विजिगीषुभिर्वीरैः ( दूरात् ) ( दवीयः ) दूर—ईयसुन् । स्थूलदूरयुव० पा० ६ । ४ ।  
१५६ । इति रलोपः पूर्वस्य च गुणः । अदूरतरम् ( अपसेध ) अपनय ( शत्रून् ) ॥



दुः-दुता । बाधमानः । अप । सेधु । दुन्दुभे । दुच्छुनाम् । इतः ।  
इन्द्रस्य । मुष्टिः । असि । वीडयस्व ॥ २ ॥

भाषार्थ— [ हेराजन् ! ] ( बलम् ) बल और ( ओजः ) पराक्रम ( नः )  
हमें ( आ धाः ) अच्छे प्रकार से, [ शत्रुओं को ] ( आ क्रन्द्य ) सब ओर से  
रुला और ( दुरिता ) कष्टों को ( बाधमानः ) हटाता हुआ ( अभि ) सब ओर  
( स्तन ) मेघध्वनि कर । ( दुन्दुभे ) हे दुन्दुभी [ के समान गरजने वाले । ]  
( इतः ) यहां से ( दुच्छुनाम् ) दुष्ट गति को ( अप सेध ) हटा दें, तू ( इन्द्रस्य )  
विजली की, ( मुष्टिः ) मूँठ [ के समान दुष्टों को मारने वाला ] ( असि ) है,  
[ राज्य को ] ( वीडयस्व ) दब कर ॥ २ ॥

भाषार्थ— जैसे राजा बलवान् होकर यथावत् अछ शत्रुओं से शत्रुओं  
को जीतकर प्रजा पालन करता है, वैसे ही मनुष्य आत्मदोष मिटा कर  
यमिष्ठ होवे ॥ २ ॥

प्रामूं जयभी३ मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वीवदीतु । सम-  
श्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रुथिनै । जयन्तु ॥ ३ ॥  
प्र । अमूम् । जय । अभि । इमे । जयन्तु । केतु-मत् ।  
दुन्दुभिः । वावदीतु । सम् । अश्व-पर्णाः । पतन्तु । नः ।  
नरः । अस्माकम् । इन्द्र । रुथिनैः । जयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ( अमूम् ) उस [ शत्रुसेना ] को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( जय )  
जीत ले, ( इमे ) यह ( केतुमत् ) ध्वजा पताका वाले शूर ( अभि ) सब ओर से

२—( आ ) समन्तात् ( क्रन्द्य ) रोदय शत्रून् ( बलम् ) ( ओजः )  
पराक्रमम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( आ ) ( धाः ) धेहि ( अभि ) सर्वतः ( स्तन )  
स्तन मेघशब्दे । मेघध्वनिं कुरु ( दुरिता ) कष्टानि ( बाधमानः ) निवारयन्  
( अप सेध ) अपगमय ( दुन्दुभे ) दुन्दुभिरिव शब्दायमान ( दुच्छुनाम् ) अ०  
५ । १७ । ४ । दुर्गतिम् ( इतः ) अस्माद् देशात् ( इन्द्रस्य ) विद्युतः ( मुष्टिः )  
मुष्टिरिव दुष्टानां हन्ता ( असि ) ( वीडयस्व ) बलयस्व राज्यम् ॥

३—( प्र ) प्रकर्षेण ( अमूम् ) शत्रुसेनाम् ( अभि ) सर्वतः ( जयन्तु ) ( केतु-  
मत् ) विभक्तैर्लुक् । प्रशस्तध्वजयुक्ताः शूराः ( वावदीति ) भृशं वदन्ति ( सम् )



( जयन्तु ) जीत लेवें, ( दुन्दुभिः ) ढोल ( वाद्यदीति ) ऊंचे स्वर से बजता है।  
 ( अश्वपर्णाः ) घुड़चढ़ों के पक्ष [ सेना दल ] वाले ( नः ) हमारे ( नरः ) नायक  
 लोग ( सम् ) ठोक रीति से ( पतन्तु ) धावा करे, ( इन्द्र ) हे बड़े पेश्वर्य वाले  
 राजन् ! ( अस्माकम् ) हमारे ( रथिनः ) अच्छे अच्छे रथों पर चढ़े हुये वीर  
 ( जयन्तु ) जीते ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों से दुन्दुभि बजा कर घुड़चढ़े सैनिकों  
 का दल बना कर शत्रुओं पर धावा करके जीत लेवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२७ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश का उपदेश ॥

विद्रुधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।

विसर्पकस्योषधे मोक्षिषः पिशितं च न ॥ १ ॥

वि-द्रुधस्य । बलासस्य । लोहितस्य । वनस्पते । वि-सर्पकस्य ।

ओषधे । मा । उत् । शिषुः । पिशितम् । च न ॥ १ ॥

भावार्थ—( वनस्पते ) हे बटादि वृक्ष ! ( ओषधे ) हे अन्न प्राप्ति  
 ओषधि ! ( विद्रुधस्य ) ज्ञाननाशक, हृदय के फोड़े के, ( बलासस्य ) बल के  
 गिराने वाले सन्निपात कफादि रोग के, ( लोहितस्य ) रुधिर विकार सूजन  
 आदि के, ( विसर्पकस्य ) शरीर में फैलने वाले दृढ़ फूटन के ( पिशितम् च न )

सम्यक् ( अश्वपर्णाः ) अश्वानामश्ववाराणां पर्णाः पक्षाः पार्श्वं येषां ते ( पतन्तु )  
 धावन्तु ( नः ) अस्माकम् ( नरः ) नायकाः ( अस्माकम् ) ( इन्द्र ) परमेश्वर्यवान्  
 सेनापते ( रथिनः ) प्रशस्तरथ-रुडाः शूराः ( जयन्तु ) ॥

१—( विद्रुधस्य ) विद्रुं ज्ञानं रथ्यति हिनस्तीति, विद्रुं ज्ञाने क्षिप + रथ  
 हिंसने पाके च—अच् । हृदयव्रणस्य । विद्रुधेः ( बलासस्य ) अ० ४ । ६ । ८ ।  
 सन्निपातश्लेष्मादिविकारस्य ( लोहितस्य ) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति  
 वह वीजनन्मनि प्रादुर्भावे च—इतच्, रस्य लः । प्रादुर्भावस्य । रुधिरविकारस्य



थोड़े अंश को भी ( मा उत शिषः ) शेष मत छोड़ ॥ १ ॥

भावार्थ—वैद्य रोग निदान जानकर उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोग निवृत्ति करे ॥ १ ॥

यौ ते बलासु तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्चितौ ।

वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुभिचक्षणम् ॥ २ ॥

यौ । ते । बलासु । तिष्ठतः । कक्षे । मुष्कौ । अप-श्चितौ ।

वेद । अहम् । तस्य । भेषजम् । चीपुद्रुः । अभि-चक्षणम् ॥ २ ॥

भावार्थ—( बलास ) हे सन्निपात कफ आदि रोग । ( यौ ) जो ( ते ) तेरी ( मुष्कौ ) दो गिलटियां ( कक्षे ) [ रोगी की ] काख में ( अपश्चितौ ) आश्रय लिये हुये ( तिष्ठतः ) स्थित हैं । ( अहम् ) मैं ( तस्य भेषजम् ) उसकी ओषधि ( वेद ) जानता हूं, ( चीपुद्रुः ) ग्रहण करने योग्य चीपुद्रु [ ओषधि विशेष ] ( अभिचक्षणम् ) औषध है ॥ २ ॥

भावार्थ—वैद्य ज्वर, गिलटी आदि रोगों की यथावत् चिकित्सा करे ॥ २ ॥

यो अङ्गयो यः कर्णयो यो अक्षयोर्विसर्पकः ।

वि वृहामो विसर्पकं विद्रुधं हृदयामयम् ।

परा तमज्ञातं यक्ष्ममधुराञ्च सुवामसि ॥ ३ ॥

यः । अङ्गयः । यः । कर्णयः । यः । अक्षयोः । वि-सर्पकः । वि ।

वृहामः । वि-सर्पकम् । वि-द्रुधम् । हृदय-आमयम् । परा ।

( वनस्पते ) बटादिवृक्ष ( विसर्पकस्य ) सर्प सर्पणै—अच्, कन्, रस्य लः । शरीरे विसर्पणशीलस्य विसर्परोगस्य ( ओषधेः ) ( मोच्छिषः ) शिष्य विशेषणे-लुङ् । मोच्छेय ( पिशितम् ) पिश अवयवे—क । अवयवम् । अंशम् ( चन ) किमपि ॥

२—( यौ ) ( ते ) तव ( बलास ) म० १ । ( तिष्ठतः ) वर्तते ( कक्षे ) रोगिणो बाहुमूले ( मुष्कौ ) अण्डरूपौ रोगग्रन्थी ( अपश्चितौ आश्रितौ ) ( वेद ) जानामि ( अहम् ) वैद्यः ( तस्य ) रोगस्य ( भेषजम् ) ( चीपुद्रुः ) चीवृ आदान-संवरणयोः—उ, पृषोदरादिः । द्रुमविशेषः ( अभिचक्षणम् ) व्याधिनिवर्तकम् ॥



तम् । अज्ञातम् । यक्ष्मम् । अधराज्चम् । सुवामसि ॥ ३ ॥

भावार्थ—( यः ) जो ( अङ्गयः ) अङ्गों में रहने वाला, ( यः ) जो ( कर्ण्यः ) कानों में होने वाला, ( यः ) जो ( अक्षयोः ) दोनों आंखों का ( विसर्पकः ) हड़फूटन है । ( विसर्पकम् ) उस हड़भूटन रोग को, ( विद्रधम् ) हृदय के फोड़े को और ( हृदयामयम् ) हृदय की पीड़ा को ( विवृहाम् ) हम उखाड़े देते हैं । ( अज्ञातम् ) अप्रकट ( यक्ष्मम् ) उस राज रोग को ( अधराज्चम् ) नीचे की ओर ( परा ) दूर ( सुवामसि ) हम फँकते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० २ । ३३ । १ से करो ॥

भावार्थ—सङ्घेय सब प्रकट और अप्रकट रोगों को यथावत् ज्ञान कर रोग निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१-४ ॥ शकधूमो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द पाने का उपदेश ॥

शकुधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।

भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

शकु-धूमम् । नक्षत्राणि । यत् । राजानम् । अकुर्वत । भद्र-अहम् ।  
अस्मै । प्र । प्रायच्छन् । इदम् । राष्ट्रम् । असात् । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस कारण से ( नक्षत्राणि ) चलने वाले नक्षत्रों ने ( शकुधूमम् ) समर्थ [ सूर्य आदि ] लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर को

३—( यः ) विसर्पकः ( अङ्गयः ) शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ ।  
इति भवे यत् । अङ्गेषु हस्तपादादिषु भवः ( कर्ण्यः ) कर्णयोरुत्पन्नः ( अक्षयोः )  
अ० २ । ३३ । १ । नेत्रयोः ( विसर्पकः ) म० १ । विसर्परोगः ( विवृहाम् )  
उन्मूलयामः ( विसर्पकम् ) ( विद्रधम् ) म० १ । हृदयव्रणम् ( हृदयामयम् )  
हृद्रोगम् ( परा ) दूरे ( अज्ञातम् ) अप्रकटम् ( यक्ष्मम् ) राजरोगम् ( अधराज्चम् )  
अधोमुखम् ( सुवामसि ) प्रेरयामः ॥

१—( शकुधूमम् ) शकुल शक्तौ—पचाद्यच् + धूञ् कम्पने—मकु ।  
शकानां समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पकं परमेश्वरम् ( नक्षत्राणि ) गमनशीलम् ।



( राजानम् ) राजा ( अकुर्वत ) बनाया, और ( अस्मै ) उसी के लिये ( भद्राहम् ) शुभ दिन का ( प्र अयच्छन् ) अच्छे प्रकार समर्पण किया, ( इति ) इसी कारण से ( इदम् ) यह जगत् ( राष्ट्रम् ) उस का राज्य ( असात् ) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के वश में सूर्य आदि लोक और सब नक्षत्र हैं, वही जगत् स्वामी हमें सदा आनन्द देता रहे ॥ १ ॥

भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः ।

भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

भद्र-अहम् । नः । मध्यंदिने । भद्र-अहम् । सायम् । अस्तु ।

नः । भद्र-अहम् । नः । अह्नाम् । प्रातः । रात्री । भद्र-अहम् ।

अस्तु । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( नः ) हमारे लिये ( मध्यन्दिने ) मध्य दिन में ( भद्राहम् ) शुभ दिन, ( नः ) हमारे लिये ( सायम् ) सायंकाल में ( भद्राहम् ) शुभ दिन, ( नः ) हमारे लिये ( अह्नाम् ) सब दिनों के ( प्रातः ) प्रातःकाल में ( भद्राहम् ) शुभ दिन ( अस्तु ) होवे, ( नः ) हमारे लिये ( रात्री ) रात्रि में ( भद्राहम् ) शुभ दिन ( अस्तु ) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से सब काल में धर्म का आचरण कर के सदा आनन्द भोगे ॥ २ ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।

भद्राहमस्मभ्यं राजन्तुकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

स्तारागणाः ( यत् ) यतः ( राजानम् ) शासकम् ( अकुर्वत ) कृतवन्ति ( भद्राहम् ) राजाहः सखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ६१ । भद्र + अहन्—टच् । पुण्याहं शुभदिनम् ( अस्मै ) परमेश्वराय ( प्र ) प्रकर्षेण ( अयच्छन् ) समर्पितवन्ति ( इदम् ) जगत् ( राष्ट्रम् ) तस्य राज्यम् ( असात् ) भवेत् ( इति ) हेतोः ॥ १ ॥

२—( भद्राहम् ) म० १ । शुभकालः ( नः ) अस्मभ्यम् ( मध्यन्दिने ) मध्याह्ने ( सायम् ) सूर्यास्ते ( अस्तु ) ( अह्नाम् ) सर्वदिनानाम् ( प्रातः ) सूर्योदये ( रात्री ) रात्र्याम् ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥



अहोरात्राभ्याम् । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्र-  
अहम् । अस्मभ्यम् । राजन् । शक-धूम । त्वम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( शकधूम ) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले  
( राजन् ) परमेश्वर ! ( त्वम् ) तू ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये ( अहोरात्राभ्याम् )  
दिन और रात्रि से, ( नक्षत्रेभ्यः ) नक्षत्रों से और ( सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् )  
सूर्य और चन्द्रमा से ( भद्राहम् ) शुभ दिन ( कृधि ) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब काल में, सब स्थान में, सब पदार्थों से उपकार  
लेकर परमेश्वर की महिमा विचारते हुये सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।

तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

यः । नः । भद्र-अहम् । अकरः । सायम् । नक्तम् । अथो इति ।  
दिवा । तस्मै । ते । नक्षत्र-राज । शक-धूम । सदा । नमः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यः ) जिस तू ने ( नः ) हमारे लिये ( सायम् ) सायंकाल  
में, ( नक्तम् ) रात्रि में ( अथो ) और ( दिवा ) दिन में ( भद्राहम् ) शुभ दिन  
( अकरः ) किया है । ( नक्षत्रराज ) हे नक्षत्रों के राजा ! ( शकधूम ) हे समर्थ  
सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर ! ( तस्मै ते ) उस तेरे लिये ( सदा )  
सदा ( नमः ) नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

३—( अहोरात्राभ्याम् ) अहः सर्वैकदेश० । पा० ५ । ४ । ८७ । इत्यकारः  
समासान्तः । अहश्चरात्रिश्च ताभ्यां सकाशात् ( नक्षत्रेभ्यः ) अश्विन्यादिभ्यः  
( सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ) अकारश्छान्दसः समासान्तः । सूर्यचन्द्राभ्याम् ( भद्राहम् )  
शुभदिनम् ( अस्मभ्यम् ) अस्मदर्थम् ( राजन् ) शासितः ( शकधूम ) म० १ ।  
समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पक ( त्वम् ) ( कृधि ) कुरु ॥

४—( यः ) यस्त्वम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( भद्राहम् ) म० १ । ( अकरः )  
कृतवानसि ( सायम् ) ( नक्तम् ) रात्रौ ( अथो ) अपि च ( दिवा ) दिवसे  
( तस्मै ) तथाभूताय ( ते ) तुभ्यम् ( नक्षत्रराज ) नक्षत्राणां स्वामिन् ( शकधूम )  
म० १ । ( सदा ) सर्वदा ( नमः ) सत्कारः ॥



सू० १२८ [ ३०२ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८१ )

भावार्थ—मनुष्य सुखनिधि परमात्मा का उपकार साक्षात् करके  
संसार का उपकार करते हुये उसकी आज्ञा का पालन करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—पेश्वर्य पाने का उपदेश ॥

भगेन मा शांशुपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।

कृणोमि भुगिनं मापं द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भगेन । मा । शांशुपेन । साकम् । इन्द्रेण । मेदिना ।

कृणोमि । भुगिनम् । मा । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( मेदिना ) परममित्र ( इन्द्रेण साकम् ) सम्पूर्ण पेश्वर्य वाले  
जगदीश्वर के साथ वर्तमान ( शांशुपेन ) शान्ति के स्पर्श से युक्त ( भगेन )  
पेश्वर्य से ( मा मा ) अपने को अवश्य ( भुगिनम् ) बड़े पेश्वर्य वाला ( कृणोमि )  
मैं करूँ । ( अरातयः ) हमारे सब कंजूस स्वभाव ( अप द्रान्तु ) दूर  
भाग जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आनन्द कन्द परमेश्वर के अखण्ड कोश से उपकार  
लेकर सुपात्रों को दान करते रहें ॥ १ ॥

येन वृक्षां अभ्यभञ्जो भगेन वर्चसा सह ।

तेन मा भुगिनं कृणवपं द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

१—( भगेन ) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । भज सेवा-  
याम्—घ । चञोः कु घिरण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । पेश्वर्येण ।  
धनेन—निघ० २ । १० । ( मा मा ) मां माम् । आत्मानमेव ( शांशुपेन ) शेषः शपतेः  
स्पृशतिकर्मणः—निरु० ३ । २१ । शम् + शप स्पर्शे—अच् । ततोऽण् । शान्तेः  
स्पर्श युक्तेन ( साकम् ) सह वर्तमानेन ( इन्द्रेण ) परमेश्वरेण ( मेदिना ) परम-  
स्नेहिता ( कृणोमि ) करोमि ( भुगिनम् ) पेश्वर्यवन्तम् ( अप द्रान्तु ) द्रा कुत्सायां  
गतौ । दूरे पलायन्ताम् ( अरातयः ) अदानशीला अस्माकं स्वभावाः ॥



येन । वृक्षान् । अभि-अभवः । भगेन । वर्चसा । सह । तेन ।  
मा । भुगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे परमेश्वर ] ( वर्चसा सह ) तेजके साथ वर्तमान ( भगेन ) जैसे ऐश्वर्य से तू ( वृक्षान् ) सब स्वीकार योग्य पदार्थों से ( अभवः ) बढ़ गया है । ( तेन ) वैसे ऐश्वर्य से ( मा ) मुझको ( भुगिनम् ) तू ऐश्वर्य वाला ( कृणु ) कर, ( अरातयः ) हमारे सब कंजूस स्वभाव ( अप द्रान्तु ) दूर भाग जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को सर्व श्रेष्ठ जान कर संसार में तेजस्वी और धनवान् होवें ॥ २ ॥

यो अन्धो यः पुनःसुरो भगो वृक्षेष्वहितः ।  
तेन मा भुगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

यः । अन्धः । यः । पुनः-सुरः । भगः । वृक्षेषु । आ-हितः । तेन ।  
मा । भुगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे परमात्मन् ! ] ( यः ) जो ( अन्धः ) जीवन का आधार और ( यः ) जो ( पुनःसुरः ) बारंबार आगे बढ़ने वाला ( भगः ) ऐश्वर्य ( वृक्षेषु ) सब स्वीकारयोग्य पदार्थों में ( अहितः ) अच्छे प्रकार धारण किया गया है । ( तेन ) उस ऐश्वर्य से ( मा ) मुझको ( भुगिनम् ) ऐश्वर्य वाला ( कृणु ) कर, ( अरातयः ) हमारे सब कंजूस स्वभाव ( अप द्रान्तु ) दूर भाग जावें ॥ ३ ॥

२—( येन ) यादृशेन ( वृक्षान् ) अ० ३ । ६ । ८ । सर्वान् स्वीकरणीयान् पदार्थान् ( अभ्यभवः ) पराजितवानसि ( भगेन ) ऐश्वर्येण ( वर्चसा सह ) तेजसा सहितेन ( तेन ) तादृशेन ( मा ) माम् ( भुगिनम् ) ऐश्वर्यवन्तम् ( कृणु ) कुरु । अन्यद्गतम्—म० १ ॥

३—( यः ) भगः ( अन्धः ) अन्धं इत्यन्तनामाध्यानीयं भवति-निबन्धः । १ । १ । अन जीवने—पचाद्यच्, धुगागमः । जीवनाधारः ( पुनःसुरः ) अ० ४ । १७ । २ । बारंबारं सरति प्रवर्तते यः सः ( भगः ) ऐश्वर्यम् ( वृक्षेषु ) म० १ । १७ । २ । वरणीयेषु श्रेष्ठेषु पदार्थेषु ( अहितः ) समन्तात् स्थापितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥



भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को ध्यान करके चिरस्थायी देशवर्ष और सुख बढ़ावे ॥ ३ ॥

मुक्तम् १३० ॥

१-४ ॥ स्मरौ देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्मरणसामर्थ्यवर्धनोपदेशः—स्मरण सामर्थ्य बढ़ाने का उपदेश ॥

रथजिता राथजिते यीनामप्सरसामयं स्मरः ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

रथ-जिताम् । राथ-जिते यीनाम् । अप्सुरसाम् । अयम् । स्मरः ।

देवाः । प्र । हिणुतु । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ १ ॥

भावार्थ—( रथजिताम् ) रमणीय पदार्थों की जिताने वाली, और ( राथजितेयीनाम् ) और स्मरणीय पदार्थों के विजयी पुरुषों के समीप रहने वाली ( अप्सुरसाम् ) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों का ( अयम् ) यह जो ( स्मरः ) स्मरण सामर्थ्य है । ( देवाः ) हे विद्वानो ! ( स्मरम् ) उस स्मरण सामर्थ्य को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( हिणुत ) बढ़ाओ, ( असौ ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] ( माम् अनु ) मुझ में व्यापकर ( शोचतु ) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विज्ञान पूर्वक संसार की उपकारी विद्याओं को स्मरण रखकर उपयोगी बनावे ॥ १ ॥

१—( रथजिताम् ) जि-किप्, अन्तर्गतणिच् । रमणीयाणां पदार्थानां जापयित्रीणाम् ( राथजितेयीनाम् ) शुभ्रादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । १२३ । रथ-जित्-ढक् । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इत्यर्थे । रथजितां रमणीयपदार्थ-जितृणां समीपभवानाम् ( अप्सुरसाम् ) अप्सु आकाशे, जले, प्राणेषु प्रजासु च स्मरणशीलानां शक्तीनाम् ( अयम् ) ( स्मरः ) स्मृ आध्याने चिन्तायां च—अप् । ध्यानसामर्थ्यम् ( देवाः ) हे विद्वान्सः ( प्र ) प्रकर्षेण ( हिणुत ) हि गतौ वृद्धौ च । वर्धयत ( स्मरम् ) चिन्तनम् ( असौ ) स्मरः ( माम् ) ब्रह्मचारिणम् ( अनु ) व्याप्य ( शोचतु ) ई शुचिर् शौचे, छान्दसः शप् । शुच्यतु शुध्यतु ॥



असौ मे' स्मरतादिति प्रियो मे' स्मरतादिति ।

देवाः प्र हिणुत स्मरम्सौ मामनु' शोचतु ॥ २ ॥

असौ । मे । स्मरतात् । इति । प्रियः । मे । स्मरतात् । इति ।  
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( असौ ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] ( मे ) मेरा ( स्मरतात् )  
स्मरण रखे, ( इति ) बस यही, ( प्रियः ) वह प्यारा [ सामर्थ्य ] ( मे )  
मेरा ( स्मरतात् ) चिन्तन करे, ( इति ) बस यही । ( देवाः ) हे विद्वानो !  
( स्मरम् ) उस स्मरण सामर्थ्य को ..... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याओं को स्मरण रख कर उपयोग करते हैं  
ही संसार में प्रिय होते हैं ॥

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।

देवाः प्र हिणुत स्मरम्सौ मामनु' शोचतु ॥ ३ ॥

यथा । मम । स्मरात् । असौ । न । अमुष्य । अहम् । कदा । चन ।

देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जिससे ( असौ ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] ( मे ) मेरा  
( स्मरात् ) स्मरण रखे, और ( अहम् ) मैं ( कदा चन ) कभी भी ( अमुष्य )  
उसकी ( न ) न [ भूल करूँ ] । ( देवाः ) हे विद्वानो ! ( स्मरम् ) उस स्मरण  
सामर्थ्य को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( हिणुत ) बढ़ाओ, ( असौ ) वह [ स्मरण  
सामर्थ्य ] ( माम् अनु ) मुझ में व्याप कर ( शोचतु ) शुद्ध रहे ॥ ३ ॥

२—( असौ ) स्मरः ( मे ) अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ ।  
इति षष्ठी । मम ( स्मरतात् ) स्मृ लोटि तातङ् । स्मरतु ( इति ) वाक्यसमाप्ति  
( प्रियः ) हितकरः अन्यद्गतम् ॥

३—( यथा ) येन प्रकारेण ( मम ) ( स्मरात् ) स्मरेत् ( असौ ) स्मर  
( न ) निषेधे ( अमुष्य ) स्मरस्य ( अहम् ) ( कदा चन ) कदापि [ स्मरामि-  
स्मृणोमि ] इत्याध्याहारः । स्मृ प्रीतिचलनयोः, स्वादिः । चलनं करोति ।  
अन्यत् पूर्ववत् ॥



सू० १३१ [ ३०४ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८५ )

भाषार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक समस्त विधायों को स्मरण रख कर उपयोगी बनावे ॥ ३ ॥

उन्मादयत मरुतु उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादयु त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

उत् । मादयत् । मरुतुः । उत् । अन्तरिक्ष । मादय । अग्ने ।

उत् । मादयु । त्वम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे वायुगणो ! (उत्) उत्तम प्रकार से (मादयत) प्रसन्न करो, (अन्तरिक्ष) हे मध्यलोक ! (उत्) अच्छे प्रकार (मादय) हर्षित कर । (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उत्) उत्तम रीति से (मादय) आनन्दित कर, (असौ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] (माम्) मुझको (अनु) व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्राण अपान गति, जाठर अग्नि और बाहिर भीतर स्थान को ठीक ठीक रख कर स्वस्थ रहकर अपनी स्मृति बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३१ ॥

१-३ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परपालनोपदेशः—परस्पर पालन का उपदेश ॥

नि शीर्षतो नि पत्तुत आध्यो ३' नि तिरामि ते ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

नि । शीर्षतः । नि । पत्तुतः । आ-ध्यः । नि । तिरामि । ते ।

देवाः । प्र । हिणुतु । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ १ ॥

४—(उत्) उत्तमतया (मादयत) हर्षयत (मरुतः) हे मरुद्गणाः । प्राणा-पानाः (उत्) (अन्तरिक्ष) मध्यलोक (मादय) आनन्दय (अग्ने) जाठराग्ने । अन्यद् गतम् ॥



भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( शीर्षतः ) अपने मस्तक [सामर्थ्य] से (नि) निश्चय करके, ( पक्षतः ) अपने पद [के सामर्थ्य] से (नि) नियम करके ( आध्यः ) यथावत् ध्यान धर्मों को ( नि ) लगातार ( तिरागि ) मैं पार करूँ । ( देवाः ) हे विद्वानों ! ( स्मरम् ) स्मरण सामर्थ्य को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( हिणुत ) बढ़ाओ, ( असौ ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] ( माम् अनु ) मुझ में व्यापकर ( शोचतु ) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ से स्मरण शक्ति बढ़ाकर सुखी होवे ॥ १ ॥

अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

अनु-मते । अनु । इदम् । मन्यस्व । आ-कूते । सम् ।

इदम् । नमः । देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् ।

अनु । शोचतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अनुमते ) हे अनुकूल बुद्धि ! तू ( इदम् ) इसको ( सम् मन्यस्व ) प्रसन्नता से स्वीकार कर, ( आकूते ) हे उत्साह शक्ति ! ( इदम् ) यह ( नमः ) अन्न ( सम् ) ठीक रीति से [हमारे लिये हो] । ( देवाः ) हे विद्वानों ! ( स्मरम् ) स्मरण सामर्थ्य को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( हिणुत ) बढ़ाओ, ( असौ ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] ( माम् अनु ) मुझमें व्याप कर ( शोचतु ) शुद्ध रहे ॥ २ ॥

१—( नि ) निश्चयेन ( शीर्षतः ) शिरःसामर्थ्यात् ( नि ) नियम ( पक्षतः ) पक्षस्तकारश्छान्दसः । पक्षः । पादसामर्थ्यात् ( आध्यः ) आध्याय्ये आधीः । ध्यायतेः क्तिप् सम्प्रसारणं च । वा० पा० ३ । २ । १७८ । आङ्ग-+अ चिन्तायाम्—क्तिप्, शसि रूपम् । सम्यग्ध्यानधर्मान् ( नि ) निरन्तरम् ( तिरागि ) तुषादित्वाविकारः । पारं गमयामि । समापयामि । अन्यद् पूर्ववत्—सू० १३० म० १ ।

२—( अनुमते ) अ० १ । १८ । २ । हे सहायिके बुद्धे ( इदम् ) किं माणं कर्म ( अनु मन्यस्व ) स्वीकुरु ( आकूते ) हे उत्साहशक्ते—यथा ध्यायते भाष्ये, यजु० ४ । ७ । ( सम् ) सम्यक् ( इदम् ) ( नमः ) अन्नम्—निघ० २ । ७ अन्यत् पूर्ववत् ॥



सू० १३२ [ ३०५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८३ )

भावार्थ—मनुष्य बुद्धि और उत्साह के साथ अपने सब काम ठीक ठीक सिद्ध करे ॥ २ ॥

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमारिवनम् ।

तत्स्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

यत् । धावसि । त्रि-योजनम् । पञ्च-योजनम् । आश्विनम् ।

ततः । त्वम् । पुनः । आ-अयसि । पुत्राणाम् । नः । असः । पिता ॥ ३ ॥

भावार्थ—[ हे विद्वान् ! ] ( यत् ) जो तू ( त्रियोजनम् ) तीन योजन, ( पञ्चयोजनम् ) पांच योजन, अथवा ( आश्विनम् ) अश्ववार से चलने यात्रा देश को ( धावसि ) दौड़ कर जाता है । ( ततः ) उससे ( त्वम् ) तू ( पुनः ) फिर ( आयसि ) आ । और ( नः ) हमारे ( पुत्राणाम् ) पुत्र आदिकों का ( पिता ) पिता [ पालने वाला ] ( असः ) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य दूर देशों से विद्या और धन प्राप्त करके कुटुम्ब आदि का पालन करे ॥ ३ ॥

श्रुतम् १३२ ॥

१-५ ॥ स्मरो देवता ॥ त्रिपादनुष्टुप् छन्दः ॥

पेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—पेश्वर्यं प्राप्ति का उपदेश ॥

यं देवाः स्मरन्मसिञ्चन्स्वन्तः शीशु चानं सुहाध्या ।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

यम् । देवाः । स्मरन् । असिञ्चन् । अप-सु । अन्तः । शीशु-

चानम् । सुह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ १ ॥

३—( यत् ) यदि ( धावसि ) शीघ्रं गच्छसि ( त्रियोजनम् ) योजन-त्रयपरिमित देशम् ( पञ्चयोजनम् ) पञ्चयोजनपरिमित देशम् ( आश्विनम् ) आश्विन-अणु । आश्विना अश्ववारेण गन्तव्यं देशम् ( ततः ) तस्माद्देशात् ( पुनः ) निवृत्त्य ( आयसि ) आगच्छ ( पुत्राणाम् ) पुत्रादीनाम् ( नः ) अस्माकम् ( असः ) भवेः ( पिता ) पालकः ॥



भाषार्थ—( देवाः ) विजयी लोगों ने ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के बीच ( आध्या सह ) ध्यान शक्ति के साथ ( शोशुचानम् ) अत्यन्त प्रकाशमान ( यम् ) जिस ( स्मरम् ) स्मरण सामर्थ्य को ( असिञ्चन् ) सींचा है । ( तम् ) वह [ स्मरण सामर्थ्य ] को ( ते ) तेरे लिये ( वरुणस्य ) सर्व श्रेष्ठ परमेश्वर के ( धर्मणा ) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से ( तपामि ) पेश्वर्य चुन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विजयी शूरों का अनुकरण करके ध्यान पूर्वक सारा शक्ति बढ़ाकर ईश्वर नियम से पेश्वर्य प्राप्त करें ॥ १ ॥

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्त्स्व १न्तः शोशुचानं सुहाध्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥  
यम् । विश्वे । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्सु । अन्तः ।  
शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि ।  
वरुणस्य । धर्मणा ॥ २ ॥

भाषार्थ—( विश्वे ) सब ( देवाः ) उत्तम गुणों ने ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के बीच.....म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चन्त्स्व १न्तः शोशुचानं सुहाध्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥

१—( यम् ) ( देवाः ) विजिगीषवः ( स्मरम् ) अ० ६ । १३० । १ । स्मरणसामर्थ्यम् ( असिञ्चन् ) बिच सेके । अवर्धयन् ( अप्सु ) प्रजासु दयानन्दभाष्ये य० ६ । २७ । ( अन्तः ) मध्ये ( शोशुचानम् ) अ० ४ । ११ । ३ । देदीप्यमानम् ( सह ) ( आध्या ) सू० १३१ म० १ । ध्यानशक्त्या ( तम् ) स्मर ( ते ) तुभ्यम् ( तपामि ) पेश्वर्यवन्तं करोमि ( वरुणस्य ) वरणीयस्य श्रेष्ठ परमेश्वरस्य ( धर्मणा ) धारणशक्त्या । नियमेन ॥

२—( विश्वे ) सर्वे ( देवाः ) उत्तमगुणाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥



सू० १३२ [ ३०५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १४८८ )

यम् । इन्द्राणी । स्मरम् । अविञ्चत् । अप्-सु । अन्तः । शोशु'चान-  
नम् । सुह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्म'णा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( इन्द्राणी ) परम ऐश्वर्य करने वाली नीति ने ( अप्सु अन्तः )  
प्रजाओं के बीच ( आध्या सह ) ध्यान शक्ति के साथ ( शोशुचानम् ) अत्यन्त  
प्रकाशमान ( यम् ) जिस ( स्मरम् ) स्मरण सामर्थ्य को ( अविञ्चत् ) सींचा  
है । ( तम् ) उस [ स्मरण सामर्थ्य ] को.....म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथार्थ नीति, स्मृति और ध्यान पूर्वक ईश्वर नियम  
से ऐश्वर्यवान् हो ॥ ३ ॥

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चताम्'स्व' १न्तः शोशु'चानं  
सुहाध्या । तं तै' तपामि वरुणस्य धर्म'णा ॥ ४ ॥

यम् । इन्द्राग्नी इति । स्मरम् । अविञ्चताम् । अप्-सु ।  
अन्तः । शोशु'चानम् । सुह । आध्या । तम् । ते । तपामि ।  
वरुणस्य । धर्म'णा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( इन्द्राग्नी ) बिजुली और भौतिक अग्नि ने ( अप्सु अन्तः )  
प्रजाओं के बीच ( आध्या सह ) ध्यान शक्ति के साथ ( शोशुचानम् ) अत्यन्त  
प्रकाशमान ( यम् स्मरम् ) जिस स्मरण सामर्थ्य को ( अविञ्चताम् ) सींचा  
है ( तम् ) उस [ स्मरण सामर्थ्य ] को.....म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे बिजुली और अग्नि के नित्य सम्बन्ध से वृष्टि, प्रका-  
शदि द्वारा, संसार में होती है वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा परस्पर उपकार  
करें ॥ ४ ॥

यं मि'त्रावरुणौस्म'रमसिञ्चताम्'स्व' १न्तः शोशु'चानं  
सुहाध्या । तं तै' तपामि वरुणस्य धर्म'णा ॥ ५ ॥

३—( इन्द्राणी ) अ० १ । २७ । ४ । परमैश्वर्यकारिणी राजनीतिः—  
दयानन्द भाष्ये यजु० ३८ । ३ ( अविञ्चत् ) क्रमेणावर्धयत् । अन्यत् पूर्ववत् ॥  
४—( इन्द्राग्नी ) विद्युत्पावकौ ( अविञ्चताम् ) अवर्धयताम् । अन्यत्  
पूर्ववत् ॥



यस् । मित्रावरुणौ । स्मरस् । असिञ्चताम् । अप्-सु । अन्तः ।  
 शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तृपामि । वरुणस्य ।  
 धर्मणा ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ—( मित्रावरुणौ ) प्राण और अपान वायु ने ( अप्सु अन्तः )  
 प्रजाओं के बीच ( आध्या सह ) ध्यान शक्ति के साथ ( शोशुचानम् ) अत्यन्त  
 प्रकाशमान ( यम् स्मरम् ) जिस स्मरण सामर्थ्य को ( असिञ्चताम् ) सींचा  
 है ( तम् ) इस [ स्मरण सामर्थ्य ] को ( ते ) तेरे लिये ( वरुणस्य ) सर्वश्रेष्ठ  
 परमेश्वर के ( धर्मणा ) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से ( तृपामि ) पेश्वर्यपूर्वक  
 करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण और अपान के समान संसार में परस्पर उप-  
 कारी होकर पेश्वर्य बढ़ावे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३३ ॥

१-५ ॥ मेखला देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २, ५ अनुष्टुप्; ४ जगती ॥

मेखलाबन्धनोपदेशः—मेखला बांधने का उपदेश ॥

य इमां देवो मेखलामाबुधन्ध्र यः संनुनाह य उ नो  
 युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात्  
 स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

यः । इमास् । देवः । मेखलाम् । आ-बुधन्ध्र । यः । सं-  
 नुनाह । यः । ऊं इति । नः । युयोज । यस्य । देवस्य ।  
 प्र-शिषा । चरामः । सः । पारस् । मुञ्चात् । सः । ऊं इति ।  
 नः । वि । मुञ्चात् ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(यः देवः) जिस विद्वान् [आचार्य] ने (नः) हमारे (इमास्)

५—( मित्रावरुणौ ) अ० १ । २० । २ । प्राणापानौ । अन्यत पूर्ववत् ॥

१—( यः ) ( इमास् ) ( देवः ) विद्वान्, आचार्यः ( मेखलाम् ) सींचे



सू० १३३ [ ३०६ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५०९ )

यह ( मेखलांम् ) मेखला [ तागड़ी, पेटी, कटिबन्धन ] ( आवबन्ध ) अच्छे प्रकार बांधी है, ( यः ) जिसने ( संननाह ) सजाई है। ( उ ) और ( यः ) जिसने ( युयोज ) संयुक्त की है। ( यस्य देवस्य ) जिस विद्वान् के ( प्रशिषा ) उत्तम शासन से ( चरामः ) हम विचरते हैं। ( सः ) वह ( नः ) हमें ( पारम् ) पार ( इच्छान् ) लगावें, ( सः उ ) वही [ कष्टसे ] ( विमुञ्चात् ) मुक्त करे ॥१॥

भावार्थ—वेदारभ्य संस्कार के अन्तर्गत मेखला बन्धन एक संस्कार है। आचार्य ब्रह्मचारी के मेखला इस लिये बांधे कि वह कटि को कस कर फुर्ती से वेदों को पढ़ कर संसार में उपकारी होवे ॥ १ ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।

पूर्वा व्रतस्य प्राश्नुतो वीरघ्ना भव मेखले ॥ २ ॥

आ-हुता । अस्ति । अभि-हुता । ऋषीणाम् । अस्ति । आयु-धम् । पूर्वा । व्रतस्य । प्र-अश्नुती । वीर-घ्नी । भव । मे-खले ॥२॥

भावार्थ—( मेखले ) हे मेखला ! तू ( आहुता ) यथा विधि दान की गई ( अस्ति ) है, ( ऋषीणाम् ) धर्म मार्ग बताने वाले ऋषियों का ( आयुधम् ) शस्त्ररूप ( अस्ति ) है। ( व्रतस्य ) उत्तम व्रत वा नियम के ( पूर्वा ) पहिले ( प्राश्नुतो ) व्याप्त होने वाली और ( वीरघ्नी ) वीरों को प्राप्त होने वाली तू ( भव ) हो ॥ २ ॥

प्रतिप्यते कायमध्यभागे । डुमिष् दोपे—खलच् । कटिबन्धनम् । कक्ष्याम् ( आवबन्ध ) आवद्धवान् ( यः ) ( संननाह ) राह बन्धने लिट् । सज्जितवान् ( यः उ ) ( नः ) अस्मभ्यम् ( युयोज ) संयोजितवान् ( यस्य ) ( देवस्य ) विदुषः ( प्रशिषा ) उत्तमशासनेन ( चरामः ) वर्त्तामहे ( सः ) ( पारम् ) कर्मणः समाप्तिम् ( इच्छात् ) इच्छेत् ( सः ) ( उ ) ( नः ) अस्मान् ( विमुञ्चात् ) कष्ट इ विमोचयेत् ॥

२—( आहुता ) यथाविधि दत्ता ( अभिहुता ) सर्वतः स्वीकृता ( ऋषीणाम् ) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकानाम् ( अस्ति ) ( आयुधम् ) शस्त्ररूपा ( पूर्वा ) आद्या ( व्रतस्य ) अ० २ । ३० । २ । श्रेष्ठकर्मणः ( प्राश्नुती ) व्याप्नुवती ( वीरघ्नी ) हन गतौ—क्लिप् । वीराणां हन्त्री गन्त्री ( भव ) ( मेखले )—म० १ । हे कटिबन्धन ॥



( १५०२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १३३ [ ३०६ ]

भाषार्थ—जो मनुष्य नियम पूर्वक मेखला से कटि कस कर कर्म करते हैं वे ही वीर होते हैं ॥ २ ॥

मृत्योर्हं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भुतात् पुरुषं  
युमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा अमेणानयैन् मेखलया  
सिनामि ॥ ३ ॥

मृत्योः । अहम् । ब्रह्म-चारी । यत् । अस्मि । निः-याचन् ।  
भुतात् । पुरुषम् । युमाय । तम् । अहम् । ब्रह्मणा । तपसा ।  
अमेण । अनया । एनम् । मेखलया । सिनामि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( भूतात् ) प्राप्त ( मृत्योः ) मृत्यु से ( पुरुषम् ) इस पुरुष, आत्मा को ( निर्याचन् ) बाहिर निकालता हुआ ( अहम् ) मैं ( युमाय ) नियम पालन के लिये ( यत् ) जो ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी, वेदपाठी और वीर्य निग्रहक पुरुष ( अस्मि ) हूँ । ( तम् ) वैसे ( एनम् ) इस आत्मा को ( ब्रह्मणा ) वेदज्ञान, ( तपसा ) तप [ योगाभ्यास ] और ( अमेण ) परिश्रम के साथ ( अनया मेखलया ) इस मेखला से ( अहम् ) मैं ( सिनामि ) बांधता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो ब्रह्मचारी मेखला के समान शरीर को कसकर शीत उष्ण आदि द्वन्द्व का सहन करके आलस्य आदि मृत्यु को हटाते हैं वे ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

अदुःखा दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसं ऋषीणां भूतकृता  
बभूव । सा नो मेखले मुतिमा धेहि मेधामथो नो  
धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

३—( मृत्योः ) आलस्यरूपमरणत्वात् ( अहम् ) ( ब्रह्मचारा ) अ० ६ । १०६ ।  
२ । वेदपाठी वीर्यनिग्रहीता ( यत् ) ( अस्मि ) ( निर्याचन् ) निर्गमय  
( भूतात् ) प्राप्तात् ( पुरुषम् ) अ० १ । १६ । ४ । अग्रगामिनमात्मानम् ( ब्रह्मणा )  
वेदज्ञानेन ( तपसा ) योगाभ्यासेन ( अमेण ) शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनेन ( अनया )  
उपस्थितया ( एनम् ) पुरुषम् ( मेखलया ) ( सिनामि ) बध्नामि ॥



सू० १३३ [ ३०६ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५०३ )

अद्धायाः । दुहिता । तपसः । अधि । जाता । स्वसा । ऋषी-  
णाम् । भूत-कृताम् । बभूव । सा । नः । मेखले । मतिम् ।  
आ । धेहि । मेधाम् । अथोदिति । नः । धेहि । तपः ।  
इन्द्रियम् । च ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[वह मेखला] ( अद्धायाः ) अद्धा [आस्तिक बुद्धि, विश्वास]  
की ( दुहिता ) पूरण करने हारी [ यद्वा पुत्री समान प्रिय ], ( तपसः ) तप  
[ योगाभ्यास ] से ( अधि ) अच्छे प्रकार ( जाता ) उत्पन्न हुई, ( भूतकृताम् )  
सत्यकर्मी ( ऋषीणाम् ) ऋषियों [ सन्मार्गदर्शकों ] की ( स्वसा ) अच्छे  
प्रकार प्रकाश करने हारी [ अथवा बहिन के समान हितकारिणी ] ( बभूव )  
हुई है । ( सा ) सो तू ( मेखले ) हे मेखला ! ( नः ) हमें ( मतिम् ) मननशक्ति  
और ( मेधाम् ) निश्चय बुद्धि ( आ ) सब ओर से ( धेहि ) दान कर, ( अथो )  
और भी ( नः ) हमें ( तपः ) योगाभ्यास ( च ) और ( इन्द्रियम् ) इन्द्र का  
चिन्ह [ पराक्रम वा परम पेश्वर्य ] ( धेहि ) दान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो अद्दालु, तपस्वी ऋषियों के समान शुभकर्म के लिये कटि-  
बद्ध रहते हैं, वे ही मननशक्ति और निश्चल बुद्धि पाकर पेश्वर्यवान् होते हैं ॥४॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे ।

सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

याम् । त्वा । पूर्वे । भूत-कृतः । ऋषयः । परि-वेधिरे । सा ।

४—( अद्धायाः ) अतः सत्यम्- निघ० ३ । १० । अद्धा अद्दानात्-  
निरु० ६ । ३० । सत्यं धीयतेऽत्र । विदुमिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ ।  
अत्+धा—अङ्, टाप् । आस्तिक्यबुद्धेः । विश्वासस्य ( दुहिता ) अ० ३ ।  
१० । १३ । प्रपूरयित्री । पुत्रीसदृशहितकारिका वा ( तपसः ) योगाभ्यासात् ।  
( अधि ) अधिकम् ( जाता ) उत्पन्ना ( स्वसा ) अ० ६ । १०० । ३ । सुदीपयित्री ।  
मगिनीतुल्यहिता ( ऋषीणाम् )—म० २ । सन्मार्गदर्शकानाम् ( भूतकृताम् )  
आ० ६ । १०८ । ४ । सत्यकर्मणाम् ( बभूव ) ( सा ) त्वम् ( नः ) अस्मभ्यम्  
( मेखले ) ( मतिम् ) मननशक्तिम् ( आ ) समन्तात् ( धेहि ) देहि ( मेधाम् )  
अ० ६ । १०८ । २ । निश्चलां बुद्धिम् ( अथो ) अपि च ( तपः ) ( इन्द्रियम् )  
अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गं वीर्यमैश्वर्यं वा ( च ) ॥



त्वस् । परि । स्वजस्व । माम् । दीर्घायु-त्वाय । मे खले ॥ ५ ॥

भावार्थ—(याम् त्वा) जिस तुझको (पूर्व) पहिले (भूतकृतः) सत्यर्मा  
(ऋषयः) ऋषियों ने (परिबेधिरे) चारों ओर बांधा था। (सा त्वम्) सो तू  
(मे खले) हे मेखला ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (माम्) मुझसे  
(परि) सब ओर से (स्वजस्व) चिपट जब ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऋषियों के समान कटिबद्ध होकर शुभकार्य करते  
हैं, वे ही कीर्तिमान् होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३४ ॥

१-३ ॥ वज्रो देवता ॥ १ मस्तारपङ्क्तिः; २ गायत्री ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुशासनोपदेशः—शत्रुओं के शासन का उपदेश ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावांस्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।  
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातु णिहा वृत्रस्यैव शचीपतिः ॥ १ ॥  
अयम् । वज्रः । तर्पयताम् । ऋतस्य । अव । अस्य । राष्ट्रम् ।  
अप । हन्तु । जीवितम् । शृणातु । ग्रीवाः । प्र । शृणातु ।  
उणिहा । वृत्रस्य-इव । शची-पतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (वज्रः) वज्र [ दण्ड ] (ऋतस्य) सत्य धर्म  
को (तर्पयताम्) तृप्ति करे, (अस्य) इस [ शत्रु ] के (राष्ट्रम्) राज्य को  
(अव=अवहत्य) नाश करके [ उसके ] (जीवितम्) जीवन को (अप हन्तु)

५—(याम्) मेखलाम् (त्वा) (पूर्व) पूर्वजाः (भूतकृतः) सत्य  
कर्माणः (ऋषयः) साक्षात्कृतधर्माणः (परिबेधिरे) बंध बन्धने—लिद-  
आत्मनेपदत्वं छान्दसम् । परिवद्धवन्तः (सा) (त्वम्) (परि) सर्वतः (स्वजस्व)  
स्वज परिवद्धे । आलिङ्ग (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (मेखले) ॥

१—(अयम्) (वज्रः) दंडः । शासनम् (तर्पयताम्) तृप्तिं कुर्यात्  
(ऋतस्य) सत्यस्य धर्मस्य (अव) अवहत्य (अस्य) शत्रोः (राष्ट्रम्) राज्यम्  
(अपहन्तु) विनाशयतु (जीवितम्) जीवनम् (शृणातु) हिनस्तु (ग्रीवाः)



नाश कर देवे, ( ग्रीवाः ) गले की नाड़ियों को ( शृणातु ) काटे और ( उष्णिहा ) गुद्दी की नाड़ियों को ( प्रशृणातु ) तोड़ डाले, ( इव ) जैसे ( शचीपतिः ) कर्मों वा बुद्धियों का पति [ मनुष्य ] ( वृत्रस्य ) अपने शत्रु के [ ग्रीवा आदि को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा यथावत् शासन से शत्रुओं को नाश करके प्रजापालन करे ॥ १ ॥

अधरोऽधरु उत्तरेभ्यो गुहः पृथिव्या मात्सृपत् ।

वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥

अधरः-अधरः । उत्तरेभ्यः । गुहः । पृथिव्याः । मा । उत् ।

सुपत् । वज्रेण । अव-हतः । शयाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ वह शत्रु ] ( उत्तरेभ्यः ) ऊँचे लोगों से ( अधरोऽधरः ) नीचे नीचे और ( गुहः ) गुप्त होकर ( पृथिव्याः ) पृथिवी से ( मा उत्सृपत् ) कभी न उठे, और ( वज्रेण ) वज्र से ( अवहतः ) मार डाला गया ( शयाम् ) पड़ा रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी लोगों को श्रेष्ठों के बीच उच्च आसन कभी न मिले ॥ २ ॥

यो जिनाति तमन्विच्छु यो जिनाति तमिज्जहि ।

जिनुतो वज्रु त्वं सीमन्तमन्वज्जुमनु पातय ॥ ३ ॥

यः जिनाति । तम् । अनु । इच्छु । यः जिनाति । तम् । इत् । अहि ।

जिनुतः । वज्रु । त्वम् । सीमन्तम् । अन्वज्जुम् । अनु । पातय ॥ ३ ॥

अ० २ । ३३ । २ । कन्धरावयवान् ( प्रशृणातु ) प्रच्छिन्नस्तु ( उष्णिहा ) अ० २ ।

३३ । २ । बहुवचनस्यैकवचनम् । उत्सृता धमनीः ( वृत्रस्य ) शत्रोः ( इव )

यथा ( शचीपतिः ) अ० ३ । १० । १२ । कर्मणां प्रज्ञां वा पालकः पुरुषः ॥

२—( अधरोऽधरः ) अतिशयेनाधरः । निकृष्टतरः ( उत्तरेभ्यः ) उत्कृष्ट-तरेभ्यः ( गुहः ) संवृतः ( पृथिव्याः ) भूमेः सकाशात् ( मा ) निषेधे ( उत्सृपत् )

उत्सृपतु । उत्सृपतु ( वज्रेण ) ( अवहतः ) चूर्णीकृतः ( शयाम् ) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः । शेतम् । अत्रयतामित्यर्थः ॥



भाष्यार्थ—( यः ) जो पुरुष ( जिनाति ) अत्याचार करे, ( तम् ) उसको ( अनु इच्छ ) हूँ ह ले, ( यः ) जो ( जिनाति ) उपद्रव करे ( तम् इत् ) उसी को ( जहि ) मार डाल, ( वज्र ) हे वज्रधारी ( त्वम् ) तू ( जिनतः ) अत्याचारी के ( सीमन्तम् ) मस्तक को ( अन्वञ्चम् ) लगातार ( अनुपातय ) गिराये जा ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा नीति पूर्वक दुराचारियों को सदा दण्ड देवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३५ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

खादनपानोपदेशः—खान पान का उपदेश ॥

यदुश्नामि बलं कुर्वे इत्थं वज्रमा ददे ।

स्कन्धान्मुष्यं शातयन् वृत्रस्यैव शचीपतिः ॥ १ ॥

यत् । अश्नामि । बलम् । कुर्वे । इत्थम् । वज्रम् । आ । ददे ।

स्कन्धान् । अमुष्यं । शातयन् । वृत्रस्य-इव । शची-पतिः ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( यत् ) जो कुछ ( अश्नामि ) मैं खाता हूँ [ उसे ] ( बलम् ) बल ( कुर्वे ) बना देता हूँ, ( इत्थम् ) तब मैं ( वज्रम् ) वज्र को ( आ ददे ) ग्रहण करता हूँ । ( अमुष्यं ) उस [ शत्रु ] के ( स्कन्धान् ) कन्धों को ( शातयन् ) तोड़ता हुआ, ( इव ) जैसे ( शचीपतिः ) कर्म वा बुद्धि का स्वामी [ शूर ] ( वृत्रस्य ) शत्रु वा अन्धकार के ॥ १ ॥

३—( यः ) दुराचारी ( जिनाति ) ज्या वयोहानौ । ग्रहिज्या० । पा० ६ । १६ । इति संप्रसारणम् । हानिं करोति ( तम् ) ( अन्विच्छ ) अन्वेषणेन प्राप्नुति ( इत् ) एव ( जहि ) मारय ( जिनतः ) हानिं कुर्वतः पुरुषस्य ( वज्र ) अर्शआद्यत् वज्रधारिन्, ( सीमन्तः ) शरीरस्य सीमनोऽन्तः । शकन्धवादित्वात् पररूपम् । शिरः ( अन्वञ्चम् ) अनु + अञ्चु गतौ-क्विप् । अनु पश्चात् अनुक्रमेण प्राप्तम् ( अनु ) पश्चात् ( पातय ) अग्रे गमये ॥

१—( यत् ) भोजनम् ( अश्नामि ) भुञ्जे ( बलम् ) ( कुर्वे ) करोति ( इत्थम् ) एवम् ( वज्रम् ) वर्जकं शस्त्रम् ( आ ददे ) गृह्णामि ( स्कन्धान् ) स्कन्धादिशरीरावयवान् ( अमुष्यं ) शत्रोः ( शातयन् ) शङ्खु शातने विधिः । शदेरगतौ तः । पा० ७ । ३ । ४२ । इति तकारादेशः, शत् प्रत्ययः । छिन्दन् ( इव ) यथा ( शचीपतिः ) अ० ३ । १० । १२ । कर्मणां प्रधानां वा पालकः ॥



भावार्थ—मनुष्य पाचन शक्ति से भोजन को भलीभांति पचावे, जिस से वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर उसे सुखदायक हो। इसी मन्त्र का विवरण मन्त्र २ तथा ३ में है ॥ १ ॥

यत् पिबामि संपिबामि समुद्र इव संपिबः ।

प्राणानमुष्यं संपाय संपिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

यत् । पिबामि । सम् । पिबामि । समुद्रः-इव । सम्-पिबः । प्राणा-  
न् । अमुष्यं । सम्-पायं । सम् । पिबामः । अमुम् । वयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जो कुछ [ जल दुग्ध आदि ] ( पिबामि ) मैं पीता हूँ,  
( सम् ) यथाविधि ( पिबामि ) पीता हूँ ( इव ) जैसे ( संपिबः ) यथाविधि  
पीने वाला ( समुद्रः ) समुद्र [ खाकर पचा लेता है ] । ( अमुष्य ) उस [ पदार्थ ]  
के ( प्राणान् ) जीवन बलों को ( संपाय ) चूस कर ( अमुम् ) उस [ पदार्थ ] को  
( सम् ) यथाविधि ( वयम् ) हम ( पिबामः ) पीवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य न्यूनाधिक मात्रा और देश काल का विचार करके जल  
दुग्ध आदि पीकर पुष्टि बढ़ाकर सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

यद् गिरामि संगिरामि समुद्र इव संगिरः ।

प्राणानमुष्यं संगीर्य संगिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

यत् । गिरामि । सम् । गिरामि । समुद्रः-इव । सम्-गिरः । प्राणा-  
न् । अमुष्यं । सम्-गीर्यं । सम् । गिरामः । अमुम् । वयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जो कुछ वस्तु ( गिरामि ) मैं खाता हूँ, ( सम् ) यथा-  
विधि ( गिरामि ) खाता हूँ, ( इव ) जैसे ( संगिरः ) यथाविधि खाने वाला

२—( यत् ) जलदुग्धादिपानम् ( पिबामि ) ( सम् ) यथाविधि ( संपिबः )  
पात्राध्माधेदृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति पा पाने-श प्रत्ययः । सम्यक्  
पाता ( प्राणान् ) जीवनबलानि ( अमुष्य ) तस्य पदार्थस्य ( सम्पाय ) सम्यक्  
पीत्वा ( सम् ) ( पिबामः ) ( अमुम् ) पदार्थम् ( वयम् ) पानकर्तारः ॥

३—( यत् ) भोजनम् ( गिरामि ) गृ निगरणे तुदादित्वात्-शः । ऋत  
इवातोः । पा० ७ । १ । १०० । इत्वम् । भक्षयामि ( सम् ) सम्यक् ( संगिरः )



(समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्) जीवन शक्तियों को (संगीर्य) चवाकर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (गिरामः) खावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो निरालसी मनुष्य विचार पूर्वक भोजन करके उसे पचते हैं, वे बलवान् रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३६ ॥

१-३ ॥ नितत्नी देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ बृहती ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश के बढ़ाने का उपदेश ॥

दे॒वी दे॒व्यामधि॑ जा॒ता पृ॑थिव्याम॑स्योषधे ।

तां त्वा॑ नितत्नि॒ केशे॑भ्यो दृ॒ह॑णाय॒ खना॑मसि ॥ १ ॥

दे॒वी । दे॒व्याम् । अधि॑ । जा॒ता । पृ॒थि॒व्याम् । अ॒सि । ओष॑धे ।

ताम् । त्वा॑ । नि॒-तु॒न्नि । केशे॑भ्यः । दृ॒ह॑णाय । ख॒ना॒मु॒सि ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! तू (देव्याम्) दिव्य [प्रकाशवाली, अच्छे गुणवाली] (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि) ठीक ठीक (जाता) उत्पन्न हुई (देवी) दिव्य गुणवाली (असि) है । (नितत्नि) हे नीचे को फैलने वाली, नितत्नी ! [ओषधी विशेष] (ताम् त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के (दृहणाय) दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) हम खोदते हैं ॥ १ ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति किरनेर्विधीयमानः कप्रत्यये गिरतेरपि । सम्यङ् निगरिता (संगीर्य) ऋत इत्वे । हलि च । पा० ८ । १ । ७७ । इति दीर्घः । यथाविधि भक्षयित्वा । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(देवी) दिव्यगुणा (देव्याम्) दिव्यगुणायाम् (अधि) अधिकम् (जाता) उत्पन्ना (पृथिव्याम्) (असि) (ओषधे) (ताम्) तादृशीम् (त्वा) (नितत्नि) आदृगमहनम् । पा० ३ । २ । १७१ । इति तनोतेः—कि लिङ्चद्वाधाद् द्विर्वचनम् । तनिपत्योश्चन्दसि । पा० ६ । ४ । ६६ । उपचालोप हे नितन्वाने न्यक्प्रसरणशीले (केशेभ्यः) केशानामर्थे (दृहणाय) दृढ़ीकरणाय । वर्धनाय (खनामसि) खनामः । खोडामः ॥



सू० १३६ [ ३०८ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५०८ )

भाषार्थ—मनुष्य नितली नाम ओषधि को केश बढ़ करने और बढ़ाने के लिये काम में लावे। काचमाची फल, जीवन्तीफल और भृङ्गराज वा भंगरा ओषधि के भी केश बढ़ाना आदि गुण हैं ॥ १ ॥

दृंहं प्रत्नान् जुनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥२॥

दृंहं । प्रत्नान् । जुनयं । अजातान् । जातान् । जं इति ।

वर्षीयसः । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे नितली ! ] ( प्रत्नान् ) पुराने [केशों] को ( दृंहं ) बढ़कर, ( अजातान् ) बिना उत्पन्न हुआओं को ( जुनयं ) उत्पन्न कर, ( उ ) और ( जातान् ) उत्पन्न हुआओं को ( वर्षीयसः ) बहुत लम्बा ( कृधि ) बना ॥ २ ॥

भाषार्थ—इस मन्त्र में नितली ओषधि के गुणों का वर्णन है ॥ २ ॥

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।

इदं तं विश्वभेषज्याभि पिञ्चामि वीरुधा ॥३॥

यः । ते । केशः । अव-पद्यते । स-मूलः । यः । च । वृश्चते । इदम् ।

तम् । विश्व-भेषज्या । अभि । पिञ्चामि । वीरुधा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ] ( यः ) जो ( ते ) तेरा ( केशः ) केश ( अवपद्यते ) गिर जावे ( च ) और ( यः ) जो ( समूलः ) समूल ( वृश्चते ) दूट जावे । ( इदम् ) अब ( तम् ) उस को ( विश्वभेषज्या ) सब [ केश रोगों ] की ओषधि ( वीरुधा ) उस जड़ीबूटी से ( अभि पिञ्चामि ) चुपड़ कर ठीक करता हूँ ।

भाषार्थ—मनुष्य नितली नाम ओषधि से केशों के रोगोंको दूर करें ॥३॥

२—( दृंहं ) बढ़ीकुरु ( प्रत्नान् ) पुरातनान् केशान् ( जुनयं ) उत्पादय ( अजातान् ) अनुत्पन्नान् ( जातान् ) ( उ ) अपि ( वर्षीयसः ) अ० ४ । ६ । ८ । वृद्ध-ईयन्नं । प्रवृद्धतरान् ( कृधि ) कुरु ॥

३—( यः ) ( ते ) तव ( अवपद्यते ) निपतति ( समूलः ) मूलसहितः ( यः ) ( च ) ( वृश्चते ) वृश्च्यते । छिद्यते ( इदम् ) इदानीम् ( तम् ) केशम् ( विश्वभेषज्या ) सर्वस्य केशरोगस्य निवर्तयिष्या ( अभि ) अभितः ( पिञ्चामि ) आर्षीकरोमि ( वीरुधा ) लतया ॥



सूक्तम् १३७ ॥

१-३ ॥ नितली देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश बढ़ाने का उपदेश ॥

यां जुमदग्निः खनत् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।

तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

याम् । जुमत्-अग्निः । अखनत् । दुहित्रे । केश-वर्धनीम् ।

ताम् । वीत-हव्यः । आ । अभरत् । असितस्य । गृहेभ्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( केशवर्धनीम् ) केश बढ़ाने वाली ( याम् ) जिस [ नितली ओषधि ] को ( जुमदग्निः ) जलती अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष ने ( दुहित्रे ) पूर्ति करनेवाला क्रिया के लिये ( अखनत् ) खोदा है । ( ताम् ) उस [ ओषधि ] को ( वीतहव्यः ) पाने योग्य पदार्थ का पाने वाला ऋषि ( असितस्य ) पुरुष स्वभाव महात्मा के ( गृहेभ्यः ) घरों से ( आ अभरत् ) लाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में ( नितली ) पद की अनुवृत्ति गत सूक्त से आती है । जिस प्रकार से वैद्य जन परम्परा से एक दूसरे के पीछे शिक्षा पाते चले आये हैं वैसे ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते रहें ॥ १ ॥

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः

केशा नुडा इव वर्धन्तां शीष्णास्तं असिताः परि ॥ २ ॥

अभीशुना । मेयाः । आसन् । वि-आमेन । अनु-मेयाः । केशाः ।

नुडाः-इव । वर्धन्ताम् । शीष्णाः । ते । असिताः । परि ॥ २ ॥

१—( याम् ) नितलीम्-गतसूक्तात् ( जुमदग्निः ) अ० २ । ३२ । ३ प्रज्वलिताग्निवत्तेजस्वी ( अखनत् ) खननेन प्राप्तवान् ( दुहित्रे ) प्रपूरयित्रीक्रिया ( केशवर्धनीम् ) केशवृद्धिकरीम् ( ताम् ) ओषधिम् ( वीतहव्यः ) वी गतौ-काम आदाने-यत् । प्राप्तप्राप्तव्यः पुरुषः ( असितस्य ) विष् बन्धेन-क्त । अवयवस्य मुक्तस्वभावस्य ( गृहेभ्यः ) गृहेभ्यः सकाशात् ॥



भाषार्थ—( केशः ) केश ( अभीशुना ) अंगुली से ( मेयाः ) नापने योग्य, फिर ( व्यामेन ) दोनों [ ऊपर नीचे के ] भुज दण्ड से ( अनुमेयाः ) नापने योग्य ( आसन् ) हो गये हैं। वे ( असिताः ) काले होकर ( ते ) तेरे ( शीर्ष्णः ) शिर से ( नडाः इव ) नरकट घास के समान ( परि वर्धन्ताम् ) भले प्रकार बढ़ें ॥ २ ॥

भावार्थ—केशरोगी मनुष्य वैद्य की सम्मति से रोग निवृत्ति करे ॥२॥

दृंह मूलमाग्नं यच्छु वि मध्यं यामयौषधे ।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णरते असिताः परि ॥३॥

दृंह । मूलम् । आ । अग्रम् । यच्छु । वि । मध्यम् । यमय । औषधे ।

केशाः । नडाः-इव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ॥३॥

भाषार्थ—( औषधे ) हे औषधि । [ केशों के ] ( मूलम् ) मूल को ( दृंह ) दृढ़ कर, ( अग्रम् ) अग्र भाग को ( आ यच्छु ) बढ़ा, ( मध्यम् ) मध्यभाग को ( वि यमय ) लम्बा कर । ( केशाः ) केश ( असिताः ) काले होकर ( ते शीर्ष्णः ) तेरे शिर से ( नडा इव ) नरकट घास के समान ( परि वर्धन्ताम् ) भले प्रकार बढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान ॥ ३ ॥

२—( अभीशुना ) भृशशीङ्० । उ० १ । ७ इति अभि+अशू व्याप्तौ-ड अलोपो दीर्घश्च । अभीशवः, रश्मिनाम-निघ० १ । ५ । अङ्गुलिनाम-२ । ५ । पदनाम-५ । ३ । अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि-निरु० ३ । ६ । अंगुल्या ( मेयाः ) मातव्याः ( आसन् ) ( व्यामेन ) वि + अम गतौ-घञ् । प्रसारितभुजद्वयपरिमाणेन ( अनुमेयाः ) पश्चात् मातव्याः ( केशाः ) ( नडाः ) तृणविशेषाः ( इव ) यथा ( वर्धन्ताम् ) वर्धमाना भवन्तु ( शीर्ष्णः ) शिरसः ( ते ) तव ( असिताः ) कृष्णवर्णाः ( परि ) सर्वतः ॥

३—( दृंह ) दृढीकुरु ( मूलम् ) केशमूलम् ( अग्रम् ) अग्रभागम् ( आ यच्छु ) आयतं कुरु ( मध्यम् ) ( वियमय ) विविधं दीर्घीकुरु ( औषधे ) अन्यत्पूर्ववत् ॥



सूक्तम् १३८ ॥

१-५ ॥ ओषधिरिन्द्रश्च देवते ॥ १, २, ४, ५, अनुष्टुप्; ३पङ्क्तिः ।

निर्वलत्वनिवारणोपदेशः—निर्वलता हटाने का उपदेश ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्चुतास्योषधे ।

इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

त्वम् । वीरुधां । श्रेष्ठ-तमा । अभि-चुता । अस्ति । ओषधे ।  
इमम् । मे । अद्य । पूरुषम् । क्लीबम् । ओपशिनं । कृधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) सब ओषधियों में (श्रेष्ठतमा) अति श्रेष्ठ और (अभिचुता) बड़ी विख्यात (अस्ति) है । (मे) मेरे लिये (अद्य) अब (इमम्) इस (क्लीबम्) बलहीन (पुरुषम्) पुरुष को (ओपशिनम्) सब प्रकार उपयोगी (कृधि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ—वैद्य उत्तम ओषधि द्वारा बलहीन पुरुषों को बलवान् बनावें ॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।

अथ।स्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्राण्ड्यौ ॥ २ ॥

क्लीबम् । कृधि । ओपशिनम् । अथो इति । कुरीरिणम् ।  
कृधि । अथ । अस्य । इन्द्रः । ग्राव-भ्याम् । उभे इति ।  
भिनत्तु । आण्ड्यौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(क्लीबम्) बलहीन पुरुष को (ओपशिनम्) उपयोगी

१—(त्वम्) (वीरुधाम्) लतानां मध्ये (श्रेष्ठतमा) अतिश्रेष्ठ  
प्रशस्या (अभिचुता) सर्वतः प्रख्याता (अस्ति) (ओषधे) (इमम्) (मे)  
मदर्थम् (अद्य) इदानीम् (पुरुषम्) (क्लीबम्) क्लीब अर्थात्—अब । अद्य  
ष्टम् । निवीर्यम् (ओपशिनम्) आङ् + उप + शीङ् शयने-ड, इति ।  
ओपशः=उपशयः=उपयोगः । समन्तादुपयोगिनम् (कृधि) कुरु ॥

२—(क्लीबम्) म० १ । निर्वलम् (कृधि) कुरु (ओपशिनम्)



सू० १३८ [ ३११ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५१३ )

( कृधि ) बना, (अथो) और भी ( कुरीरिणम् ) कर्मकारी ( कृधि ) बना । ( अथ ) और ( इन्द्रः ) बड़े पेशवर्ष वाले वैद्य आप ( प्रावभ्याम् ) पथर समान दो दृढ़ शस्त्रों से ( अस्य ) इस [ रोगी ] के ( उभे ) दोनों ( आण्ड्यौ ) आंडी [ वा अंडिनी, दोनों अंडकोश के रोग ] को ( भित्तु ) छेदे ॥ २ ॥

भाषार्थ—वैद्य अंडकोष के आंडी, अंडिनी, पथरी आदि रोगों को दृढ़ शस्त्रों से तोड़ कर ओषधि करें ॥ २ ॥

क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रि त्वाकरमरसारसं त्वा-  
करम् । कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदधमसि ॥३॥  
क्लीबं । क्लीबम् । त्वा । अकरम् । वध्रे । वध्रिम् । त्वा । अकरम् ।  
अरसं । अरसम् । त्वा । अकरम् । कुरीरम् । अस्य । शीर्षणि ।  
कुम्बम् । च । अधि-निदधमसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( क्लीब ) हे निर्बल करने वाले रोग ! ( त्वा ) तुझको मैं ने ( क्लीबम् ) निर्बल ( अकरम् ) कर दिया है, ( वध्रे ) हे बल को धांधने वाले रोग ! ( त्वा ) तुझको ( वध्रिम् ) शक्तिहीन ( अकरम् ) मैंने कर दिया है, ( अरस ) हे नीरस करने वाले रोग ! ( त्वा ) तुझे ( अरसम् ) नीरस ( अकरम् ) मैंने कर दिया है । ( अस्य ) इस [ स्वस्थ ] पुरुष के ( शीर्षणि ) शिर पर ( कुरीरम् ) कर्म सामर्थ्य ( च ) और ( कुम्बम् ) विस्तृत आभूषण ( अधि-

म० १ । समन्तादुपयोगिनम् (अथो) अपि च ( कुरीरिणम् ) अ० ५ । ३१ । २ ।  
कृज उच्च । उ० ४ । ३३ । दुक्कम् करणे—ईरन्, तत इनि । कर्मवन्तम् (अथ)  
पुनः (अस्य) रोगिणः ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् वैद्यः ( प्रावभ्याम् ) अ० ३ ।  
१० । ५ । पाषाणवद् दृढाभ्यां शस्त्राभ्याम् (उभे) द्वे (भित्तु) छिन्तु (आण्ड्यौ)  
अण्ड-अण, डीप् । अण्डकोशमवौ । आण्डीरोगौ ॥

३—( क्लीब ) हे निर्बलकर रोग ( क्लीबम् ) निर्बलम् ( त्वा ) ( अकरम् )  
अकार्षम् ( वध्रे ) अ० ३ । ६ । २ । हे शक्तिबन्धक रोग ( वध्रिम् ) शक्तिहीनम्  
( अरस ) हे नीरसकर ( अरसम् ) रसहीनम् । निर्वीर्यम् ( कुरीरम् )—म० २ ।  
कर्मसामर्थ्यम् (अस्य) स्वस्थस्य (शीर्षणि) शिरसि ( कुम्बम् ) कुबि आच्छादने-



निदध्मसि ) हम अधिकार पूर्वक रखते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य बलहीन क्रियाहीन रोगियों को स्वस्थ और उत्साही बनावे ॥ ३ ॥

ये ते नाड्यौ' देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम् ।

ते ते भिनद्धि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ४ ॥

ये इति । ते । नाड्यौ' । देवकृते इति देव-कृते । ययोः । तिष्ठति । वृष्ण्यम् । ते इति । ते । भिनद्धि । शम्यया । अमुष्याः । अधि । मुष्कयोः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[ हे रोगी ! ( ये ) जो ( ते ) तेरी ( नाड्यौ ) दो नाड़ियाँ ( देवकृते ) मद अर्थात् उन्माद से पीड़ित हैं और ( ययोः ) जिन दोनों में ( वृष्ण्यम् ) ढीलापन ( तिष्ठति ) स्थित है । ( ते ) तेरे लिये ( ते ) उन दोनों [ नाड़ियों ] को ( अमुष्याः ) उस [ स्वस्थ नाड़ी ] से अलग ( मुष्कयोः ) दोनों अण्डकोशों में ( शम्यया ) शान्तिकारक शम्या [ हल के जुये के कील के समान ] शस्त्र से ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( भिनद्धि ) मैं छेदता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्यराज विचार पूर्वक अन्य मर्म नाड़ियों को छोड़कर अण्डकोश की रोगग्रस्त नाड़ियों को छेद कर स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

अच् । विस्तृतं भूषणं ( च ) ( अधिनिदध्मसि ) अधिकृत्य स्थापयामः ॥

४—( ये ) ( ते ) तुभ्यम् ( नाड्यौ ) आण्ड्यौ—म० २ । ( देवकृते ) विदुः क्रीडामदादिषु—अच् + कृञ् हिंसायाम्—क्त । मदेनोन्मादेन हिंसितम् ( ययोः ) नाड्योः ( तिष्ठति ) वर्तते ( वृष्ण्यम् ) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृष शक्तिवन्धने—कनिन् । खलयवमाषतिलवृष० । पा० ५ । १ । ७ इति वृषयत् । वृष्णः शिथिलस्य भावो वृष्ण्यं शैथिल्यम् ( ते ) नाड्यौ ( ते ) त्वदर्थम् ( भिनद्धि ) छिनद्धि ( शम्यया ) शम शान्तौ आलोचने च—यत्, टाप । शम्या—युगकीलकः—अमर १६ । १४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्यशस्त्रेण ( अमुष्याः ) तस्या नाड्यः पृथक् ( अधि ) अधिकृत्य ( मुष्कयोः ) अण्डकोशयोर्मध्ये ॥



सू० १३८ [ ३१२ ]

वृष्टं कारुडम् ॥ ६ ॥

( १५१५ )

यथा नृडं कशिपु'ने स्त्रियौ भिन्दन्त्यश्मना ।

एवा भिनद्धि ते शोपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

यथा । नृडम् । कशिपु'ने । स्त्रियः । भिन्दन्ति । अश्मना ।

एव । भिनद्धि । ते । शोपः । अमुष्याः । अधि । मुष्कयोः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (स्त्रियः) स्त्रियां (नृडम्) नरकट घास आदि को (कशिपुने) अन्न वा वस्त्र के लिये (अश्मना) पत्थर से (भिन्दन्ति) तोड़ती हैं । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (अमुष्याः) उस [ नीरोग नाड़ी ] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों के (शोपः) रोग बल को (अधि) अधिकार के साथ (भिनद्धि) मैं तोड़ता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे किसी वृण में से अन्न वा वस्त्र की सार वस्तु बचाकर अभीष्ट भाग को तोड़ डालते हैं, वैसे ही चिकित्सक लोग मर्म स्थल को छोड़कर रोगकारक नाड़ी को छेदकर स्वस्थ करें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ १ जगती; २, ३, ५ अनुष्टुप्; ४ पुरउष्णिक् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशाः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिये उपदेश ॥

न्यस्तिका रु'रोहिथ सुभगं करणी मर्म ।

शुतं तव प्रतानास्त्रयंस्त्रिंशन्नितानाः ।

तया सहस्रपुण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

नि-अस्तिका । रु'रोहिथ । सुभगम्-करणी । मर्म । शुतम् ।

५—(यथा) येन प्रकारेण (नृडम्) वृणम् (कशिपुने) मृगश्वादयश्च । उ० १ । ३७ । इति कश गतिशासनयोः—कु, निपातनात् साधुः । अन्नाय वस्त्राय वा—अमर० २३ । १३० (स्त्रियः) (भिन्दन्ति) आघ्नन्ति (अश्मना) पाषाणेन (एव) एवम् (भिनद्धि) (ते) तुभ्यम् (शोपः) रोगबलम् (अमुष्याः) तस्या नीरोगाया नाड्याः (अधि) अधिकृत्य (मुष्कयोः) अण्डकोशयोः ॥



तव । प्र-तानाः । त्रयैः-त्रिंशत् । नि-तानाः । तथा ।  
सहस्र-पूर्या । हृदयम् । शोषयामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्या ! ] ( न्यस्तिका ) नित्य प्रकाशमान और ( गाय ) मेरी ( सुभगंकरणी ) सुन्दर पेश्वर्य करनेवाली तू ( करोहिथ ) प्रकट हुई है । ( ते ) तेरे ( प्रतानाः ) उत्तम फैलाव ( शतम् ) सौ [ अनेक ], और ( नितानाः ) नियमित विस्तार ( त्रयस्त्रिंशत् ) तैंतीस [ तैंतीस देवताओं के जतानेवाले ] हैं ।  
[ हे ब्रह्मचारिणि ! ] ( तथा ) उस ( सहस्रपूर्या ) सहस्रों पालन शक्ति वाली विद्या से ( ते ) तेरे ( हृदयम् ) हृदय को ( शोषयामि ) मैं सुखाता हूँ । [ प्रेम मग्न करता हूँ ] ॥ १ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मचारी समावर्तन के पश्चात् यथार्थ विद्या से संसार के सब पदार्थ और तैंतीस देवताओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने सदृश विदुषों की से विवाह की कामना करे । तैंतीस देवता यह हैं,—८ वसु अर्थात् अग्नि पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनञ्जय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् प्रदीप १ इन्द्र अर्थात् बिजुली,—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेद विषय, पृष्ठ ६६—६८ ॥ १॥

शुष्यंतु मयि ते हृदयमथौ शुष्यत्वास्यम् ।

अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

१—( न्यस्तिका ) वृत्तेस्तिकम् । उ० ३ । १४६ । नि+अस दीप्तौ-तिक्रम । नितरां दीप्यमाना विद्या ( करोहिथ ) प्रादुर्बभूविथ ( सुभगंकरणी ) आत्म सुभग० । पा० ३ । २ । ५६ । इति करोतेः ख्युन् । स्त्रियनव्ययस्य । पा० ६ । ३ । ६६ । इति पूर्वपदस्य मुम् । टिड्ढाणञ्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । तौ भाग्यं कुर्वती ( मम ) ( शतम् ) बहु ( तव ) ( प्रतानाः ) प्रकृष्टविस्तार ( त्रयस्त्रिंशत् ) एतत्संख्यानां देवानामुपकारकत्वात् तत्संख्या ( नितानाः ) नियमितविस्ताराः ( तथा ) ( सहस्रपूर्या ) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ४ । इति पृ पालनपूरणयोः-न । बहुपालनशक्त्या विद्यया ( हृदयम् ) ( शोषयामि ) परितप्तं प्रेममग्नं करोमि ( ते ) तव ॥



शुष्यंतु । मयि । ते । हृदयम् । अथो इति । शुष्यंतु । आस्यम् ।  
अथो इति । नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । नि ।  
शुष्का-आस्या । चर ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे ब्रह्मचारिणि ! ] ( मयि ) मेरे विषय में ( ते हृदयम् )  
तेरा हृदय ( शुष्यंतु ) सूख जावे, ( अथो ) और ( आस्यम् ) मुख ( शुष्यंतु )  
सूख जावे । ( अथो ) और भी ( माम् ) मुझ को ( कामेन ) अपने प्रेम से ( नि )  
नित्य ( शुष्य ) सुखा, ( अथो ) और तू भी ( शुष्कास्या ) सूखे मुखवाली हो कर  
( चर ) विचर ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् वर और कन्या परस्पर गुणों का परिचय करके  
वाचिक और मानसिक प्रेम से गृह आश्रम में प्रवेश करने की चेष्टा करें ॥२॥

संवर्तनी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।

अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

सुस-वर्तनी । सुस्-उष्पला । बभ्रु । कल्याणि । सम् । नुद ।

अमूम् । च । माम् । च । सम् । नुद । समानम् । हृदयम् । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—( बभ्रु ) हे पालन शील ! ( कल्याणि ) हे मङ्गल कारिणी  
विद्या ! ( संवर्तनी ) यथावत् सेवनीय और ( समुष्पला ) यथाविधि निवास  
की रक्षा करने वाली तू [ हम दोनों को ] ( सम् ) मिला कर ( नुद ) आगे  
बढ़ा । ( अमूम् ) उस [ विदुषी ] को ( च च ) और ( माम् ) मुझ को ( सम् )

२—( शुष्यंतु ) परितप्तं प्रेममग्नं भवतु ( मयि ) मद्विषये ( ते ) तव  
( हृदयम् ) ( अथो ) अपि च ( शुष्यंतु ) ( आस्यम् ) मुखम् ( अथो ) ( नि )  
नित्यम् ( शुष्य ) शोषय ( माम् ) वरम् ( कामेन ) प्रेम्णा ( अथो ) ( शुष्कास्या )  
परितप्तवदना ( चर ) गच्छ ॥

३—( संवर्तनी ) सम्यक् सेवनीया ( समुष्पला ) वस निवासे-क्विव् ।  
वचिखपियजादीनां किति । पा० ६ । १ । १५ । इति सम्प्रसारणम् । शासिबसि-  
वसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० । इति षत्वम् । पल गतौ रक्षणे-अचः टाप् ।  
सम्यग् उषो गृहस्य पला पालयित्री विद्या ( बभ्रु ) अ० ४ । २६ । २ हु भृञ्-



मिला कर ( नुद ) आगे बढ़ा, [हम दोनों के] ( हृदयम् ) हृदय को ( समानम् )  
एक ( कृधि ) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थ बनते हैं, वे ही एक-  
दूसरे उपकार करके सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यथौदकमपपुषोऽपशुष्यत्यास्यम् ।

एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

यथा । उदकम् । अपपुषः । अप-शुष्यति । आस्यम् । एव ।  
नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । शुष्क-आस्या । चर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( उदकम् ) जल को ( अपपुषः ) न पीनेवाले  
पुरुष का ( आस्यम् ) मुख ( अपशुष्यति ) सूख जाता है । ( एव ) वैसे ही  
( माम् ) मुझ को ( कामेन ) अपने प्रेम से ( नि ) नित्य ( शुष्य ) सुखा (अथो)  
और तू भी ( शुष्कास्या ) सूखे मुख वाली होकर ( चर ) विचर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे अति प्यासे मनुष्य को जल की बड़ी चिन्ता रहती है  
वैसे ही पति पत्नी पूर्ण प्रीति से एक दूसरे का ध्यान रखते ॥ ४ ॥

यथानकुलो विच्छिद्य' सं धात्यहि' पुनः ।

एवा कामस्य विच्छिन्न' सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

यथा । नकुलः । वि-च्छिद्य' । सुस्-धाति । अहिम् । पुनः ।  
एव । कामस्य । वि-च्छिन्नम् । सम् । धेहि । वीर्य-वति ॥ ५ ॥

कु, ऊङ् । अस्वार्थानद्योर्ह्रस्वः । पा० ७ । ३ । १०७ । इति ह्रस्वः । हे पालनशील  
( कल्याणि ) हे मङ्गलकारिणि विद्ये ( सम् ) संयोज्य ( नुद ) प्रवर्तय ( अस्यम् )  
विदुषीम् ( च ) ( माम् ) विद्वांसम् ( समानम् ) एकम् ( हृदयम् ) ( कृधि ) ।

४—( यथा ) येन प्रकारेण ( उदकम् ) जलम् ( अपपुषः ) पा पीने  
लिटः कलुः । अपीतवतस्तृषितस्य पुरुषस्य ( अपशुष्यति ) शुष्कं भवति ( आस्यम् )  
सुखम् ( एव ) एवम् । अन्यद्गतम्—म० २ ॥



भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( नकुलः ) कुत्सितकर्म न ग्रहण करने वाला, नेवला ( अहिम् ) साँप को ( विच्छिद्य ) टुकड़े टुकड़े करके ( पुनः ) फिर ( सन्ध्याति ) समाहित चित्त हो जाता है । ( एव ) वैसे ही ( वीर्यवति ) हे बलवती ! ( कामस्य ) कामना के ( विच्छिन्नम् ) घाव को ( संधेहि ) भर दे ॥५॥

भाषार्थ—जैसे नेवला जन्तु साँप को मार कर आप स्वस्थ और शांत होजाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष विदुषी पत्नी को पाकर दुःख नाश करके आनंद भोगता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४० ॥

१-३ ॥ दन्तौ देवते ॥ १ बृहती; २ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः॥

बालस्यान्नप्राशनोपदेशः—बालक के अन्न प्राशन का उपदेश ॥

यौ व्याघ्रावरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।

तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १॥

यौ । व्याघ्रौ । अव-रूढौ । जिघत्सतः । पितरम् । मातरम् ।

च । तौ । दन्तौ । ब्रह्मणः । पते । शिवौ । कृणु । जात-वेदः ॥१॥

भाषार्थ—( व्याघ्रौ ) व्याघ्र के समान बलवान् ( यौ ) जो ( दन्तौ ) ऊपर नीचे के दांत ( अवरूढौ ) उत्पन्न होकर ( पितरम् ) पिता को ( च ) और ( मातरम् ) माता को ( जिघत्सतः ) काटने की इच्छा करते हैं । ( ब्रह्मणः )

५—( यथा ) ( नकुलः ) न + कु + ला आदाने-क । नम्राणुनपानवेदा० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नजः प्रकृतिभावः । न कु कुत्सितं कर्म लाति गृह्णातीति यः स नकुलः । जन्तुविशेषः ( विच्छिद्य ) खण्डशः कृत्वा ( संध्याति ) समाहितः स्वस्थो भवति ( अहिम् ) आहन्तारं सर्पम् ( पुनः ) अनन्तरम् ( एव ) एवम् ( कामस्य ) प्रेम्णः ( विच्छिन्नम् ) अवखण्डितं क्षतम् ( संधेहि ) संयोजय ( वीर्यवति ) हे बलवति ॥

१—( यौ ) ( व्याघ्रौ ) अ० ४ । ३ । १ । सिंहो व्याघ्र इति पूजयाम्—निरु० ३ । १८ । व्याघ्रवद्बलवन्तौ ( अवरूढौ ) प्रादुर्भूतौ ( जिघत्सतः ) अदभ्युपेक्ष्य सन् । लुङ् स्तनोर्घस्त्व । पा० २ । ४ । ३७ । इति घस्त्व । सः स्यार्धधातुके ।



हे अन्न के ( पते ) स्वामी ! ( जातवेदः ) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले गृहस्थ ! ( तौ ) उन दोनों को ( शिवौ ) सुखकारक ( कृणु ) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दांत निकलने पर बालक माता पिता के काढ़ने लगे, तब गृहस्थ उनका अन्नप्राशन करके उस का पोषण करे ॥ १ ॥

ब्रीहिमैत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् । एषं वा भागो  
निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ १ ॥  
ब्रीहिम् । अत्तम् । यवम् । अत्तम् । अथो इति । माषम् । अथो  
इति । तिलम् । एषः । वाम् । भागः । नि-हितः । रत्न-धेयाय ।  
दन्तौ । मा । हिंसिष्टम् । पितरम् । मातरम् । च ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे दांतों की दोनों पंक्तियों!] (ब्रीहिम्) चावल (अत्तम्) खाओ, (यवम्) जौ (अत्तम्) खाओ, (अथो) फिर (माषम्) उरद, (अथो) फिर (तिलम्) तिल [खाओ], (वाम्) तुम दोनों का (एषः) यह (भाग) भाग [चावल जौ आदि] (रत्नधेयाय) रत्नों के रखने योग्य कोश के लिये (निहितः) अत्यन्त हित है, (दन्तौ) हे ऊपर नीचे के दांतों! (पितरम्) बालक के पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥ २ ॥

भावार्थ—माता पिता दांत निकलने पर बालक को चावल, जौ आदि

पा० ७।४।४६। इति सस्य तः । अत्तुं कर्तितुमिच्छतः (पितरम्) (मातरम्)  
(च) (तौ) (दन्तौ) अ० ४।३।६। उपरिनीचस्थदन्तगणौ (ब्रह्मणः)  
अन्नस्य—निघ० २।७। (पते) स्वामिन् (शिवौ) सुखकरौ (कृणु) कुरु  
(जातवेदः) हे जातानां वेदितो गृहस्थ ॥

२—(ब्रीहिम्) इगुपधात् क्ति । उ०४।१२०। इति बृह बृद्धौ-इन्, पृषोद-  
रादिरूपम् । आशुधान्यम् (अत्तम्) खादतम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—  
अप् । अन्न विशेषम् (अथो) पश्चात् (माषम्) मष वधे—घञ् । अन्नविशेषम्  
(तिलम्) तिल स्नेहने-क । अन्नविशेषम् (एषः) ब्रीहियवादिभोगः (वाम्)  
युवयोः (भागः) सेवनीयोऽशः (निहितः) अत्यन्तहितः (रत्नधेयाय) रत्न +  
दुधाञ् यत् । रत्नधारणयोग्याय कोशाय (दन्तौ) उपरिनीचस्थदन्तगणौ



सू० १४१ [ ३१४ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५२९ )

सामान्य अन्न और फिर अधिक पौष्टिक उरद आदि और चिकने तिल आदि  
 बटावे जिससे बालक पुष्ट होकर माता पिता को सुख देवे और उन्नति करे ॥२॥

उपहृतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ । अन्यत्र वां  
 घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३॥  
 उप-हृतौ । स-युजौ । स्योनौ । दन्तौ । सु-मङ्गलौ । अन्यत्र ।  
 वाम् । घोरम् । तन्वः । परा । एतु । दन्तौ । मा । हिं-सि-  
 ष्टम् । पितरम् । मातरम् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( उपहृतौ ) आपस में स्पर्धा वाले, ( सयुजौ ) एक दूसरे  
 से मिले हुये ( दन्तौ ) दोनों ओर के दांत ( स्योनौ ) सुख देने वाले और  
 ( सुमङ्गलौ ) बड़े मङ्गल वाले होवे । ( दन्तौ ) हे दोनों ओर के दांतो ! ( वाम् )  
 तुम्हारा ( घोरम् ) दुःखदायी कर्म [ बालक के ] ( तन्वः ) शरीर से ( अन्यत्र )  
 अलग ( परा एतु ) चला जावे ( पितरम् ) इसके पिता ( च ) और ( मातरम् )  
 माता को ( मा हिंसिष्टम् ) मत काटो ॥ ३ ॥

भाषार्थ—माता पिता बालक के नवे निकले दांतों को मुलहटी आदि  
 ओपधि से स्वस्थ करे, जिससे वे सब सुख से निकले ॥ ३ ॥

सूक्तम् १४१ ॥

१-३ ॥ आचार्यो मातापितरौ च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—वृद्धि करने का उपदेश ॥

वायुरेनाः सुमाकुरु त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।

इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भुम्ने चिकित्सतु ॥१॥

( मा हिंसिष्टम् ) मा पीडयतम् ( पितरम् ) पालकजनकम् ( मातरम् ) मान्यां  
 जननीम् ( च ) ॥

३—( उपहृतौ ) होज् स्पर्धायां शब्द च-क्त । परस्परस्पर्धायुक्तौ  
 ( सयुजौ ) समान युज्जनौ ( स्योनौ ) सुखकरौ ( दन्तौ ) उभयतो दन्तगणौ  
 ( सुमङ्गलौ ) सुमङ्गलकरौ ( अन्यत्र ) पृथक् स्थाने ( वाम् ) युवयोः ( घोरम् )  
 कूरं कर्म ( तन्वः ) शिशुशरीरात् ( परा ) ( दूरे ) ( एतु ) गच्छतु । अन्यत्पू-  
 र्ववत्-म० २ ॥



( १५२२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १४१ [ ३१४ ]

वायुः । एनाः । सुस्-आकरत् । त्वष्टा । पोषाय । ध्रियताम् ।  
इन्द्रः । आभ्यः । अधि । ब्रवत् । रुद्रः । भुम्ने । चिकित्सतु ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( वायुः ) शीघ्रगामी आचार्य ( एनाः ) इन [ प्रजाओं ]  
को ( समाकरत् ) एकत्र करे, ( त्वष्टा ) सूक्ष्मदर्शी वह ( पोषाय ) [ उनके  
मानसिक और शारीरिक ] पोषण के लिये ( ध्रियताम् ) स्थिर रहे । ( इन्द्रः ) बड़े  
ऐश्वर्य वाला वही ( आभ्यः ) इन [ प्रजाओं ] से ( अधि ) अनुग्रह पूर्वक ( ब्रवत् )  
बोले, ( रुद्रः ) ज्ञान दाता अध्यापक ( भुम्ने ) उनकी वृद्धि के लिये ( चिकित्सतु )  
शासन करे ॥ १ ॥

भवार्थ—जितेन्द्रिय दूरदर्शी आचार्य विद्यालय में ब्रह्मचारियों को उत्तम  
विद्या से समृद्ध करे ॥ १ ॥

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।

अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

लोहितेन । स्व-धितिना । मिथुनम् । कर्णयोः । कृधि । अकर्ताम् ।  
अश्विना । लक्ष्म । तत् । अस्तु । प्र-जया । बहु ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—[ हे आचार्य ! ] ( लोहितेन ) प्रकाश के साथ और ( स्वधितिना )  
और आत्म धारण सामर्थ्य के साथ ( कर्णयोः ) हमारे दोनों कानों में ( मिथुनम् )

१—( वायुः ) शीघ्रगाम्याचार्यः ( एनाः ) प्रजाः । विद्यार्थिगणान् ( समाकरत् )  
करोतेल्लेत् । संयोजयेत् ( त्वष्टा ) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्षू तनू करणे-तृत् ।  
सूक्ष्मदर्शी ( पोषाय ) मानसिकशारीरिकपोषणाय ( ध्रियताम् ) धृङ् अवस्थाने ।  
स्थिरो भवतु ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवानाचार्यः ( आभ्यः ) प्रजाभ्यः ( अधि ) अधिक-  
मनुग्रहपूर्वकम् ( ब्रवत् ) वदेत् ( रुद्रः ) अ० २ । २७ । ६ । रुत् ज्ञानं राति ददा-  
तीति यः ज्ञानदाता ( भुम्ने ) अ० ५ । २८ । ३ । बहुत्वाय । वर्धनाय ( चिकित्सतु )  
कित् व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च । गुप्तिज्किद्रभ्यः सन् ।  
पा० ३ । १ । ५ । इति कितेः सन् । निगृह्णातु । शास्तु ॥

२—( लोहितेन ) अ० ६ । १२७ । १ प्रादुर्भावेन प्रकाशेन सह ( स्वधितिना )  
स्व+धि धारणे—किन् । आत्मधारणेन ( मिथुनम् ) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् ।



सू० १४१ [ ३१४ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५२३ )

विज्ञान ( कृधि ) कर । ( अश्विना ) कामों में व्याप्ति वाले माता पिता ने ( लक्ष्म ) [ हम में ] शुभ लक्षण ( अकर्ताम् ) किया है, ( तत् ) वह [ शुभलक्षण ] ( प्रजया ) सन्तान के साथ ( बहु ) अधिक समृद्ध ( अस्तु ) होवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—जहां गुणी माता पिता और आचार्य बालकों के शिक्षक होते हैं, वहां बालक गुणी, धनी और बली होते हैं ॥ २ ॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।

एव सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

यथा । चक्रुः । देव-असुराः । यथा । मनुष्याः । उत । एव । सहस्र-पोषाय । कृणुतम् । लक्ष्म । अश्विना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( देवासुराः ) व्यवहार जानने वाले बुद्धिमानों ने ( उत ) और ( यथा ) जैसे ( मनुष्याः ) मननशील पुरुषों ने [ शुभलक्षण को ] ( चक्रुः ) किया है । ( अश्विना ) हे कर्तव्यों में व्यापक माता पिता ! ( एव ) वैसे ही ( सहस्रपोषाय ) सहस्रों प्रकार के पोषण के लिये [ हम में ] ( लक्ष्म ) शुभलक्षण ( कृणुतम् ) तुम करो ॥ ३ ॥

भाषार्थ—माता पिता को योग्य है कि पूर्वज महात्माओं के समान अपने सन्तानों को शुभगुणी बनावे ॥ ३ ॥

उ० ३ । ५५ । इति मिथु बधे मेधायां च-उनन् । विज्ञानम् ( कर्णयोः ) कृवृजृ० ।  
उ० ३ । १० इति कृ विक्षोपे—न । ओत्रयोः ( कृधि ) कुरु ( अकर्ताम् ) कृतवन्तौ  
( अश्विना ) अ० २ । २६ । ६ । कार्येषु व्यापकौ मातापितरौ ( लक्ष्म ) सर्व-  
धातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः आलोचने च—मनिन् ।  
शुभलक्षणम् ( तत् ) लक्ष्म ( अस्तु ) ( प्रजया ) सन्तत्या ( बहु ) बहुलं समृद्धम् ॥

३—( यथा ) येन प्रकारेण ( चक्रुः ) कृतवन्तः ( देवासुराः ) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वम्—निरु० १ । ३४ । व्यवहारिणः प्रज्ञावन्तः ( यथा ) ( मनुष्याः ) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलाः ( उत ) अपि च ( एव ) एवम् ( सहस्रपोषाय ) अपरि-  
मितवृद्धये ( कृणुतम् ) कुरुतम् ( लक्ष्म )—म० २ । शुभलक्षणम् ( अश्विना )  
कर्तव्यव्यापकौ मातापितरौ ॥



सूक्तम् १४२ ३

१-३ ॥ यवो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अन्नवृद्ध्युपदेशः—अन्न की वृद्धि का उपदेश ॥

उच्छ्रयस्व बहुभवं स्वेन महसा यव ।

मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥१॥

उत् । अयस्व । बहुः । भव । स्वेन । महसा । यव । मृणीहि ।  
विश्वा । पात्राणि । मा । त्वा । दिव्या । अशनिः । वधीत् ॥१॥भाषार्थ—( यव ) हे जौ अन्न ! तू ( स्वेन ) अपने ( महसा ) बल से  
( उत् अयस्व ) ऊँचा आश्रय ले और ( बहुः ) समृद्ध ( भव ) हो । ( विश्वा )  
सब ( पात्राणि ) जिनसे रक्षा की जावे ऐसे राक्षसों [ विघ्नों ] को ( मृणीहि )  
मार, ( दिव्या ) आकाशीय ( अशनिः ) बिजुली आदि उत्पात ( त्वा ) तुझको  
( मा वधीत् ) नहीं नष्ट कर ॥ १ ॥भावार्थ—किसान लोग खेती विद्या में चतुर होकर प्रयत्न करें कि उत्तम  
जौ आदि बीजों से नीरोग और पुष्टिकारक अन्न उपजे ॥ १ ॥

आशुण्वन्तु यव देवं यत्र त्वाच्छ्रावदामसि ।

तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

आ-शुण्वन्तस् । यवस् । देवस् । यत्र । त्वा । अच्छ-श्रावदा-  
मसि । तत् । उत् । अयस्व । द्यौः-इव । समुद्रः-इव । इधि-  
अक्षितः ॥ २ ॥१—( उच्छ्रयस्व ) उन्नतो भव ( बहुः ) बहि वृद्धी-कु । प्रवृद्धः ( भव )  
( स्वेन ) आत्मीयेन ( महसा ) महत्त्वेन । रक्षादिना ( यव ) ( मृणीहि ) मृ वधे ।  
मारय ( विश्वा ) सर्वाणि ( पात्राणि ) सर्वधातुभ्यः ण् । उ० ४ । १५४ ।  
इति पा रक्षणे—अपादाने ण् । पाति यस्मात् । रक्षांसि । विघ्नान् ( त्वा ) ( दिव्या )  
दिवि आकाशे भवा ( अशनिः ) विद्युदाद्युत्पातः ( मा वधीत् ) मा हिंसीत् ।



५० १४२ [ ३१५ ]

षष्ठं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १५२५ )

भाषार्थ—( आश्रयन्तम् ) [ हमें ] अंगीकार करने वाले ( त्वा ) तुम्ह ( देवम् ) दिव्य गुण वाले ( यवम् ) जौ आदि अन्न को ( यत्र ) जहां पर ( अच्छा-वदामसि ) हम अच्छे प्रकार चाहें, ( तत् ) वहां पर ( द्यौः इव ) सूर्य के समान ( उत्थयस्व ) ऊंचा आश्रय ले और ( समुद्रः इव ) अन्तरिक्ष के समान ( अक्षितः ) क्षयरहित ( पृथि ) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां पर किसान लोग खेती की अच्छे प्रकार देख भाल करते हैं वहां जौ अन्न के वृक्ष ऊंचे होते और उपज में अच्छी बढ़ती होती है ॥ २ ॥

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।

पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

अक्षिताः । ते । उप-सदः । अक्षिताः । सन्तु । राशयः ।

पृणन्तः । अक्षिताः । सन्तु । अत्तारः । सन्तु । अक्षिताः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे जौ आदि अन्न ! ] ( ते ) तेरे ( उपसदः ) निकटवर्ती कार्यकर्ता लोग ( अक्षिताः ) बिना घाटे और तेरी ( राशयः ) रासें ( अक्षिताः ) बिना घाटे ( सन्तु ) होवे । ( पृणन्तः ) तेरे भरती करने वाले लोग ( अक्षिताः ) बिना घाटे ( सन्तु ) होवे और ( अत्तारः ) तेरे खाने वाले ( अक्षिताः ) बिना हानि ( सन्तु ) होवे ॥ ३ ॥

२—( आश्रयन्तम् ) आङ् + श्रु अङ्गीकारे । अङ्गीकुर्वन्तम् ( यवम् ) ( देवम् ) दिव्यगुणम् ( यत्र ) यस्यां भूमौ ( त्वा ) ( अच्छा-आवदामसि ) आभिमुख्येन वदामः प्रार्थयामहे ( तत् ) तत्र भूम्याम् ( उच्छयस्व ) ( द्यौः इव ) प्रकाशमानः सूर्यो यथा ( समुद्रः इव ) अन्तरिक्षं यथा ( पृथि ) भव ( अक्षितः ) क्षयरहितः ॥

३—( अक्षिताः ) अक्षीणाः ( ते ) तव ( उपसदः ) उपसत्तारः कर्मकराः ( सन्तु ) ( राशयः ) अक्षिपणाय्योरुडायलुकौच । उ० ४<sup>१</sup> १३३ । अश्व व्याप्तौ—रण, रुद्ध । धान्य पुञ्जाः ( पृणन्तः ) अन्नं पूरयन्तः ( अत्तारः ) भोक्तारः । अन्यत्पूर्ववत् ॥



( १५२६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १४२ [ ३१५ ]

भावार्थ—चतुर किसानों के उद्योग से अन्न की भारी उपज होती है,  
लोग अन्न का व्यापार करते और भोजन करते हैं ॥ ३ ॥

इति त्रयो दशोऽनुवाकः ॥

इति षष्ठं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायक

वाङ्माधित्त बड़ेदेपुरीगत श्रावणमासपरीक्षायाम्

ऋक् सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री परिडित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णद्वादश्यां तिथौ १९७२ तमे

-विक्रमीये सम्बत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि

श्री राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-आषाढ़ कृष्णा ५ संवत् १९७३ ता० २० जून १९१६ ई० ॥





## अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां ।

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय सं० १३ (अ) (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यो को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५ मासिक एक क्लर्क के लिये पं० लोम करणदास जी को देवे, जिसका विल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजे रहें । इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ॥

श्रीयुत महाशय बाबू नन्दलालसिंहजी, बी० एससी० एल० एल० बी०, उपमन्त्री श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, स्थान बुलन्दशहर । आर्यमित्र २० जनवरी सन् १९१६ ई० ॥

## अथर्ववेद-भाष्य ।

पाठकों को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी, वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० लोमकरणदास जी त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यतापूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने की चेष्टा की है । भाष्य कांडा में निकलता है । अब तक ५ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने अच्छी प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्चकांति के साहित्य पढ़ने की ओर लोगों की कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी को अर्थहानि भोगनी पड़ रही है । उसके ग्राहक बहुत कम हैं । अतएव वैदिक धर्मी मात्र का कर्तव्य है कि वे श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण कार्य में साहाय्य प्रदान करें । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छुपाने की अर्थसम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर अपना ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे । त्रिवेदी जी से ५२, लूकरगंज प्रयाग के पत्र पर पत्र व्यवहार करना चाहिये ॥

नन्दलाल सिंह

बी० एस सी०, एल० एल० बी०

उपमन्त्री सभा बुलन्दशहर ।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०-१२-१९१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेदभाष्य का तृतीय कांड मिला । इस छपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और छपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये । ईश्वर आपकी उत्तरात्तर उस महत्त्वपूर्ण कार्य के सन्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन का आप सदैव जारी रखेंगे यही प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ (एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा ।



श्रीमान् परिडित तुलसीराम स्वामी-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा  
संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० होमकरणादास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल, बुन्दान  
मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा  
२४ जनवरी १९१३।

श्री पं० होमकरणादास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करनेवाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, आरम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी अपने पुस्तकालय में रखे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी को पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो... छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीराम जी—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी  
हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१९६६।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२—१२—१९६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार,  
वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि  
सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १९१३।

॥ अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० होमकरणादास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसा



सन्तोष है।.....आप बहुत दिनों तक सरकारी नोकरी कर आर अब वहाँ से पेंशन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी दृष्ट पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद्गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फरवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के परिणित जेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में.....अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का सुकाव आर्यनामाजिक सिद्धान्तों की तरफ हैं, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रशाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७, हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१८१५ ॥

श्रीयुत परिणित जी, नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभी पर अत्यंत कृपा की है। आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ॥॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक वहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत परिणित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फरवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्यम्—श्रीयुत जेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधिसे आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत परिणित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्तक



फतहगढ़ ता० १२ अप्रैल १९१३ ।

हर्ष की बात है कि जिल्ला वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सिलक मर्चेन्ट कम्पन गढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७—३—१३ ।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का बी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अ० छपे मेरे पास भेज देना ।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा—मु० एकडल्ला पोस्ट किशुनपुर, जिला फतेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३ ।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें ।

श्रीयुत विख्यात पंडित श्रीधर पाठक जी ( सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ )—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेंट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी०, श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—६—१३ ।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ । आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी । आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है ।



[ ६ ]

*The VIDY ADHIKARI* (Minister of Education), Baroda State,  
Letter No. 624 date 6th February 1913.

.....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled  
अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the  
prize distribution. Please send them...also add on the address lable  
"For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan.  
Letter dated March 25th, 1914.

*The Atharva Veda Bhashya*:—It is a gigantic task and speaks  
volumes for your energies and perseverance that you should have  
undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-  
power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will  
not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each  
of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for  
transmission to the India Office, London.

*THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.*

**T**HE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*  
which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das  
Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship.  
The first part contains the Introduction and the first Kanda or Book.  
There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the  
pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good,  
the original *Mantra* is followed by a literal translation and their  
*bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they  
give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words  
quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Daya-  
nanda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other  
standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very  
hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may  
not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who  
venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the  
Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross  
references to verses where the word has already occurred in this *Veda*  
are also given to enable the reader to compare notes. There can be no  
finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which  
call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem  
Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly  
deserves.....Our earnest request is that the revered Pandit will go on  
with this noble work and try to finish the whole before he is called  
to eternal rest.....

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.



## हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पंडित शिव शंकरशर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्यप्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा = फरवरी १९१३ । .....आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदीजों ने किया है । प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है । अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता । अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये ।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवाकर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२.....इस में ईश्वरस्तुति. स्वस्ति. वाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेदप्रकाश मेरठ,—मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय खुशीराम जी,—गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेजी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देंगे ।

मिलने का पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२० जून १९१६ ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ बाजपेयी के प्रवन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ ।



॥ ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु  
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शुद्र उतायै ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेद भाष्यम् ।

सप्तमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं  
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च  
श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री  
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमास-  
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु  
लब्धदक्षिणेन

श्री परिडत क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,  
beloved among the Princes, make  
Me dear to every one who sees,  
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19: 62: 1.

अयं ग्रन्थः परिडत ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन  
प्रयागनगरे ओङ्कार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ

संवत् १९७३ वि०

मूल्यम् २।

१००० पुस्तकानि

सन् १९१६ ई०



“वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।”

## आनन्द समाचार ॥

[ आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये ]

**अथर्ववेदभाष्यम्**—जिन वेदों की महिमा सब बड़े ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे । ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है । परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा ऋषि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणादास त्रिवेदी ने उत्साह किया है । वे भाष्य को नागरी ( हिन्दी ) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं ।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है । १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्ध्य भाषार्थ, ४—भावार्थ, ५—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अथवा सूत्र में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है । वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, साहकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें । छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है ।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दास पर पाते हैं । डाक व्यय ग्राहक देते हैं ।

| काण्ड | भूमिका सहित | २    | ३     | ४  | ५      | ६  | ७   | ८ | ९ | १० | पृष्ठ १६० लगभग |
|-------|-------------|------|-------|----|--------|----|-----|---|---|----|----------------|
| मूल्य | १।)         | १।-) | १।।-) | २) | १।।।=) | ३) | २।) |   |   |    | १३।)           |

काण्ड ८—छप रहा है ।

**हवनमन्त्राः**—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संग्रहित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सत्य भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ॥

**रुद्राध्यायः**—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ ( नमस्ते रुद्र मन्यव उतो इषवे नमः ) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ॥=)

**रुद्राध्यायः**—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य ॥

२५ सितम्बर १९१६

ओंकार प्रेस, प्रयाग ।

पता—पं० क्षेमकरणादास त्रिवेदी

५३ लक्ष्मणगंज प्रयाग ( Allahabad )



## १—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ७ ॥

| सूक्त के प्रथम पद                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                | देवता                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                      | उपदेश                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         | छन्द                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                          |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| धीती वा ये अनयन्<br>अथर्वाणां पितरं देवबन्धुं<br>अया विष्टा जनयन्<br>एकया च दशभिश्चा<br>यज्ञेन यज्ञमयजन्त<br>अदिति द्यौरदिति<br>दितेः पुत्राणामदिते<br>भद्रादधि श्रेयः प्रेहि<br>प्रथमे पथामजनिष्ठ<br>यस्ते स्तनः शशयुर्यो<br>यस्ते पृथुस्तनयितुर्य<br>समा च मा समिति-<br>श्चावतां<br>यथा सूर्यो नक्षत्राणां<br>अभित्य देवं सवितार<br>तां सवितः सत्यसवां<br>बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं<br>धाता दधातु नो रयि<br>प्र नमस्व पृथिवि<br>प्रजापतिर्जनयति प्रजा<br>अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं<br>समेत विश्वे वचसापति<br>अयं सहस्रमा नो दशे<br>दौष्यन्त्यं दौर्जीवित्यं<br>यज्ञ इन्द्रो अखनद्<br>ययो रोजसा रूकमिता<br>विष्णोर्न कं प्रावोचं<br>इद्वैवास्मां अनुवस्तां<br>देवः खस्तिहु घणः<br>अन्नाविष्णु महि तद्<br>खाकं मे द्यावापृथिवी<br>इन्द्रोतिभिर्वहुलाभि<br>उप प्रियं पनिप्रतं<br>सं मा सिञ्चन्तु मरुतः<br>प्रान्यान्सपत्नान्सहसा<br>अद्यौ नौ मधुसंकाशे<br>अभि त्वा मनुजातेन<br>इदं खनामि मेषजं<br>दिव्यं सुपर्णं पयसं | प्रजापति<br>अथर्वा वा प्रजापति<br>प्रजापति<br>प्रजापति वा वायु<br>प्रजापति<br>अदिति<br>देवा<br>आत्मा<br>पूषा<br>सरस्वती<br>पर्जन्य<br>सभापति<br><br>आत्मा<br>सविता<br>सविता<br>विश्वे देवा<br>धाता<br>प्रजापति<br>प्रजापति<br>अनुमति<br>विश्वे देवा<br>परमेश्वर<br>प्रजा<br>सविता<br>विष्णु, वरुण<br>विष्णु<br>इन्द्रा<br>विश्वे देवा<br>अग्नि, विष्णु<br>विश्वे देवा<br>इन्द्र<br>इन्द्र<br>विश्वे देवा<br>अग्नि<br>जातवेदा<br>मित्र<br>दम्पती<br>दम्पती<br>सुपर्ण, सूर्य | ब्रह्मविद्या<br>ब्रह्मविद्या<br>ब्रह्म के गुण<br>ब्रह्म के ज्ञान<br>ब्रह्मविद्या<br>प्रकृति आदि के गुण<br>विद्वानों के गुण<br>आत्मा की उन्नति<br>परमेश्वर की उपासना<br>सरस्वती के विषय<br>अन्न की रक्षा<br>सभापति के कर्त्तव्य<br><br>शत्रुओं को हराना<br>ईश्वर के गुण<br>आचार्य, ब्रह्मचारी<br>राजा के धर्म<br>गृहस्थ के कर्म<br>दूरदर्शी होना<br>बढ़ती करना<br>मनुष्यों के कर्त्तव्य<br>ईश्वर की आज्ञा<br>विज्ञान की प्राप्ति<br>राजा के धर्म<br>ऐश्वर्य पाना<br>राजा, मन्त्री, के धर्म<br>ईश्वर के गुण<br>विद्या प्राप्ति<br>यज्ञ करना<br>विजुली और सूर्य<br>शुभ कर्म करना<br>राजा के कर्त्तव्य<br>राजा और प्रजा<br>सब सम्पत्तियां बढ़ाना<br>राजा, राजपुरुष<br>राजा प्रजा का कर्त्तव्य<br>परस्पर मित्रता<br>विवाह में प्रतिज्ञा<br>विवाह में प्रतिज्ञा<br>विद्वानों के गुण | त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप् आदि<br>त्रिष्टुप् आदि<br>जगती<br>त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती<br>त्रिष्टुप् आदि<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्<br><br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>गायत्री आदि<br>अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्<br>जगती<br>अनुष्टुप् आदि<br>जगती<br>अक्षर पंक्ति आदि<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप् आदि<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>पंक्ति<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप् आदि<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप् |



| सूक्त | सूक्त के प्रथमपद          | देवता          | उपदेश                    | छन्द                   |
|-------|---------------------------|----------------|--------------------------|------------------------|
| ४०    | यस्य व्रतं पशवो           | सरस्वान्       | ईश्वर की उपासना          | त्रिष्टुप्             |
| ४१    | अति धन्वान्यत्यप          | श्येन          | धेइवय पाना               | त्रिष्टुप्             |
| ४२    | सोमारुद्रा वि बृहतं       | सोम, रुद्र     | राजा और वैद्य            | त्रिष्टुप्             |
| ४३    | शिवास्त एका अशि-<br>वास्त | वाक्           | कल्याणी वाणी             | त्रिष्टुप्             |
| ४४    | उभा जिग्यथुर्नपरा         | इन्द्र, विष्णु | सभा और सेना के<br>स्वामी | त्रिष्टुप्             |
| ४५    | जनाह विश्वजनीनात्         | भेषज           | ईर्ष्या दोष निवारण       | अनुष्टुप्              |
| ४६    | सिनीवाली पृथुष्टुके       | सिनीवाली       | स्त्रियों के गुण         | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ४७    | कुहं देवी सुकृतं          | कुह            | स्त्रियों के गुण         | त्रिष्टुप्             |
| ४८    | एकामहं सुहवा सुष्टुती     | राका           | स्त्रियों के कर्त्तव्य   | जगती                   |
| ४९    | देवानां पत्नी रुशती       | देवपत्नी       | राजा के समान रानी        | जगती, पंक्ति           |
| ५०    | यथा वृक्षमशनिर्           | इन्द्र, आत्मा  | मनुष्य के कर्त्तव्य      | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ५१    | बृहस्पतिर्नः परिप्लुतु    | इन्द्र         | पराक्रम करना             | त्रिष्टुप्             |
| ५२    | संज्ञानं नः स्वोभिः       | प्रजापति       | आपस में एकता             | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ५३    | अमुत्र भूयादधि यद्        | अग्नि इत्यादि  | विद्वानों के कर्त्तव्य   | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ५४    | अचं साम यजामहे            | शचीपति         | वेद विद्या               | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ५५    | येते पन्थानोव दिवो        | वसु            | वेदमार्ग का ग्रहण        | विराड्, त्रिष्टुप्     |
| ५६    | सिरश्चि राजेरसितात्       | श्रीषधि        | विष नाश                  | अनुष्टुप्, बृहती       |
| ५७    | यदाशसावदतो मे             | सरस्वती        | गृहस्थ धर्म              | जगती                   |
| ५८    | इद्रवरुणा सुतपाविमं       | इन्द्र, वरुण   | राजा प्रजा कर्त्तव्य     | जगती, त्रिष्टुप्       |
| ५९    | यो नः शपादशपतः            | शपथ            | कुवचन के त्याग           | अनुष्टुप्              |
| ६०    | ऊजं विभ्रदसुर्वनिः        | गृहपति         | गृहस्थ धर्म              | पङ्क्ति, अनुष्टुप्     |
| ६१    | यदग्ने तपसा तप            | अग्नि          | वेद विद्या प्राप्ति      | अनुष्टुप्              |
| ६२    | अयं अग्निः सत्पति         | अग्नि          | सेनापति के लक्षण         | जगती                   |
| ६३    | पृतनः जितं सहमान          | अग्नि          | सेनापति का कर्त्तव्य     | अनुष्टुप्              |
| ६४    | इदं यत् कृष्णः शकुनिः     | आप्, अग्नि     | शत्रुओं से रक्षा         | अनुष्टुप्              |
| ६५    | प्रतीचीनफलोहि             | अगामार्ग       | वैद्यका कर्म             | अनुष्टुप्              |
| ६६    | यद्यन्तरिक्षे यदि वात     | ब्राह्मण       | वेद विज्ञान              | त्रिष्टुप्             |
| ६७    | पुनर्भैत्विन्द्रियं पुन   | मन्त्रोक्त     | सुकर्म करना              | बृहती                  |
| ६८    | सरस्वति व्रतेषु ते        | सरस्वती        | सरस्वतीकी आराधना         | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ६९    | शंनो वातो वातु            | वात आदि        | सुख के लिये प्रयत्न      | पङ्क्ति, अनुष्टुप्     |
| ७०    | यत् किचासौ मनसा           | इन्द्र, अग्नि  | शत्रुका दमन              | त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्  |
| ७१    | परि त्वाग्ने पुरं वयं     | अग्नि          | सेनापति के गुण           | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ७२    | उत तिष्ठताव पश्य          | इन्द्र         | पुरुषार्थ करना           | जगती, त्रिष्टुप्       |
| ७३    | समिद्धो अग्निवृषणा        | अश्विनौ        | मनुष्य का कर्त्तव्य      | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ७४    | अपचितां लोहिनीनां         | वैद्य आदि      | द्विविध रोग निवारण       | जगती, त्रिष्टुप्       |
| ७५    | प्रजावतीः सुयवसे          | प्रजा          | सामाजिक उन्नति           | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ७६    | आ सुक्षसः सुक्षसो         | वैद्य, इन्द्र  | रोगनाश और मनुष्यधर्म     | त्रिष्टुप्, त्रिष्टुप् |
| ७७    | सांतपना इदं हवि           | मरुत्          | वीरों का कर्त्तव्य       | अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्  |
| ७८    | वि ते मुआमि रशनां         | अग्नि          | आत्मा की उन्नति          | गायत्री, त्रिष्टुप्    |
| ७९    | यत् ते देवा अकृण्वन्      | अमावास्या      | परमेश्वर के गुण          | त्रिष्टुप्, त्रिष्टुप् |



| सूक्त के प्रथम पद                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                   | देवता                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                             | उपदेश                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                               | छन्द                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| पूर्णापश्चादुत्<br>पूर्वापरं चरतो<br>अभ्यर्चत सुष्टुतिं<br>असु ते राजन् वरुण<br>अनाधृष्यो जातवेदा<br>त्यसुषु वाजिनं देव<br>शातारमिन्द्रमवितार<br>यो अग्नौ रुद्रो यो<br>अपेह्यरिरस्यरिवां<br>अपो दिव्या अचायिषं<br>अपि वृश्च पुराणाबुद्<br>इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वा<br>स सुत्रामा स्वर्वा<br>इन्द्रेण मन्युनावय<br>ध्रुवं ध्रुवेण हविषा<br>उदस्य श्यावौ विश्वरौ<br>असदन् गाव सदने<br>यदद्य त्वां प्रययि<br>सं बहिरक्तं हविषा<br>परि स्तुणीहि परि<br>पर्यावर्ते दुष्वज्यात्<br>यत् स्वप्ने अन्नम्<br>नमस्कृत्य द्यावापृथिवी<br>को अस्या नोद्बुहो<br>कः पृथिनं धेनुं<br>अपक्रामन् पौरुषेयाद्<br>यदस्मृति चक्रम<br>अव दिवस्तारयन्ति<br>यो न स्तायद् दिव्सति<br>इदमुप्राय बभूवे<br>अग्न इन्द्रश्च दाशुषे | पौर्णमासी<br>सोम, अर्क, चन्द्र<br>अग्नि<br>वरुण<br>अग्नि, इन्द्र<br>तार्क्ष्य<br>इन्द्र<br>रुद्र<br>विद्वान्<br>अग्नि, आदि<br>इन्द्र<br>इन्द्र<br>इन्द्र<br>इन्द्र<br>इन्द्र<br>गृध्र<br>प्रजापति<br>इन्द्र आदि<br>इन्द्र<br>यजमान<br>ब्रह्म<br>प्रजापति<br>मन्त्रोक्त<br>आत्मा<br>आत्मा<br>विद्वान्<br>अग्नि<br>सूर्य<br>अग्नि<br>अग्नि वा प्रजापति<br>इन्द्र, अग्नि<br>ईश्वर<br>आप्<br>तृष्टिका | ईश्वर के गुण<br>सूर्य, चन्द्रमाके लक्षण<br>वेद के विज्ञान<br>ईश्वर के नियम<br>राजा का धर्म<br>राजा प्रजा का धर्म<br>राजा और प्रजा<br>ईश्वर की महिमा<br>कुसंस्कारका नाश<br>विद्वानों की संगति<br>राजा का धर्म<br>राजा का धर्म<br>राजा का धर्म<br>शूरो के लक्षण<br>राजा की स्तुति<br>काम क्रोध निवारण<br>काम क्रोध की शान्ति<br>मनुष्य धर्म<br>ग्राह्य पदार्थ पाने का<br>विद्या का प्रचार<br>कुविचार हटाना<br>अविद्या का नाश<br>ऊँचा पद पाना<br>द्रोह के त्याग<br>वेद विद्या<br>पवित्र जीवन<br>अमरपन पाना<br>परस्पर दुःख नाश<br>शत्रुओं का नाश<br>व्यवहार सिद्धि<br>राजा और मन्त्री के<br>कर्त्तव्य<br>ईश्वर के गुण<br>इन्द्रियों का जय<br>तृष्णा त्याग<br>राक्षसों का नाश<br>दुर्लक्षण का नाश<br>रोग निवारण<br>राजा का धर्म<br>सेनापति का कर्त्तव्य, | त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्<br>जगती आदि<br>त्रिष्टुप् आदि<br>अनुष्टुप् आदि<br>जगती, त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>बृहती<br>अनुष्टुप्, गायत्री<br>गायत्री आदि<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>गायत्री<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप् आदि<br>विराट् त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>विराट् पुरस्ताद्बृहती<br>त्रिष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्<br>गायत्री आदि<br>त्रिष्टुप्<br>अनुष्टुप्<br>विराट् अनुष्टुप्<br>उष्णिक्<br>अनुष्टुप्<br>अनुष्टुप्, आदि<br>परोष्णिक्, आन्व्य-<br>नुष्टुप्<br>पथ्या बृहती<br>त्रिष्टुप् |



## २-अथर्ववेद, कारण्ड ७ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुक्षभेद से

| मन्त्र संख्या | मन्त्र                | अथर्ववेद,<br>( कारण्ड ७ )<br>सूक्त, मन्त्र | ऋग्वेद, मण्डल,<br>सूक्त, मन्त्र | यजुर्वेद,<br>अध्याय,<br>मन्त्र | सामवेद, पर्व<br>चर्क, उत्तर<br>चर्क, इत्यादि        |
|---------------|-----------------------|--------------------------------------------|---------------------------------|--------------------------------|-----------------------------------------------------|
| १             | यज्ञेन यज्ञ मयजन्त    | ५।१                                        | १।१६४।५०; १०<br>६०।१६           | ३१।१६                          |                                                     |
| २             | यत् पुरुषेण हविषा     | ५।४                                        | १०।६६।७                         | ३१।१४                          |                                                     |
| ३             | आदित्यौरदिति          | ६।१                                        | १।८६।१०                         | २५।२३                          |                                                     |
| ४             | महीमू धु मातरं        | ६।२                                        |                                 | २१।५                           |                                                     |
| ५             | सुत्रामाणं पृथिवीं    | ६।३                                        | १०।६३।१०                        | २१।६                           |                                                     |
| ६             | वाजस्य नु प्रसवे      | ६।४                                        |                                 | ६।५; १८३०                      |                                                     |
| ७             | प्रपथे पथामजनिष्ट     | ६।१                                        | १०।१७।६                         |                                |                                                     |
| ८             | पूर्वमा आशा अनु       | ६।२                                        | १०।१७।५                         |                                |                                                     |
| ९             | पूषन् तव व्रते वयं    | ६।३                                        | ६।५४।६                          | ३४।४१                          |                                                     |
| १०            | परि पूषा परस्तात्     | ६।४                                        | ६।५४।१०                         |                                |                                                     |
| ११            | यस्ते स्तनः शशयु      | १०।१                                       | १।१६४।४६                        | ३८।५                           |                                                     |
| १२, १३        | अभि त्वं देवं सविता   | १४।१, २                                    |                                 | ४।२५                           | पू०५।८१                                             |
| १४            | तां सवितः सत्यसवां    | १५।१                                       |                                 | १७।७४                          |                                                     |
| १५            | बृहस्पते सवित         | १६।१                                       |                                 | २७।८                           |                                                     |
| १६            | धाता राति सवितेदं     | १७।४                                       |                                 | ८।१७                           |                                                     |
| १७            | अन्वद्यनोऽनुमति       | २०।१                                       |                                 | ३४।६                           |                                                     |
| १८            | अन्विदनुमते त्वं      | २०।२                                       |                                 | ३४।८                           |                                                     |
| १९            | ययोरोजसा स्काभिता     | २५।१                                       |                                 | ८।५६                           |                                                     |
| २०            | विष्णोर्नु कं प्रवोचं | २६।१                                       | १।१५४।१                         | ५।१८                           |                                                     |
| २१            | प्र तद् विष्णु स्तवते | २६।२                                       | १।१५४।२                         | ५।२०                           |                                                     |
| २२            | यस्यारुषु त्रिषु      | २६।३                                       | १।१५४।२                         | ५।२०                           |                                                     |
| २३            | उरु विष्णो विचमक्रस्व |                                            |                                 | ५।३८, ४१                       |                                                     |
|               | इदं विष्णु विचक्रमे   | २६।४                                       | १।२२।१७                         | ५।१५                           | पू०३१।६५<br>८।२।१५<br>३०।८।१५<br>३०।८।१५<br>३०।८।१५ |
| २४            | त्रीणि पदा विचक्रमे   | २६।५                                       | १।२२।१८                         | ३४।४३                          |                                                     |
| २५            | विष्णोः कर्माणि पश्यत | २६।६                                       | १।२२।१६                         | ६।४; १३।३३                     |                                                     |
| २६            | तद् विष्णोः परमं पदं  | २६।७                                       | १।२२।२०                         | ६।५                            |                                                     |
| २७            | दिवो विष्णु उतवा      | २६।८                                       |                                 | ५।१६                           |                                                     |
| २८            | इन्द्रोतिभिर्वहुलाभि  | ३१।१                                       | ३।५३।२१                         |                                |                                                     |
| २९            | अग्ने जातान् प्रणुदा  | ३४।१                                       |                                 | १५।१                           |                                                     |
| ३०            | दिव्यं सुपणं पयसं     | ३६।१                                       | १।१६४।५२                        |                                |                                                     |
| ३१, ३२        | सोमारुद्रा विवृहत्    | ४२।१, २                                    | ६।७४।२, ३                       |                                |                                                     |
| ३३            | उभाजिग्यथुर्नपरा      | ४४।१                                       | ६।६६।८                          |                                |                                                     |
| ३४            | सिनीवालि पृथुष्टुके   | ४६।१                                       | २।३२।६                          | ३४।१०                          |                                                     |
| ३५            | या सुवाहुः स्वहुरिः   | ४६।२                                       | २।३२।७                          |                                |                                                     |
| ३६, ३७        | राकामहं सुहवा         | ४८।१, २                                    | २।३२।४, ५                       |                                |                                                     |
| ३८, ३९        | देवानां पत्नी रुशती   | ४६।१, २                                    | ५।४६।७, ८                       |                                |                                                     |
| ४०            | ईहे अग्निं स्वावसु    | ५०।३                                       | ५।६०।१                          |                                |                                                     |
| ४१            | वयं जयेम त्वया        | ५०।४                                       | १।१०२।४                         |                                |                                                     |
| ४२, ४३        | उत प्रहामतिदीवा       | ५०।६, ७                                    | १०।४२।६, १०                     |                                |                                                     |
| ४४            | बृहस्पतिर्नः परि पातु | ५१।१                                       | १०।४२।११                        |                                |                                                     |
| ४५            | अमुत्रभूयादधि         | ५३।१                                       |                                 | २७।६                           |                                                     |



| अथर्ववेद<br>(काण्ड ७)<br>सूक्त मन्त्र | वेद, मण्डल,<br>सूक्त मन्त्र | यजुर्वेद<br>अध्याय<br>मन्त्र | समवेद, पूर्वा<br>चिक, उपरा<br>चिक इत्यादि |
|---------------------------------------|-----------------------------|------------------------------|-------------------------------------------|
| उद् वयं तमसरूपरि                      | ५३।७                        |                              | २०।२१; २७।१०<br>३५।१४; ३८।२४              |
| सतत्तरन्ति शिशवे                      | ५७।२                        | १०।१३।५                      |                                           |
| इन्द्रावरुणा सुतपा                    | ५८।१, २                     | ६।६८।१०, ११                  | ३।४१                                      |
| ऊर्जं विभ्रद् वसुवनिः                 | ६०।१                        |                              | ३।४२                                      |
| येषामध्येति प्रवसन                    | ६०।३                        |                              | ३।४३                                      |
| उपहृता इह गाव                         | ६०।५                        |                              |                                           |
| परित्वाग्ने पुरं वयं                  | ७१।१                        | १०।८७।२२                     |                                           |
| उत् तिष्ठतावपश्यत                     | ७२।१-३                      | १०।१७६।१-३                   |                                           |
| उप ह्वये सुदुर्घां                    | ७३।७                        | १।१६४।२६                     |                                           |
| हिङ्कृण्वती वसुपत्नी                  | ७३।८                        | १।१६४।२७                     |                                           |
| जुष्टो दमूना                          | ७३।९                        | ५।४।५                        | ३३।१२                                     |
| अग्ने शर्धं महते                      | ७३।१०                       | ५।२८।३                       |                                           |
| सूयवसाद् भगवती                        | ७३।११                       | १।१६४।४०                     |                                           |
| धृषत् पिबक लशे                        | ७६।६                        | ६।४७।६                       |                                           |
| सांतपना इदं हवि                       | ७७।१                        | ७।५६।६                       |                                           |
| ये नो मर्तो मरुतो                     | ७७।२                        | ७।५६।८                       | २३।६५                                     |
| अमावास्ये नत्वदे                      | ७८।४                        | १०।१२१।१०                    |                                           |
| पूर्वापरंचरतो                         | ८१।१, २                     | १०।८५।१८, १९                 |                                           |
| अभ्यर्चतसुष्टुतिं                     | ८२।१                        | ४।५८।१०                      | २०।१८                                     |
| धाम्नोऽग्राम्नोराजन्नितो              | ८३।२                        |                              | १२।१२                                     |
| उदुत्तमं वरुण पाश                     | ८३।३                        | १।२४।१५                      | २७।७                                      |
| अनाधृष्यो जातवेदा                     | ८४।१                        |                              |                                           |
| इन्द्र क्षत्रममि वाममो                | ८४।२                        | १०।१८०।३                     | १८।७१                                     |
| सृणो न भीमः कुचरो                     | ८४।३                        | १०।१८०।२                     |                                           |
| त्यमू षु वाजिनं देव                   | ८५।१                        | १०।१७८।१                     | २०।५०                                     |
| जातारमिन्द्रमवि                       | ८६।१                        | ६।४७।११                      | २०।२२                                     |
| अपो दिव्या अचायिषं                    | ८६।१                        |                              | ६।१७                                      |
| इदमापः प्र वहतां                      | ८६।३                        |                              | २०।२३                                     |
| पथोऽस्येधिषीय                         | ८६।४                        |                              |                                           |
| अपि वृश्च पुराणवुद्                   | ८०।१, २                     | ८।४०।६                       | २०।५१                                     |
| इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ               | ८१।१                        | ६।४७।१२; १०।१३१।६            | २०।५२                                     |
| स सुत्रामा स्ववाँ                     | ८२।१                        | ६।४७।१३; १०।१३१।७            | ७।२५                                      |
| ध्रुवं ध्रुवेण हविषा                  | ८४।१                        | १०।१७३।६                     | ८।२०                                      |
| यदेच त्वा प्रयति                      | ८७।१                        | ३।२६।१६                      | ८।१५                                      |
| समिन्द्र नो मनसा                      | ८७।२                        | ५।४२।४                       | ८।१६                                      |
| यानावह उशतो देव                       | ८७।३                        |                              | ८।१८                                      |
| सुगावो देवाः सद्ना                    | ८७।४                        |                              | ८।२२                                      |
| यक्ष यक्षं गच्छ यक्षपतिं              | ८७।५                        |                              | ८।२२                                      |
| एष ते यक्षो यक्षपते                   | ८७।६                        |                              | ८।२१                                      |
| वषट्कुतेभ्योवषड                       | ८७।७                        |                              | ८।२१                                      |
| मनसरूपत इमं नो                        | ८७।८                        |                              | २।२२                                      |
| सं वहिरक्तं हविषा                     | ८८।१                        |                              | २०।५३                                     |
| आ मन्द्रं रिन्दुहरिभि                 | ११७।१                       | ३।४५।१                       | १७।१६                                     |
| मर्माणि ते वमंणा                      | ११८।१                       | १।७५।१६                      |                                           |

पू० ४।५।  
पू० ४।२।

पू० ३।६।  
उ० ६।३।

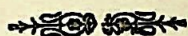






सू० १ [ ३१६ ]

॥ ओ३म् ॥



अथर्ववेदः ॥

सप्तमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् ॥ १ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नु-  
 तानि । तृतीयैर्न ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वतु  
 नाम धेनोः ॥ १ ॥

धीती । वा । ये । अनयन् । वाचः । अग्रम् । मनसा । वा ।  
 ये । अवदन् । नुतानि । तृतीयैर्न । ब्रह्मणा । वृवृधानाः ।  
 तुरीयेण । अमन्वतु । नाम । धेनोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ये ) जिन लोगों ने [ एक ] ( धीती ) अपने कर्म से ( वाचः )  
 वेदवाणी के ( अग्रम् ) श्रेष्ठपन को ( वा ) निश्चय करके ( अनयन् ) पाया

१—( धीती ) धीङ् आधारे—किन्, यद्वा दधाते—किन् । घुमास्थागा० ।  
 पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । सुपां सुलुक्० । इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ।



है, ( वा ) और ( ये ) जिन्होंने [ दूसरे ] ( मनसा ) विज्ञान से ( ऋतानि ) सत्य वचन ( अवदन् ) बोले ह । और जो ( तृतीयेन ) तीसरे [ हमारे कर्म और विज्ञान से परे ] ( ब्रह्मणा ) प्रवृद्ध ब्रह्म [ परमात्मा ] के साथ ( ववृधानाः ) वृद्धि करते रहे हैं, उन लोगों ने ( तुरीयेण ) चौथे [ कर्म विज्ञान और ब्रह्म से अथवा धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त मोक्ष पद ] के साथ ( धेनोः ) तृप्त करनेवाली शक्ति, परमात्मा के ( नाम ) नाम अर्थात् तत्त्व को ( अमन्वत ) जाना है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो योगी जन वेद के तत्त्व को जानकर कर्म करते, और विज्ञान पूर्वक सत्य का उपदेश करके परमेश्वर की अपार महिमा को खोजते आगे बढ़ते जाते हैं, वेही मोक्ष पद पाकर परमात्मा की आज्ञा में विचरते हुये स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सुनुभुवत् स भुवत् पुनर्मघः । स द्यामौर्णादुन्तरिक्षं स्व १ : स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥ २ ॥

सः । वेद । पुत्रः । पितरं । सः । मातरं । सः । सुनुः । भुवत् । सः । भुवत् । पुनः-मघः । सः । द्याम् । और्णात् ।

धीत्या कर्मणा । धीतिभिः=कर्मभिः—निरु ११ । १६ । ( वा ) अवधारणे ( ये ) जिज्ञासवः ( अनयन् ) प्राप्नुवन् ( वाचः ) वेदवाण्याः ( अग्रम् ) प्रधानत्वम् ( मनसा ) विज्ञानेन ( वा ) समुच्चये ( ये ) सूक्ष्मदर्शिनः ( अवदन् ) उपदिष्टवन्तः ( ऋतानि ) सत्यवचनानि ( तृतीयेन ) तृत्वपूरकेण । धीतिमनोभ्यां परेण ( ब्रह्मणा ) प्रवृद्धेन परमात्मना ( ववृधानाः ) अ० १ । ८ । ४ । वृद्धिं कुर्वाणाः, आसन् इति शेषः ( तुरीयेण ) अ० १ । ३१ । ३ । चतुर—छ । चतुर्थेन धीतिमनोब्रह्मभ्यः प्राप्तेन, यद्वा धर्मार्थकामानां पूरकेण मोक्षेण ( अमन्वत ) मनु अवबोधने । ज्ञातवन्तः ( नाम ) अ० १ । २४ । ३ । ज्ञा अभ्यासे—मनिन् । प्रसिद्धं परमात्मतत्त्वम् ( धेनोः ) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्धयतेर्वा धिनेतेर्वा—निरु० ११ । ४२ । धि धारणे तर्पणे च—नु । धारयित्र्यास्तर्पयित्र्या वा शक्तेः परमात्मनः ॥



अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः ।  
आ । अभवत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सः ) वह ( पुत्रः ) अनेक प्रकार रक्षा करनेवाला परमेश्वर ( पितरम् ) पालन के हेतु सूर्य को ( सः ) वह ( मातरम् ) निर्माण के कारण भूमि को ( वेद ) जानता है, ( सः ) वह ( सूनुः ) सर्व प्रेरक ( भुवत् ) है, ( सः ) वह ( पुनर्मघः ) बारंबार धनदाता ( भुवत् ) है । ( सः ) उसने ( अन्तरिक्षम् ) आकाश और ( धाम् ) प्रकाशमान ( स्वः ) सूर्यलोक को ( और्णोत् ) घेरलिया है, ( सः ) वह ( इदम् ) इस ( विश्वम् ) जगत् में ( अभवत् ) व्याप रहा है, ( सः ) वही ( आ ) समीप होकर ( अभवत् ) वर्तमान हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड में व्यापकर सब का धारण कर रहा है, वही हम में भरपूर है । ऐसा समझने वाले पुरुष आत्मबल पाकर पुरुषार्थी होते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान—अ० २ । २८ । ४ । से भी करो ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१ ॥ अथर्वा प्रजापतिर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेश—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

अथर्वाणं पितरं देववन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।  
य इमं यज्ञं मनसा चिक्रेत् प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

२—( सः ) प्रजापतिः ( वेद ) वेत्ति ( पुत्रः ) अ० १ । ११ । ५ । पुत्रः पुरुष त्रायते—निरु० २ । ११ । बहुत्राता ( पितरम् ) अ० २ । २८ । ४ । पालनहेतुं सूर्यम् ( मातरम् ) अ० २ । २८ । ४ । निर्मात्री पृथिवीम् ( सूनुः ) अ० ६ । १ । २ । सर्वस्य प्रेरकः ( भुवत् ) भवति ( पुनर्मघः ) अ० ५ । ११ । १ । बारंबार धनदाता ( धाम् ) अ० १ । २ । ४ । द्योतमानम् ( और्णोत् ) ऊर्णम् आच्छादने—लङ् । आच्छादितवान् ( अन्तरिक्षम् ) आकाशम् ( स्वः ) अ० २ । ५ । २ । स्वरादित्यो भवति सु अरणः सुईरणः—निरु० २ । १४ । आदित्यम् ( सः ) ( इदम् ) दृश्यमानम् ( विश्वम् ) जगत् ( अभवत् ) भू व्याप्तौ । व्याप्तौ ( आ ) समीपे ( अभवत् ) वर्तते स्म ॥



( १५३० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३ [ ३१८ ]

अथर्वणिम् । पितरम् । देवबन्धुम् । मातुः । गर्भम् । पितुः ।  
असुम् । युवानम् । यः । इमम् । युञ्जम् । मनसा । चिकेत ।  
प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रुवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यः ) जिस आप ने ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) पूजनीय,  
( पितरम् ) पालनकर्त्ता, ( देवबन्धुम् ) विद्वानों के हितकारी, ( मातुः ) निर्माण  
के कारण पृथिवी के ( गर्भम् ) गर्भ [ गर्भ समान व्यापक ], ( पितुः ) पालन  
हेतु सूर्य के ( असुम् ) प्राण, ( युवानम् ) संयोजक वियोजक ( अथर्वणिम् )  
निश्चल परमेश्वर को ( मनसा ) विज्ञान के साथ ( चिकेत ) जाना है, और  
जिस तुने ( नः ) हमें ( प्र ) अच्छे प्रकार ( वोचः ) उपदेश किया है, सो तू  
( तम् ) उस [ ब्रह्म ] का ( इह इह ) यहां पर ही ( ब्रुवः ) उपदेश कर ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिन महर्षियों ने सर्वनियन्ता परमेश्वर के गुणों को साक्षात्  
किया है, उनके उपदेशों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से बारंवार विचार  
द्वारा आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्ममुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

अया विष्ठा जुनयन् कर्वैराणि स हि घृणिरुर्वराय

१—(अथर्वणिम्) अ०४।१।७। अथर्वणिोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रति  
वेधः—निरु० ११।१८। निश्चलं परमात्मानम् ( पितरम् ) पालकम् ( देवबन्धुम् )  
अ०४।१।७। विदुषां हितकरम् ( मातुः ) निर्मात्र्या भूमेः ( गर्भम् ) अ०३।१०।  
१२। गर्भवद् व्यापकम् ( पितुः ) पालनहेतोः सूर्यस्य ( युवानम् ) अ० ६।  
१।२। संयोजकवियोजकं बलवन्तम् ( यः ) भवान् तत्त्ववेत्ता ( इमम् ) सर्व  
व्यापिनम् ( यज्ञम् ) यजनीयं पूजनीयम् ( मनसा ) मननेन ( चिकेत ) कित  
ज्ञाने—लिट् । जज्ञौ ( प्र ) प्रकर्षेण ( नः ) अस्मभ्यम् ( वोचः ) वच व्यक्तायां  
वाचि—लुङ्, अडभावः । अवोचः । उपदिष्टवानसि ( तम् ) अथर्वणिम् ( इह  
इह ) वीप्तायां द्विर्वचनम् । अस्माकमेव मध्ये ( ब्रुवः ) लेटि रूपम् । उपदिश ॥



गातुः । स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वयां तन्वा-  
तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अया । वि-स्था । जनयन् । कर्वराणि । सः । हि घृणिः ।  
उरुः । वराय । गातुः । सः । प्रति-उदैत् । धरुणम् । मध्वः ।  
अग्रम् । स्वयां । तन्वा । तन्वम् । ऐरयत ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अया विष्ठा ) इस रीति से ( कर्वराणि ) कर्मों को ( जन-  
यन् ) प्रकट करते हुये ( सः ) दुःखनाशक, ( घृणिः ) प्रकाशमान, ( उरुः )  
विस्तीर्ण, ( गातुः ) पाने योग्य वा गाने योग्य प्रभु ने ( हि ) ही ( वराय )  
उत्तम फल के लिये ( मध्वः ) ज्ञान के ( धरुणम् ) धारण योग्य ( अग्रम् ) श्रेष्ठ-  
पन को ( प्रत्युदैत् ) प्रत्यक्ष उदय किया है और ( स्वयां ) अपनी ( तन्वा )  
विस्तृत शक्ति से ( तन्वम् ) विस्तृत सृष्टि को ( ऐरयत ) प्रकट किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकाश स्वरूप, दयामय परमात्मा ने हमारे सुख के  
लिये संसार रचा और वेदज्ञान दिया है, उसके उपकारों को विचारते हुये  
हम सदा सुधार करते रहें ॥ १ ॥

१—( अया ) अयैनेत्युपदेशस्य—निरु० ३ । २१ । अनया ( विष्ठा ) विमक्ते-  
र्लुक् । विष्ठाया । विविधं स्थित्या रीत्या ( जनयन् ) उत्पादयन् ( कर्वराणि ) कृगृ-  
शू० । उ० २ । १२१ । इति बाहुलकात् करोतेः प्वरच् । कर्माणि—निघ० १ । २  
( सः ) प्रसिद्धः ( हि ) अवधारणे ( घृणिः ) घृणिपृश्निपार्धि० । ४ । ५२ ।  
घृ दीप्तौ—नि । दीप्यमानः ( उरुः ) विस्तीर्णः ( वराय ) वरणीयाय फलाय  
( गातुः ) कमिमनिजनिगा० । उ० । १ । ७३ । इति गाङ् गतौ यद्वा नै गाने—  
तु । पदनाम—निघ० ४ । १ । गातुं गमनम्—निरु० ४ । २१ । प्राप्तव्यो गान-  
योग्यो वा परमेश्वरः ( सः ) षो अन्तर्कर्मणि—ड । दुःखनाशकः ( प्रत्युदैत् )  
इण गतौ—लुङ् छान्दसं रूपम्, अन्तर्गतयर्थः । प्रत्यक्षेणोद्गमितवान् ( धरुणम् )  
धारणीयम् ( मध्वः ) मधुनः । ज्ञानस्य ( अग्रम् ) सारम् ( स्वयां ) स्वकीयया  
( तन्वा ) विस्तृतशक्त्या ( तन्वम् ) विस्तृतां सृष्टिम् ( ऐरयत ) प्रेरितवान् ।



सूक्तम् ॥ ४ ॥

१ ॥ प्र जापतिर्वायुर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेश—ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश ।

एकया च दशभिश्च सुहुते द्वाभ्यामिष्ट्यै विंशत्या च ।  
 तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च त्रियुग्मिर्वाय इह ता वि  
 मुञ्च ॥ १ ॥

एकया । च । दश-भिः । च । सु-हुते । द्वाभ्याम् । इष्ट्यै ।  
 विंशत्या । च । तिसृ-भिः । च । वहसे । त्रिंशता । च ।  
 त्रियुग्-भिः । वायो इति । इह । ताः । वि । मुञ्च ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सुहुते ) हे बड़े दानी परमात्मन् ! ( इष्ट्ये ) हमारी इच्छा पूर्ति के लिये ( एकया च दशभिः ) एक और दश [ ग्यारह ], ( द्वाभ्यां च विंशत्या ) दो और बीस [ बाईस ], ( च ) और ( तिसृभिः च त्रिंशता ) तीन और तीस [ तेतीस ] ( त्रियुग्मिः ) विशेष योजनाओं के साथ [ हमें ] ( वहसे ) तू ले चलता है, ( वायो ) हे सर्व व्यापक ईश्वर ( ताः ) उन [ योजनाओं ] को ( इह ) यहां [ हम में ] ( वि ) विशेष करके ( मुञ्च ) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—( अ. ) इस मन्त्र में गणित विद्या के संकलन और गुणन का मूल है, जैसे—

१ + १० = ११, २ + २० = २२, ३ + ३० = ३३, इत्यादि;

तथा ११ + ११ = २२, ११ + २२ = ३३, इत्यादि;

तथा ११ × १ = ११, ११ × २ = २२, ११ × ३ = ३३, इत्यादि ।

१—( एकया च दशभिश्च ) एकादशभिः शरीरयोजनाभिः ( सुहुते ) इ दानादानयोः—किन् । हे महादातः परमेश्वर ( द्वाभ्यां विंशत्या च ) द्वाविंशत्या पञ्चमहाभूतयोजनाभिः ( इष्ट्ये ) अस्माकमिच्छासिद्धये ( तिसृभिश्च त्रिंशता च ) त्रयस्त्रिंशता देवतानां योजनाभिः ( वहसे ) अस्मान्नयसि ( त्रियुग्मिः ) युजेः क्विप् । विशेषयोजनाभिः ( वायो ) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ( इह ) अत्र । अस्माकं मध्ये ( ताः ) त्रियुजः ( वि ) विशेषेण ( मुञ्च ) मोचय । स्थापय ॥



सू० ५ [ ३२० ]

(आ) ग्यारह योजनायें शरीर की हैं, अर्थात् दो नासिका, दो श्रोत्र, दो नेत्र, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थ, एक नाभि और एक ब्रह्मरन्ध्र । इसी से शरीर का नाम एकादशपुर भी है । (इ) बाईस योजनायें यह हैं—५ महाभूत + ५ प्राण + ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय + १ अन्तःकरण + १ बुद्धि । (ई) तैत्तीस योजनायें वा देवता यह हैं—८ वस्तु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, सौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, रदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवामा; १२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् विजुली; १ प्रजापति—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६६—६८ ।

आशय यह है—जिस परमात्मा ने शरीर की ग्यारह योजनाओं, बाईस पंचभूत आदि और तैत्तीस देवताओं द्वारा हमारा उपकार किया है, हम उसी जगदीश्वर की कृपा से इन सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः;

४ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या के लिये उपदेश ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यसन् ।  
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥१॥

यज्ञेन । यज्ञस् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि ।  
प्रथमानि । आसन् । ते । ह । नाकस् । महिमानः । सचन्त ।  
यत्र । पूर्वं । साध्याः । सन्ति । देवाः ।

भावार्थ—( देवाः ) विद्वानों ने ( यज्ञेन ) अपने पूजनीय कर्म से ( यज्ञम् ) पूजनीय परमात्मा को ( अयजन्त ) पूजा है, ( तानि ) वे [ उन के ]

१—( यज्ञेन ) पूजनीयकर्मणा ( यज्ञम् ) पूजनीय परमात्मानम् ( अयजन्त ) पूजितवन्तः ( देवाः ) विद्वांसः ( तानि ) ( धर्माणि ) धारणीयानि ब्रह्मचर्यादीनि



( धर्माणि ) धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म ( प्रथमानि ) मुख्य, प्रथम कर्तव्य ( आसन् ) थे । ( ते ) उन ( महिमानः ) महापुरुषों ने (ह) ही (नाकम्) दुःख रहित परमेश्वर को ( सचन्त ) पाया है, (यत्र) जिस परमेश्वर में रहकर ( पूर्वे ) पहिले, बड़े बड़े ( साध्याः ) साधनीय, श्रेष्ठ कर्मों के साधनेवाले लोग ( देवाः ) देवता अर्थात् विजयी ( सन्ति ) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय योगी जनों ने वेदविज्ञान, योगाभ्यास आदि साधनों से उस परमात्मा को पाया है, जिसके आश्रय से पूरे साध्य, साधु, उपकार साधक ही संसार में जय पाते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।१६४।५० ; १०।६०।१६। यजुः० ३१।१६ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १२६ और निरुक्त १२।४१। में भी है ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।  
स देवानामधिपतिर्वभूव सो अस्मासु द्रविणमादधातु ॥१॥  
यज्ञः । बभूव । सः । आ । बभूव । सः । प्र । जज्ञे । सः ।  
जं इति । ववृधे । पुनः । सः । देवानां । अधिपतिः ।  
बभूव । सः । अस्मासु । द्रविणम् । आ । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सः ) वह परमेश्वर ( यज्ञः ) पूजनीय (बभूव) हुआ और ( आ ) सब ओर ( बभूव ) व्यापक हुआ, ( सः ) वह ( प्र ) अच्छे प्रकार (जज्ञे) जाना गया, ( सः उ ) वही ( पुनः ) निश्चय करके ( ववृधे ) बढ़ा । ( सः )

कर्माणि ( प्रथमानि ) मुख्यानि कर्तव्यानि ( आसन् ) अभवन् ( ते ) ( ह ) एव ( नाकम् ) दुःखरहित परमात्मानम् ( महिमानः ) अ० ३।१०।४। महत्त्व-युक्ताः ( सचन्त ) एव समवाये लडि अडभावः । अलभन्त ( यत्र ) नाके ( पूर्वे ) आद्याः । मुख्याः ( साध्याः ) साध्यं येषामस्तीति, साध्य—अर्श आद्यच् । साध-नवन्तः । परोपकारसाधकाः साधवः ( सन्ति ) भवन्ति ( देवाः ) विजिगीषवः ॥

२—( यज्ञः ) पूजनीयः संगन्तव्यः ( बभूव ) ( सः ) परमेश्वरः (आ) सर्वतः ( बभूव ) भू प्राप्तौ । व्याप ( प्र ) प्रकर्षेण (जज्ञे) ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट् । ज्ञातः प्रसिद्धो बभूव (उ) एव ( ववृधे ) वृद्धिं प्राप ( पुनः ) अवधारणे ( सः )



सू० ५ [ ३२० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५३५ )

वह (देवानाम्) दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (सः) वही (अस्मासु) हमारे बीच (द्रविणम्) प्रापणीय बल (आ) सब ओर से (दधातु) धारण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वपूजनीय, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रवृद्ध परमेश्वर के उपासक लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं ॥ २ ॥

यद् देवा देवान् हविषाय जन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।

मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयजन्त । अमर्त्यान् । मनसा ।

अमर्त्येन । मदेम । तत्र । परमे । वि-व्योमन् । पश्येम । तत् ।

उत्-इतौ । सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जितेन्द्रिय विद्वानों ने (यत्) जिस ब्रह्म के (अमर्त्यान्) न मरे हुये [अविनाशी] (देवान्) उत्तम गुणों का (हविषा) अपने देने और लेने योग्य कर्म से और (अमर्त्येन) न मरे हुये [जीते जागते] (मनसा) मन से (अयजन्त) सत्कार, संगति करण और दान किया है । (तत्र) उस (परमे) सब से बड़े (व्योमन्) विविध रक्तक ब्रह्म में (मदेम) हम आनन्द भोगों और (तत्) उस ब्रह्म को (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में [बिना रोक] (पश्येम) हम देखते रहें ॥ ३ ॥

(देवानाम्) दिव्यानां वायुसूर्यादिलोकानाम् (अधिपतिः) अधिक पालयिता (अस्मासु) उपासकेषु (द्रविणम्) अ० २ । २६ । ३ । प्रापणीयं बलम्—निघ० २ । ६ (आ) समन्तात् (दधातु) धारयतु ॥

३—(यत्) यस्य ब्रह्मणः (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (देवान्) दिव्यान् गुणान् (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण कर्मणा (अयजन्त) सत्कृतान् संगतान् दत्तान् च कृतवन्तः (अमर्त्यान्) अमरणीयान् । अविनाशिनः (मनसा) अन्तःकरणेन (अमर्त्येन) अमरशीलेन । पुरुषार्थिना (मदेम) हृष्येम (तत्र) तस्मिन् (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्तके ब्रह्मणि (पश्येम) आलोचयेम (तत्) ब्रह्म (उदितौ) उदये (सूर्यस्य) रवेः ॥



भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से साक्षात्कार करते हैं, वे ही जीवित पुरुष आनन्द भोगते हुये, परमात्मा का दर्शन करते हुये, अविद्या को मिटाकर विचरते हैं, जैसे सूर्य निकलने पर अन्धकार मिट कर प्रकाश हो जाता है ॥ ३ ॥

यत् पुरुषेण हविषा युज्ञं देवा अतन्वत । अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । युञ्जम् । देवाः । अतन्वत । अस्ति । नु । तस्मात् । ओजीयः । यत् । वि-हव्येन । ईजिरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जब ( देवाः ) विद्वानों ने ( पुरुषेण ) अपने अग्रगामी आत्मा के साथ ( हविषा ) देने और लेने योग्य व्यवहार से ( युञ्जम् ) पूजनीय ब्रह्म को ( अतन्वत ) फैलाया । वह ब्रह्म ( नु ) अब ( तस्मात् ) उस [आत्मा] से ( ओजीयः ) अधिक बलवान् ( अस्ति=आसीत् ) हुआ, ( यत् ) जिस[ब्रह्म] की उन्होंने ( विहव्येन ) विशेष देने योग्य व्यवहार से ( ईजिरे ) पूजा था ॥४॥

भावार्थ—विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीमात्मा से अधिक ओजस्वी शक्ति विशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वाङ्ग ऋग्वेद में है—म० १० । ६६ । ७ । और—यजु० ३१ । १४ ।

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तो गोरक्षैः पुरुधायजन्त ।  
यद्मं युज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥५॥

४—( यत् ) यदा ( पुरुषेण ) अ० १ । १६ । ४ । पुर अग्रगतौ—कुषन् । अग्र-गामिना स्वात्मना ( हविषा ) दातव्येन ग्राह्येण च कर्मणा ( देवाः ) विद्वान्सः ( अतन्वत ) विस्तारितवन्तः ( अस्ति ) आसीत् तद्ब्रह्म ( नु ) अवधारणे । इदानीम् ( तस्मात् ) पुरुषात् ( ओजीयः ) ओजस्वी-ईयसुन्, विनो लुक् । बल-वत्तरम् ( यत् ) ब्रह्म ( विहव्येन ) विविधं दातव्येन व्यवहारेण ( ईजिरे ) यजे-र्लिङ् । पूजितवन्तः ॥



मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः ।  
 अङ्गैः । पुरुधा । अयजन्त । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा ।  
 चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रुवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) विद्वान् लोग [ ईश्वर की सीमा के विषय में ]  
 ( मुग्धाः ) मूढ़ होकर ( उत ) भी ( शुना ) ज्ञान से [ परमात्मा को ] ( अय-  
 जन्त ) मिले हैं, ( उत ) और ( गोः ) वेदवाणी के ( अङ्गैः ) अंगों से [ उसे ]  
 ( पुरुधा ) विविध प्रकार से ( अयजन्त ) पूजा है । ( यः ) जिस आपने ( इमम्  
 यज्ञम् ) इस पूजनीय परमेश्वर को ( मनसा ) विज्ञान के साथ ( चिकेत ) जाना  
 है, और जिस तू ने ( नः ) हमें ( प्र ) अच्छे प्रकार ( वोचः ) उपदेश किया है,  
 सो तू ( तम् ) उस परमेश्वर का ( इह इह ) यहांपर ही ( ब्रुवः ) उपदेशकर ॥५॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को  
 सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश कर-  
 के संसार को आगे बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० ७ । २ । १ ॥

श्रुक्तम् ॥ ६ ॥

१-४ ॥ अदितिर्देवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ निचृज्जगती ॥

मन्त्रः १, प्रकृतिलक्षणोपदेशः—मन्त्र, १, प्रकृति के लक्षण का उपदेश ॥

अदितिर्दयैरदितिर्नन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।  
 विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्ज-  
 नित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।

५—( मुग्धाः ) मोहिताः सन्तः ( देवाः ) विद्वान्सः ( उत ) अपि ( शुना )  
 ज्ञान गतौ—क्वप् । ज्ञानेन । शुनं सुखम्—निघ० ७ । ६ ( अयजन्त ) संगतवन्तः  
 परमात्मानम् ( गोः ) वेदवाचः । गौः=वाक्—निघ० १ । ११ ( अङ्गैः ) ( पुरुधा )  
 बहुधा ( अयजन्त ) पूजितवन्तः अन्यत्पूर्ववत्—अ० ७ । २ । १ ।



सः । पिता । सः । पुत्रः । विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च ।  
जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अदितिः=अदितेः ) अदीन वा अखण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से ( द्यौः ) प्रकाशमान सूर्य, ( अदितिः ) अदिति से ( अन्तरिक्षम् ) मध्यवर्ती आकाश, ( अदितिः ) अदिति से ( माता ) हमारी माता, ( सः पिता ) वह हमारा पिता, ( सः पुत्रः ) वह हमारा पुत्र [ सन्तान ] है । ( अदितिः ) अदिति से ( विश्वे ) सब ( देवाः ) दिव्य गुण वाले पदार्थ, ( अदितिः ) अदिति से ( पञ्च ) विस्तृत [ वा पञ्चभूत रचित ] ( जनाः ) सब जीव, ( अदितिः ) अदिति से ( जातम् ) उत्पन्न जगत् और ( जनित्वम् ) उत्पन्न होने वाला जगत् है ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो संसार उत्पन्न हुआ है और जो आगे उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर नियम के अनुसार अदिति वा प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण से रचा जाता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋक्० में है—म० १ । ८६ । १०, यजु० २५ । २३ । और निरु० ४ । २३ । में है । भगवान् यास्क मुनि कहते हैं [ इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एतान्यदीनानीति वा ] यह मन्त्र अदिति की महिमा कहता है अथवा यह सब वस्तुयें अदीन हैं—निरु० ४ । २३ ॥

मन्त्रः २, पृथ्वीविषयोपदेशः—मन्त्र २, पृथ्वी के विषय का उपदेश ॥

महीमु षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

१—( अदितिः ) अ० २ । २८ । ४ । दीङ् लये, दो अवखण्डने, दाप् लवने—किन् । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पञ्चम्याः सुः । अदितेः । प्रकृतेः । जगत्कारणात् ( द्यौः ) प्रकाशमानः सूर्यः ( अदितिः ) ( अन्तरिक्षम् ) मध्यवर्ती आकाशः ( माता ) अस्माकं जननी ( सः ) प्रसिद्धः ( पिता ) जनकः ( सः ) ( पुत्रः ) सन्तानः ( विश्वे ) सर्वे ( देवाः ) दिव्यगुणाः पदार्थाः ( पञ्च ) अ० ६ । ७५ । ३ । शप्यश्रभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पञ्च व्यक्ति करणे—कनिन् । पञ्चानः । विस्तृताः । पञ्चभूत निर्मिता वा ( जनाः ) प्राणिनः ( जातम् ) उत्पन्नम् ( जनित्वम् ) जनिदाय्यु० । ०३ ४ । १०४ । इति जनी प्रादुर्भावे—इत्वन् । उत्पत्त्यमानं जगत् ॥



तुविक्षत्राम्जरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥ २ ॥  
 महीम् । ऊ० इति । सु । मातरम् । सु-व्रतानाम् । ऋतस्य ।  
 पत्नीम् । अवसे । हवामहे । तुवि-क्षत्राम् । अजरन्तीम् ।  
 उरूचीम् । सुशर्माणम् । अदितिम् । सु-प्रणीतिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(महीम्) पूजनीय, (मातरम्) माता [ के समान हित-  
 कारिणी ], (सुव्रतानाम्) सुकर्मियों के (ऋतस्य) सत्यधर्म की (पत्नीम्)  
 रक्षा करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत बल वा धन वाली, (अजरन्तीम्) न  
 घटने वाली, (उरूचीम्) बहुत फैली हुई, (सुशर्माणम्) उत्तम घर वा सुख  
 वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीति वाली (अदितिम्) अदिति, अदीन  
 पृथ्वी को (उ) ही (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सु) अच्छे प्रकार (हवा-  
 महे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी के गुणों में चतुर होते हैं, वे ही राज्य  
 भोगने, बल और धन बढ़ाने, धार्मिक नीति चलाने और प्रजा पालने आदि  
 शुभगुणों के योग्य होते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है, २१।५ ॥

मन्त्रः ३, वेदवाणीगुणोपदेशः—मन्त्र ३, वेद वाणी के गुणों का उपदेश ॥

सुत्रामाणां पृथिवीं द्यामने हसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणी-  
 तिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्त्रवन्तीमा रुहेमा  
 स्वस्तये ॥ ३ ॥

२—(महीम्) महतीम् (उ) अवधारणे (सु) सुष्ठु । सत्कारेण (मात-  
 रम्) मातृसमानहिताम् (सुव्रतानाम्) शोभनकर्मवताम् (ऋतस्य) सत्य-  
 धर्मस्य (पत्नीम्) पालयित्रीम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः  
 (तुविक्षत्राम्) बहुबलां बहुधनाम् (अजरन्तीम्) अजराम् (उरूचीम्) अ० ३।  
 ३।१। बहु विस्तारगताम् (सुशर्माणम्) उत्तमगृहयुक्ताम् । बहुसुखवतीम्  
 (अदितिम्) अ० २।२८।४। अदीनां पृथिवीम्—निघ० १।१। (सुप्रणीतिम्)  
 सुष्ठु प्रकृष्टनीतियुक्ताम् ॥



सु-त्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सु-शर्माणम् ।  
अदितिम् । सु-प्रणीतिम् । दैवीम् । नावम् । सु-अरित्राम् ।  
अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेः । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( सुत्रामाणम् ) अच्छे प्रकार रक्षा करने वाली, ( पृथिवीम् )  
फैली हुई, ( द्याम् ) प्राप्ति योग्य, ( अनेहसम् ) अखण्डित, ( सुशर्माणम् )  
अत्यन्त सुख देनेवाली, ( सुप्रणीतिम् ) बहुत सुन्दर नीतिवाली ( अदितिम् )  
अदिति, अदीन वेद विद्यारूप, ( दैवीम् ) देवताओं, विद्वानों की बनाई हुई,  
( स्वरित्राम् ) सुन्दर वस्त्रियों वाली, ( अस्रवन्तीम् ) न बहने वाली ( नावम् )  
नाव पर ( स्वस्तये ) आनन्द के लिये ( अनागसः ) निर्दोष हम ( आ रुहेम )  
चढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अखण्ड वेद विद्या को प्राप्त होते हैं, वे संसार के  
विघ्नों से पेसे पार होते, जैसे विज्ञानी शिल्पी की बनाई नाव से बड़े समुद्र को  
पार कर जाते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ६३ । १०, और यजु० २१।१६॥

मन्त्रः ४, परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ४, परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

वाजस्य नु प्रसुवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

३—( सुत्रामाणम् ) सुरक्षित्रीम् ( पृथिवीम् ) अ० १ । २ । १ । विस्तृतम्  
( द्याम् ) गमेडोंः । उ० २ । ६७ । द्यु अभिगमने—डो । अभिगन्तव्याम् ( अने-  
हसम् ) नञि हन एह च । उ० ४ । २२४ । अ + हन—असि । एन पतेः—निरु०  
११ । २४ । अहिंसनीयाम् ( सुशर्माणम् ) बहुसुखवतीम् ( अदितिम् ) अ० २ ।  
२८ । ४ । अदीनां वेदवाचम् । अदितिः=वाक्-निघ० १ । ११ ( सुप्रणीतिम् ) म०  
२ ( दैवीम् ) देव अञ् । विद्वद्भिर्निर्मिताम् ( नावम् ) नोदनीयां नौकाम् ( स्वरित्राम् )  
अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । ऋ गतौ—इत्र । शोभननौकाचालनकाष्ठ-  
युक्तम् ( अनागसः ) अ० २ । १० । १ । इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । ११२ ।  
इण गतौ असुन्, आगादेशः । अनागस्त्वमनपराधत्वम् । आग आङ् पूर्वाद् गमे-  
-निरु० ११ । २४ । अनपराधाः ( अस्रवन्तीम् ) स्रवणरहिताम् ( आ रुहेम )  
आरूढा भूयास्म ( स्वस्तये ) क्षेमाय ॥



सू० ६ [ ३२१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५४१ )

यस्या उपस्थं उर्वरं न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि  
यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्र-सवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम ।  
वचसा । करामहे । यस्याः । उप-स्थे । उरु । अन्तरिक्षम् ।  
सा । नः । शर्म । त्रि-वरूथम् । नि । यच्छात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( वाजस्य ) अन्न वा बल के ( प्रसवे ) उत्पन्न करने में ( नु )  
अव ( मातरम् ) निर्माण करने वाली, ( महीम् ) विशाल, ( अदितिम् ) अदीन  
शक्ति, परमेश्वर को ( नाम ) प्रसिद्ध रूप से ( वचसा ) वेद वाक्य के साथ  
( करामहे ) हम स्वीकार करें । ( यस्याः ) जिस [ शक्ति ] की ( उपस्थे ) गोद  
में ( उरु ) यह बड़ा ( अन्तरिक्षम् ) आकाश है, ( सा ) वह ( नः ) हमें ( त्रि-  
वरूथम् ) तीन प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सुखों वाला  
( शर्म ) घर ( नि ) नियम के साथ ( यच्छात् ) देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब जगत् का निर्माता और नियन्ता है, उसकी  
उपासना ही से सब मनुष्य अपना पेश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुङ्कु भेद से षड्वेद में है—अ० ६ । ५ और १८ । ३० ॥

४—( वाजस्य ) अन्नस्य-निघ० २ । ७ । बलस्य-निघ० २ । ६ ( नु ) इदा-  
नीम् ( प्रसवे ) उत्पादने ( मातरम् ) निर्मात्रीम् ( महीम् ) विशालाम् ( अदि-  
तिम् ) अदीनां शक्ति परमेश्वरम् ( नाम ) प्रसिद्ध्या ( वचसा ) वेदवचनेन  
( करामहे ) छान्दसः शप् । आकुर्महे । स्वीकुर्मः ( यस्याः ) अदितेः ( उपस्थे )  
उत्संगे ( उरु ) विस्तृतम् ( अन्तरिक्षम् ) आकाशम् ( सां ) अदितिः ( नः )  
अस्मभ्यम् ( शर्म ) गृहम्—निघ० ३ । ४ ( त्रिवरूथम् ) जवृक्षभ्यामूथन् । उ० २ ।  
६ । इति वृक्ष वरणे—ऊथन् । त्रीणि वरूथानि वरणीयान्याध्यात्मिकाधिदैविकाधि-  
भौतिकानि सुखानि यस्मिन् तत् ( नि ) नियमेन ( यच्छात् ) दाण् दाने—लेट् ।  
दद्यात् ॥



( १५४२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७ [ ३२२ ]

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१ ॥ देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

देवगुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दितैः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनु-  
र्मणाम् । तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान-  
नमसा पुरो अस्तु कश्चन ॥ १ ॥

दितैः । पुत्राणाम् । अदितेः । अकारिषम् । अव । देवानाम् ।  
बृहताम् । अनुर्मणाम् । तेषाम् । हि । धाम । गभि-सक् । समु-  
द्रियम् । न । एनान् । नमसा । पुरः । अस्तु । कः । चन ॥१॥

भाषार्थ—( दितेः ) दीनता से ( पुत्राणाम् ) शुद्ध करने वाले वा बहुत  
बचाने वाले, ( अदितेः ) अदीनता के ( देवानाम् ) देने वाले वा प्रकाश करने  
वाले, ( बृहताम् ) बड़े गुण वाले, ( अनुर्मणाम् ) हिंसा न करने वाले वा अजेय  
( तेषाम् ) उन पुरुषों के ( धाम ) धारण सामर्थ्य को ( हि ) ही ( गभिषक् )  
गहराई से युक्त, ( समुद्रियम् ) [ पार्थिव और अन्तरिक्ष ] समुद्र में रहनेवाला  
( अव ) निश्चय करके ( अकारिषम् ) मैंने जाना है, ( कः चन ) कोई भी

१—( दितेः ) दीङ् ल्ये—क्तिन् । दीनतायाः सकाशात् ( पुत्राणाम् )  
अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे—ञ्क । पुत्रः पुरु त्रायते—निघ० २ । ११ । पुत्र+  
त्रौङ् रक्षणे—ङ । पावकानां शोधकानाम् । बहुव्रातृणाम् ( अदितेः ) षष्ठी-  
रूपम् । अदीनतायाः ( अकारिषम् ) कृ विज्ञाने—लुङ् । इति शब्दकल्पद्रुमः ।  
विज्ञातवानस्मि ( अव ) निश्चयेन ( देवानाम् ) देवो दानाद्वा दीपनाद् वा  
—निरु० ७ । १५ । दातृणां प्रकाशकानां वा ( बृहताम् ) गुणैर्महताम् ।  
( अनुर्मणाम् ) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । ऋ हिंसायाम्—  
मनिन् । अहिंसकानाम् अहिंसनीयानाम् ( तेषाम् ) प्रसिद्धानां पुरुषाणाम्  
( हि ) एव ( धाम ) धारणसामर्थ्यम् ( गभिषक् ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ ।  
११८ । इति गम्ल गतौ—इन् मस्यभः + षञ्ज् सङ्गे—क्तिप् । गम्भीरता युक्तम् ।



सू० ८ [ ३२३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५४३ )

( परः ) शत्रु ( एनान् ) इनको ( नमसा ) [ उनके ] अन्न वा सत्कार के कारण  
( न ) नहीं ( अस्ति ) पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा मनुष्य दीनता छोड़ कर संसार में आत्मा और  
शरीर की अदीनता का दान करते हैं, वे पृथ्वी और आकाश में यान विमान  
आदि द्वारा अधिकार जमाते और शत्रुओं को जीतते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती छन्दः ॥

अमोक्षत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरस्ता ते अस्तु ।

अथेममस्या वर आ पृथिव्या अरेशत्रुं कृणुहि स-  
र्ववीरम् ॥ १ ॥

भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरः-स्ता ।  
ते । अस्तु । अथ । इमम् । अस्याः । वर । आ । पृथिव्याः ।  
अर-शत्रुम् । कृणुहि । सर्व-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( भद्रात् ) एक मङ्गल कर्म से ( श्रेयः )  
अधिक मङ्गलकारी कर्म को ( अधि ) अधिकारपूर्वक ( प्र इहि ) अच्छे प्रकार  
प्राप्त हो, ( बृहस्पतिः ) बड़े बड़े लोकों का पालक परमेश्वर ( ते ) तेरा ( पुर-  
स्ता ) अग्रगामी ( अस्तु ) होवे । ( अथ ) फिर तू ( इमम् ) इस [ अपने

( समुद्रियम् ) समुद्राभ्राद् घः । पा० । ४ । ४ । ११८ । इति समुद्र-घ । आन्तरिक्षे  
पार्थिवे वा समुद्रे भवम् ( न ) निषेधे ( एनान् ) पुरुषान् ( नमसा ) अन्नेन—  
निघ० २ । ७ । संत्कारेण ( परः ) शत्रुः ( अस्ति ) अस ग्रहणे गतौ च । शपो  
लुक् छान्दसः । असति गृह्णाति गच्छति प्राप्नोति वा ( कश्चन ) कोऽपि ॥

१—( भद्रात् ) मङ्गलात्कर्मणः ( अधि ) अधिकृत्य ( श्रेयः ) प्रशस्य—  
ईयसुन् । प्रशस्यतरं कर्म ( प्र ) प्रकर्षेण ( इहि ) प्राप्नुहि ( बृहस्पतिः )  
बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः ( पुरस्ता ) अग्रगामी ( ते ) तव ( अथ )  
अनन्तरम् ( अस्याः ) दृश्यमानायाः ( वर ) वरणीये फले ( आ ) समन्तात्



( १५४४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८ [ ३२४ ]

आत्मा ] को ( अस्याः पृथिव्याः ) इस पृथिवी के ( वरे ) श्रेष्ठ फल में ( आरे-  
शत्रुम् ) शत्रुओं से दूर ( सर्ववीरम् ) सर्ववीर, सबमें वीर ( आ ) सब ओर से  
( कृणुहि ) बना ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—जो मुख्य परमेश्वर के आश्रय से अधिक अधिक उन्नति  
करते हुये आगे बढ़े जाते हैं, वेही सर्ववीर निर्विघ्नता से अपना जीवन सुफल  
करते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ पूषा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री; ४ अनुष्टुप् ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर के उपासना का उपदेश ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।

उभे अभि प्रियतमे सुधस्थे आ च परा च चरित

प्रजानन् ॥ १ ॥

प्र-पथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्र-पथे । दिवः । प्र-पथे ।

पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रिय-तमे ।

सुधस्थे इति सुध-स्थे । आ । च । परा । च । चरति ।

प्र-जानन् ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( पूषा ) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर ( पथाम् ) सब  
मार्गों में से ( प्रपथे ) चौड़े मार्ग में ( दिवः ) सूर्य के ( प्रपथे ) चौड़े मार्ग में  
और ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( प्रपथे ) चौड़े मार्ग में ( अजनिष्ट ) प्रकट हुआ  
है । ( प्रजानन् ) बड़ा विद्वान् वह ( उभे ) दोनों ( प्रियतमे ) [ परस्पर ]  
अति प्रिय (सुधस्थे) एक साथ स्थिति करने वाले [ सूर्य और पृथिवी लोक ]

( पृथिव्याः ) भूलोकस्य ( आरेशत्रुम् ) आरे दूरे शत्रुवो यस्य तम् ( कृणुहि )  
कृति हिंसाकरणयोः । कुरु । ( सर्ववीरम् ) सर्वेषु वीरम् । एकवीरम् ॥

१—( प्रपथे ) प्रकृष्टे विस्तृते मार्गे ( पथाम् ) मार्गाणां मध्ये ( अजनिष्ट )  
आदुरभूत ( पूषा ) अ० १ । ६ । १ । पोषकः परमेश्वरः ( दिवः ) सूर्यस्य  
( पृथिव्याः ) भूलोकस्य ( उभे ) द्वे द्यावापृथिव्यौ ( अभि ) प्रति ( प्रियतमे )



(अभि) में (आ) हमारे निकट (च च) और (परा) दूर (चरति) विचरता रहता है ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि लोकों को परस्पर आकर्षण से धारण करता है, वही हमारा पालन पोषण करता है चाहे हम अपने घर के निकट वा दूर हों ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १०।१७।१॥

पूषेमा आशा अनु वेद् सर्वाः सो अस्मां अभय-  
मेन नेषत् । स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्  
पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद् । सर्वाः । सः । अस्मान् ।  
अभय-तमेन । नेषत् । स्वस्ति-दाः । आघृणिः । सर्व-वीरः ।  
अप्र-युच्छन् । पुरः । एतु । प्र-जानन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (इमाः) इन (सर्वाः) सब (आशाः) दिशाओं को (अनु) लगातार (वेद्) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) अत्यन्त अभय [ मार्ग ] से (नेषत्) ले चले । (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता, (आघृणिः) बड़ा प्रकाशमान (सर्ववीरः) सब में वीर, (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (अप्रयुच्छन्) बिना चूक किये हुये (पुरः) हमारे आगे आगे (एतु) चले ॥ २ ॥

भाषार्थ—सर्वव्यापक, मङ्गलप्रद, सर्ववीर, महानुद्धिमान् परमेश्वर को निरन्तर सहायक जानकर, मनुष्य उत्तम कर्मों में आगे बढ़े ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १०।१७।५॥

अतिशयेन प्रीतिमत्यौ (सहस्रस्थे) परस्पराकर्षणेन सहस्थितिशीले (आ) समीपे (च च) (परा) दूरे (चरति) गच्छति (प्रजानन्) प्रकृष्टविद्वान् ॥  
२—(पूषा) पोषक ईश्वरः (इमाः) (आशाः) दिशः (अनु) निरन्तरम् (वेद्) वेत्ति (सर्वाः) (सः) पूषा (अस्मान्) धार्मिकान् (अभयतमेन) अत्यन्तभयरहितेन पथा (नेषत्) नयतेल्लेद् । नयेत् (स्वस्तिदाः) मङ्गल-दाता (आघृणिः) सम्यक् प्रकाशमानः (सर्ववीरः) सर्वेषु वीरः (अप्रयु-च्छन्) अप्रमाद्यन् (पुरः) आगे (एतु) गच्छतु (प्रजानन्) अतिविद्वान् ॥



पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।

स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

पूषन् । तव । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा । चन ।

स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( पूषन् ) हे पूषा, पालन करनेवाले परमेश्वर ! ( तव ) तेरे ( व्रते ) वरणीय नियम में [ रहकर ] ( वयम् ) हम ( कदा चन ) कभी भी ( न ) न ( रिष्येम ) दुःखी होवें । ( इह ) : यहाँ पर ( ते ) तेरे ( स्तोतारः ) स्तुति करनेवाले ( स्मसि ) हम लोग हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमेश्वर के गुण और कर्मों के अनुकूल चलकर सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । ६ और यजु० ३४ । ४१ ॥

परि पूषा परस्ताद्वस्तं दधातु दक्षिणम् ।

पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

परि । पूषा । परस्तात् । हस्तम् । दधातु । दक्षिणम् । पुनः ।

नः । नष्टम् । आ । अजतु । सम् । नष्टेन । गमेमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( पूषा ) पूषा, पोषण करनेवाला, परमात्मा ( दक्षिणम् ) अपना दाहिना ( हस्तम् ) हाथ ( परस्तात् ) पीछे से [ हमारे पुरुषार्थानुकूल ] ( परि ) सब ओर ( दधातु ) धारण करे । वह ( नः ) हमें ( नष्टम् ) नष्ट

३—( पूषन् ) पोषक परमात्मन् ( तव ) ( व्रते ) वरणीये नियमे ( वयम् ) उपासकाः ( न ) निषेधे ( रिष्येम ) रिष हिंसायाम्, दैवादिकः, अकर्मकः । हिंसिता भवेम ( कदा चन ) कदापि ( स्तोतारः ) स्तावकाः ( ते ) तव ( इह ) अत्र ( स्मसि ) स्मः । भवामः ॥

४—( परि ) परितः ( पूषा ) पोषकः परमात्मा ( परस्तात् ) उत्तरे काले ( हस्तम् ) कृपाहस्तम् ( दधातु ) धारयतु ( दक्षिणम् ) ( पुनः ) ( नः )



बल को ( पुनः ) फिर ( आ अजतु ) लावे, [ पाये हुये ] ( नष्टेन ) नष्ट बल के साथ ( सम् गमेमहि ) हम मिले रहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जैसे मनुष्य बायें हाथ की अपेक्षा दाहिने हाथ से अधिक उपकार करता है, वैसेही परमात्मा अपनी पूरण कृपा हम पर रखे, जिससे हम प्रयत्न पूर्वक अपने खोये बल [ प्रारब्ध फल ] को फिर पाकर रख सकें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६।५४।१० ॥

सूक्तम् १० ॥

१ ॥ सरस्वती देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सरस्वतीविषयोपदेशः—सरस्वती के विषय का उपदेश ॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः ।  
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः १  
यः । ते । स्तनः । शशयुः । यः । मयः-भूः । यः । सुम्न-युः ।  
सु-हवः । यः । सु-दत्रः । येन । विश्वा । पुष्यसि । वार्याणि ।  
सरस्वति । तम् । इह । धातवे । कः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सरस्वति ) हे सरस्वती, विद्वानवती स्त्री ! [ वा वेद-विद्या ] ( यः ) जो ( ते ) तेरा ( स्तनः ) स्तन, दूध का आधार ( शशयुः ) प्रशंसा पाने वाला, ( यः ) जो ( मयोभूः ) सुखदेनेवाला और ( यः ) जो ( सुम्नयुः ) उपकार करनेवाला, ( सुहवः ) अच्छे प्रकार ग्रहणयोग्य और

अस्मभ्यम् ( नष्टम् ) ध्वस्तं बलम् ( आ अजतु ) अज गतिहोपणयोः । आनयतु ( नष्टेन ) अदृष्टबलेन प्रारब्धफलेन ( सं गमेमहि ) संगच्छेमहि ॥

१—( यः ) ( ते ) तव ( स्तनः ) दुग्धाधारः ( शशयुः ) शशमानः, अर्चति-कर्मा—निघ० ३।१४। शशमानः शंशमानः—निरु० ६।८। इति श्रवणात्, शंसु स्तुतौ—अ प्रत्ययः + यां गतौ—कु, मृगय्वादित्वात्—उ० १।३७। अनुस्वार-लोपः सकारस्य शकारश्च छान्दसः । शंसं शंसां प्रशंसां याति यः सः ( यः ) ( मयोभूः ) सुखस्य भावयिता प्रापयिता ( सुम्नयुः ) छन्दसि परेच्छायां क्यच् । वा० पा० ३।१।८। सुम्न—क्यच्, उ प्रत्ययः । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति



( १५४८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११ [ ३२६ ]

( यः ) जो ( सुदन्नः ) बड़ा दानी है । ( येन ) जिस स्तन से ( विश्वा ) सब ( वार्याणि ) स्वीकरणीय अंगों को ( पुण्यसि ) तू पुष्ट करती है ( तम् ) उस स्तन को ( इह ) यहां ( धातवे ) पीने के लिये ( कः ) तू ने ठीक किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार विदुषी माता का दूध पीकर बालक शरीर से पुष्ट हो कान्तिमान् होता है, वैसेही विद्वान् पुरुष वेद विद्या का अमृत पान करके आत्मबल से पुष्ट होकर कीर्तिमान् होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६४। ४६। और यजुर्वेद, ३८। ५। और श्रीमद्भयानन्दकृत संस्कारविधि, जातकर्म में बालक के स्तन पान करने के विषय में आया है ॥

सूक्तम् ११ ॥

१ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अन्नरक्षोपदेशः—अन्न के रक्षा का उपदेश ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्नुय ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभू-  
षतीदम् । मा नो वधीर्विद्युता देव सुस्यं मोत वधी-  
रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

यः । ते । पृथुः । स्तनयित्नुः । यः । ऋष्वः । दैवः । केतुः ।  
विश्वम् । आ-भूषति । इदम् । मा । नः । वधीः । वि-द्युता ।  
देव । सुस्यम् । मा । उत । वधीः । रश्मि-भिः । सूर्यस्य ॥१॥

यः । उपकारी ( सुहवः ) शोभनो हवो ग्रहणं यस्य सः ( सुदन्नः ) सर्वधातुम्भू-  
ष्टम् । उ० ४। १५६। इति ददातेः ष्टृन्, ह्रस्वः । सुदन्नः कल्याणदानः—निक० ६।  
१४। महादाता ( येन ) स्तनेन ( विश्वा ) सर्वाणि ( पुण्यसि ) पोषयसि  
( वार्याणि ) वरणीयानि स्वीकरणीयानि अंगानि ( सरस्वति ) सरांसि विद्वानानि  
सन्ति यस्यां सा विज्ञानवती स्त्री वेदवाणी वा, तत्सम्बुद्धौ ( तम् ) स्तनम् ( इह )  
अस्मिन् कर्मणि ( धातवे ) घेद् पाने—तुमर्थे तवेन प्रत्ययः । धातुं पानं कर्तुम्  
( कः ) करोतेर्लुङि । मन्त्रे घसङ्खर० । पा० २। ४। ८०। इति छलेर्लुङि गुणे ।  
हल्ङ्यावभ्यो० । पा० ६। १। ६८। इति सिपो लोपः, अडभावे रूपम् । अक।  
त्वं योग्यं कृतवती ॥



भावार्थ—( देव ) हे जलदाता मेघ । ( यः ) जो ( ते ) तेरा ( पृथुः ) विस्तीर्ण और ( यः ) जो ( ऋष्वः ) इधर उधर चलनेवाला वा बड़ा, ( दैवः ) आकाश में रहने वाला, ( केतुः ) जताने वाला झंडा रूप ( स्तनयितुः ) गर्जन ( इदम् विश्वम् ) इस सब स्थान में ( आभूषति ) व्यापता है । ( नः ) हमारे ( सस्यम् ) धान्य को ( विद्युता ) चमचमाती बिजुली से ( मा वधीः ) मत नाश कर, और ( सूर्यस्य ) सूर्य की ( रश्मिभिः ) किरणों से ( उत ) भी ( मा वधीः ) मत छुला ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का विचार रख कर पहिले से अन्न आदि के संचय से रक्षा का उपाय कर लेवें ॥१॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ सभापतिर्देवता १ त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ॥

सभापति कर्तव्योद्देशः—सभापति के कर्तव्यों का उपदेश ॥

सुभा च मा\_ समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संवि-  
दाने । येना\_ संगच्छा उप मा\_ स शिक्षाच्चारुवदानि  
पितरः संगतेषु ॥ १ ॥

सुभा । च । मा । सम्-इतिः । च । अवताम् । प्रजा-पतेः ।  
दुहितरौ । सं विदाने इति सम्-विदाने । येन । सम्-गच्छै ।  
उप । मा । सः । शिक्षात् । चारु । वदानि । पितरः । सम्-गतेषु ॥१॥

१—( यः ) ( ते ) तव ( पृथुः ) विस्तीर्णः ( स्तनयितुः ) अ० ४ । १५ । ११ ।  
मेघध्वनिः ( ऋष्वः ) अशुप्रविलटि । उ० १ । १५१ । ऋष गतौ दर्शने च-क्वन् ।  
इतस्ततो गन्ता । महान्—निघ० ३ । ३ ( दैवः ) दिव्—अण् । विधि आकाशे  
मघः ( केतुः ) अ० ६ । १०३ । ३ । ज्ञापकः । ध्वजरूपः ( विश्वम् ) सर्व स्थानम्  
( आभूषति ) भूष अलङ्कारे । व्याप्नोति ( नः ) अस्माकम् ( मा वधीः ) मा हिंसीः  
( विद्युता ) अशन्या ( देव ) हे जलप्रद मेघ ( सस्यम् ) माछाससिभ्यो यः । उ०  
४ । १०६ । इति षस स्वप्ने—य । धान्यम् ( उत ) अपि ( मा वधीः ) मा शोषय  
( रश्मिभिः ) किरणैः ( सूर्यस्य ) सवितुः ॥



भाषार्थ—( प्रजापतेः ) प्रजापति अर्थात् प्रजारक्षक पुरुषार्थ की ( दुहितरौ ) पूरण करने वाली [ वा दो पुत्रियों के समान हितकारी ] ( संविदाने ) यथावत् मेल वाली ( सभा ) सभा, विद्वानों की संगति ( च च ) और ( समितिः ) एकता ( मा ) मुझे ( अवताम् ) तृप्त करें । ( येन ) जिस पुरुष के साथ ( संगच्छै ) मैं मिलूँ, ( सः ) वह ( मा ) मुझे ( उप ) आदर से ( शिक्षात् ) समर्थ करे, ( पितरः ) हे पितरों, पालन करने वाले विद्वानो ! ( संगतेषु ) सम्मेलनों के बीच मैं ( चारु ) ठीक ठीक ( वदानि ) बोलूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति ऐसा सुशिक्षित और सुयोग्य पुरुष हो कि संगठन की सफलता के लिये सब सभासद् एकमत हो जावें, और उसके धर्मयुक्त वचन को मानकर उसके सहायक रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० ६। सू० ६४। से करो ॥

विद्म ते सभे नाम नृषिष्ठा नाम वा असि ।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नृषिष्ठा । नाम । वै । असि । ये ।  
ते । के । च । सभा-सदः । ते । मे । सन्तु । स-वाचसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सभे ) हे सभा ! ( ते ) तेरा ( नाम ) नाम ( विद्म ) हम जानते हैं, तू ( नृषिष्ठा ) नरों की इष्ट देवी ( वै ) ही ( नाम ) नाम वाली

१—( सभा ) अ० ४। २१। ६। विद्वद्भिः प्रकाशमानः समाजः ( च ) ( मा ) मां सभापतिम् ( समितिः ) अ० ६। ६४। २। एकता । एकात्मता ( प्रजापतेः ) प्रजारक्षकस्य पुरुषार्थस्य ( दुहितरौ ) अ० ३। १०। १३। दुह प्रपूरणे—दृक् । प्रपूरयित्र्यौ । पुत्रीवत् हितकारिण्यौ ( संविदाने ) अ० २। २८। २। संगच्छे माने ( येन ) पुरुषेण सह ( संगच्छै ) संगतो भवानि ( उप ) आदरे ( मा ) माम् ( सः ) पुरुषः ( शिक्षात् ) शक्तेः सन्नन्तात् लेट् । शक्तं समर्थं कुर्व्यात् ( चारु ) अ० २। ५। १। मनोहरम् ( वदानि ) कथयानि ( पितरः ) हे पालका विद्वांसः ( संगतेषु ) सम्मेलनेषु ॥

२—( विद्म ) अ० १। २। १। वयं जानीमः ( ते ) तव ( सभे ) ( नाम ) नामधेयम् ( नृषिष्ठा ) नर + इष्टा । शकन्धादिषु पररूपं वाच्यम् । वा० पा० ६। १। ६४। इति पररूपम् । नराणामिष्ठा हिता ( नाम ) नाम्ना ( वै ) खड्ग



(असि) है । ( च ) और ( ये के ) जो कोई ( ते ) तेरे ( सभासदः ) सभासद् हैं, ( ते ) वे सब ( मे ) मेरे लिये ( सवाचसः ) एक वचन ( सन्तु ) होवें ॥२॥

भावार्थ—उसी सभा से मनुष्यों का इष्ट सिद्ध होता है, जहां पर सभापति और सभासद् एक मन होकर धर्म का प्रचार करते हैं ॥२॥

एषामहं समासीनानां वर्चः विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम् । अहम् । सुस्-आसीनानाम् । वर्चः । विज्ञानम् । आ । ददे ।

अस्याः । सर्वस्याः । सुस्-सदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ॥३॥

भावार्थ—( अहम् ) मैं [ सभापति ] ( एषाम् ) इन ( समासीनानाम् ) यथावत् बैठे हुये पुरुषों का ( वर्चः ) तेज और ( विज्ञानम् ) विज्ञान ( आ ददे ) आंगीकार करता हूं । ( इन्द्र ) हे परमेश्वर ! ( माम् ) मुझ को ( अस्याः ) इस ( सर्वस्याः संसदः ) सब सभा का ( भगिनम् ) ऐश्वर्यवान् ( कृणु ) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां सभापति और सब सभासद् एकमत होकर अपना पराक्रम और विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म विचार बढ़ाते हैं, वहां पर सब ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

यद् वो मनः परागतं यद् बहुमिह वेह वा ।

तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

यत् । वुः । मनः । परा-गतम् । यत् । बहुम् । इह । वा । इह । वा ।

तत् । वुः । आ । वर्तयामसि । मयि । वुः । रमताम् । मनः ॥ ४ ॥

(असि) वर्तसे ( ये के ) ये केचित् ( ते ) तब ( सभासदः ) सभ्याः ( ते ) सामाजिकाः ( मे ) मह्यम् ( सन्तु ) ( सवाचसः ) समानवाक्याः । एकवचनाः ॥

३—( एषाम् ) पुरोवर्तिनाम् ( अहम् ) सभापतिः ( समासीनानाम् ) आस उपवेशने-शानच् । ईदासः । पा०७।२। ८३ । आकारस्य ईकारः । यथावदुप-विष्टानाम् ( वर्चः ) तेजः । पराक्रमम् ( आ ददे ) अङ्गीकरोमि ( अस्याः ) पुरः-स्थितायाः ( सर्वस्याः ) ( संसदः ) सभायाः ( माम् ) ( इन्द्र ) हे परमेश्वर ( भगिनम् ) ऐश्वर्यवन्तम् ( कृणु ) कुरु ॥



भाषार्थ—[ हे सभासदो! ] ( यत् ) जो ( वः ) तुम्हारा ( मनः ) मन ( परागतम् ) उचट गया है, ( वा ) अथवा ( यत् ) जो ( इह वा इह ) इधर उधर [ प्रतिकूल विषयों में ( वद्धम् ) बंधा हुआ है । ( वर्तयामसि ) हम लौटाते हैं [ जिससे ] ( वः मनः ) तुम्हारा मन ( मयि ) मुझ में ( रमताम् ) ठहर जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति अपनी विशेष विद्वानता से सभासदों का ध्यान निर्धारित विषय पर खींच कर कार्यसिद्धि करे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं को हराने का उपदेश ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यस्तेजोऽस्यादुदे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्-यन् । तेजांसि । आ-दुदे । एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( उद्यन् ) उदय होते हुये ( सूर्यः ) सूर्य ने ( नक्षत्राणाम् ) नक्षत्रों के ( तेजांसि ) तेजों को ( आददे ) ले लिया है । ( एव )

४—( यत् ) ( वः ) युष्माकम् ( मनः ) मननम् ( परागतम् ) धर्म विषयादन्यत्रगतम् ( यत् ) ( वद्धम् ) संसक्तम् ( इह वा इह ) इतस्तत् । अनिश्चितविषये ( वा ) अथवा ( तत् ) मनः ( वः ) युष्माकम् ( आ ) आकृष्य ( वर्तयामसि ) अभिमुखं कुर्मः ( मयि ) प्रधाने ( वः ) ( रमताम् ) रमु उपरमे । तिष्ठतु ( मनः ) ॥

१—( यथा ) येन प्रकारेण ( सूर्यः ) ( नक्षत्राणाम् ) तारकाणाम् ( उद्यन् ) उदयं प्राप्नुवन् ( तेजांसि ) प्रकाशान् ( आददे ) लिति रूपम् । स जगत् ( एव ) एवम् ( स्त्रीणाम् ) नारीणाम् ( पुंसाम् ) पुरुषाणाम् ( च च ) समुच्चये



सू० १३ [ ३३८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५५३ )

वैसे ही ( द्विषताम् ) द्वेषी ( स्त्रीणाम् ) स्त्रियों ( च च ) और ( पुंसाम् ) पुरुषों का ( वर्चः ) तेज ( आ ददे ) मैंने ले लिया है ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य अधर्मी वैरियों को दवा कर ऐसा निस्तेज कर देवे, जैसे सूर्य के निकलने पर तारे निस्तेज हो जाते हैं ॥ १ ॥

यावन्तो मा सुपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।

उदन्तसूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

यावन्तः । मा । सु-पत्नानाम् । आ-यन्तस् । प्रति-पश्यथ । उत्-  
यन् । सूर्यः-इव । सुप्तानाम् । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सपत्नानाम् ) शत्रुओं में से ( यावन्तः ) जितने लोग तुम ( मा आयन्तम् ) मुझ आते हुये को ( प्रतिपश्यथ ) निहारते हो । ( द्विषताम् ) उन वैरियों का ( वर्चः ) तेज ( आ ददे ) मैं लिये लेता हूँ ( इव ) जैसे ( उद्यन् सूर्यः ) उदय होता हुआ सूर्य ( सुप्तानाम् ) सोते हुये पुरुषों का ॥ २ ॥

भाषार्थ—जैसे सूर्य के उदय होने पर सोने वाले आलसियों का पल घट जाता है । वैसे ही तेजस्वी पुरुष अपने वैरियों को पराक्रम हीन कर देवे ॥ २ ॥

इतिप्रथमोऽनुवाकः ।

( द्विषताम् ) पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । द्विषतीनां स्त्रीणां द्विषतां पुरुषाणां च ( वर्चः ) तेजः ( आददे ) अहं जग्राह ॥

२—( यावन्तः ) यत्परिमाणाः ( मा ) माम् ( सपत्नानाम् ) शत्रूणां मध्ये ( आयन्तम् ) अभिगच्छन्तम् ( प्रतिपश्यथ ) निरीक्षध्वे ( उद्यन् ) उद्-  
गच्छन् ( सूर्यः ) ( इव ) यथा ( सुप्तानाम् ) स्वपतां जनानाम् ( द्विषताम् ) अभियकराणाम् ( वर्चः ) तेजः ( आददे ) लटि रूपम् । गृह्णामि ॥



## अथद्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ सविता देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वं देवं सवितारमोष्यैः कविक्रतुम् ।

अर्चामि सत्यसंव रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्वम् । देवम् । सवितारम् । ओष्यैः । कवि-क्रतुम् ।

अर्चामि । सत्य-संवम् । रत्न-धाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् ॥१॥

भाषार्थ—( त्वम् ) उस ( देवम् ) सुखदाता ( ओष्यैः ) सूर्य और पृथिवी के ( सवितारम् ) उत्पन्न करने वाले, ( कविक्रतुम् ) सर्वज्ञ बुद्धि वा कर्म वाले, ( सत्यसवम् ) सच्चे ऐश्वर्य वाले, ( रत्नधाम् ) रमणीय विज्ञानों वा हीरा आदिकों वा लोकों के धारण करने वाले, ( प्रियम् ) प्रीति करने वाले, ( मतिम् ) मनन करने वाले, परमेश्वर को ( अभि अभि ) बहुत भले प्रकार ( अर्चामि ) मैं पूजता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा, प्रजा और सब विद्वान् लोग उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके सदा धर्म के अनुकूल बरतें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से सामवेद में हैं—पू० पृ० ८। ८ और यजु० ४।२५ ॥

१--( अभि अभि ) सर्वतः सर्वतः ( त्वम् ) प्रसिद्धम् ( देवम् ) सुखदातारम् ( सवितारम् ) उत्पादकम् ( ओष्यैः ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४। ११८। ओणृ अपनयने-इन् । कृदिकारादक्तिनः । वा० पा० ४। १। ४५। इति डीप्। द्यावापृथिव्योः—निघ० ३। ३० ( कविक्रतुम् ) कविः सर्वज्ञा क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य तम् । कविः क्रान्त दर्शनो भवति कवतेर्वा—निरु० १२। १३ ( अर्चामि ) पूजयामि ( सत्यसवम् ) सत्यैश्वर्ययुक्तम् ( रत्नधाम् ) रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भवनानि वा दधातीति तम् ( प्रियम् ) प्रीतिकरम् । ( मतिम् ) मनु अवबोधने—क्विच् । मन्तारम् । मतयो मेधाविनः—निघ० ३। १५ ॥



ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि ।

हिरण्य-पाणिः । अमिमीत । सु-क्रतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यस्य ) जिसकी ( ऊर्ध्वा ) ऊंची, ( अमतिः ) व्यापनेवाली ( भाः ) चमक ( सवीमनि ) सृष्टि के बीच ( अदिद्युतत् ) चमकी हुई है । ( हिरण्यपाणिः ) अन्धकार वा दरिद्रता हरने वाले सूर्य आदि और सुवर्ण आदि तैजों के व्यवहार वाले, ( सुक्रतुः ) उत्तम बुद्धि वा कर्मवाले उस ईश्वर ने ( कृपात् ) अपने सामर्थ्य से ( स्वः ) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख ( अमिमीत ) रचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—उस जगदीश्वर की अनन्तशक्ति का विचार करके मनुष्य मोक्ष आनन्द के लिये सदा प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वृष्माणमस्मै वरिमाण-  
मस्मै । अथास्मभ्यं सवितुर्वार्याणि दिवोदिव आ  
सुवा भूरि पशवः ॥ ३ ॥

सावीः । हि । देव । प्रथमाय । पित्रे । वृष्माणम् । अस्मै ।

२—( ऊर्ध्वा ) उत्कृष्टा ( यस्य ) सवितुः । परमेश्वरस्य ( अमतिः ) अमे-  
रतिः । उ० ४ । ५६ । अम गतौ-अति । व्यापनशीला ( भाः ) दीप्तिः ( अदि-  
द्युतत् ) द्युत दीप्तौ स्वार्थं णिजन्ताच् चङि, रूपम् अद्युतत् । अदीपि ( सवी-  
मनि ) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे—इमनिन्,  
वा दीर्घः । सवीमनि प्रसवे-निरु०, ६ । ७ । सूद्यौ ( हिरण्यपाणिः ) हिरण्यानि  
अन्धकारस्य दरिद्र्यस्य वा हरणशीलानि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यव-  
हारे यस्य सः ( अमिमीत ) अ० ५ । १२ । ११ । निर्मितवान् ( सुक्रतुः ) शोभना  
क्रतुः प्रज्ञा, कर्म वा यस्य सः ( कृपात् ) कृपू सामर्थ्ये—क । स्वसामर्थ्यात् ( स्वः )  
स्वर्ग मोक्षसुखम् ॥



वरिमाणम् । अस्मै । अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वार्याणि ।  
दिवः-दिवः । आ । सुव । भूरि । पशवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( देव ) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू ने ( हि ) ही ( प्रथ-  
माय ) हम से पहिले वर्तमान ( पित्रे ) पालन करने वाले ( अस्मै ) इस [ पुरुष ]  
को और ( अस्मै ) इस [ दूसरे पुरुष ] को ( वर्ष्माणम् ) उच्च स्थान और  
( वरिमाणम् ) फैलाव वा उत्तमपन ( सावीः ) दिया है । ( अथ ) सो ( सवितः )  
हे सर्वप्रेरक परमेश्वर ! ( अस्मभ्यम् ) हमें ( दिवोदिवः ) सब दिनों ( वार्याणि )  
उत्तम विज्ञान और धन और ( भूरि ) बहुत ( पशवः ) मनुष्य, गौ, घोड़ा, हाथी  
आदि ( आ सुव ) भेजता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमेश्वर ने हमसे पहिले उपकारी महात्माओं  
को उच्च पदवी दी है, वैसे ही परमेश्वर की आज्ञा मान कर हम भी सुख के  
भागी हों ॥ ३ ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधत् रत्नं दक्षं पितृभ्य  
आयूषि । पिब्यात् सोमं मुमददेनमिष्टे परिजमा चित्  
क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।

३—( सावीः ) पू प्रेरणे—लुङ्, अडभावः । प्रेरितवानसि ( हि ) निश्च-  
येन ( देव ) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ( प्रथमाय ) अस्मत्प्रथमभवाय ( पित्रे )  
पालकाय । उपकारिणे पुरुषाय ( वर्ष्माणम् ) अ० ३ । ४ । २ । उन्नतस्थानम्  
( अस्मै ) एकस्मै पुरुषाय ( वरिमाणम् ) अ० ४ । ६ । २ । उरु यद्वा घर—इमनिच् ।  
उरुत्वं विस्तारम् । वरत्वं श्रेष्ठत्वम् ( अस्मै ) अन्यस्मै ( अथ ) तस्मात् ( अस्मा-  
भ्यम् ) ( सवितः ) हे सर्वप्रेरक ( वार्याणि ) वरणीयानि विज्ञानानि धनानि वा  
( दिवोदिवः ) दिवसान् दिवसान् ( आसुव ) अभिमुखं प्रेरय ( भूरि ) बहूनि  
( पशवः ) छान्दसं रूपम् । अ० १ । ३० । ३ । पशून् । मनुष्यादिजीवान् । पश-  
वौ व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ ॥



पितृभ्यः । आयूंषि । पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् ।  
इष्टे । परिज्मा । चित् । क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( दमूनाः ) दमनशील शान्त स्वभाव, ( देवः ) व्यवहार-  
कुशल, ( वरेण्यः ) स्वीकार योग्य ( सविता ) चलाने वाला पुरुष ( पितृभ्यः )  
पालन करने वाले विद्वानों के हित के लिये ( रत्नम् ) रमणीय धन, ( दत्तम् )  
वत्त और ( आयूंषि ) जीवन साधनों को ( दधत् ) धारण करता हुआ ( सोमम् )  
अमृत का ( पिबात् ) पान करे, और ( एनम् ) इस [ परमेश्वर ] को ( इष्टे )  
यज्ञ में ( ममदत् ) प्रसन्न करे, ( परिज्मा ) सब ओर चलने वाला पुरुष ( चित् )  
ही ( अस्य ) इस [ परमेश्वर ] के ( धर्मणि ) धर्म अर्थात् नियम में ( क्रमते )  
चला जाता है ॥४॥

भाषार्थ—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा करते हैं, और सर्वत्रगति होते  
हैं, वे ही आनन्द रस पीते हुये ईश्वर की आज्ञा का पालन करके आनन्द  
भोगते हैं ॥ ४ ॥

४—(दमूनाः) दमेरुनसि । उ० ४ । २३५ । दमु उपशमे—उनसि, वा दीर्घः ।  
वमिता । शान्तस्वभावः । दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा ।  
अथवा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः—निरु० ४ । ४ ( देवः )  
व्यवहारकुशलः ( सविता ) नायकः पुरुषः ( वरेण्यः ) वृज्वरण्यः । उ० ३ । ६८ ।  
वृज्वरणे—परय । स्वीकरणीयः ( दधत् ) धारयन् ( रत्नम् ) रमणीयं धनम्  
( दत्तम् ) वलम् ( पितृभ्यः ) पालकानां विदुषां हिताय ( पिबात् ) लेटि रूपम् ।  
पिबेत् ( सोमम् ) अमृतरसम् ( ममदत् ) लेडर्थे माद्यतेर्यन्तात्, लुङि, चङि  
रूपम् । मदयेत् । तर्पयेत् ( एनम् ) अन्तर्यामिनं जगदीश्वरम् ( इष्टे ) यज्ञे  
( परिज्मा ) श्वन्नुत्तनूपषन्० । उ० १ । १५६ । अज गतिकेपणयोः कनिन्, मुडा-  
गमः, अकारलोपः । परितोगन्ता । सर्वत्रगतिः पुरुषः ( चित् ) एव ( क्रमते )  
वृत्तिसर्गातायनेषु क्रमः पा० ३ । १ । ३८ । इत्यात्मनेपदम् । अप्रतिबद्धो गच्छति  
( अस्य ) परमेश्वरस्य ( धर्मणि ) धारणीये नियमे ॥



सूक्तम् १५ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कृत्य का उपदेश ॥  
तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्व-  
वाराम् । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां  
महिषो भगाय ॥ १ ॥

ताम् । सवितुः । सत्य-सवाम् । सु-चित्रास् । आ । अहम् ।  
वृणे । सु-मतिस् । विश्व-वाराम् । याम् । अस्य । कण्वः ।  
अदुहत् । प्र-पीनाम् । सहस्र-धाराम् । महिषः । भगाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सवितः ) हे सब ऐश्वर्य वाले आचार्य ! ( ताम् ) उस  
( सत्यसवाम् ) सत्य ऐश्वर्यवाली, ( सुचित्राम् ) बड़ी विचित्र, ( विश्ववाराम् )  
सब से स्वीकार करने योग्य ( सुमतिम् ) सुमति [ यथावत् विषयवाली बुद्धि ]  
को ( अहम् ) मैं ( आ ) आदरपूर्वक ( वृणे ) मांगता हूँ, ( याम् ) जिस ( प्रपी-  
नाम् ) बहुत बड़ी हुई, ( सहस्रधाराम् ) सहस्रों विषयों की धारण करनेवाली  
[ सुमति ] को ( अस्य ) इस [ जगत् ] के ( भगाय ) ऐश्वर्य के लिये ( कण्वः )  
मेधावी, ( महिषः ) पूजनीय परमात्मा ने ( अदुहत् ) परिपूर्ण किया है ॥ १ ॥

भाषार्थ—तपस्वी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी योगी, आस विद्वान् पुरुषों  
से संसार के हित के लिये परमेश्वरदत्त वेद द्वारा अपनी बुद्धि को बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ७४ ॥

१—( ताम् ) ( सवितः ) सर्वैश्वर्यनाचार्य ( सत्यसवाम् ) सत्यैश्वर्ययुक्ताम्  
( सुचित्राम् ) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चित्रं चयने-क्तं । सुचयनीयाम् ।  
महाविचित्रविषयाम् ( आ ) अङ्गीकारे ( अहम् ) स्त्री पुरुषो वा ( वृणे ) याचे  
( सुमतिम् ) शोभनां यथाविषयां प्रज्ञाम् ( विश्ववाराम् ) सर्वैर्वरणीयाम् ( याम् )  
सुमतिम् ( अस्य ) प्रसिद्धस्य जगतः ( कण्वः ) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी  
निघ० ३ । १५ ( अदुहत् ) परिपूरितवान् ( प्रपीनाम् ) प्यायते—क्तं, पीभावः ।  
प्रवृद्धाम् ( सहस्रधाराम् ) सहस्रमसंख्यानर्थान् धरति ताम् ( महिषः ) अ० २ ।  
२५ । ४ । पूजनीयः परमेश्वरः ( भगाय ) ऐश्वर्याय ॥



सूक्तम् १६ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौमगाय ।

संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्वं एनमनु मदन्तु

देवाः ॥ १ ॥

बृहस्पते । सवितः । वर्धय । एनम् । ज्योतय । एनम् ।

महते । सौमगाय । संशितम् । चित् । संस्-तरम् । सम् ।

शिशाधि । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बड़े सज्जनों के रक्षक ! (सवितः) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त उपदेशक ! (एनम्) इस [राजा] को (महते) बड़े (सौमगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (वर्धय) बढ़ा और (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (चित्) और (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (एनम्) इस [राजा] को (सन्तरम्) अतिशय करके (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् सभ्य लोग (एनम्) इस [राजा] के (अनु मदन्तु) अनुकूल प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भाषार्थ—राजसभा का उपदेशक राजा आदि सज्जनों को उत्तम उत्तम उपदेश द्वारा सुशीलता प्राप्त कराके ऐश्वर्य बढ़ाने में प्रवृत्त करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २७ । ८ ॥

१—(बृहस्पते) बृहतां सज्जनानां पालक (सवितः) विद्यैश्वर्ययुक्तोपदेशक (वर्धय) समर्धय (एनम्) राजानम् (ज्योतय) ज्योतते, ज्वलतिकर्मा-निष्० १ । १६ । ज्योतिर्वन्तं प्रतापिनं कुरु (एनम्) (महते) विशालाय (सौमगाय) उत्तमैश्वर्यभावाय (संशितम्) शो तनूकरणे—क्त । तीक्ष्णबुद्धिम् (चित्) अपि (सन्तरम्) समस्तरपि प्रत्यये । अमुचच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १२ । इति अम् । अतिशयेन (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४ । ३१ । ४ । शाधि । शिक्षय (विश्वे) सर्वे (एनम्) (अनु) अनुलक्ष्य (मदन्तु) आनन्दन्तु (देवाः) विद्वांसः सभ्याः ॥



सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ धाता देवतो ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थकृत्योपदेशः—गृहस्थ के कर्म का उपदेश ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगत्पतिः ।

स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगत्पतिः । सः ।

नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ईशानः ) ऐश्वर्यवान् ( जगत्पतिः ) जगत् का पालने वाला, ( धाता ) धाता विधाता [ सृष्टि कर्त्ता ] ( नः ) हमें ( रयिम् ) धन ( दधातु ) देवे । ( सः ) वही ( नः ) हमको ( पूर्णेन ) पूर्ण बल से ( यच्छतु ) ऊँचा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग जगत्पति परमात्मा के अनुग्रह से प्रयत्न करके धन और बल बढ़ाकर सुखी रहें ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् ।

वयम् । देवस्य । धीमहि । सु-मतिम् । विश्व-राधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( धाता ) सब का पोषण करने वाला ईश्वर ( दाशुषे ) उदारचित पुरुष को ( प्राचीम् ) अच्छे प्रकार आदर योग्य ( अक्षिताम् ) अक्षय

१—( धाता ) सर्वस्य विधाता—निरु० ११ । १० । सृष्टिकर्त्ता ( दधातु ) ददातु ( नः ) अस्मभ्यम् ( रयिम् ) धनम् ( ईशानः ) ईश्वरः ( जगत्पतिः ) पालकः ( सः ) धाता ( नः ) अस्मान् ( पूर्णेन ) समस्तेन बलेन ( यच्छतु ) यम-लोद् । उचच्छतु । उन्नयतु ॥

२—( धाता ) सर्वपोषकः ( दधातु ) ददातु ( दाशुषे ) अ० ४ । २४ । १ । दानशीलाय ( प्राचीम् ) प्रकर्षेण पूज्याम् ( जीवातुम् ) अ० ६ । ५ । २ ।



सू० १७ [ ३३२ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५६१ )

( जीवातुम् ) जीविका ( दधातु ) देवे । ( विश्वराधसः ) सर्वधनी ( देवस्य ) प्रकाश स्वरूप ईश्वर की ( सुमतिम् ) सुमति [ यथावत् विषय वाली बुद्धि ] को ( वयम् ) हम ( धीमहि ) धारण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के धारण पोषण आदि गुणों के चिन्तन से बुद्धि बढ़ा कर धनी और बली होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि, सीमन्तोन्नयन में और निरुक्त ११ । ११ । में आया है ।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।  
तस्मै देवा अमृतं संव्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ३  
धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजा-कामाय । दाशुषे ।  
दुरोणे । तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे ।  
देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( धाता ) सब का धारण करने वाला परमेश्वर ( विश्वा ) सब ( वार्या ) उत्तम विज्ञान और धन ( प्रजाकामाय ) प्रजा, उत्तम सन्तान भृत्य आदि चाहने वाले ( दाशुषे ) दानशील पुरुष को ( दुरोणे ) उसके घर में ( दधातु ) देवे । ( विश्वे ) सब ( देवाः ) विद्वान् लोग और ( देवाः ) उत्तम गुण और ( सजोषाः ) समान प्रीतिवाली ( अदितिः ) अदीन भूमि ( तस्मै )

जीविकाम्—निरु० ११ । ११ ( अक्षिताम् ) अक्षीणाम् ( वयम् ) पुरुषार्थिनः ( देवस्य ) प्रकाश स्वरूपस्य ( धीमहि ) दुधाञ् धारणपोषणयोः—विधिलिङ् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । आर्धधातुकत्वाच्छब्द न । आतो लोप इटि च । पा० ६ । ४ । ६४ । आकारलोपः । दधीमहि । धरेम ( सुमतिम् ) कल्याणी मतिम् ( विश्वराधसः ) सर्वधनिनः ॥

३—( धाता ) ( विश्वा ) सर्वाणि ( वार्या ) उत्तमानि विज्ञानानि धनानि च ( दधातु ) प्रयच्छतु ( प्रजाकामाय ) उत्तमसन्तानभृत्यादीच्छवे ( दुरोणे ) अ० ५ । २ । ६ । गृहे ( तस्मै ) पुरुषाय ( देवाः ) विद्वांसः ( अमृतम् ) अमर-णम् । पूर्णसुखम् ( सम् ) सम्यक् ( व्ययन्तु ) व्यय गतौ, वित्तसमुत्सर्गे च ।



उस पुरुष को ( अमृतम् ) अमृत [ पूर्ण सुख ] ( सम ) यथावत् ( व्ययन्तु ) पहुँचावें ॥ ३ ॥

भाषार्थ—गृहस्थ लोग परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की संगति, उत्तम गुणों की प्राप्ति और भूगोल विद्या की उन्नति से विज्ञानपूर्वक सुख-वृद्धि करें ॥ ३ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो  
अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय  
द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजा-पतिः ।  
निधि-पतिः । नः । अग्निः । त्वष्टा । विष्णुः । प्र-जया ।  
सं-रराणः । यजमानाय । द्रविणम् । दधातु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( सविता ) सर्वप्रेरक, ( धाता ) धारण करने वाला, ( रातिः ) दानाध्यक्ष, ( प्रजापतिः ) प्रजापालक, ( निधिपतिः ) निधिपति [ कोशाध्यक्ष ] और ( अग्निः ) अग्नि समान [ अविद्या रूपी अन्धकार का नाश करने वाला ] विद्वान् पुरुष [ यह सब अधिकारी ] ( नः ) हमारे ( इदम् ) इस [ गृहस्थ कर्म ] को ( जुषन्ताम् ) सेवन करें । ( विष्णुः ) सर्व व्यापक, ( संरराणः ) सम्यक् दाता, ( त्वष्टा ) निर्माता परमेश्वर ( प्रजया ) प्रजा के सहित वर्तमान ( यजमानाय ) पदार्थों के संयोजक वियोजक विज्ञानी को ( द्रविणम् ) बल वा धन ( दधातु ) देवे ॥ ४ ॥

गमयन्तु । ददतु ( विश्वे ) सर्वे ( देवाः ) उत्तमगुणाः ( अदितिः ) अदीना पृथिवी ( सजोषाः ) समानप्रीतिः ॥

४—( धाता ) धारकः ( रातिः ) कर्तरि क्तिच् । दानाध्यक्षः ( सविता ) नायकः ( इदम् ) दृश्यमानं गृहस्थकर्म ( प्रजापतिः ) प्रजापालकः ( निधि-पतिः ) कोशाध्यक्षः ( नः ) अस्माकम् ( अग्निः ) अग्नितुल्योऽविद्यान्धकार-दाहको विद्वान् ( त्वष्टा ) अ० २ । ५ । ६ । सृष्टिकर्त्ता ( विष्णुः ) सर्वव्यापकः ( प्रजया ) ( संरराणः ) अ० २ । ३४ । ३ । सम्यग् दाता ( यजमानाय ) पदार्थ-नां संयोजकवियोजकविज्ञानिने ( द्रविणम् ) बलं धनं वा ( दधातु ) ददातु ॥



भावार्थ—जैसे राजा राज्य की उन्नति के लिये अनेक अधिकारी रखता है, वैसे ही गृहस्थ लोग घर का प्रबन्ध करके परमेश्वर के अनुग्रह से वल और धन बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८। १७ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

दूरदर्शित्वोपदेशः—दूरदर्शी होने का उपदेश ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्ही३ दं दिव्यं नभः ।

उद्गो दिव्यस्य नो धातुरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

प्र । नभस्व । पृथिवि । भिन्द्ही । इदम् । दिव्यम् । नभः ।

उद्गः । दिव्यस्य । नः । धातुः । ईशानः । वि । स्य । दृतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( पृथिवि ) हे अन्तरिक्ष ! [ वायु ] ( इदम् ) इस ( दिव्यम् ) आकाश में छाये हुये ( नभः ) जल को ( प्र ) उत्तम रीति से ( नभस्व ) गिरा और ( भिन्द्ही ) छिन्न भिन्न कर दे [ फैला दे ] । ( धातुः ) हे पोषक, सूर्य ! ( ईशानः ) समर्थ तू ( नः ) हमारे लिये ( दिव्यस्य ) दिव्य [ उत्तम गुण वाले ] ( उद्गः ) जलके ( दृतिम् ) पात्र [ मेघ ] को ( वि ष्य ) खोल दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ वायु और सूर्य के संयोग वियोग सामर्थ्य से आकाश से जल बरस कर संसार का उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या आदि शुभ गुणों की बरसा से उपकार करें ॥ १ ॥

१—( प्र ) प्रकर्षेण ( नभस्व ) नभते, वधकर्मा—निघ० २। १६। पातय ( पृथिवि ) अन्तरिक्ष—निघ० १। ३। वायो इत्यर्थः ( भिन्द्ही ) छिन्नं भिन्नं कुरु ( इदम् ) ( दिव्यम् ) दिव्याकाशे भवम् ( नभः ) उदकम्—निघ० ११। १२। ( उद्गः ) पद्मोमासहृन्निश०। पा० ६। १। ६३। उदकस्य, उदन्। उदकस्य ( दिव्यस्य ) उत्तमगुणस्य ( नः ) अस्मभ्यम् ( धातुः ) हे पोषक सूर्य ( ईशानः ) समर्थः ( वि ष्य ) वो अन्तर्कर्माणि । विमुञ्च ( दृतिम् ) दृणातेर्ह्रस्वः । उ० ४। १८४। इति दृ विदारणे—ति । चर्मभयं जलपात्रम् ॥



न घ्नंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।  
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्  
तत्र भद्रम् ॥ २ ॥

न । घ्नन् । तताप । न । हिमः । जघान् । प्र । नभताम् । पृ-  
थि-वी । जीर-दानुः । आपः । चित् । अस्मै । घृतम् । इत् ।  
क्षरन्ति । यत्र । सोमः । सदम् । इत् । तत्र । भद्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( घ्नन् ) चमकता हुआ सूर्य ( न तताप ) न तपावे ( न )  
न ( हिमः ) शीत ( जघान ) मारे, [ किन्तु ] ( जीरदानुः ) गति देनेवाला  
( पृथिवी ) अन्तरिक्ष [ जल को ] ( प्र ) अच्छे प्रकार ( नभताम् ) गिरावे ।  
( आपः ) सब प्रजायें ( चित् ) भी ( अस्मै ) इस [ जगत् ] के लिये ( घृतम् )  
सार रस ( इत् ) ही ( क्षरन्ति ) वरसती हैं, ( यत्र ) जहां ( सोमः ) ऐश्वर्य  
है ( तत्र ) वहां ( सदम् इत् ) सदाही ( भद्रम् ) कल्याण है ॥ २ ॥

भावार्थ - जैसे दूरदर्शी ऐश्वर्यवान् पुरुष ठीक ठीक वृष्टि से लाभ उठा-  
कर अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अतिशीत के दुःखों से बचे रहते हैं। वैसी ही  
ज्ञानी पुरुष शान्त स्वभाव परमात्मा के विचार से आत्मिक क्लेशों से अलग  
रहकर मङ्गल मनाते हैं ॥ २ ॥

२—( न ) निषेधे ( घ्नन् ) घृ भासे—शतृ, अकारलोपः । घ्नन् । भासमानः  
सूर्यः ( तताप ) छन्दसि लुङलङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लिङर्थे—लिट् ।  
तापयेत् ( न ) ( हिमः ) हन्तेर्हिच । उ० १ । १४७ । हन्तेर्मक् । शीतलस्पर्शः  
( जघान ) हन्यात् ( प्र ) प्रकर्षेण ( नभताम् )—म० १ । हन्तु । पातयतु, नभ  
इति शेषः—म० १ ( पृथिवी ) अन्तरिक्षम् ( जीरदानुः ) जीर-दानुः । जीरी  
च । उ० २ । २३ । जु गतौ—रक्, ईकारादेशः । जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २ ।  
१५ । दाभाभ्यां नुः । ३०३ । ३२ । इति ददातेर्नु । मतिप्रदा ( आपः ) सर्वाः  
प्रजाः ( चित् ) अपि ( अस्मै ) जगते ( घृतम् ) तत्स्वरसम् ( क्षरन्ति ) सिञ्चन्ति  
( यत्र ) ( सोमः ) ऐश्वर्यम् ( सदम् ) सर्वदा ( तत्र ) ( भद्रम् ) कल्याणम् ॥



सूक्तम् १८ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—बढ़ती करने का उपदेश ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः  
 संजानानाःसंमनसःसयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातुः  
 प्रजा-पतिः । जनयति । प्र-जाः । इमाः । धाता । दधातु ।  
 सु-मनस्यमानः । सुम्-जानानाः । सम्-मनसः । स-योनयः ।  
 मयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( प्रजापतिः ) प्रजापालक परमेश्वर ( इमाः ) इन सब  
 ( प्रजाः ) सृष्टि के जीवों को ( जनयति ) उत्पन्न करता है, वह ( सुमनस्य-  
 मानः ) शुभचिन्तक ( धाता ) पोषक परमात्मा [ इनका ] ( दधातु ) पोषण  
 करे [ जो ] ( संजानानाः ) एक ज्ञान वाली, ( संमनसः ) एक मन वाली और  
 ( सयोनयः ) एक कारण वाली हैं, ( पुष्टपतिः ) वह पोषण का स्वामी [ प्रजायें ]  
 ( मयि ) मुझ में ( पुष्टम् ) पोषण ( दधातु ) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के प्रजापालकत्व आदि गुणों का विचार  
 कर के प्रीतिपूर्वक अपनी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-६ ॥ अनुमतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३—५ त्रिष्टुप्,  
 ६ जगती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

अन्वद्य नोऽनुमतियुज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

१—( प्रजापतिः ) सृष्टिपालकः परमात्मा ( जनयति ) उत्पादयति ( प्रजाः )  
 सर्वाः सृष्टीः ( इमाः ) परिदृश्यमानाः ( धाता ) पोषकः ( दधातु ) पोषयतु  
 ( सुमनस्यमानः ) अ० १ । ३५ । १ । शुभचिन्तकः ( संजानानाः ) समानज्ञानाः  
 ( संमनसः ) संगतमनस्काः ( सयोनयः ) समानकारणाः प्रजाः ( मयि ) उपा-  
 सके ( पुष्टम् ) पोषम् ( पुष्टपतिः ) पोषस्य रक्षकः ( दधातु ) ( धरयतु ) ॥



अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नुः । अनु-मतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।  
अग्निः । च । हव्य-वाहनः । भवताम् । दाशुषे । मम ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अनुमतिः ) अनुमति, अनुकूल बुद्धि ( अद्य ) आज ( नः )  
हमारे ( यज्ञम् ) संगति व्यवहार को ( देवेषु ) विद्वानों में ( अनु मन्यताम् )  
निरन्तर माने । ( च ) और ( अग्निः ) अग्नि [ पराक्रम ] ( मम दाशुषे ) मुझ  
दाता के लिये ( हव्यवाहनः ) ग्राह्य पदार्थों का पहुँचाने वाला ( भवताम् )  
होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धार्मिक व्यवहारों में अनुकूल बुद्धिवाले और  
पराक्रमी होते हैं, वेही उत्तम पदार्थों को पाकर सुखी होते हैं ॥ १ ॥

निरुक्त ११ । २६ के अनुसार ( अनुमति ) पूर्णमासी का नाम है । अर्थात्  
हमारा समय पौर्णमासी के समान पुष्टि और हर्ष करनेवाला हो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३४ । ६ ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनु-मते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नुः । कृधि ।  
जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नुः ॥ २ ॥

१—( अनु ) निरन्तरम् ( अद्य ) अस्मिन् दिने ( नः ) अस्माकम् ( अनु-  
मतिः ) अ० १ । १८ । २ । अनुकूल बुद्धिः । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति  
नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतियोत्तरा सा  
राकेति विज्ञायते । अनुमतिरनुमननात्—निरु० ११ । २६ । ( यज्ञम् ) संगति-  
व्यवहारम् ( देवेषु ) विद्वत्सु ( मन्यताम् ) जानातु । ज्ञापयतु ( अग्निः )  
पराक्रमः ( च ) ( हव्यवाहनः ) हव्येऽनन्तः पादम् । पा० । ३ । २ । ६६ । इति  
हव्य+वह प्रापणे ङ्युट् । ग्राह्यपदार्थस्य प्रापकः ( भवताम् ) आत्मनेपदं  
छान्दसम् । भवतात् ( दाशुषे ) दानशीलाय ( मम ) चतुर्थ्या पठ्यते । ममम् ॥



सू० २० [ ३३५ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५६७ )

भाषार्थ—( अनुमते ) हे अनुमति ! [ अनुकूल बुद्धिः ] ( त्वम् ) त्  
( इत् ) अवश्य [ हमारी प्रार्थना ] ( अनु मंससे ) सदा मानती रहे, ( च ) और  
( नः ) हमारे लिये ( शम् ) कल्याण ( कृधि ) कर । ( हव्यम् ) ग्रहण योग्य  
( आहुतम् ) यथावत् दिया पदार्थ ( जुषस्व ) स्वीकार कर, ( देवि ) हे देवी !  
( नः ) हमें ( प्रजाम् ) सन्तान भृत्य आदि ( ररास्व ) दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि द्वारा पथ्य कुपथ्य विचार कर युक्त आहार  
विहार करके उत्तम सन्तान और भृत्य आदि पाकर सुख भोगें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से यजु० में है—३४ । ८ ॥

अनु॑ मन्यतामनु॑मन्यमानः प्रजावन्तं॑ रयिमक्षीयमाणम् ।  
तस्य॑ वयं हेडसि मा॑पि भूम सुमृडोके अस्य सुम॑तौ स्याम ३ -  
अनु॑ । मन्य॒ताम् । अनु॑-मन्यमानः । प्रजा-वन्तम् । रयिम् ।  
अक्षीयमाणम् । तस्य॑ । वयम् । हेडसि । मा । अपि । भुम् ।  
सु-मृडोके । अस्य॑ । सु-सुतौ । स्याम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अनुमन्यमानः ) निरन्तर जानने वाला परमेश्वर ( प्रजा-  
वन्तम् ) उत्तम सन्तान, भृत्य आदि वाला, ( अक्षीयमाणम् ) न घटने वाला  
( रयिम् ) धन ( अनु ) अनुग्रह करके ( मन्यताम् ) जतावे । ( वयम् ) हम  
( तस्य ) उसके ( हेडसि ) क्रोध में ( अपि ) कभी ( मा भूम ) न हों, ( अस्य )

२—( अनु ) निरन्तरम् ( इत् ) एव ( अनुमते )—म० १ । अनुकूलबुद्धे ( त्वम् )  
( मंससे ) मन ज्ञाने अवबोधने च—लेट् । सिब्वहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ ।  
इति सिप् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इत्यद् । अवमन्येथाः ( शम् ) कल्या-  
णम् ( च ) ( नः ) अस्मभ्यम् ( जुषस्व ) स्वीकुरु ( हव्यम् ) ग्राह्यम् ( आहु-  
तम् ) समन्तात् समर्पितम् ( प्रजाम् ) सन्तानभृत्यादिरूपाम् ( देवि ) दिव्य-  
गुणे ( ररास्व ) रातेः शपः श्लुः, आत्मने पदं च । देहि ॥

३—( अनु ) सर्वदा ( मन्यताम् ) ज्ञापयतु ( अनुमन्यमानः ) निरन्तरं  
मन्ता ज्ञाता परमेश्वरः ( प्रजावन्तम् ) प्रशस्तसन्तानभृत्यादियुक्तम् ( रयिम् )  
धनम् ( अक्षीयमाणम् ) क्षि क्षये—शानच् । अक्षीणम् ( तस्य ) ईश्वरस्य ( वयम् )



( १५६८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २० [ ३३५ ]

इसके ( सुमृडीके ) उत्तम सुख में और ( सुमतौ ) सुमति [ कल्याणी बुद्धि ] में ( स्याम ) बने रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक रीति में प्राप्त किये धन से प्रजा पालन करके ईश्वर की आज्ञा में सुखके साथ सदा वर्तमान रहें ॥ ३ ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।  
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे  
सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सु-हवं । सु-प्रणीते । अनु-मते । अनु-मतम् ।  
सु-दानु । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्व-वारे । रयिम् ।  
नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( सुप्रणीते ) हे उत्तम नीतिवाली ! [ वा भले प्रकार चलाने वाली ] ( अनुमते ) अनुमति ! [ अनुकूल बुद्धि ] ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( नाम ) नाम [ यश ] ( सुहवम् ) आदर से आवाहन योग्य, ( सुदानु ) बड़ा दानी ( अनुमतम् ) निरन्तर माना गया है । ( विश्ववारे ) हे वरणीय पदार्थों वाली ! ( तेन ) उस [ अपने यश ] से ( नः ) हमारे ( यज्ञम् ) यज्ञ [ पूजनीय व्यवहार ] को ( पिपृहि ) पूरण कर दे, ( सुभगे ) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! ( नः ) हमें ( सुवीरम् ) अच्छे वीरों वाला ( रयिम् ) धन ( धेहि ) दे ॥ ४ ॥

( हेडसि ) क्रोधे—निघ० २ । १३ । ( अपि ) कदापि ( मा भूम ) न स्याम ( सुमृडीके ) मृडः कीकचकङ्कणौ । ड० ४ । २४ । इति मृड सुखने—कीकच् । शोभने सुखे ( अस्य ) ( सुमतौ ) कल्याणयां बुद्धौ ( स्याम ) भवेम ॥

४—( यत् ) ( ते ) तव ( नाम ) यशः ( सुहवम् ) आदरेण हातव्यम् ( सुप्रणीते ) शोभननीतियुक्ते । सुष्ठुप्रणेति ( अनुमते ) ( अनुमतम् ) निरन्तर ज्ञातम् ( सुदानु ) शोभनदानयुक्तम् ( तेन ) नाम्ना ( नः ) अस्माकम् ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहारम् ( पिपृहि ) पूरय ( विश्ववारे ) हे सर्वैर्वरणीयैः पदार्थैर्युक्ते ( रयिम् ) धनम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( धेहि ) देहि ( सुभगे ) प्रभूतैश्वर्ययुक्ते ( सुवीरम् ) महद्भिर्वीरैर्युक्तम् ॥



भावार्थ—सब मनुष्य सर्वमाननीय ज्ञान द्वारा धन आदि पदार्थ प्राप्त करके कीर्तिमान् होंगे ॥ ४ ॥

एवं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् । भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सैमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

आ । इमम् । यज्ञम् । अनु-मतिः । जगाम् । सु-क्षेत्रतायै । सु-वीरतायै । सु-जातम् । भद्रा । हि । अस्याः । प्र-मतिः । बभूव । सा । इमम् । यज्ञम् । अवतु । देव-गोपा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( अनुमतिः ) अनुमति [ अनुकूल बुद्धि ] ( सुजातम् ) बहुत प्रसिद्ध ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) हमारे यज्ञ [ संगति व्यवहार ] में ( सुक्षेत्रतायै ) अच्छी भूमियों और ( सुवीरतायै ) साहसी वीरों की प्राप्ति के लिये ( आ जगाम ) आई है । और ( अस्याः ) इसकी ( हि ) ही ( प्रमतिः ) अनुग्रह बुद्धि ( भद्रा ) कल्याणी ( बभूव ) हुई है, ( सा ) वही ( देवगोपा ) विद्वानों की रक्षिका [ अनुमति ] ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) हमारे यज्ञ [ पूजनीय व्यवहार ] की ( अवतु ) रक्षा करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य वेदद्वारा सत्यज्ञान पाकर चक्रवर्तीराज्य और उत्साही वीरों के पराक्रम से सुखबुद्धि करते हैं, वैसे ही मनुष्य अनुकूल मति से प्रतिकूल बुद्धि छोड़कर सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

५—( इमम् ) क्रियमाणम् ( यज्ञम् ) संगतिव्यवहारम् ( अनुमतिः ) अनुकूल बुद्धिः ( आ जगाम ) प्राप ( सुक्षेत्रतायै ) शोभनानां भूमीनां प्राप्तये ( सुवीरतायै ) उत्साहिनां वीराणां लाभाय ( सुजातम् ) सुप्रसिद्धम् ( भद्रा ) कल्याणी ( अस्याः ) अनुमतेः ( प्रमतिः ) अनुग्रहबुद्धिः ( बभूव ) ( सा ) अनुमतिः ( इमम् ) ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहारम् ( अवतु ) रक्षतु ( देवगोपा ) आयादयः आर्धधातुके वा । पा० ३ । १ । ३१ । इत्यायप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् देव + गुप् रक्षणे—अच्, टाप् । विदुषां गोप्त्री रक्षित्री ॥



अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च  
विश्वमेजति । तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु  
हि मंससे नः ॥ ६ ॥

अनु-मतिः । सर्वम् । इदम् । बभूव । यत् । तिष्ठति । चरति ।  
यत् । जं इति । च । विश्वम् । एजति । तस्याः । ते । देवि ।  
सु-मतौ । स्याम् । अनु-मते । अनु । हि । मंससे । नुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( अनुमतिः ) अनुमति [ अनुकूल बुद्धि ] ( इदम् ) इस  
( सर्वम् ) सब में ( बभूव ) व्यापी है, ( यत् ) जो कुछ ( तिष्ठति ) खड़ा होता  
है, ( चरति ) चलता है, ( च ) और ( विश्वम् ) सब ( यत् उ ) जो कुछ भी  
( एजति ) चेष्टा करता है [ हाथ पांव चलाता है ] । ( देवि ) हे देवी । ( तस्याः  
ते ) उस तेरी ( सुमतौ ) सुमति [ अनुग्रहबुद्धि ] में ( स्याम् ) हम रहें, ( अनु  
मते ) हे अनुमति । तू ( हि ) ही ( नः ) हमें ( अनु ) अनुग्रह से ( मंससे )  
जानती रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिकूलता त्यागकर प्रत्येक कर्तव्य में अनुकूलता  
देवी का ध्यान रखते हैं । वेही परमेश्वर के कृपापात्र होते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

ईश्वराज्ञापालनोपदेशः—ईश्वर की आज्ञा के पालन का उपदेश ॥

सुमेत विश्वे वचसा पतिं दिव एकौ विभूरतिथिर्जना-

६—( अनुमतिः ) म० १ । अनुकूल बुद्धिः ( सर्वम् ) समस्त जगत्  
( इदम् ) दृश्यमानम् ( बभूव ) भू प्राप्ता । प्राप ( यत् ) जगत् ( तिष्ठति )  
स्थित्या वर्तते ( चरति ) गच्छति ( यत् ) ( उ ) अपि ( च ) ( विश्वम् )  
सर्वम् ( एजाति ) एज कम्पने । साहसेन चेष्टते ( तस्याः ) तादृश्याः ( ते )  
तव ( सुमतौ ) अनुग्रहबुद्धौ ( स्याम् ) भवेम ( अनु ) अनुग्रहेण ( हि )  
अवश्यम् ( मंससे ) म० २ । जानीयः ( नः ) अस्मान् ॥



नाम् । स पुर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तुनिरनु वा-  
वृत् एकमित् पुरु ॥ १ ॥

सुम्-एत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । वि-भूः ।  
अतिथिः । जनानाम् । सः । पुर्व्यः । नूतनम् । आ-विवासत् ।  
तम् । वर्तुनिः । अनु । ववृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( विश्वे ) हे सब लोगो ! ( वचसा ) वचन [ सत्य वचन ]  
से ( दिवः ) सूर्य के ( पतिम् ) स्वामी से ( समेत ) आकर मिलो, ( एकः )  
वह एक ( विभूः ) सर्वव्यापक प्रभु ( जनानाम् ) सब मनुष्यों का ( अतिथिः )  
अतिथि [ नित्य मिलने योग्य ] है । ( सः ) वह ( पुर्व्यः ) सब का हितकारी  
ईश्वर ( नूतनम् ) इस नवीन [ जगत् ] को ( आविवासत् ) विविध प्रकार  
निवास कराता है, ( वर्तुनिः ) प्रत्येक वर्तने योग्य मार्ग ( तम् एकम् अनु ) उस  
एक [ परमात्मा ] की ओर ( इत् ) ही ( पुरु ) अनेक प्रकार से ( ववृते ) घूमा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अपने आकर्षण में रखकर  
इस नूतन जगत् का [ जिसमें नित्य नये आविष्कार होते हैं ] धारण करता है,  
विद्वान् लोग उसी की महिमा को खोजते जाते हैं ॥ १ ॥

१—( समेत ) आगत्य संगच्छध्वम् ( विश्वे ) सर्वे जनाः ( वचसा ) सत्य-  
वचनेन ( पतिम् ) स्वामिनम् ( दिवः ) सूर्यलोकस्य ( एकः ) अद्वितीयः ( विभूः )  
सर्वव्यापकः प्रभुः ( अतिथिः ) ऋतन्यज्जिवन्यज्ज्यर्पिमद्यत् ० । उ० ४ । २ ।  
इति अतः सातत्यगमने-इथिन् । अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति । अभ्येति  
तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा । अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव—  
निरु० ४ । ५ । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः । विद्वान् । अभ्यागतः ( जनानाम् )  
मनुष्याणाम् ( सः ) विभूः ( पुर्व्यः ) अ० ४ । १ । ६ । पूर्वाय समस्ताय हितः  
( नूतनम् ) अभिनवं जगत्, नित्यं नवीनाविष्कारपदत्वात् ( आविवासत् )  
आङ् + वि + वस निवासे—णिच्—लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ ।  
अप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः, इकारलोपश्च । समन्ताद् विविधं निवासयति  
( तम् ) ( वर्तनि ) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । वृत्तु वर्तने—अनि । मार्गः ( अनु )  
प्रति ( ववृते ) वृत्तु—लिट् । वर्तते स्म ( एकम् ) परमात्मानम् ( इत् ) एव ( पुरु )  
पुरुषा । अनेकधा ॥



सूक्तम् २२ ॥

१- २ ॥ परमेश्वरी देवता ॥ १ अक्षरपङ्क्तिः ; २ त्रिपादनुष्टुप् ॥

विज्ञानप्राप्त्युपदेशः—विज्ञान की प्राप्ति का उपदेश ॥

अयं सहस्रमा नौ दृशे कवीनां मृतिज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मृतिः ।

ज्योतिः । वि-धर्मणि ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अयम् ) यह [ परमेश्वर ] ( नः कवीनाम् सहस्रम् ) हम सहस्र बुद्धिमानों में ( आ ) व्यापकर ( दृशे ) दर्शन के लिये ( विधर्मणि ) विरुद्धधर्मी [ पञ्चभूत रचित स्थूल जगत् ] में ( मृतिः ) ज्ञानस्वरूप और ( ज्योतिः ) ज्योतिस्वरूप है ॥१॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने संसार में परमात्मा की महिमा निहार कर विद्वान् लोग विज्ञान, शिल्प आदि के नये नये आविष्कार करते हैं ॥१॥

ब्रूधनः समीचीरुषसः समैरयन्

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

ब्रूधनः । समीचीः । उषसः । सस् । ऐरयन् । अरेपसः । सचेतसः । स्वसरे । मन्युमत्-तमाः । चिते । गोः । ॥ २ ॥

भाषार्थ—( ब्रूधनः ) नियम में बांधने वाले [ सूर्यरूप ] परमेश्वर ने ( समीचीः ) परस्पर मिली हुई, ( अरेपसः ) निर्मल, ( सचेतसः ) समान

१—( अयम् ) सर्वज्ञानुभूयमानः परमेश्वरः ( आ ) व्याप्य ( नः ) अस्माकम् ( दृशे ) दृशे विल्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर्—के । दर्शनाय ( कवीनाम् ) मेधाविनाम् ( मृतिः ) चित्स्वरूपः ( ज्योतिः ) प्रकाशरूपः ( विधर्मणि ) विरुद्धधर्मवति पञ्चभूतनिर्मिते जगति ॥

२—( ब्रूधनः ) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ इति बन्ध बन्धने-नक्, ब्रव इत्यादेशः । ब्रूधनः=अश्वः—निघ० १ । १४ । महान्—३ । ३ । बन्धको नियामकः ।



सू० २३ [ ३३८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५७३ )

चेतने वाली, ( मन्युमत्तमाः ) अत्यन्त चमकने वाली ( उषसः ) उषाओं को ( स्वसरे ) दिनमें ( गोः ) पृथिवी के ( चिते ) ज्ञान के लिये ( सम् ) यथावत् ( ऐरयन् ) भेजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर, सूर्य के आकर्षण द्वारा पृथिवी के घुमाव से रात्रि के पश्चात्, प्रकाश करता है । वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान नाश करके ज्ञान के साथ प्रकाशमान होते हैं ॥२॥

इतिद्वितीयोऽनुवाकः ॥

## अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २३ ॥

१ ॥ प्रजा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

दौर्षपण्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराग्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

दौः-स्वपण्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराध्यः ।

दुः-नास्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥१॥

सूर्यः । सूर्यादीनामाकर्षकः परमात्मा (समीचीः) संगताः ( उषसः ) प्रभातवेलाः ( सम् ) सम्यक् ( ऐरयन् ) बहुवचनं छान्दसम् । ऐरयत् । प्रेरितवान् ( अरे-पसः ) निर्मलाः ( सचेतसः ) समान चेतनकारिणीः ( स्वसरे ) दिने-निघ० १ । ६ । ( मन्युमत्तमाः ) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । इति मन दीप्तौ-युच् । मन्युमन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा । मन्यन्त्यस्मादिषवः-निरु० १० । २६ । अतिशयेन दीप्तयुक्ताः ( चिते ) चित्ती संज्ञाने-किप् । ज्ञानाय ( गोः ) भूमेः ॥



( १५७४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २४ [ ३३८ ]

भाषार्थ—(दौष्वप्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभवम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्गन्धिः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १ ॥

भाषार्थ—राजा की सुनीति से प्रजा गण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है । अ० ४ । १७ । ५ ।

सूक्तम् २४ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

यन् इन्द्रो अखनत् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत्सु-  
र्काः । तदस्मभ्यं सविता सुत्यधर्मा प्रजापतिरनुम-  
तिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

यत् । नः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अग्निः । विश्वे । देवाः ।  
मरुतः । यत् । सु-सुर्काः । तत् । अस्मभ्यम् । सविता । सुत्य-  
धर्मा । प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । नि । यच्छात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ऐश्वर्य] (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने और (यत्) जो (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी पुरुष ने (अखनत्) खोदा है, और (यत्) जो (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल,

१—अयं मन्त्री व्याख्यातः—अ० ४ । १७ । ५ ॥

१—(यत्) ऐश्वर्यम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो मनुष्यः (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (यत्) (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (विश्वे) सर्वे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः (यत्)



सू० २५ [ ३४० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५७५ )

(स्वर्काः) बड़े वज्रवाले (मरुतः) शूर लोगों ने [खोदा है] । (तत्) वह [वैसाही ऐश्वर्य] (अस्मभ्यम्) हमें (सत्यधर्मा) सत्य धर्मी, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाला (सविता) सृष्टिकर्ता परमेश्वर (नि) नियम पूर्वक (यच्छात्) देता रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार ऐश्वर्यवान्, प्रतापी, व्यवहार निपुण, शूरवीर पुरुषों ने ऐश्वर्य पाया है । वसी प्रकार विज्ञानी सत्यपराक्रमी पुरुष परमेश्वर के अनन्त कोश से ऐश्वर्य पाते रहें ॥ १ ॥

(मरुतः) शब्द का विशेष विवरण अ० १ । २० । १ । में देखो ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-२ ॥ विष्णुवरुणौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

ययोरोजसा स्कृभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमाशविष्ठा ।  
यौ पत्यैते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगुन्वरुणं पूर्वहूतिः १  
ययोः । ओजसा । स्कृभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीर-  
तमा । शविष्ठा । यौ । पत्यैते इति । अप्रति-इतौ । सहो-भिः ।  
विष्णुस् । अगुन् । वरुणम् । पूर्व-हूतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कृभिता) धर्में हुये हैं, (यौ) जो दोनों (वीर्यैः) अपने

ऐश्वर्यम् (स्वर्काः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायां क, चस्य कः । अर्कः=अन्नम्-निघ० २ । ७ । वज्रः-२ । २० । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृत्तो भवति संवृतः कटुकिम्ना०-निरु० ५ । ४ । शोभनाम्नाः । सुवज्रिणः । सुपरिडिताः । सुमन्त्रिणः (तत्) ऐश्वर्यम् (अस्मभ्यम्) (सविता) सर्वज्ञश्च (सत्यधर्मा) सत्यानि धर्माणि धारणसामर्थ्यानि यस्य सः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (अनुमतिः) अनुकूलो मतिर्बुद्धिर्यस्य सः (नि) नियमेन (यच्छात्) दद्यात् ॥

१—(ययोः) विष्णुवरुणयोः (ओजसा) बलेन (स्कृभिता) स्कन्म स्तम्भे—क, शैलोपः । स्तभितानि । इद्वीकृतानि । (रजांसि) लोकाः-निरु० ४ ।



( १५७६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २५ [ ३४० ]

पराक्रमों से ( वीरतमा ) अत्यन्त वीर और ( शविष्ठा ) महाबली हैं, ( यौ ) जो दोनों ( सहोभिः ) अपने बलों से ( अप्रतीतौ ) न रुकने वाले होकर ( पत्येते ) पेश्वर्यवान् हैं, [ उन दोनों ] ( विष्णुम् ) व्यापनशील [ वा सूर्य समान प्रतापी ] राजा और ( वरुणम् ) श्रेष्ठ [ वा जल समान उपकारी ] मन्त्री को ( पूर्वहूतिः ) सब लोगों का आवाहन ( अगन् ) पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री बलवान् और धार्मिक होते हैं, वहां प्रजागण उनका सदा सन्मान करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में—है अ० ८ । ५६ ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे  
शचीभिः । पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्  
वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

यस्य । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । प्र । च । अति ।  
वि । च । चष्टे । शचीभिः । पुरा । देवस्य । धर्मणा । सहो-भिः ।  
विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्व-हूतिः ॥ २ ॥

भावार्थ—( यस्य ) जिन ( देवस्य ) व्यवहारकुशल [ राजा और मन्त्री ] के ( प्रदिशि ) अच्छे शासन में ( धर्मणा ) उनके धर्म अर्थात् नीति

१६। ( यौ ) विष्णुवरुणौ ( वीर्यैः ) पराक्रमैः ( वीरतमा ) अतिशयेन वीरौ ( शविष्ठा ) शवः=बलम्—निघ० २ । ६ । शवस्वि—ईष्टन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । विनिलोपः । अतिशविस्विनौ । बलवन्तौ ( यौ ) ( पत्येते ) पत पेश्वर्यौ । ईशाते । पेश्वर्यं प्राप्नुतः ( अप्रतीतौ ) इण् गतौ—क । अप्रतिगतौ । अतिरस्तुतौ ( सहोभिः ) बलैः ( विष्णुम् ) अ० ३ । २० । ४ । व्यापनशीलं वा सूर्यवत्प्रतापिनं राजानम् ( अगन् ) अ० २ । ६ । ३ । अगमत् । प्रापत् ( वरुणम् ) अ० १ । ३ । ३ । श्रेष्ठं वा जलसमानोपकारिणं मन्त्रिणम् ( पूर्वहूतिः ) पूर्वाणां समस्तानां जनानां हूतिराह्वानम् ॥

२—( यस्य ) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । अत्र द्विवचनस्यैकवचनम् । ययोः ( इदम् ) राज्यम् ( प्रदिशि ) अनुशासने ( यत् ) विश्वम्



सू० २६ [ ३४१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५७७ )

और (सहोभिः) पराक्रम से (इदम्) यह [राज्य] है, (यत्) जो कुछ (पुरा) हमारे सन्मुख (शचीभिः) अपने कर्मों से (विरोचते) जगमगाता है, (च) और (प्र अनति) श्वास लेता है (च) और (वि चष्टे) निहारता है, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ मन्त्री को (पूर्ववृत्तिः) सब का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ २ ॥

भाषार्थ—जहां राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से प्रजा के सब स्थावर और जंगम पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, वहां सब लोग प्रसन्न रह कर उस राज्य की प्रशंसा करते हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-८ ॥ विष्णुर्देवता ॥ १, २, ८ त्रिष्टुप्; ३ यस्योरुषु...

द्विपात् त्रिष्टुप्, उरु...अनुष्टुप्; ४-७ गायत्री ॥

व्यापकेश्वरगुणोपदेशः—व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विमुमे  
रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सुधस्थं विचक्रमाणस्त्रे-  
धोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थि-  
वानि । वि-मुमे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्-तरम् ।  
सुध-स्थम् । वि-चक्रमाणः । त्रेधा । उरु-गायः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विष्णोः) विष्णु व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (कम्) सुख से (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूँ, (यः)

(विरोचते) विविधं दीप्यते (प्र) प्रकर्षेण (च) (अनति) अनिति । श्वसिति (च) (वि) विविधम् (च) (वि) विविधम् (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) कर्मभिः—निघ्न० १ । २ (पुरा) अस्माकं निकटे (देवस्य) व्यवहारकुशलयोः (धर्मणा) धारणसामर्थ्येन (सहोभिः) पराक्रमैः । अन्यत्पूर्ववत्-म० १ ॥

१—(विष्णोः) अ० ३ । २० । ४ । सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (नु) शीघ्रम् (कम्) सुखेन (वोचम्) अ० २ । ५ । ५ । उच्यते (वीर्याणि) पराक्रमात्



( १५७८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २६ [ ३४१ ]

जिसने ( पार्थिवानि ) भूमिस्थ और अन्तरिक्षस्थ ( रजांसि ) लोकों को ( विममे ) अनेक प्रकार रचा है, ( यः ) जिस ( उरुगायः ) बड़े उपदेशक प्रभु ने ( उत्तरम् ) सब अवयवों के अन्त ( सधस्थम् ) साथ में रहने वाले कारण को ( विचक्रमाणः ) चलाते हुये ( त्रेधा ) तीन प्रकार से [ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप से ] [ उन लोकों को ] ( अस्कभायत् ) थांभा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति देकर अनेक लोकों को बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से धारण करता है, उसकी भक्ति सब मनुष्य सदा किया करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १५४। १। और यजुर्वेद में ५। १८॥

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो  
गिरिष्ठाः । पुरावत् आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः ।  
कुचरः । गिरि-स्थाः । पुरा-वत् । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥ २ ॥

भावार्थ—( भीमः ) डरावने, ( कुचरः ) टेढ़े टेढ़े चलने वाले [ ऊंचे नीचे दायें बायें जाने वाले ] ( गिरिष्ठाः ) पहाड़ों पर रहने वाले ( मृगः न ) आखेट दूँढ़ने वाले सिंह आदि के समान, ( तत् ) वह ( विष्णुः ) सर्वव्यापी

( यः ) विष्णुः ( पार्थिवानि ) पृथिवी, पृथिवीनाम-निघ० १। १। अन्तरिक्षम् १। ३। तत्र विदित इति च । पा० ५। १। ४३ । इति पृथिवी-अञ् । भूमिस्थानि अन्तरिक्षस्थानि च ( विममे ) विविधं निर्मितवान् ( रजांसि ) लोकान् ( यः ) विष्णुः ( अस्कभायत् ) अ० ४। १। ४ । अस्कभ्नात् । स्तम्भितवान् ( उत्तरम् ) उद्गततरम् । सर्वान्तावयवम् ( सधस्थम् ) यत् सह तिष्ठति तत्कारणम् ( विचक्रमाणः ) विपूर्वस्य क्रमतेः कोनच् । अन्तर्गतण्यर्थः । विशेषेण चालयन् ( त्रेधा ) त्रिप्रकारेण, उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण ( उरुगायः ) अ० २। १२। १। बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति यः सः । बहूपदेशकः ॥

२—( प्र ) प्रकर्षेण ( तत् ) सः ( विष्णुः ) व्यापकेश्वरः ( स्तवते ) छान्दसः शप् । स्तुते । स्तुत्यं करोति ( वीर्याणि ) पराक्रमान् ( मृगः ) यो मोर्ष्यान्विच्छति वधाय जीवान् । सिंहादिः ( न ) इव ( भीमः ) भयानकः ( कुचरः )



सू० २६ [ ३४१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५९८ )

विष्णु ( वीर्याणि ) अपने पराक्रमों को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( स्तवते ) स्तुति  
योग्य बनाता है । वह ( परावतः ) समीप दिशा से और ( परस्याः ) दूर दिशा से  
( आ जगम्यात् ) आता रहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—जैसे सिंह का पराक्रम जंगलीय पशुओं में विदित होता है,  
वैसे ही सर्वव्यापी, पापियों के दण्ड देने वाले परमात्मा का सामर्थ्य निकट और  
दूर सब लोकों में प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग ऋग्वेद में है—म० १ । १५४ । २ । और यजु० अ० ५।  
२० । ( मृगो न.....गिरिष्ठाः ) यह पाद निरुक्त १ । २० में व्याख्यात है ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।  
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । वि-क्रमणेषु । अधि-क्षियन्ति ।  
भुवनानि । विश्वा । उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व ।  
उरु । क्षयाय । नः । कृधि । घृतम् । घृत-योने । पिब । प्र-प्र ।  
यज्ञ-पतिम् । तिर ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यस्य ) जिसके ( उरुषु ) विस्तीर्ण [ उत्पत्ति स्थितिप्रलय  
रूप ] ( त्रिषु ) तीन ( विक्रमणेषु ) विविध क्रमों [ नियमों ] में ( विश्वा ) सब  
( भुवनानि ) लोक लोकान्तर ( अधिक्षियन्ति ) भले प्रकार रहते हैं । [ वही ]  
( विष्णो ) हे सर्वव्यापक विष्णु तू ( उरु ) विस्तार से ( वि क्रमस्व ) विक्रमी

कुत्सितं चरन् ( गिरिष्ठाः ) पर्वतस्थायी ( परावतः ) अ० ३ । ४ । ५ । परा  
आभिमुख्ये । अभिमुखगताया दिशायाः ( आ जगम्यात् ) शपः श्लुः, विधिलिङ् ।  
आगच्छेत् ( परस्याः ) दूरदिशायाः ॥

३—( यस्य ) विष्णोः ( उरुषु ) विस्तृतेषु ( त्रिषु ) उत्पत्तिस्थितिप्रलय-  
रूपेषु ( विक्रमणेषु ) विविधेषु क्रमेषु नियतविधानेषु ( अधिक्षियन्ति ) अधिक  
निवसन्ति ( भुवनानि ) जगति ( विश्वा ) सर्वाणि ( उरु ) यथा तथा । विस्ता-  
रेण ( विक्रमस्व ) विक्रमी पराक्रमी भव ( क्षयाय ) क्षि निवासगतिहिंसै-



हो, और ( नः ) हमें ( क्षयाय ) ज्ञान वा ऐश्वर्य के लिये ( उरु ) विस्तार के साथ ( कृधि ) कर । ( धृतयोने ) हे प्रकाश के घर ! ( धृतम् ) धृत के समान तत्त्वरस ( पिब=पायय ) [ हमें ] पान करा और ( यज्ञपतिम् ) पूजनीय कर्म के रक्षक मनुष्य को ( प्र प्र ) अच्छे प्रकार ( तिर ) पार लगा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों का स्वामी है, सब मनुष्य उसकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥

( यस्य उरुषु... ) यह पाद ऋग्वेद में है—१ । १५४ । २ । और यजु० ५ । २० ॥ ( उरु विष्णो... ) यह मन्त्र यजुर्वेद में है—५ । ३८, ४१ ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा ।

समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ।

सम्-ज'ढम् । अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( विष्णुः ) विष्णु सर्वव्यापी भगवान् ने ( समूढम् ) आपस में एकत्र किये हुये वा यथावत् विचारने योग्य ( इदम् ) इस जगत् को ( विचक्रमे ) पराक्रमयुक्त [ शरीरवाला ] किया है, उसने ( अस्य ) इस जगत् के ( पदा ) स्थिति और गति के कर्मों को ( त्रेधा ) तीन प्रकार ( पांसुरे ) परमा-

श्वर्येषु-अच् । विज्ञानस्य ऐश्वर्यस्य बोधतये ( नः ) अस्मान् ( कृधि ) कुह ( धृतम् ) धृतवत्तत्त्वरसम् ( धृतयोने ) योनिर्गृहम्—निघ० ३ । ४ । हे धृतस्य प्रकाशस्य योने गृह ( पिब ) अन्तर्गतणिच् । अस्मान् पायय ( प्र प्र ) अधिक प्रकर्षेण ( यज्ञपतिम् ) पूजनीयकर्मणां पातारं पुरुषम् ( तिर ) तारय । पारय ॥

४—( इदम् ) परिदृश्यमानं जगत् ( विष्णुः ) व्यापकः परमेश्वरः ( विचक्रमे ) विक्रान्तं पराक्रमयुक्तं सशरीरं कृतवान् ( त्रेधा ) त्रिप्रकारम् ( निदधे ) नियमेन स्थापयामास ( पदा ) पद स्थैर्यं गतौ च-अच् । स्थितिगतिकर्माणि ( समूढम् ) सम् + वह प्रापणे, ऊह वितर्के वा-क्त राशीकृतम् । सम्यगू वितर्कणीयमनुमीयं जगत् ( अस्य ) जगतः ( पांसुरे ) नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् ।



सू० २६ [ ३४१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८९ )

शुद्धो वाले अन्तरिक्ष में ( नि दधे ) स्थिर किया है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणुओं से रचकर उत्पत्ति, स्थिति प्रलय द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक, अर्थात् नीचे, मध्यम और ऊँचे स्थानों में धारण किया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। २२। १७; यजु०-५। १५, और साम० पू० ३। ३। ६। और उ० ८। २। ८। भगवान् यास्क ने निरु० १२। १८, १६ में भी इस मन्त्र की व्याख्या की है ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।

इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( गोपाः ) सर्वरक्षक (अदाभ्यः) न दबने योग्य (विष्णुः) विष्णु अन्तर्यामी भगवान् ने ( त्रीणि ) तीनों (पदा) जानने योग्य वा पाने योग्य पदार्थों [ कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु लोक ] को ( वि चक्रमे ) समर्थ [ शरीरधारी ] किया है । ( इतः ) इसी से वह (धर्माणि) धर्मों वा धारण करनेवाले [ पृथिवी आदि ] को ( धारयन् ) धारण करता हुआ है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जो परमेश्वर नानाविध जगत् को रचकर धारण कर रहा है, उसी की उपासना सब मनुष्य नित्य किया करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। २२। १८; यजु०-३४। ४३; और साम० उ० ८। २। ५।

वा० पा० ५। २। १०७। इति पांसु-रो मत्वर्थे । पांसुभी रजोभिः परमाणुभि-  
र्युक्तेऽन्तरिक्षे ॥

५—( त्रीणि ) ( पदा ) पदानि ज्ञातव्यानि प्राप्तव्यानि वा कारणस्थूल-  
सूक्ष्मरूपाणि, अथवा भूम्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि पदार्थजातानि ( वि चक्रमे )  
विक्रान्तवान् । समर्थानि सावयवानि कृतवान् (विष्णुः) अन्तर्यामीश्वरः (गोपाः)  
अ० ५। ६। ८। गोपयिता । रक्षकः ( अदाभ्यः ) अ० ३। २१। ४। अहिंस्यः ।  
अजेयः ( इतः ) अस्मात्कारणात् ( धर्माणि ) धर्मान् धारकाणि पृथिव्यादीनि  
वा ( धारयन् ) पोषयन् । धर्षयन् वर्तत इति शेषः ॥



विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रूतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । ब्रूतानि । पस्पशे ।  
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( विष्णोः ) सर्व व्यापक विष्णु के ( कर्माणि ) कर्मों [ जगत् का बनाना, पालन, प्रलय आदि ] को ( पश्यत ) देखो, ( यतः ) जिससे उसने ( ब्रूतानि ) ब्रूतों [ सब के कर्त्तव्य कर्मों ] को ( पस्पशे ) बांधा है । ( युज्यः ) वह योग्य [ अथवा सब से संयोग रखनेवाले दिशा, काल, आकाश आदि में रहने वाला ] परमेश्वर ( इन्द्रस्य ) जीव का ( सखा ) सखा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने संसार रचकर सब को नियम में बांधा है, वही सब में रमकर सब का हितकारी है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। २२। १८; यजु-६। ४, १३। ३३; और साम० ७०-८। २। ५ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सुरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सुरयः ।  
दिवि-इव । चक्षुः । आ-ततम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( सुरयः ) बुद्धिमान् परिडित लोग ( विष्णोः ) सर्वव्यापक विष्णु के ( तत् ) उस ( परमम् ) अति उत्तम ( पदम् ) पाने योग्य स्वरूप को

६—( विष्णोः ) व्यापकस्य ( कर्माणि ) जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादीनि ( पश्यत ) संप्रेक्ष्यम् ( यतः ) येन ( ब्रूतानि ) कर्त्तव्यकर्माणि ( पस्पशे ) स्पश बन्धनस्पर्शनयोः—लिट् । बद्धवान् । नियमितवान् ( इन्द्रस्य ) जीवस्य ( युज्यः ) युज-क्यप्, योग्यः । यद्वा । युज-क्विप्, भवे यत् । युजन्ति व्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् ते युजो दिक्कालाकाशादयस्तत्र भवः ( सखा ) मित्रम् ॥

७—( तत् ) प्रसिद्धम् ( विष्णोः ) व्यापकस्य ( परमम् ) सर्वोत्कृष्टम् ( पदम् ) प्राप्तव्यं स्वरूपं मोक्षम् ( सदा ) सर्वदा ( पश्यन्ति ) संप्रेक्षन्ते ।



सू० २६ [ ३४१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८३ )

( सदा ) सदा ( पश्यन्ति ) देखते हैं ( इव ) । जैसे ( दिवि ) प्रकाश में ( आत-  
तम् ) फैला हुआ ( चक्षुः ) नेत्र [ दृश्य पदर्थों को देखता है ] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी सूर्य आदि के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से पदार्थों को  
देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से अपने आत्मा में जगदीश्वर  
के आनन्दस्वरूप मोक्ष पद को साक्षात् करके आनन्द पाते हैं ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । २० ; यजु०—६ । ५ ; साम० उ०—८ ।

२ । ५ ॥

दिवो विष्णो उत वा पृथिव्या मुहो विष्णो उरोरन्तरिक्षात् ।  
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्बु सव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोतसव्यात्  
दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । मुहः । विष्णो  
इति । उरोः । अन्तरिक्षात् । हस्तौ । पृणस्व । बहु-भिः ।  
वसव्यैः । आ-प्रयच्छ । दक्षिणात् । आ । उत । सव्यात् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु ! (दिवः) सूर्य लोक से (उत)  
और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से, (वा) अथवा, (विष्णो) हे विष्णु !  
(मुहः) बड़े (उरोः) चौड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (बहुभिः)  
बहुत से (वसव्यैः) धन समूहों से (हस्तौ) दोनों हातों को (पृणस्व) भर,  
(उत) और (दक्षिणात्) दाहिने (उत) और (सव्यात्) बायें हात से  
(आप्रयच्छ) अच्छे प्रकार से दान कर ॥ ८ ॥

साक्षात्कुर्वन्ति (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । मेधाविनः परिडताः (दिवि)  
सूर्यादिप्रकाशे (इव) यथा (चक्षुः) नेत्रम् । पश्यति दृश्यानि इति शेषः (आततम्)  
प्रसृतम् ॥

८—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (विष्णो) हे सर्वव्यापक (उत)  
अपि (वा) अथवा (पृथिव्याः) भूलोकात् (मुहः) मह-क्वप् । विशालात्  
(उरोः) उरुणः । विस्तीर्णात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (हस्तौ) करौ (पृणस्व)  
पूरय (बहुभिः) अधिकैः (वसव्यैः) वसोः समूहे च । पा० ४ । ४ । १४० ।  
वसु-यत् । वसूनां धनानां समूहैः (आप्रयच्छ) समन्ताद् देहि (दक्षिणात्)  
दक्षिणहस्तात् (आ) चार्थे (उत) अपि (सव्यात्) वामहस्तात् ॥



( १५८४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २७ [ ३४२ ]

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि लोक लोकान्तर और सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन आदि की प्राप्ति से आनन्द भोगें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है—५ । १६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१ ॥ इडा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

इडै वास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः  
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठाप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः ।  
पदे । पुनते । देव-यन्तः । घृत-पदी । शक्वरी । सोम-पृष्ठा ।  
उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्व-देवी ॥१॥

भाषार्थ—( इडा एव ) वही प्रशंसनीय विद्या ( अस्मान् ) हमें ( व्रतेन ) उत्तम कर्म से ( अनु ) अनुग्रह करके ( वस्ताम् ) ढके [ शोभायमान करे ], ( यस्याः ) जिसके ( पदे ) अधिकार में ( देवयन्तः ) उत्तमगुण चाहने वाले पुरुष ( पुनते ) शुद्ध होते हैं । [ और जो ] ( घृतपदी ) प्रकाश का अधिकार रखने वाली, ( शक्वरी ) समर्थ, ( सोमपृष्ठा ) ऐश्वर्य सींचने वाली, ( वैश्व-

१—( इडा ) अ० ३ । १० । ६ । स्तुत्या विद्या । वाक्—निघ० ३ । ११ । ( एव ) अवधारणे ( अस्मान् ) सत्यकर्मणः ( अनु ) अनुग्रहेण ( वस्ताम् ) वस आच्छादने । आच्छादयतु । अलङ्करोतु ( व्रतेन ) शुभकर्मणा ( यस्याः ) इडायाः ( पदे ) अधिकारे ( पुनते ) शुद्ध्यन्ति ( देवयन्तः ) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । देव—क्यच्, शतृ । देवान् शुभगुणान् आत्मन इच्छन्तः ( घृत-पदी ) घृतं प्रकाशः पदे अधिकारे यस्याः सा ( शक्वरी ) अ० ३ । १३ । ७ । शक्ता । समर्था ( सोमपृष्ठा ) अ० ३ । २१ । ६ । ऐश्वर्यसेचिका ( उप अस्थित )



सू० २८ [ ३४३ ]

सप्तमं कारणम् ॥ ७ ॥

( १५८५ )

देवी) सब उत्तम पदार्थों से सम्बन्ध वाली होकर ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहार में ( उप अस्थित ) उपस्थित हुई है ॥१॥

भाषार्थ—मनुष्य वेद द्वारा शास्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, वाणिज्य-विद्या आदि प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

सूक्तम् २८ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्ञकर्मोपदेशः—यज्ञ करने का उपदेश ॥

वेदः स्वस्तिर्दुघ्नः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।  
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं  
जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । दु-घ्नः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः ।  
परशुः । नः । स्वस्ति । हविः-कृतः । यज्ञियाः । यज्ञ-कामाः ।  
ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( वेदः ) वेद [ ईश्वरीय ज्ञान ] ( स्वस्तिः ) मङ्गलकारी हो, ( दुघ्नः ) मुद्गर [ मेङ्गरी ] ( स्वस्तिः ) मङ्गलकारी हो, ( वेदिः ) वेदी [ यज्ञभूमि, हवनकुण्ड आदि ], ( परशुः ) फरसा [ वा गड़ासी ] और ( परशुः ) कुल्हाड़ी ( नः ) हमें ( स्वस्ति ) मङ्गलकारी हो । ( हविष्कृतः ) देने लेने योग्य

उपस्थिता अभवत् ( यज्ञम् ) पूजनीयं व्यवहारम् ( वैश्वदेवी ) दिव्यपदार्थानां सम्बन्धिनी ॥

१—( वेदः ) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने, विद सत्ता-याम्, विदलृ लाभे, विद विचारणे-घञ् । संहितात्मकः परमेश्वरोक्तो ग्रन्थभेदः ( स्वस्तिः ) अ० १ । ३० । २ । मङ्गलकरः ( दुघ्नः ) करणेऽप्येविदुषु । पा० ३ । ३ । ८२ । इति दु + हन्-अप्, घनादेशश्च । पूर्वपदात्संज्ञायामगः । पा० ८ । ४ । ३ । इति णत्वम् । इमयः काष्ठमयो घनः । मुद्गरः ( स्वस्तिः ) ( परशुः ) अ० ३ । १६ । ४ । तृणादिच्छेदनी ( वेदिः ) हविषिहविष्यतिविदि० । उ० ४ ।



( १५८६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० २८ [ ३४४ ]

व्यवहार करने वाले, ( यज्ञियाः ) पूजनीय, ( यज्ञकामाः ) मिलाप चाहने वाले ( ते ) वे ( देवासः ) विद्वान् लोग ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) यज्ञ [ पूजनीय कर्म को ] ( जुषन्ताम् ) स्वीकार करें ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य वेदज्ञान द्वारा सब उचित सामग्री लेकर विद्वानों के सत्संग से अग्नि में हवन तथा शिल्प सम्बन्धी संयोग वियोग आदि क्रिया करके आनन्दित रहें ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-२ ॥ अग्नाविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्युत्सूर्यगुणोपदेशः—विजुली और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम । दमेदमेसुप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू इति । महि । तत् । वाम् । महि-त्वम् । पाथः । घृतस्य । गुह्यस्य । नाम । दमे-दमे । सुप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्नाविष्णू ) हे विजुली और सूर्य ! ( वाम् ) तुम दोनों का ( तत् ) वह ( महि ) बड़ा ( महित्वम् ) महत्त्व है, ( गुह्यस्य ) रक्षणीय,

११६ । इति विद ज्ञाने—इन् । यज्ञभूमिः । हवनकुण्डादिः । परिडतः ( परशुः ) वृक्षच्छेदनसाधन कुठारः ( नः ) अस्मभ्यम् ( स्वस्ति ) सुखकरः ( हविष्कृतः ) दातव्यग्राह्यव्यवहारकर्तारः ( यज्ञियाः ) आदरार्हाः ( यज्ञकामाः ) संगति कामयमानाः ( ते ) प्रसिद्धाः ( देवासः ) व्यवहारिणो विद्वांसः ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहारम् ( इमम् ) ( जुषन्ताम् ) सेवन्ताम् ॥

१—( अग्नाविष्णू ) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । पूर्वपदस्यानङ् । हे विद्युत्सूर्यौ ( महि ) महत् ( तत् ) प्रसिद्धम् ( वाम् ) युवयोः ( महित्वम् ) महत्त्वं प्रभुत्वम् ( पाथः ) पा रक्षणे—लट् । रक्षथः ( घृतस्य ) सारसस्य



सू० २८ [ ३४४ ]

सप्तमं कारणम् ॥ ७ ॥

( १५८७ )

वा गुप्त ( घृतस्य ) सार रस के ( नाम ) भुक्ताव की ( पाथः ) तुम दोनों रक्षा करते हो । ( दमेदमे ) घर घर में [ प्रत्येक शरीर वा लोक में ] ( सप्त ) सात ( रत्ना ) रत्नों [ धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ] को ( दधानौ ) धारण करने वाले हो, ( वाम् ) तुम दोनों की ( जिह्वा ) जय शक्ति ( घृतम् ) सार रस को ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से ( आ ) भले प्रकार ( चरय्यात् ) बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जाठर अग्नि वा बिजुली अन्न को पकाकर उसके सार रस से सात धातु, रस, रुधिर आदि बनाकर शरीर को पुष्ट करता है । और सूर्य पार्थिव जल को खींच कर मेघ बनाकर वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥१

अग्नाविष्णु महि धामं प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्यां  
जुषाणौ । दमेदमे सुस्तुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा  
घृतमुच्चरय्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णु इति । महि । धामं । प्रियम् । वाम् । वीथः ।  
घृतस्य । गुह्यां । जुषाणौ । दमे-दमे । सु-स्तुत्या । ववृधानौ ।  
प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । उत् । चरय्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्नाविष्णु ) हे बिजुली और सूर्य ( वाम् ) तुम दोनों का ( महि ) बड़ा ( प्रियम् ) प्रीति करने वाला ( धाम ) धर्म वा नियम है, तुम

( गुह्यस्य ) अ० ३ । ५ । ३ । गोपनीयस्य । गुप्तस्य ( नाम ) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति नमतेर्मनिन्, मलोपो दीर्घश्च । नमनं प्रापणम् ( दमेदमे ) गृहे गृहे ( सप्त रत्ना ) रमणीयान् सप्तधातून् । रसासृद्धमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः । इति शब्दकल्पद्रुमः ( दधानौ ) धारयन्तौ ( प्रति ) प्रत्यक्षम् ( वाम् ) युवयोः ( जिह्वा ) शेवायहजिह्वा० । उ० १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् च । जयशक्तिः ( घृतम् ) साररसम् ( आचरय्यात् ) चरण गतौ कण्डवादौ—लेद् । आचरेत् । साधयेत् ॥

२—( अग्नाविष्णु ) म० १ । विद्युत्सूर्यौ ( धाम ) धर्मः । नियमः ( प्रियम् ) प्रीतिकरम् ( वीथः ) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनस्त्रादनेषु ।



दोनों ( धृतस्य ) सार रस के ( गुह्या ) सूक्ष्मतरंगों को ( जुषाणौ ) सेवन करते हुये ( वीथः ) प्राप्त होते हो । ( दमेदमे ) घर घर में ( सुष्टुत्या ) बड़ी स्तुति के साथ ( ववृधानौ ) वृद्धि करते हुये [ रहते हो, ] ( वाम् ) तुम दोनों को ( जिह्वा ) जयशक्ति ( धृतम् ) सार रस को ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से ( उत् ) उत्तमता के साथ ( चरण्यात् ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—विजुली वा शारीरिक अग्नि और सूर्यके नियम बड़े अद्भुत हैं, विजुली अन्न के रस से शरीर को पुष्टि करती और सूर्य मेघ की जलवृष्टि से संसार को बढ़ाता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शुभकर्मकरणोपदेशः—शुभ कर्म करने का उपदेश ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अक्रयम् ।  
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता कुरत् ॥ १ ॥

सु-आक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सु-आक्तम् । मित्रः ।  
अक्रः । अयम् । सु-आक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सु-आ-  
क्तम् । सविता । कुरत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी ने ( मे ) मेरा ( स्वाक्तम् ) स्वागत [ किया है ]; ( अयम् ) इस ( मित्रः ) मित्र [ माता पिता आदि ] ने ( स्वाक्तम् ) स्वागत ( अक्रः ) किया है । ( ब्रह्मणः ) वेद विद्या का ( पतिः )

गच्छत्यथः । प्राप्नुथः ( धृतस्य ) साररसस्य ( गुह्या ) गुप्तानि । सूक्ष्मतरंगानि ( सुष्टुत्या ) शोभनया स्तुत्या ( ववृधानौ ) वर्धमानौ ( उत् ) उत्तमतया । अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—( स्वाक्तम् ) सु + आङ् + अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । स्वागतम् । शुभागमनम्, अकाष्टम्, कृतवत्यौ—इति शेषः ( मे ) मम ( द्यावापृथिवी ) द्यावापृथिव्यौ ( मित्रः ) प्रियः मातापित्रादिः ( अक्रः ) अ० १ ॥



सू० ३१ [ ३४६ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८८ )

रक्षक [ आचार्य ] ( मे ) मेरा ( स्वाक्तम् ) स्वागत, और ( सविता ) प्रजा  
प्रेरक शूर पुरुष ( स्वाक्तम् ) स्वागत ( करत् ) करे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ऐसे शुभ कर्म करे जिससे संसार के सब  
पदार्थ और विद्वान् लोग उसके उपकारी हों ॥१॥

सूक्तम् ३१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन्दूर  
जिन्व । यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्टु यमु' द्विष्मस्तमु'  
प्राणो जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र' । ऊ-ति-भिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्-श्रेष्ठाभिः ।  
मघ-वन् । शूर । जिन्व । यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पु-  
दीष्ट । यस् । ऊ' इति । द्विष्मः । तस् । ऊ' इति । प्राणः ।  
जहातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( मघवन् ) हे बड़े धनी ! ( शूर ) हे शूर ! ( इन्द्र ) हे सम्पूर्ण  
पेश्वर्यवाले राजन् ! ( नः ) हमें ( अद्य ) आज ( बहुलाभिः ) अनेक ( या-  
वच्छ्रेष्ठाभिः ) यथा सम्भव श्रेष्ठ ( ऊतिभिः ) रक्षाक्रियाओं से ( जिन्व ) प्रसन्न  
कर । ( यः ) जो ( नः ) हमसे ( द्वेष्टि ) बैर करता है, ( सः ) वह ( अधरः )

न । १ । करोतेर्लुङि, इकारलोपे तलोपः । अकार्षीत् ( अयम् ) समीपवर्ती  
( ब्रह्मणः ) वेदस्य ( पतिः ) रक्षकः आचार्यः । ( सविता ) प्रजाप्रेरकः शूरः  
( करत् ) लेटि रूपम् । कुर्यात् । अन्यद् गतम् ॥

१—( इन्द्र ) हे परमैश्वर्यवान् राजन् ( ऊतिभिः ) रक्षाक्रियाभिः ( बहुला-  
भिः ) अ० ३ । १४ । ६ । बहुप्रकाराभिः ( नः ) अस्मान् ( अद्य ) अस्मिन् दिने  
( यावच्छ्रेष्ठाभिः ) यथा सम्भवं प्रशस्यतमाभिः ( मघवन् ) महाधनिन् ( शूर )  
( जिन्व ) जिवि प्रीणने । प्रसादय ( यः ) शत्रुः ( नः ) अस्मान् ( द्वेष्टि ) वैरयति



( १५८० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३२ [ ३४९ ]

नीचा हो कर ( पदीष्ट ) चला जावे, ( उ ) और ( यम् ) जिससे ( द्विष्मः ) हम बैर करते हैं, ( तम् ) उसको ( उ ) भी ( प्राणः ) उसका प्राण ( जहातु ) छोड़ देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों सहित यथाशक्ति सब प्रकार के उपायों से शिष्टों का पालन और दुष्टों का निवारण करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३। ५३। २१ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाकर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के कर्म का उपदेश ॥

उप प्रियं पनिप्रतं युवानमाहुतिवृधम् ।

अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्रतम् । युवानम् । आहुति-वृधम् । अगन्म बिभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—( नमः ) वज्र को ( बिभ्रतः ) धारण करते हुये [ पुरुषार्थ करते हुये ] हम लोग ( प्रियम् ) प्रीति करने वाले, ( पनिप्रतम् ) अत्यन्त व्यवहारकुशल, ( युवानम् ) पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले वा बलवान्, ( आहुतिवृधम् ) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया के बढ़ाने वाले राजा को ( उप

( सः ) शत्रुः । विसर्गसकारौ सांहितिकौ ( पदीष्ट ) पद गतौ आशीर्लिङि । क्व-स्युभयथा । पा० ३ । ४ । २१७ । इति सार्वधातुकत्वात्सलोपः, सुद्धित्योः । पा० ३ । ४ । १०७ । इति सुडागमः पत्सीष्ट । गम्यात् ( यम् ) ( उ ) चार्थे ( द्विष्मः ) बैर-यामः ( तम् ) ( उ ) अपि ( प्राणः ) जीवनहेतुः ( जहातु ) ओ हाक् त्यागे । त्यजतु ॥

१—( उप ) पूजायाम् ( प्रियम् ) प्रीतिकरम् ( पनिप्रतम् ) पन व्यवहार-स्तुतौ च यङ्लुकि शतृ । दांधर्तिर्दधर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । इति सूत्र इति करणस्य प्रदर्शनदत्राभ्यासस्य निगांगम उपधालोपश्च । अत्यन्तं व्यवहारकुशलम् ( युवानम् ) पदार्थानां संयोजकवियोजकं बलवन्तं वा ( आहुतिवृधम् ) यथावद्



सू० ३३ [ ३४८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८१ )

अग्नम् ) प्राप्त हुये हैं वह ( मे ) मेरी ( आयुः ) आयु को ( दीर्घम् ) दीर्घ ( कृणोतु ) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति कुशल, प्रतापी राजा अनेक विद्याओं के दान से प्रजा की रक्षा करे, उसी प्रकार प्रजा भी उसके उपकारों को सम्मान पूर्वक ग्रहण करे ॥१॥

सूक्तम् ३३ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिवर्धनोपदेशः—सब सम्पत्तियों के बढ़ानेका उपदेश ॥

सं मां सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं माय-  
मग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे १  
सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृह-  
स्पतिः । सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्र-जया । च ।  
धनेन । च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—( मरुतः ) वायु के झोके ( मा ) मुझे ( सम् ) भले प्रकार ( सिञ्चन्तु ) सींचे, ( पूषा ) पृथिवी ( सम् ) भले प्रकार और ( बृहस्पतिः ) बड़े बड़ों का रक्षक सूर्य [ वा मेघ ] ( सम् ) भले प्रकार [ सींचे ] । ( अयम् ) यह ( अग्निः ) अग्नि [ शारीरिक अग्नि वा बल ] ( मा ) मुझको ( प्रजया ) सन्तान भृत्य आदि ( च ) और ( धनेन ) धन से ( सम् ) भले प्रकार ( सिञ्चतु ) सींचे ( च ) और ( मा ) मेरी ( आयुः ) आयु को ( दीर्घम् ) दीर्घ ( कृणोतु ) करे ॥ १ ॥

दातव्यग्राह्यक्रियावर्धकम् ( अग्नम् ) वयं प्राप्तवन्तः ( विभ्रतः ) धारयन्तः ( तमः ) वज्रम्—निघ० २ । २० ( दीर्घम् ) चिरम् ( आयुः ) जीवनम् ( कृणोतु ) करोतु ( मे ) मम ॥

१—( सम् ) सम्यक् ( मा ) माम् ( सिञ्चन्तु ) आर्द्राकुर्वन्तु । वर्धयन्तु ( मरुतः ) वायुगणाः ( पूषा ) पृथिवी—निघ० १ । १ ( बृहस्पतिः ) बृहतां पालकः सूर्यो मेघो वा ( मा ) ( अयम् ) ( अग्निः ) जाठराग्निः ( सिञ्चतु ) ( प्रजया )



( १५८२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३४ [ ३४८ ]

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर शारीरिक आत्मिक बल, सन्तान भृत्य आदि बढ़ा कर यश प्राप्त करे ॥ १ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजराजपुरुषकर्तव्योपदेशः—राजा और राजपुरुष के कर्तव्य का उपदेश ॥  
अग्नें जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जात-  
वेदो नुदस्व । अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते  
वयमदितये स्याम ॥ १ ॥

अग्ने । जातान् । प्र । नुद । मे । स-पत्नान् । प्रति । अजातान् ।  
जात-वेदः । नुदस्व । अधः-पदम् । कृणुष्व । ये । पृतन्यवः ।  
अनागसः । ते । वयम् । अदितये । स्याम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे बलवान् राजन् वा सेनापति ! ( मे ) मेरे ( जा-  
तान् ) प्रसिद्ध ( सपत्नान् ) वैरियों को ( प्रणुद ) निकाल दे, ( जातवेदः ) हे  
बड़े बुद्धिवाले राजन् ! ( अजातान् ) अप्रसिद्ध [ शत्रुओं ] को ( प्रति ) उलटा  
( नुदस्व ) हटा दे । ( ये ) जो ( पृतन्यवः ) संग्राम चाहने वाले [ विरोधी ] हैं,  
( उन्हें ) ( अधस्पदम् ) अपने पांव तले ( कृणुष्व ) करले ( ते ) वे ( वयम् )  
हम लोग ( अदितये ) अदीन भूमि के लिये ( अनागसः ) निर्विघ्न हो कर  
( स्याम ) रहें ॥ १ ॥

सन्तानभृत्यादिना ( धनेन ) वित्तेन । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—( अग्ने ) बलवान् राजन् सेनापते वा ( जातान् ) प्रादुर्भूतान् ( प्र णुद )  
अपसारय ( सपत्नान् ) वैरिणः ( प्रति ) प्रतिकूलम् ( अजातान् ) अप्रकटान् ( जात-  
वेदः ) हे प्रसिद्धप्रज्ञ ( नुदस्व ) प्रेरय ( अधस्पदम् ) अ० २ । ७ । २ । पादस्या-  
धस्तात् ( कृणुष्व ) कुरु ( ये ) शत्रवः ( पृतन्यवः ) पृतना—क्यच्, उ प्रत्ययः ।  
कव्यच्चरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इत्याकारलोपः । संग्रामेच्छवः  
( अनागसः ) निर्विघ्नाः ( ते ) तादृशाः ( वयम् ) धार्मिकाः ( अदितये ) अदी-  
नायै भूम्यै—निघ० ११ । १ । ( स्याम ) ॥



भावार्थ—राजा आदि सब लोग गुप्त दूतों द्वारा प्रकट और गुप्त दुष्टों को वश में करें, जिस से धर्मात्मा लोग निर्विघ्नता से संसार का उपकार करते रहें ॥१॥

• इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१५।१॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ जातवेदा देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

प्रान्यान्तसुपत्नान्तसहसा सहस्वप्रत्यजातान् जातवेदो  
नुदस्व । इदं राष्ट्रं पिपुहि सौभगाय विश्वं एनमनु  
मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

प्र । अन्यान् । सु-पत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजा-  
तान् । जात-वेदः । नुदस्व । इदम् । राष्ट्रम् । पिपुहि ।  
सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनवाले राजन् ! (सहसा) अपने बल से (अन्यान्) दूसरे लोगों [विरोधियों] को (प्र सहस्व) हरा दे और (अजातान्) अप्रकट (सपत्नान्) बैरियों को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हरा दे । (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (पिपुहि) पूर्ण कर, (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (एनम् अनु) इस आप के साथ साथ (मदन्तु) प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से बाहिरी और भीतरी बैरियों का

१—(प्र) प्रकर्षेण (अन्यान्) विरोधितः (सपत्नान्) शत्रून् (सहसा) स्वबलेन (सहस्व) अभिभव । पराजय (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रभूतधन राजन् (नुदस्व) अपसारय (इदम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (पिपुहि) पूरय (सौभगाय) सौभाग्याय (विश्वे) (एनम्) राजानम् (अनु) अनुसृत्य (मदन्तु) हर्षन्तु (देवाः) व्यवहारकुशलाः ॥



नाश करके प्रजापालन करे। और प्रजागण उस राजा के साथ साथ ऐश्वर्य बढ़ा कर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इमा यास्ते' शतं हिराः सहस्रं धुमनीरुत ।

तासां ते सर्वासामुहमश्मना बिलुमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धुमनीः ।  
उत । तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । बिलम् ।  
अपि । अधाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे राजन् ! ] ( ते ) तेरी ( इमाः ) यह ( याः ) जो ( शतम् ) सौ [ बहुत ] ( हिराः ) सूक्ष्म नाड़ियां ( उत ) और ( सहस्रम् ) सहस्र [ अनेक ] ( धुमनीः ) स्थूल नाड़ियां हैं । ( ते ) तेरी ( तासाम् ) उन ( सर्वासाम् ) सब [ नाड़ियों ] के ( बिलम् ) छिद्र को ( अहम् ) मैं [ प्रजागण ] ने ( अश्मना ) व्यापक [ अथवा पाषाण समान दृढ़ ] उपाय से ( अपि ) निश्चय करके ( अधाम् ) पुष्ट किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा की शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर उसे सदा प्रसन्न रखें ॥ २ ॥

परं योने रवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भुन्मेत  
सूनुः । अस्व १ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपि-  
धानं कृणोमि ॥ ३ ॥

२—( इमाः ) शरीरस्थाः ( याः ) ( ते ) त्वदीयाः ( शतम् ) बहुसंख्याकाः  
( हिराः ) अ० १ । १७ । १ । सूक्ष्मा नाड्यः ( सहस्रम् ) अनेकाः ( धुमनीः )  
अ० १ । १७ । २ । स्थूला नाड्यः ( उत ) अपि ( तासाम् ) ( ते ) त्वदीयानाम्  
( सर्वासाम् ) नाडीनाम् ( अहम् ) प्रजागणः ( अश्मना ) अ० १ । २ । २ । व्यापकः  
नोपायेन । यद्वा पाषाणवद्दृढोपायेन ( बिलम् ) बिल भेदने-क । बिलं भ्रं  
भवति विभर्त्तः-निरु० २ । १७ । छिद्रम् ( अपि ) निश्चयेन ( अधाम् ) धात्रो-  
लुङ् । पोषितवानस्मि ॥



परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्र-जा ।  
 अमि । भूत् । मा । उत । सूनुः । अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् ।  
 कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपि-धानम् । कृणोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे राजन् ! ] ( ते ) तेरे ( योनेः ) घर के ( परम् ) शत्रु  
 को ( अवरम् ) नीच ( कृणोमि ) बनाता हूँ, ( त्वा ) तुझको ( मा ) न तो ( प्रजा )  
 प्रजा भृत्य आदि ( उत ) और ( मा ) न ( सूनुः ) पुत्र ( अमि भूत् )  
 तिरस्कार करे । ( त्वा ) तुझको ( अस्वम् ) बुद्धिमान् और ( अप्रजसम् ) अ-  
 ताडनीय पुरुष ( कृणोमि ) मैं करता हूँ और ( ते ) तेरे ( अपिधानम् )  
 शोढ़ने [ कवच ] को ( अश्मानम् ) पत्थर समान दृढ़ ( कृणोमि ) मैं बनाता हूँ ॥३॥

भावार्थ—बुद्धिमान्, बलवान्, दृढ़स्वभाव राजा ऐसी सुनीति का  
 प्रचार करे कि उससे उसकी प्रजा और सन्तान में फूट न पड़े, किन्तु सब  
 प्रीति पूर्वक रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१ ॥ मित्रे देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परमित्रत्वोपदेशः—परस्पर मित्रता का उपदेश ॥

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।  
 अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सुहासंति ॥ १ ॥  
 अक्ष्यौ । नौ । मधुसंकाशे इति मधु-संकाशे । अनीकम् ।  
 नौ । सम-अञ्जनम् । अन्तः । कृणुष्व । माम् । हृदि । मनः ।

३—( परम् ) शत्रुम् ( योनेः ) गृहस्थ ( अवरम् ) अधमम् ( ते ) तव  
 ( कृणोमि ) करोमि ( मा ) निषेधे ( त्वा ) राजानम् ( प्रजा ) भृत्यादिः ( अमि-  
 भूत् ) अमिभवेत् । तिरस्कुर्यात् ( मा ) निषेधे ( उत ) अपि ( सूनुः ) पुत्रः  
 ( अस्वम् ) असु-अर्श आद्यच् । असुः प्रज्ञा—निघ ३ । ६ । प्रज्ञावन्तम् ( त्वा )  
 राजानम् ( अप्रजसम् ) जसु हिंसायां ताडने च—पचाद्यच् । अताडनीयम्  
 बलवन्तम् ( कृणोमि ) ( अश्मानम् ) पाषाणवद् दृढम् ( ते ) तव ( अपिधा-  
 नम् ) संवरणम् । कवचम् ॥



इत् । नौ । सह । असति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( नौ ) हम दोनों की ( अद्यौ ) दोनों आखें ( मधुसंकाशे ) ज्ञान की प्रकाश करने वाली और ( नौ ) हम दोनों का ( अनीकम् ) मुक्त ( समञ्जनम् ) यथावत् विकाश वाला [होवे] । ( माम् ) मुझको ( हृदि अन्तः ) अपने हृदय के भीतर ( कृणुष्व ) कर ले, ( नौ ) हम दोनों का ( मनः ) मन ( इत् ) भी ( सह ) एकमेल ( असति ) होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य आपस में प्रीतियुक्त रह कर सदा धर्मयुक्त व्यवहार करके प्रसन्न रहें ॥१॥

सूक्तम् ३९ ॥

१ ॥ दम्पती दधते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

अभि त्वा मनु'जातेन दधामि मम वाससा ।

यथासौ मम केवले नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनु'-जातेन । दधामि । मम । वाससा । यथा ।

असः । मम । केवलः । न । अन्यासां । कीर्तयाः । चन ॥१॥

भाषार्थ—[ हे स्वामिन् ! ] ( मनुजातेन ) मननशील मनुष्यों में प्रसिद्ध ( मम वाससा ) अपने वस्त्र से ( त्वा ) तुम्हें ( अभि दधामि ) मैं बांधती हूँ । ( यथा ) जिससे तू ( केवलः ) केवल ( मम ) मेरा ( असः ) होवे, ( चन ) और ( अन्यासाम् ) अन्य स्त्रियों का ( न कीर्तयाः ) तू न ध्यान करे ॥१॥

१—( अद्यौ ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी ( नौ ) आवयोः ( मधुसंकाशे ) काश दीप्तौ-अच् । ज्ञानप्रकाशिके ( अनीकम् ) अनिहविभ्यां किञ्च । उ० ४ । १७ । अन जीवने-ईकन् । मुखप्रदेशः ( समञ्जनम् ) सम्यग्व्यक्तिकरं विकाशकम् ( अन्तः ) मध्ये ( कृणुष्व ) कुरु ( माम् ) मित्रम् ( हृदि ) हृदये ( मनः ) चित्तम् ( इत् ) एव ( नौ ) आवयोः ( सह ) परस्परमिलितम् ( असति ) भूयात् ॥

१—( त्वा ) पतिम् ( मनुजातेन ) मननशीलेषु मनुष्येषु प्रसिद्धेन ( अभि दधामि ) अभिपूर्वा दधातिर्बन्धने । वधामि ( वाससा ) वस्त्रेण यथा



सू० ३८ [ ३५३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८९ )

भाषार्थ—विवाह में विद्वानों के बीच वस्त्र का गठिवन्धन करके वधू और वर दृढ़प्रतिज्ञा करें कि पत्नी पतिव्रता और पति पत्नीव्रत होकर गृहस्थ आश्रम को प्रीति पूर्वक निवाहें ॥१॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम् ।

परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेषजम् । मां पश्यम् । अभि-रोरुदम् ।

परा-यतः । नि-वर्तनम् । आ-यतः । प्र-ति-नन्दनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे स्वामिन् ! मैं वधू ] ( मां पश्यम् ) लक्ष्मी के देखने वाले [ खोजने वाले ], ( अभिरोरुदम् ) परस्पर संगति देने वाले, ( परायतः ) दूर जाने वाले के ( निवर्तनम् ) लौटाने वाले, ( आयतः ) आने वाले के ( प्रतिनन्दनम् ) स्वागत करने वाले ( इदम् ) इस [ प्रतिज्ञा रूप ] ( भेषजम् ) भयनिवारक औषध को ( खनामि ) खोदती हूँ [ प्रकट करती हूँ ] ॥ १ ॥

येन प्रकारेण ( असः ) असेलेटि, अडागमः । भवेः ( मम ) ( केवलः ) असाधारणः ( न ) निषेधे ( अन्यासाम् ) अन्यस्त्रीणाम् ( कीर्तयाः ) कृत संशब्दने, णिचि । उपधायाश्च । पा० ७ । १ । १०१ । इत्वम् उपधायां च । पा० ८ । २ । ७८ । इति दीर्घः, लेटि आडागमः । कीर्तयेः । कीर्तनं ध्याः कुर्याः ( चन ) चार्थे ॥

१—( इदम् ) प्रतिज्ञारूपम् ( खनामि ) खननेन अन्वेषणेन प्राप्नोमि ( भेषजम् ) भयनिवारकमौषधम् ( मां पश्यम् ) इन्दिरा लोकमाता मा-अमर १ । २६ । मा = लक्ष्मीः । पाद्माध्यायेद्दशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति दशः शप्तयः । पाद्माध्या० । पा० ७ । ३ । ७८ । पश्यादेशः । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति द्वितीयाया अलुक् । मां लक्ष्मीं पश्यत् विलोकयत् ( अभि-रोरुदम् ) अभि + रोरु + दम् । मीपीभ्यां रुः । ७०४ । १०१ । इति रुङ् गतिरेषण-योः—रु + दा—क । अभिरोरोः, अभिगतेः परस्परसंगतेः प्रदम् ( परायतः ) परा



( १५८८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३८ [ ३५३ ]

भाषार्थ—जिस प्रकार वैद्य उत्तम ओषधि को खोद कर उपकार लेता है। इसी प्रकार वधू वर प्रतिष्ठा करके परस्पर सुख बढ़ावें ॥१॥

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यरुपरि ।

तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

येन । नि-चक्रे । आसुरी । इन्द्रम् । देवेभ्यः परि । तेन । नि । कुर्वे । त्वाम् । अहम् । यथा । ते । असानि । सु-प्रिया ॥२॥

भाषार्थ—( येन ) जिस [ उपाय ] से ( आसुरी ) बुद्धिमानों वा बलवानों के हित करने वाली बुद्धि ने (इन्द्रम्) बड़े पेश्वर्यवाले मनुष्य को (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये ( परि ) सब ओर से ( निचक्रे ) नियत किया था । ( तेन ) उसी [ उपाय ] से ( अहम् ) मैं ( त्वम् ) तुम्हको ( नि कुर्वे ) नियत करती हूँ, ( यथा ) जिस से मैं ( ते ) तेरी ( सुप्रिया ) बड़ी प्रीति करने वाली ( असानि ) रहूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकाल में बुद्धि और बल द्वारा उत्तम गुण प्राप्त करते रहें हैं, उसी प्रकार दम्पती प्रयत्न करके परस्पर प्रीति के साथ उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।

प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥ ३ ॥

+ आङ् + इण् गतौ—शतृ । दूरगच्छतः पुरुषस्य ( निवर्त्तनम् ) पुनरागमन-कारणम् ( आयतः ) आगच्छतः पत्युः ( प्रतिनन्दनम् ) स्वागतकरम् ॥

२—( येन ) उपायेन ( निचक्रे ) नियतं कृतवती ( आसुरी ) अ० १ । २४ । १ । असुः प्रज्ञा प्राणो वा-रोमत्वर्थीयः—असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १० । ३४ । मायायामण् । पा० ४ । ४ । १२४ । असुर-अण् । प्रज्ञावतां बलवतां वा हिता माया प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । ( इन्द्रम् ) परमैश्वर्ययुक्तं नरम् ( देवेभ्यः ) उत्तमगुणानां प्राप्तये ( परि ) सर्वतः ( तेन ) उपायेन ( नि ) नियतम् ( कुर्वे ) करोमि ( त्वाम् ) वरम् ( अहम् ) वधूः ( यथा ) ( ते ) तव ( असानि ) भवति ( सुप्रिया ) सुप्रीतिकरा ॥



सू० ३८ [ ३५३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १५८८ )

प्रतीची । सोमस् । अस्मि । प्रतीची । उत । सूर्यम् । प्रतीची ।  
विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छु-आवदामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे वधू ! ] ( प्रतीची ) निश्चित ज्ञानवाली तू ( सोमम् )  
चन्द्रमा को, ( उत ) और ( प्रतीची ) प्रतिज्ञापूर्वक मार्गवाली तू ( सूर्यम् )  
सूर्य को, और ( प्रतीची ) प्रतिष्ठा पूर्वक उपायवाली तू ( विश्वान् ) सब (देवान् )  
उत्तम गुणों को ( अस्मि-अससि ) प्राप्त होती है, ( ताम् त्वा ) उस तुझको  
( अच्छुआवदामसि ) हम स्वागत करके बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष चन्द्रसमान शान्त स्वभाव, सूर्यसमान तेज-  
स्विनी और सर्वगुणवती वधू का यथावत् आदर करें ॥ ३ ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सुभायामह त्वं वद ।

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासी कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सुभायाम् । अहम् । त्वम् । वद ।  
मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासीम् । कीर्तयाः । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( अहम् ) मैं ( न इत् ) अभी ( वदामि ) बोल रही हूँ, ( त्वम्  
त्वम् ) तू तू ( अहम् ) भी ( सुभायाम् ) सभा में ( वद ) बोल । ( त्वम् ) तू  
( केवलः ) केवल ( मम इत् ) मेरा ही ( असः ) होवे, ( चन ) और ( अन्यासीम् )

३—( प्रतीची ) प्रति + अञ्चु गतौ—किन् । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् ।  
वा० पा० ४ । १ । ६ । डीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । अकारलोपः । चो । पा०  
६ । ४ । २२२ । पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रति निश्चयेन गतिमती ज्ञानवती ( सोमम् )  
चन्द्रम्, चन्द्रतुल्यशान्तस्वभावम् ( अस्मि ) अससि स्थाने अस्मि रूपम् । अस  
ग्रहणे गतौ च-लट् । गच्छसि । प्राप्नोषि ( प्रतीची ) प्रतिज्ञया गतिमती मार्गवती  
( उत ) अपि च ( सूर्यम् ) सूर्यतुल्यप्रतापम् ( प्रतीची ) प्रति प्रतिष्ठया गतिमती  
प्रयत्नवती ( विश्वान् ) सर्वान् ( देवान् ) दिव्यगुणान् ( ताम् ) तथाभूताम् ( त्वा )  
त्वां वधूम् ( अच्छुआवदामसि ) अ० ६ । ५६ । ३ । अञ्च सत्कारेण आह्वयामः ॥

४—( अहम् ) वधूः ( वदामि ) प्रतिजानामि ( न ) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ ।  
( इत् ) एव ( त्वम् त्वम् ) वीक्ष्यायां द्विवचनम् ( सुभायाम् ) विद्वत्समाजे ( अहम् )



( १६०० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ३८ [ ३५४ ]

दूसरी स्त्रियों का ( न कीर्तयाः ) तू न ध्यान करे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—बधू और वर पंचों के सन्मुख दृढ़प्रतिज्ञा करके सदाचारी रह कर धर्म पर चलते रहें ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भेद से आशुका है—अ० ७ । ३७ । १ ॥

यदि वासि तिरोजुनं यदि वा नद्यस्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बुद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

यदि । वा । असि । तिरः—जुनम् । यदि । वा । नद्यः । तिरः । इयम्  
ह । मह्यम् । त्वाम् । ओषधिः । बुद्ध्वा—इव । नि—आनयत् ॥५॥भाषार्थ—[ हे पति । ] तू ( यदि वा ) चाहे ( तिरोजनम् ) मनुष्यों से  
अदृष्ट स्थान में ( असि ) है, ( यदि वा ) चाहे ( नद्यः ) नदियां ( तिरः ) बीच  
में हैं । ( इयम् ) यह [ प्रतिज्ञारूप ] ( ओषधिः ) ओषधि ( मह्यम् ) मेरे लिये  
( ह ) ही ( त्वाम् ) तुझको ( बध्वा इव ) बांध कर जैसे ( न्यानयत् ) लेआवे ॥५॥भाषार्थ—मनुष्य वाणिज्य, युद्ध आदि के लिये दूर परदेशों में जाकर  
अपने देश को लौटा करे ॥ ५ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

## अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१ ॥ सुपर्णः सूर्यो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

एव (वद) प्रतिजानीहि (मम) ( इत् ) एव । अन्यत्पूर्ववत् अ० ७ । ३७ ॥१॥

५—( यदि वा ) अथवा ( असि ) भवसि ( तिरोजनम् ) क्रियाविशेषण  
मेतत् । तिरोऽन्तर्हितो ऽदृष्टो जनो यस्मिन्स्थाने तस्मिन् ( यदि वा ) ( नद्यः )  
सरितः ( तिरः ) तिरोभूत्वा व्यवधानेन वर्तन्ते ( इयम् ) प्रतिज्ञारूपा ( ह ) एव  
( मह्यम् ) मदर्थम् ( त्वाम् ) पतिम् ( ओषधिः ) ( बुद्ध्वा ) निगृह्य ( इव )  
( न्यानयत् ) नयतेल्लेष्टि, आडागमः । नितरामानयेत् ॥



सू० ३८ [ ३५४ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६०१ )

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दिव्यं सु'पूर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।  
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थाप-  
याति ॥ १ ॥

दिव्यम् । सु-पूर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् । अपाम् । गर्भम् ।  
वृषभम् । ओषधीनाम् । अभीपतः । वृष्ट्या । तर्पयन्तम् । आ ।  
नः । गो-स्थे । रयि-स्थास् । स्थापयाति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( दिव्यम् ) दिव्य गुणवाले, ( पयसम् ) गतिवाले, ( बृह-  
न्तम् ) विशाल, ( अपाम् ) अन्तरिक्ष के ( गर्भम् ) गर्भसमान बीच में रहने  
वाले, ( ओषधीनाम् ) अन्न आदि ओषधियों के ( वृषभम् ) वरसाने वाले,  
( अभीपतः ) सब ओर जल वाले मेघ से ( वृष्ट्या ) वृष्टिद्वारा ( तर्पयन्तम् )  
तृप्त करने वाले, ( रयिष्ठाम् ) धन के बीच ठहरने वाले, ( सुपूर्णम् ) सुन्दर  
किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् पुरुष को ( नः ) हमारे ( गोष्ठे ) गोठ वा  
वार्तालाप स्थान में ( आ ) लाकर ( स्थापयाति ) [ यह पुरुष ] स्थान देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब लोकों के बीच ठहर कर भूगोल आदि लोकों  
को प्रकाश, वृष्टि आदि से सुखी करता है, वैसेही जो विद्वान् ज्ञान और उपदेश  
से सब जनों को आनन्दित करे, उसका सब लोग आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ५२ ॥

१—( दिव्यम् ) दिव्यगुणम् ( सुपूर्णम् ) रश्मियुक्तसूर्यतुल्यं विद्वान्सम्  
( पयसम् ) पय गतौ—असुन, अर्श आद्यच् । गतिमन्तम् ( बृहन्तम् ) महान्तम्  
( अपाम् ) अन्तरिक्षस्थ—निघ० १ । ३ । ( गर्भम् । ) गर्भ इव मध्ये स्थितम्  
( वृषभम् ) वर्षयितारं वर्धयितारम् ( ओषधीनाम् ) अन्नादीनाम् ( अभीपतः )  
शृङ्गपूरब्धुः० । पा०५ । ४ । ७४ । अभि + अप् शब्दाद्-अ । द्व्यन्तरूपसर्गोभ्योऽप  
ईत् । पा०६।३।६७ । अकारस्य ईत्वम् । ततस्तलिल् । अभितः सर्वत आपो यस्मिं-  
स्तस्माद् मेघात् ( वृष्ट्या ) जलवर्षणेन ( तर्पयन्तम् ) हर्षयन्तम् ( आ )  
आनीय ( नः ) अस्माकम् ( गोष्ठे ) वार्तालापस्थाने विद्वत्समाजे ( रयिष्ठाम् )  
धने तिष्ठन्तम् ( स्थापयाति ) लेटि रूपम् । स्थापयेत् ॥



सूक्तम् ४० ॥

१-२ ॥ सरस्वान् देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर के उपासना का उपदेश ॥

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्ते  
 आपः । यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे  
 हवामहे ॥ १ ॥

यस्य । व्रतम् । पशवः । यन्ति । सर्वे । यस्य । व्रते । उप-  
 तिष्ठन्ते । आपः । यस्य । व्रते । पुष्ट-पतिः । नि-विष्टः ।  
 तम् । सरस्वन्तम् । अवसे । हवामहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यस्य ) जिसके ( व्रतम् ) सुन्दर नियम पर ( सर्वे ) सब  
 ( पशवः ) पशु अर्थात् प्राणी ( यन्ति ) चलते हैं, ( यस्य ) जिसके ( व्रते ) नियम  
 में ( आपः ) जल ( उपतिष्ठन्ते ) उपस्थित रहते हैं । ( यस्य ) जिसके ( व्रते )  
 नियम में ( पुष्टपतिः ) पोषण का स्वामी, पूषा सूर्य ( निविष्टः ) प्रवेश किये  
 हुये है, ( तम् ) उस ( सरस्वन्तम् ) बड़े विज्ञान वाले परमेश्वर को ( अवसे )  
 अपनी रक्षा के लिये ( हवामहे ) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से यह सब लोक लोकान्तर परस्पर  
 आकर्षण में रह कर एक दूसरे का सहाय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर  
 की महिमा विचार कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

आ प्रत्यञ्जं ढाशुषे ढाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयि-

१—( यस्य ) सरस्वतः ( व्रतम् ) वरणीयं नियमम् ( पशवः ) अ० १।  
 २६ । १ । पशवः=व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । सर्वे प्राणिकः  
 ( यन्ति ) गच्छन्ति ( व्रते ) शासने ( उपतिष्ठन्ते ) अकर्मकाश्च । पा० १।  
 ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिताः सन्ति ( आपः ) जलानि ( पुष्टपतिः )  
 पोषणस्य स्वामी । पूषा सूर्यः ( तम् ) तादृशम् ( सरस्वन्तम् ) सरांसि श्रेष्ठानि  
 विज्ञानानि सन्ति यस्मिंस्तं परमेश्वरम् ( अवसे ) रक्षणाय ( हवामहे ) आह्वयामः ॥



सू० ४१ [ ३५६ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६०३ )

ष्ठां । रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं  
रयीणाम् ॥ २ ॥

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्ट-  
पतिम् । रुयि-स्थाम् । रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह ।  
हुवेम । सदनम् । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( प्रत्यञ्चम् ) प्रत्यक्षव्यापक, ( दाशुषे ) आत्मदान करने वाले  
[ भक्त ] को ( दाश्वंसम् ) सुख देने वाले ( पुष्टपतिम् ) पोषण के स्वामी,  
( रयीणाम् ) धन में स्थिति वाले, ( रायः ) धन के ( पोषम् ) बढ़ाने वाले,  
( श्रवस्युम् ) सुनने वाले, ( रयीणाम् ) अनेक धनों के ( सदनम् ) भण्डार  
( सरस्वन्तम् ) बड़े ज्ञानवान् परमेश्वर को ( वसानाः ) स्वीकार करते हुये  
हम लोग ( इह ) यहां पर ( आ ) सब प्रकार ( हुवेम ) बुलावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर के अनन्त भण्डार से अनेक  
प्रकार के धन प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१-२ ॥ श्येनो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ।

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

अति धन्वान्यत्युपरतर्तर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदुर्शः ।

२—( आ ) समन्तात् ( प्रत्यञ्चम् ) प्रत्यक्षव्यापकम् ( दाशुषे ) अ० ४ ।  
२४ । १ । आत्मानं दत्तवते ( दाश्वंसम् ) छान्दसो ह्रस्वः । दाश्वंसम् । सुखस्य  
दातारम् ( सरस्वन्तम् )—म० १ । पूर्णविज्ञानवन्तम् ( पुष्टपतिम् ) पोषणस्य  
स्वामिनम् ( रयीष्ठम् ) धने स्थितम् ( रायः ) धनस्य ( पोषम् ) पुषपुष्टौ पचाद्यच् ।  
पोषकम् ( श्रवस्युम् ) अ० ६ । ६८ । २ । श्रवणशीलम् ( वसानाः ) वस स्वीकारे  
चुरादिः, शानचि छान्दसं रूपम् । स्वीकुर्वाणाः ( इह ) अस्मिन् संसारे ( हुवेम )  
लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति ह्येञ् आह्वाने—अङ् । बहुलं छन्दसि ।  
पा० ६ । १ । ३४ । सम्प्रसारणम् । ह्यास्मि । आह्वयेम ( सदनम् ) गृहम्  
( रयीणाम् ) धनानाम् ॥



( १६०४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४१ [ ३५६ ]

तरन् विश्वान्यवरा रजांसिन्द्रेण सख्या शिव आ जग-  
म्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वानि । अति । अपः । ततर्द । श्ये नः । नुचक्षाः ।  
अवसान-दुर्शः । तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण ।  
सख्या । शिवः । आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( नृचक्षाः ) मनुष्यों को देखने वाले, ( अवसानदर्शः ) अन्त  
के देखने वाले, ( श्येनः ) ज्ञानवान् परमात्मा ने ( धन्वानि ) निर्जल देशों को  
( अति ) अत्यन्त करके और ( अपः ) जलों को ( अति ) अत्यन्त करके (ततर्द)  
पीड़ित [ वशीभूत ] किया है । ( शिवः ) मङ्गलकारी परमेश्वर ( अवरा )  
अत्यन्त श्रेष्ठ ( विश्वानि ) सब ( रजांसि ) लोकों को ( तरन् ) तराता हुआ  
( सख्या ) मित्ररूप ( इन्द्रेण ) ऐश्वर्य के साथ ( आ जगम्यात् ) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के आधीन वृष्टि, अनावृष्टि, मनुष्यों के कर्मों  
के फल और श्रेष्ठों को मुक्ति दान आदि हैं । उस परमात्मा की भक्ति करके  
मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

श्येनो नुचक्षा दिव्यः सुपुर्णः सहस्रपाच्छ्रुतयोनिर्व-  
योधाः । स नो नि यच्छ्राद्द वसु यत् पराभूतमुस्माकं-

१—( अति ) अत्यन्तम् ( धन्वानि ) धन्व गतौ—कनिन् । मरुस्थलानि  
( अति ) ( अपः ) जलानि (ततर्द) तर्द हिंसायाम् । पीडितवान् । वशीकृतवान्  
( श्येनः ) अ० ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४  
१३ । ज्ञानवान् परमात्मा ( नृचक्षाः ) अ० ४ । १६ । ७ । मनुष्याणां द्रष्टा ( अव-  
सानदर्शः ) वो अन्तर्कर्माणि—ह्युद् + दशिर् दर्शने—अच् । सीमादर्शकः ( तरन् )  
तारयन् । पारयन् ( विश्वानि ) ( अवरा ) नास्ति वरं यस्मात्तद् अवरमत्यन्त-  
श्रेष्ठम् । अवराणि । अत्यन्तश्रेष्ठानि ( रजांसि ) लोकान् ( इन्द्रेण ) ऐश्वर्येण  
( सख्या ) मित्रभूतेन ( शिवः ) मङ्गलकारी ( आ जगम्यात् ) अ० ७ । २६ । १ ।  
आगच्छेत् ॥



सू० ४२ [ ३५७ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६०५ )

मस्तु पितृषु' स्वधावत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृ-चक्षाः । दिव्यः । सु-पुर्णः । सहस्र-पात् । शत-  
 येनिः । वयुः-धाः । स । नः । नि । यच्छात् । वसु' । यत् ।  
 परा-भृतम् । अस्माकम् । अस्तु । पितृषु' । स्वधा-वत् ॥ २ ॥

भावार्थ—(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाला, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप,  
 (सुपुर्णः) बड़ी पालन शक्ति वाला, (सहस्रपात्) सहस्रों असीम पाद अर्थात्  
 गति शक्ति वाला, [मन से अधिक वेग वाला—यजु० ४०।४] (शतयेनिः)  
 सैकड़ों [अगणित] लोकों का घर, (वयोधाः) अन्नदाता (श्येनः) ज्ञानवान्  
 परमात्मा है। (सः) वह (नः) हमें (वसु) वह धन (नि) निरन्तर (यच्छात्)  
 देवे, (यत्) जो (पराभृतम्) पराक्रम से धारण किया गया (अस्माकम्)  
 हमारे (पितृषु) पितरों [बड़े बूढ़ों] के बीच (स्वधावत्) आत्मधारण शक्ति  
 वाला (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्यों को विचारकर अनेक  
 उद्योगों के साथ विद्वानों का पालन करके सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-२ ॥ सोमारुद्रौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजवैद्ययोगोपदेशः—राजा और वैद्य के गुणों का उपदेश ॥

२—(श्येनः) म० १ । ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा  
 (दिव्यः) अद्भुतस्वरूपः (सुपुर्णः) अ० १।२४।१। शोभनपालनः (सहस्र-  
 पात्) पद गतौ—घञ् । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५।४।१४० । अन्त्यलोपः । सह-  
 क्षाणि अपरिमिताः पादा गतिशक्तयो यस्य सः । मनसो जवीयः—यजु० ४० ।  
 ४ । इति श्रुतेः (शतयेनिः) येनिगृहम्—निघ० ३।४ । अपरिमितानां लोकानां  
 गृहम् (वयोधाः) अ० ५।११।११ । अन्नस्य दाता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्म-  
 भ्यम् (नि) निरन्तरम् (यच्छात्) दद्यात् (वसु) धनम् (यत्) (पराभृतम्)  
 पराक्रमेण धृतम् (अस्माकम्) (अस्तु) (पितृषु) पित्रादिमान्येषु (स्वधा-  
 वत्) अ० ३।२६।१८८ । आत्मधारणसामर्थ्ययुक्तम् ॥



( १६०६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४३ [ ३५८ ]

सोमारुद्रा वि वृ'हतं विषू'चीममीवा या नो गयमा-  
विवेश' । बाधे'यां दुरं निः'त्तिं पराचैः कुतं चिदेनः  
प्र मु'मुक्तमुस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विषूचीम् । अमीवा । या । नः ।  
गयम् । आ-विवेश' । बाधेयाम् । दुरम् । निः-त्तिम् ।  
पराचैः । कुतम् । चित् । एनः । प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥१॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [ के समान सुखदायक  
राजा और वैद्य ! ] तुम दोनों (विषूचीम्) विसूचिका, [ हुलकी आदि ] को  
(विबृहतम्) छिन्न भिन्न कर दो, (या अमीवा) जो रोग (नः गयम्)  
हमारे घर वा सन्तान में (आविवेश) प्रवेश कर गया है । (निःत्तिम्) दुःख-  
दायिनी कुनीति को (पराचैः) आँधे मुह करके (दूरम्) दूर (बाधेयाम्)  
हटाओ, और (कृतम्) उसके किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अ-  
स्मत्) हम से (प्र मुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥१॥

भावार्थ—जो राजा और वैद्य कारणों को समझ कर कुनीति और  
रोग का प्रतिकार करते हैं, वहां प्रजागण दुःख से छूटकर सुखी रहते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ७४। २, ३। इनका भाष्य  
महर्षि दयानन्द के आश्रय पर किया गया है ॥

१—(सोमारुद्रा) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु १४। १२। रुद्रो रौ-  
तीति सतः—निरु० १०। ५। मध्यस्थानो मेघः । सूर्यमेघवत् सुखप्रदौ राजवैद्यौ  
(वि वृहतम्) वृह उच्यमाने । छेदयतम् (विषूचीम्) अ० १। २६। १। विषु+  
अञ्चु गतौ—क्विन् । विषूचिकादिरोगम् (अमीवा) इण्शीभ्यां वन् । उ०  
१। १५२। इति बाहुलकात् अम रोगे पीडने च—वन्, ईडागमः, टाप् । रोगः (या)  
(नः) अस्माकम् (गयम्) गृहमपत्यं वा (आविवेश) प्रविष्टवती (बाधे-  
याम्) निवारयतम् (दूरम्) (निःत्तिम्) दुःखप्रदां कुनीतिम् (पराचैः) अ०  
२। १०। ५। पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) तथा सम्पादितम् (एनः) दोषम्  
(प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) मोचयतम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥



सोमारुद्रा युवमे तान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।  
 अवस्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् १  
 सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मत् । विश्वा । तनूषु ।  
 भेषजानि । धत्तम् । अव । स्युतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः ।  
 असत् । तनूषु । बद्धम् । कृतम् । एनः । अस्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सोमारुद्रा ) हे सूर्य और मेघ [ के समान उपकारी राजा और वैद्य ! ] ( युवम् ) तुम दोनों ( एतानि विश्वा भेषजानि ) इन सब औषधों को ( अस्मत् ) हमारे ( तनूषु ) शरीरों में ( धत्तम् ) रक्खो । ( यत् ) जो ( नः ) हमारे ( तनूषु ) शरीरों में ( बद्धम् ) लगा हुआ और ( कृतम् ) किया हुआ ( एनः ) दोष ( असत् ) होवे, [ उसे ] ( अस्मत् ) हमसे ( अव स्युतम् ) नष्ट करो और ( मुञ्चतम् ) छुड़ाओ ॥२॥

भावार्थ—राजा और वैद्य वैद्यक विद्या के प्रचार से प्रजा को कुपथ्य आदि दोषों से बचाकर नीरोग और पुरुषार्थी बनाकर सुखी रक्खें ॥१॥

सूक्तम् ४३ ॥

१ ॥ वाचो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याणया वाचः प्रचारोपदेशः—कल्याणी वाणी के प्रचार का उपदेश ॥  
 शिवास्तु एका अशिवास्तु एकाः सर्वा विभर्षि सुमन-  
 स्यमानः । तिस्त्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामे-  
 का वि पंपातानु घोषम् ॥ १ ॥

२—( सोमारुद्रा ) म० १ ( युवम् ) युवाम् ( एतानि ) रोगनिवारकाणि ( अस्मत् ) षष्ठ्या लुक् । अस्माकम् ( विश्वा ) सर्वाणि ( तनूषु ) शरीरेषु ( भेषजानि ) औषधानि ( धत्तम् ) धारयतम् ( अव स्युतम् ) वो अन्तर्कर्मणि । सर्वथा नाशयतम् ( मुञ्चतम् ) वियोजयतम् ( यत् ) दुःखम् ( नः ) अस्माकम् ( असत् ) स्यात् ( बद्धम् ) लग्नम् ( कृतम् ) ( एनः ) कुपथ्यादिदोषम् ( अस्मत् ) अस्मत्तः ॥



( १६०८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४४ [ ३५८ ]

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः ।  
 बिभर्षि । सु-मनस्यमानः । तिस्रः । वाचः । नि-हिताः । अन्तः ।  
 अस्मिन् । तासाम् । एका । वि । पपात् । अनु । घोषम् ॥१॥

भाषार्थ—[ हे पुरुष ! ] ( ते ) तेरी ( एकाः ) कोई [ वाचायें ] ( शिवाः )  
 कल्याणी हैं और ( ते ) तेरी ( एकाः ) कोई ( अशिवाः ) अकल्याणी हैं [ और  
 कोई माध्यमिका हैं ], ( सर्वाः ) इन सब को ( सुमनस्यमानः ) अच्छे प्रकार  
 मनन करता हुआ तू ( बिभर्षि ) धारण करता है । ( तिस्रः ) यह तीनों  
 ( वाचः ) वाचायें ( अस्मिन् अन्तः ) इस [ आत्मा ] के भीतर ( निहिताः )  
 रक्खी रहती हैं, ( तासाम् ) उनमें से ( एकाः ) एक [ कल्याणी वाणी ]  
 ( घोषम् अनु ) उच्चारण के साथ साथ ( वि ) विशेष करके ( पपात् ) ऐश्वर्य-  
 वती हुई है ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने हृदय में हित, अहित और उदासीनता का  
 विचार करके एक हित ही बोलते हैं, वही ऐश्वर्यवान् पुरुष संसार को ऐश्वर्य-  
 वान् करते हैं ॥१॥

सूक्तम् ४४ ॥

१ ॥ इन्द्राविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सभासेनेशकर्मोपदेशः—सभा और सेना के स्वामी के कर्म का उपदेश ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतुरश्चुनै-  
 नयोः । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि

१—( शिवाः ) कल्याण्यः । वेदवाचः ( ते ) तव ( एकाः ) अत्या  
 ( अशिवाः ) अकल्याण्यः । अहिताः ( ते ) ( एकाः ) ( सर्वाः ) शिवा अशिवा  
 माध्यमिका वाचश्च ( बिभर्षि ) धरसि ( सुमनस्यमानः ) अ० १ । ३५ । १ ।  
 शोभनं ध्यायन् । सुमनशीलः ( तिस्रः ) त्रिसंख्याकाः ( वाचः ) वाच्यः  
 ( निहिताः ) अवस्थिताः ( अन्तः ) मध्ये ( अस्मिन् ) आत्मनि । मनसि ( ता-  
 साम् ) वाचां मध्ये ( एका ) शिवा वाक् ( वि ) विशेषेण ( पपात् ) पत ऐश्वर्य-  
 वती । ईश्वरी बभूव ( अनु ) अनुसृत्य ( घोषम् ) उच्चारणध्वनिम् ॥



सू० ४५ [ ३६० ]

सप्तमं कार्डस् ॥ ७ ॥

( १६०८ )

तदेरयेथाम् ॥ १ ॥

उ०। जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये ।  
 कतरः । चन । एनयोः । इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अप-  
 स्पृधेयाम् । त्रेधा । सहस्रम् । वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

भावार्थ—( विष्णो ) हे बिजुली [ के समान व्याप्त होने वाले सभा-  
 पति ! ] ( च ) और ( इन्द्रः ) हे वायु [ के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति ! ]  
 ( उ० ) तुम दोनों ने [ शत्रुओं को ] ( जिग्यथुः ) जीता है, और तुम दोनों  
 ( न ) कभी नहीं ( परा जयेथे ) हारते हो, ( एनयोः ) इन [ तुम ] दोनों में से  
 ( कतरः चन ) कोई भी ( न ) नहीं ( परा जिग्ये ) हारा है । ( यत् ) जब  
 ( अपस्पृधेयाम् ) तुम दोनों ललकारे हो, ( तत् ) तब ( सहस्रम् ) असंख्य  
 [ शत्रु सेनादल ] को ( त्रेधा ) तीन विधि पर [ ऊँचे, नीचे और मध्य स्थान  
 में ] ( वि ) विविध प्रकार से ( ऐरयेथाम् ) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥१॥

भावार्थ—जहां पर सभापति और सेनापति पराक्रमी, प्रतापी और  
 नीतिमान् होते हैं, वहां शत्रु लोग नहीं ठहरते ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ६६। ८ ॥

इसका भाष्य यहां महर्षि दवानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-२ ॥ भेषजं देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ।

१—( उ० ) इन्द्राविष्णु । सभासेनेशौ ( जिग्यथुः ) लिटि रूपम् । युवां  
 जितवन्तौ शत्रून् ( न ) निषेधे ( परा जयेथे ) लटि रूपम् । पराजयं प्राप्नुयः  
 ( न ) ( पराजिग्ये ) पराजितो बभूव ( कतरः ) द्वयोर्मध्य एकतरः ( चन ) अपि  
 ( एनयोः ) अनयोर्मध्ये ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् वायुवद्वर्तमानः सेनापतिस्त्वम्  
 ( विष्णो ) विद्युद्वद्व्यापनशील सभापते ( यत् ) यदा ( अपस्पृधेयाम् ) अप-  
 स्पृधेयामानुचुरा० । पा० ६। १। ३६। स्पर्धतेर्लङि द्विवचनं सम्प्रसारणं च ।  
 अपस्पृधेयाम् शत्रुभिः सह ( त्रेधा ) त्रिप्रकारेण, उच्चनीचमध्यस्थानेन ( सह-  
 स्रम् ) असंख्यं शत्रुसैन्यम् ( वि ) विशेषेण ( तत् ) तदा ( ऐरयेथाम् ) ईर-  
 लङ् । वहिष्कृतवन्ता ॥



( १६१० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४५ [ ३६० ]

ईर्ष्यादोषनिवारणोपदेशः—ईर्ष्यादोष के निवारण का उपदेश ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतरूपर्याभृतम् ।

दुरात् त्वा मन्ये उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

जनात् । विश्व-जनीनात् । सिन्धुतः । परि । आ-भृतम् । दुरात् ।

त्वा । मन्ये । उत्-भृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—[ हे भयनिवारक ज्ञान ! ] ( सिन्धुतः ) समुद्र [ के समान गम्भीर स्वभाव वाले ( विश्वजनीनात् ) सब जनों के हितकारी ( जनात् ) जनके पास से ( दुरात् ) दूर देश से ( परि ) सब प्रकार ( आभृतम् ) लाये हुये और ( उद्भृतम् ) उत्तमता से पुष्ट किये हुये ( त्वा ) तुम्हको ( ईर्ष्यायाः ) दाह का ( नाम ) प्रसिद्ध ( भेषजम् ) भयनिवारक औषध ( मन्ये ) मैं मानता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम औषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्व हितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्ष्या छोड़ कर दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझें ॥१॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।

एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।

एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्-इव । शमय ॥२॥

भाषार्थ—( अस्य ) इस ( दहतः ) जलती हुई ( अग्नेः इव ) अग्नि के

१—( जनात् ) लोकात् ( विश्वजनीनात् ) आत्मन्विश्वजनमोगोत्तर-पदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । इति ख । सर्वजनहितात् ( सिन्धुतः ) समुद्र इव गम्भीरस्वभावात् ( परि ) सर्वतः ( आभृतम् ) हस्य भः । आहृतम् ( दुरात् ) दूरदेशात् ( त्वा ) त्वां भेषजम् ( मन्ये ) जानामि ( उद्भृतम् ) उत्तमतया पोषितम् ( ईर्ष्यायाः ) अ० ६ । १८ । १ । परोत्कर्षासहनतायाः ( नाम ) प्रसिद्ध ( भेषजम् ) भयनिवारकमौषधं ज्ञानमित्यर्थः ॥

२—( अग्नेः ) पावकस्य ( इव ) यथा ( अस्य ) पुरोवर्तिनः ( दहतः )



सू० ४६ [ ३६१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६११ )

समान, ( पृथक् ) अथवा ( दहतः ) जलती हुई (दावस्य) वन अग्नि के [समान]  
( एतस्य ) इस पुरुष की ( एताम् ) इस ( ईर्ष्याम् ) ईर्ष्या को ( शमय ) शान्त  
कर, दे, ( इव ) जैसे ( उद्ना ) जल से ( अग्निम् ) आग को ॥२॥

भावार्थ—ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य  
आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है,  
इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रखे जैसे अग्नि को जल से ॥२॥

सूक्तम् ४६ ॥

१-३ ॥ सिनीवाली देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुणों का उपदेश ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिद्धि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथु-स्तुके । या ! देवानाम् । असि । स्वसा ।

जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । दे वि । दिदिद्धि । नः ॥

भावार्थ—( पृथुष्टुके ) हे बहुत स्तुतिवाली ! ( सिनीवालि ) अन्न-  
वाली [ वा प्रेमयुक्त बल करने वाली ] गृहपत्नी ! ( या ) जो तू ( देवानाम् )  
दिव्यगुणों की ( स्वसा ) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वा ग्रहण करनेवाली  
( असि ) है । सो तू ( हव्यम् ) ग्रहण करने योग्य, ( आहुतम् ) सब प्रकार

ज्वलतः ( दावस्य ) तु तु उपतापे—घञ् । वनाग्नेः ( दहतः ) ( पृथक् ) भिन्ने ।  
अथवा ( एताम् ) ( एतस्य ) ईर्ष्यालोः पुरुषस्य ( ईर्ष्याम् ) मत्सरबुद्धिम् ( उद्ना )  
अ० ३ । १२ । ४ । उदकेन ( अग्निम् ) ( इव ) ( शमय ) शान्तां कुरु ॥ ३ ॥

१—( सिनीवालि ) अ० २ । २६ । २ । विञ् बन्धने—नक्, डीप् + बल  
जीवने दाने च—अण्, डीप् । हे अन्नवति—निरु० ११ । ३१ । यद्वा सिनी प्रेम-  
युक्ता चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ ( पृथुष्टुके ) सृष्टृभूयुषिभिरभ्यः कक् ।  
उ० ३ । ४१ । इति षुञ् स्तुतौ—कक् । बहुस्तुतियुक्ते ( या ) ( देवानाम् ) दिव्य-  
गुणानाम् ( अस्मिन् ) भवसि ( स्वसा ) अ० ५ । ५ । १ । सु + अस दीप्तौ ग्रहणे च-  
अञ् । सृष्टु दीपयित्री ग्रहीत्री वा ( जुषस्व ) सेवस्व ( हव्यम् ) ग्राह्यम् ( आहुतम् )



( १६१२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ४६ [ ३६१ ]

स्वीकार किये व्यवहार का ( जुषस्व ) सेवन कर और ( देवि ) हे कामनायोग्य देवी ! ( नः ) हमारे लिये ( प्रजाम् ) सन्तान ( दिदिङ्ढि ) दे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस घर में अन्नवती, सुशिक्षित, व्यवहार कुशल स्त्रियां होती हैं, वहीं उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। ३२। ६। और यजुर्वेद—३४। १०। तथा—निरु० ११। ३२। में व्याख्यात है ॥

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।

तस्यै विशपत्न्यै हविः सिनीवालयै जुहोतन ॥ २ ॥

या । सु-बाहुः । सु-अङ्गुरिः । सु-सूमा । बहु-सूवरी ।

तस्यै । विशपत्न्यै । हविः । सिनीवालयै । जुहोतन ॥ २ ॥

भाषार्थ—( या ) जो ( सुबाहुः ) शुभकर्मों में भुजा रखने वाली, ( स्वङ्गुरिः ) सुन्दर व्यवहारों में अङ्गुरी रखने वाली, ( सुषूमा ) मली भांति आगे चलने वाली, और ( बहुसूवरी ) बहुत प्रकार से वीरों की उत्पन्न करने वाली, [ माता है ] । ( तस्यै ) उस ( विशपत्न्यै ) प्रजाओं की पालने वाली, ( सिनीवालयै ) बहुत अन्न वाली [ गृहपत्नी ] को ( हविः ) देने योग्य पदार्थ का ( जुहोतन ) दान करो ॥ २ ॥

भाषार्थ—जो स्त्रियां गृहकार्य में चतुर वीर सन्तान उत्पन्न करने वाली हैं, उनका सत्कार सब मनुष्यों को सदा करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। ३२। ७ ॥

समन्तात् स्वीकृतं व्यवहारम् ( प्रजाम् ) सुसन्तानरूपाम् ( देवि ) कमनीये विदुषि ( दिदिङ्ढि ) दिश दाने—लोडि, शपःश्लु । दिश । देहि ( नः ) अस्मभ्यम् ॥

२—( या ) पत्नी ( सुबाहुः ) शुभकर्मसु बाहु यस्याः सा ( स्वङ्गुरिः ) शोभनेषु व्यवहारेषु अङ्गुरयो यस्याः सा ( सुषूमा ) इषियुधीन्धि० । उ० १। १४५। पू प्रेरणे—मक्, टाप् । सुप्रेरयित्री । सुनेत्री ( बहुसूवरी ) पू प्रसवे—कनिप् । वनो र च । पा० ४। १। ७। डीब्रेफौ । बहुविधं वीराणां जनयित्री ( तस्यै ) ( विशपत्न्यै ) प्रजानां पालयित्र्यै ( हविः ) दातव्यं पदार्थम् ( सिनीवालयै ) म० १। अन्नवत्यै ( जुहोतन ) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७। १। ४५। इति हु दानादिषु लोटि तस्य तनप् । जुहुत । दत्त ॥



या विश्वपत्नीन्द्रमसि प्रतीचीं सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।  
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे  
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । विश्वपत्नी । इन्द्रम् । असि । प्रतीचीं । सहस्र-स्तुका ।  
अभि-यन्ती । देवी । विष्णोः । पत्नि । तुभ्यम् । राता ।  
हवींषि । पतिम् । देवि । राधसे । चोदयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( या ) जो ( विश्वपत्नी ) सन्तानों की पालने वाली, ( प्रतीची )  
निश्चित ज्ञानवाली, ( सहस्रस्तुका ) सहस्रों स्तुतिवाली, ( अभियन्ती ) चारों  
ओर चलती हुई ( देवी ) देवी तू ( इन्द्रम् ) ऐश्वर्य को ( असि=अससि ) ग्रहण  
करती है । ( विष्णोः पत्नि ) हे कामों में व्यापक वीर पुरुष की पत्नी ! ( तुभ्यम् )  
तेरे लिये ( हवींषि ) देने योग्य पदार्थ ( राता ) दिये गये हैं, ( देवि ) हे देवी !  
( पतिम् ) अपने पति को ( राधसे ) सम्पत्ति के लिये ( चोदयस्व ) आगे बढ़ा ॥३॥

भावार्थ—स्त्रियां गृहकार्य में चतुर रह कर अपने पतियों द्वारा धन  
संचय कराकर सन्तान पालन आदि कार्य करती रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-२ ॥ कूहूर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुण का उपदेश ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विदमनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवां जीह-  
वोमि । सा नो रुयिं विश्ववारं नि यच्छाद ददातु

३—( या ) ( विश्वपत्नी ) प्रजानां पालयित्री ( इन्द्रम् ) ऐश्वर्यम् ( असि )  
अस ग्रहणे । अससि गृह्णासि ( प्रतीची ) अ० ७ । ३८ । ३ । निश्चितज्ञानयुक्ता ।  
( सहस्रस्तुका ) म० १ । षुङ्-कक् । असंख्यस्तुतियुक्ता ( अभियन्ती ) अमितो  
गच्छन्ती ( देवी ) व्यवहारकुशला ( विष्णोः ) कार्येषु व्यापकस्य पत्युः ( पत्नि )  
( तुभ्यम् ) ( राता ) दत्तानि ( हवींषि ) दातव्यानि वस्तूनि ( पतिम् ) स्वामिनम्  
( देवि ) ( राधसे ) धनाय—निघ० २ । १० ( चोदयस्व ) प्रेरयस्व । प्रगमय ॥



वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सु-कृतम् । विद्वाना-अपसम् । अस्मिन् ।  
यज्ञे । सु-हवा । जोहवीमि । सा । नः । रयिम् । विश्व-वा-  
रम् । नि । यच्छात् । ददातु । वीरम् । शत-दायम् । उक्थ्यम् ॥

भाषार्थ—( सुकृतम् ) सुन्दर काम करने वाली, ( विद्वानापसम् )  
कर्तव्यों को जानने वाली, ( देवीम् ) दिव्यगुणवाली ( कुहूम् ) कुहू, अर्थात्  
अद्भुत स्वभाव वाली स्त्री को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (सुहवा) विनीत  
बुलावे के साथ (जोहवीमि) मैं बुलाता हूं । (सा) वह (नः) हमें (विश्व-  
वारम्) सब उत्तम व्यवहार वाले (रयिम्) धन को (नि) नित्य (यच्छात्)  
देती रहे और (शतदायम्) असंख्य धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्)  
वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—गुणवती, समझदार स्त्री गृहकार्य में परिमितव्यय कर धन-  
वती होकर अपने सन्तानों को उत्तम वीर बनावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से-निरु० ११ । ३३ । में व्याख्यात है ॥

कुहूर्देवानाममृतस्यपत्नीहव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।

१—( कुहूम् ) मृगश्वादिपशून् । उ० १ । ३७ । कुहू विस्मापने-कु, ऊह ।  
सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्यौ-निरु० ११ । ३१ । कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा  
क्व सती ह्वयत इति वा । क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ११—३२ । कुहू  
पदनाम-निघ० ५ । ५ । विस्मापनशीलाम् । अद्भुतस्वभावां स्त्रियम् ( देवीम् )  
दिव्यगुणाम् ( सुकृतम् ) सुकर्माणम् ( विद्वानापसम् ) इषियुधीन्धि० । उ० १ ।  
१४५ । इति विद् ज्ञाने-मक् । विद्वमो वेदनम्, तद्वत् विद्वानम्, पामादिलक्षणो  
न प्रत्ययः, अपः कर्म । विद्वानानि विदितान्यपांसि कर्माणि यस्यास्ताम् । विदित-  
कर्माणम्-निरु० ११ । ३३ ( अस्मिन् ) ( यज्ञे ) पूजनीये कर्मणि ( सुहवा )  
विभक्तेराकारः । सुहवेन । शोभनाह्वानेन ( जोहवीमि ) भृशमाह्वयामि ( सा )  
कुहूः ( नः ) अस्मभ्यम् ( रयिम् ) धनम् ( विश्ववारम् ) सर्ववर्णनीयव्यवहार-  
युक्तम् ( नि ) नित्यम् ( यच्छात् ) दद्यात् ( ददातु ) ( वीरम् ) वीरसन्तानम्  
( शतदायम् ) ददातेर्घञ्, युक् । बहुधनम् ( उक्थ्यम् ) प्रशस्यम् ॥



शृणोतु यज्ञमु'शृतीनामुदरायस्पोषं चिकितुषीदधातु २  
 कुहूः । देवानाम् । अमृतस्य । पत्नी । हव्या । नः । अस्य ।  
 हविषः । जुषेत । शृणोतु । यज्ञम् । उशती । नः । अद्य ।  
 रायः । पोषम् । चिकितुषी । दधातु ॥ २ ॥

भावार्थ—( देवानाम् ) विद्वानोंके बीच ( अमृतस्य ) अमर [पुरुषार्थी]  
 पुरुष की ( पत्नी ) पत्नी ( हव्या ) बुलाने योग्य वा स्वीकार करने योग्य,  
 ( कुहूः ) कुहू अर्थात् विचित्र स्वभाववाली स्त्री ( नः ) हमारे ( अस्य ) इस  
 ( हविषः ) ग्रहण योग्य कर्म का ( जुषेत ) सेवन करे । ( यज्ञम् ) सत्संग की  
 ( उशती ) इच्छा करती हुई ( चिकितुषी ) विज्ञानवती वह ( अद्य ) आज ( नः )  
 हमें ( शृणोतु ) सुने और ( रायः ) धन की ( पोषम् ) वृद्धि को ( दधातु ) पुष्ट करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस घर में यशस्वी पुरुष की पत्नी सब घरवालों की सुधि  
 रखने वाली और परिमित व्ययवाली होती है । वहां वह धन बढ़ाकर सब को  
 आनन्द देती है ॥ २ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२ ॥ राका देवता ॥ जगती छन्दः ॥

स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्यों का उपदेश ॥

राकामुहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बो-  
 धंतु तमना । सीव्यत्वपः सुच्याच्छ्रद्यमानया ददातु वीरं

२—( कुहूः ) म० १ । विचित्रस्वभावा ( देवानाम् ) विदुषां मध्ये ( अमृ-  
 तस्य ) अमरस्य । पुरुषार्थिनः पुरुषस्य ( पत्नी ) भार्या ( हव्या ) आह्वातव्या ।  
 स्वीकरणीया वा ( नः ) अस्माकम् ( अस्य ) उपस्थितस्य ( हविषः ) ग्राह्य-  
 कर्मणः ( जुषेत ) सेवनं कुर्यात् ( शृणोतु ) आकर्णयतु ( यज्ञम् ) सत्संगम्  
 ( उशती ) वश कान्तौ—शत्रु । कामयमाना ( नः ) अस्माकं वचनम् ( अद्य )  
 ( रायः ) धनस्य ( पोषम् ) वृद्धिम् ( चिकितुषी ) अ० ४ । ३० । २ । विज्ञानवती  
 ( दधातु ) पोषयतु ॥



शुतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सु-हवा । सु-स्तुती । हुवे । शृणोतु । नः ।  
सु-भगा । बोधतु । त्मना । सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्य-  
मानया । ददातु । वीरम् । शुत-दायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( राकाम् ) राका, अर्थात् सुख देनेवाली वा पूर्णमासी के समान शोभायमान पत्नी को ( सुहवा ) सुन्दर बुलावे से और ( सुस्तुती ) षड्गी स्तुति से ( अहम् ) मैं ( हुवे ) बुलाता हूं, ( सुभगा ) वह सौभाग्यवती [ षडे ऐश्वर्यवाली ] ( नः ) हमें ( शृणोतु ) सुने और ( त्मना ) अपने आत्मा से ( बोधतु ) समझे । और ( अच्छिद्यमानया ) न टूटती हुई ( सूच्या ) सुई से ( अपः ) कर्म [ गृहस्थ कर्तव्य ] को ( सीव्यतु ) सीयें, और ( शुत-दायम् ) लैंकड़ों धनवाला, ( उक्थ्यम् ) प्रशंसनीय ( वीरम् ) वीर सन्तान ( वदातु ) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुष सुखदायिनी, अनेक शुभगुणों से शोभायमान पूर्णमासी के समान पत्नी को आदर से बुलावे और वह ध्यान देकर पति के सम्मति से गृहस्थ कर्तव्य को लगातार प्रयत्न से करती हुई वीर पुरुषार्थी सन्तान उत्पन्न करे, जैसे अच्छी दड़ सुई से सीकर वस्त्र को सुन्दर बनाते हैं ॥ १ ॥

१—( राकाम् ) रुद्राधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । रा दाने—क, टाप् । अनुमती राकेति वेषपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सा अनुमतियोत्तरा सा राकेति विश्वायते—निरु० ११ । २६ । राका रातेर्दानकर्मणः—निरु० ११ । ३० । राका पदनाम—निघ० ५ । ५ । सुक्-वात्रीम् । पौर्णमासीम् । पौर्णमासीसमानशोभायमानाम् ( अहम् ) पतिः ( सुहवा ) अ० ७ । ४७ । १ । शुभाह्वनेन ( सुष्टुती ) शोभनया स्तुत्या ( हुवे ) आह्वयामि ( शृणोतु ) ( नः ) अस्मान् ( सुभगा ) शोभनैश्वर्ययुक्ता ( बोधतु ) जानातु ( त्मना ) स्वात्मना ( सीव्यतु ) विष्णु तन्तुसन्ताने । सन्तनोतु ( अपः ) कर्म ( सूच्या ) सिवेष्टेरु च । उ० ४ । ६३ । इति विष्णु तन्तुसन्ताने—चट्, डीप् । स्वनामख्यातया सीवनसाधनया ( अच्छिद्यमानया ) छेसुमनर्हया । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ७ । ४७ । १ ॥



सू० ४८ [ ३६३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६१७ )

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं— २। ३२। ४, ५। और महर्षि वया-  
नव कृत संस्कार विधि, सीमन्तोन्नयन प्रकरण में हैं। और मन्त्र एक—निघ०  
११। ३१। में व्याख्यात है ॥

यास्ते राके सुम॒तयः सुपेश॑सो याभिर्ददा॑सि दाशु॒षे  
वसू॑नि । ताभिर्नो अ॒द्य सुमना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रा॒पीषं  
सु॒भगे ररा॑णा ॥ २ ॥

याः । ते । राके । सु-म॒तयः । सु-पेश॑सः । याभिः । ददा॑सि ।  
दाशु॒षे । वसू॑नि । ताभिः । नः । अ॒द्य । सु-मना॑ः । उ॒प-आ॑गहि ।  
सह॒स्र-पोष॑म् । सु-भ॒गे । ररा॑णा ॥ २ ॥

भाषार्थ—( राके ) हे सुखदायिनी ! वा पूर्णमासी समान शोभायमान  
पत्नी ! ( याः ) जो ( ते ) तेरी ( सुम॒तयः ) सुमतियें ( सुपेश॑सः ) बहुत सुवर्ण  
वाली है, ( याभिः ) जिनसे तू ( दाशु॒षे ) धन देने वाले [ मुझ पति ] को  
( वसू॑नि ) अनेक धन ( ददा॑सि ) देती है । ( सुभगे ) हे सौभाग्यवती ! ( ताभिः )  
उन [ सुमतियों ] से ( नः ) हमें ( सहस्रपोषम् ) सहस्र प्रकार से पुष्टि को  
( ररा॑णा ) देती हुई, ( सुमनाः ) प्रसन्न मन होकर ( अद्य ) आज ( उपागहि )  
समीप आ ॥ २ ॥

भावार्थ—विदुषी, सुलक्षणा, विचारशील, प्रसन्नचित्त पत्नी धन और  
सम्पत्ति की रक्षा और बढ़ती करती हुई पतिप्रिया होकर घरमें सुख बढ़ाती रहे ॥२

२—( याः ) ( ते ) तव ( राके ) म० १। सुखप्रदे । पूर्णमासीसमशोभाय-  
माने ( सुम॒तयः ) कल्याणबुद्ध्यः ( सुपेश॑सः ) पिश अवयवे, दीप्तौ च-असुन ।  
पेशः=हिरण्यम्-निघ० १। २, रूपम्-निघ० ३। ७। बहुहिरण्ययुक्ताः ( याभिः )  
( वसू॑नि ) ( दाशु॒षे ) धनस्य दात्रे पत्ये ( वसू॑नि ) धनानि ( ताभिः ) सुम-  
तिभिः ( अद्य ) ( सुमनाः ) प्रसन्नचित्ता ( उपागहि ) समीपमागच्छ ( सहस्र-  
पोषम् ) असंख्यपुष्टिम् ( सुभगे ) हे सौभाग्ययुक्ते ( ररा॑णा ) अ० ५। २७।  
११। प्रयच्छन्ती ॥



## सूक्तम् ४८ ॥

१-२। देवपत्न्यो देवताः ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः ॥

राजवद्राज्ञीन्यायोपदेशः—राजा के समान रानी को न्याय का उपदेश ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाज-  
सातये । याः पार्थिवासो या अपामपि ब्रूते ता नो  
देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानाम् । पत्नीः । उशतीः । अवन्तु । नः । प्र । अवन्तु । नः  
तुजये । वाज-सातये । याः । पार्थिवासः । याः । अपाम् । अपि ।  
ब्रूते । ताः । नः । देवीः । सु-हवाः । शर्म । यच्छन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( याः ) जो ( उशतीः ) [ उपकार की ] इच्छा करती हुई  
( देवानाम् ) विद्वानों वा राजाओं की ( पत्नीः ) पत्नियां ( नः ) हमें ( अवन्तु )  
तृप्त करें और ( तुजये ) बल वा स्थान के लिये और ( वाजसातये ) अन्न देने  
वाले संग्राम [ जीतने ] के लिये ( नः ) हमारी ( प्र ) अच्छे प्रकार ( अवन्तु )  
रक्षा करें । और ( अपि ) भी ( याः ) जो ( पार्थिवासः ) और जो पृथिवी की  
रानियां ( अपाम् ) जलों के ( ब्रूते ) स्वभाव में [ उपकारवाली ] हैं, ( ताः ) वे  
सब ( सुहवाः ) सुन्दर बुलावे योग्य ( देवीः ) देवियां ( नः ) हमें ( शर्म ) घर  
वा सुख ( यच्छन्तु ) दें ॥ १ ॥

१—( देवानाम् ) विदुषां राज्ञां वा ( पत्नीः ) पत्न्यः ( उशतीः ) उशत्यः  
उपकारं कामयमानाः ( अवन्तु ) तर्पयन्तु ( नः ) अस्मान् ( प्र ) प्रकर्षेण  
( अवन्तु ) रक्षन्तु ( नः ) अस्मान् ( तुजये ) इगुपधात् कित् । उ० ४। १२० तुज  
हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन् । बलाय । निवासाय ( वाजसातये ) ऊतिपूतिज्वति-  
साति० । पा० ३। ३। ६७ । षण्णु दाने-क्तिन् । वाजोऽन्नं दीयते येन तस्मै । अन्न-  
लाभाय संग्रामाय-निघ० २। १७ ( याः ) पत्न्यः ( पार्थिवासः ) तस्येश्वरः । पा०  
५। १४२ । पृथिवी-अण्, अलुक् । पार्थिव्यः । पृथिवीराश्यः ( याः ) ( अपाम् )  
जलानाम् ( अपि ) ( ब्रूते ) स्वभावे ( ताः ) ( नः ) अस्मभ्यम् ( देवीः ) प्रकाशमानाः  
( सुहवाः ) शोभनाह्वानाः ( शर्म ) सुखं गृहं वा ( यच्छन्तु ) ददतु ॥



सू० ४८ [ ३६४ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६१८ )

भावार्थ—विद्वान् और राजा लोगों के समान उनकी स्त्रियां भी उपकार करके प्रजा पालन करें ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—५।४६।७, ८; और निरुक्त में भी व्याख्यात हैं—१२।४५, ४६ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नायश्विनी राट्  
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्ज-  
नीनाम् ॥ २ ॥

उत । ग्नाः । व्यन्तु । देव-पत्नीः । इन्द्राणी । अग्नयी ।  
अश्विनी । राट् । आ । रोदसी । वरुणानी । शृणोतु । व्यन्तु ।  
देवीः । यः । ऋतुः । जनीनाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( उत ) और भी ( देवपत्नीः ) विद्वानों वा राजाओं की पत्नियां, [ अर्थात् ] ( राट् ) ऐश्वर्यवाली, ( इन्द्राणी ) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, ( अग्नयी ) अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, ( अश्विनी ) शीघ्र-गामी पुरुष की स्त्री [ प्रजा की ] ( ग्नाः ) बाणियों को ( व्यन्तु ) व्याप्त हों । ( आ ) और ( रोदसी ) रुद्र, ज्ञानवान् पुरुष की स्त्री अथवा ( वरुणानी ) श्रेष्ठ-जन की पत्नी [ बाणियों को ] ( शृणोतु ) सुने और ( यः ) जो ( जनीनाम् )

२—( उत ) अपि च ( ग्नाः ) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति गमे-  
न, टिलोपः, टाप् । मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्, ग्ना गच्छन्त्येताः—निरु० ३ । २१ ।  
ग्ना गमनादापो देवपत्न्यो वा—निरु० १० । ४७ । ग्ना वाक्—निघ० १ । ११ ।  
वाणीः ( व्यन्तु ) वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु । व्याप्नुवन्तु ( देवपत्नीः ) विदुषां  
राज्ञां वा पत्न्यः ( इन्द्राणी ) इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य पत्नी ( अग्नयी ) वृषाक-  
प्यनि० । पा० ४ । १ । ३७ । ऐकारादेशः, डीप् च । अग्नेः पावकवद् वर्त-  
मानस्य पत्नी ( अश्विनी ) आशुगामिनः स्त्री ( राट् ) राजति—ईष्टे—निघ० २ ।  
२१ । राजृ-क्विप् । ऐश्वर्यवती ( आ ) समुच्चये ( रोदसी ) सर्वधातुभ्योऽसुन् ।  
उ० ४ । १ । ८६ । रुधिर् आवरणे—असुन्, धस्य दकारः । उगितश्च । पा० ४ ।  
१ । ६ । डीप् । रोधनशीला रुद्रस्य पत्नी—निरु० १२ । ४६ । ज्ञानवतः पत्नी ( वरु-



( १६२० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५० [ ३६५ ]

स्त्रियों का [ न्याय का ] ( ऋतुः ) काल है, ( देवीः ) यह सब देवियां [ उसकी ] ( व्यन्तु ) चाहना करें ॥ २ ॥

भावार्थ—स्त्रियां स्त्रियों को अपनी न्याय सभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहिर के झगड़ों को उचित समय पर निर्णय करें, और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-८ ॥ इन्द्र आत्मा वा देवता ॥ १, २, ५, ८, ८ अनुष्टुप्;  
३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।

एवाहमद्य कितवान्क्षैर्वध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति । एव ।

अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । वध्यासम् । अप्रति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( अशनिः ) बिजुली ( विश्वाहा ) सब दिनों ( अप्रति ) बे रोक होकर ( वृक्षम् ) पेड़ को ( हन्ति ) गिरा देती है । ( एव ) वैसे ही ( अहम् ) मैं ( अद्य ) आज ( अप्रति ) बे रोक होकर ( अक्षैः ) पाशों से ( कितवान् ) ज्ञान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को ( वध्यासम् ) नाश करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जुआरी, लुटेरे आदिकों को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें ॥ १ ॥

यानी ) धेष्टजनस्य पत्नी ( शृणोतु ) ( व्यन्तु ) कामयन्ताम् ( देवीः ) विद्युत्  
( ऋतुः ) उपकारकालः ( जनीनाम् ) स्त्रीणाम् ॥

१—( यथा ) येन प्रकारेण ( वृक्षम् ) तरुम् ( अशनिः ) विद्युत् ( विश्वाहा ) सर्वाणि दिनानि ( हन्ति ) नाशयति ( अप्रति ) अप्रतिपक्षम् ( एव ) एवम् ( अहम् ) शूरः ( अद्य ) ( कितवान् ) कि ज्ञाने—क + वा गतिगन्धनयोः—  
क । कितवः किं तवास्तीति शब्दानुवृत्तिः कृतवान् वाशीर्नामकः—निरु० ५ ।  
२२ । ज्ञाननाशकान् । वञ्चकान् । द्यूतकारकान् ( अक्षैः ) द्यूतसाधनैः पाश-  
कादिभिः ( वध्यासम् ) हन्तेर्लिङि । नाशयेयम् ॥



तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।

समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतुराणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् । सुस्-  
रेतु । विश्वतः । भगः । अन्तः-हस्तम् । कृतम् । मम ॥ २ ॥

भाषार्थ—( तुराणाम् ) शीघ्रकारी, ( अतुराणाम् ) अशीघ्रकारी ( अवर्जुषीणाम् ) [ शत्रुओं को ] न रोक सकने वाली ( विशाम् ) प्रजाओं का ( भगः ) धन ( विश्वतः ) सब प्रकार ( मम ) मेरे ( अन्तर्हस्तम् ) हाथ में आये हुये ( कृतम् ) कर्म को ( समैतु ) यथावत् प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा सब प्रकार प्रजा के धन को अपने वश में रख कर रक्षा करे ॥ २ ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः ।

रथैरिव प्र भरे वाजयद्विः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ३

ईडे । अग्निम् । स्व-वसुम् । नमः-भिः । इह । प्र-सुक्तः ।

वि । चयत् । कृतम् । नः । रथैः-इव । प्र । भरे । वाजयत्-

भिः । प्र-दक्षिणम् । मरुताम् । स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( स्ववसुम् ) बन्धुओं को धन देने वाले ( अग्निम् ) विद्वान् राजा को ( नमोभिः ) सत्कारों के साथ ( ईडे ) मैं दूढ़ता इ, ( प्रसक्तः ) सन्तुष्ट वह ( इह ) यहां पर ( नः ) हमारे ( कृतम् ) कर्म का ( वि चयत् )

२—( तुराणाम् ) तुर त्वरणे—क । शीघ्रकारिणीनाम् ( अतुराणाम् ) अशीघ्रकारिणीनाम् ( विशाम् ) प्रजानाम् ( अवर्जुषीणाम् ) पृथक्कलिभ्य उपच् । उ० ४ । ७५ । नञ् + वृजी वर्जने—उषच्, डीप् । शत्रूणामवर्जनशीलानाम् ( समैतु ) सम्यक् प्राप्नोतु ( विश्वतः ) सर्वतः ( भगः ) धनम् ( अन्तर्हस्तम् ) हस्तमध्ये गतम् ( कृतम् ) कर्म ( मम ) ॥

३—( ईडे ) अन्विच्छामि । ईडिरध्येषणकर्मा पूजा कर्मा वा—निरु० ७ । १५ । ( अग्निम् ) विद्वांसं राजानम् ( स्ववसुम् ) स्वभ्यो बन्धुभ्यो धनं यस्य तम् ( नमोभिः ) सत्कारैः ( इह ) अत्र ( प्रसक्तः ) पञ्च सङ्गे—क । सन्तुष्टः ( विच-



( १६२२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५० [ ३६५ ]

विवेचन करे । (प्रदक्षिणम्) उसकी प्रदक्षिणा [आदर से पूज्य को दाहिनी ओर रखकर घूमना] (प्र) अच्छे प्रकार (भरे) मैं धारण करता हूँ (इव) जैसे (वाजयज्ञिः) शीघ्र चलने वाले (रथैः) रथों से, [जिससे] (महताम्) शूरवीरों में (स्तोमम्) स्तुति को (ऋध्याम्) मैं बढ़ाऊँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण विद्वानों के सत्कार करने वाले विवेकी राजा के अधीन रह कर आदरपूर्वक उसकी आज्ञा मानकर शूरवीरों में अपना यश बढ़ावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। ६०। १ ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतम् अस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।  
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्  
वृषया रुज ॥ ४ ॥

वयम् । जयेम् । त्वया । युजा । वृतम् । अस्माकम् । अंशम् ।  
उत् । अव । भरे-भरे । अस्मभ्यम् । इन्द्र । वरीयः । सु-गम् ।  
कृधि । प्र । शत्रूणां । मघ-वन् । वृषया । रुज ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र राजन् । (त्वया) तुम्हारे (युजा) सहायक वा ध्यानी के साथ (वयम्) हम लोग (वृतम्) घेरने वाले शत्रु को (जयेम) जीत लें, (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) भाग को (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में (उत्) उत्तमता से (अव) रख । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये

यत्) विचिनुयात् । विवेकेन प्राप्नुयात् (कृतम्) कर्म (नः) अस्माकम् (रथैः) (इव) यथा (प्र) प्रकर्षेण (भरे) धरामि (वाजयज्ञिः) वाज शब्दात् करोत्यर्थे णिच् । वाजं वेगं कुर्वद्भिः (प्रदक्षिणम्) तिष्ठद्गुप्रमृतीनि च । पा० २। १। १७ । इत्यव्ययीभावसमासः । प्रगतं दक्षिणमिति । दक्षिणावर्त्तं पूज्यमुद्दिश्य भ्रमणम् (मरुताम्) शूराणां मध्ये—अ० १। २०। १ (स्तोमम्) स्तुतिम् (ऋध्याम्) अर्धयेयम् । वर्धयेयम् ॥

४—(वयम्) योद्धारः (जयेम) अभिभवेम (त्वया) (युजा) सहायेन ध्यानिना वा (वृतम्) वृणोतेः—किंवा । आवरकं शत्रुम् (अस्माकम्) (अंशम्) धनजनविभागम् (उत्) उत्कर्षेण (अव) रत्न (भरेभरे) सर्वस्मिन् संग्रामे



सू० ५० [ ३६५ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६२३ )

( वरीयः ) विस्तीर्ण देश को ( सुगम् ) सुगम ( कृधि ) कर दे, ( मघवन् ) हे बड़े धनी ! ( शत्रूणाम् ) शत्रुओं के ( वृष्ण्या ) साहसों को ( प्र रुज ) तोड़ दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब योधा लोग सेनापति की सहायता लेकर अपने धन जन आदि की रक्षा करके शत्रुओं को जीतें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १०२। ४ ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।

अविं वृको यथा मथं देवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैषम् । त्वा । सम्-लिखितम् । अजैषम् । उत । सु-रुधम् ।

अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[ हे शत्रु ! ] ( संलिखितम् ) यथावत् लिखे हुये ( त्वा ) तुमको ( अजैषम् ) मैंने जीत लिया है, ( उत ) और ( संरुधम् ) रोक डालने वाले को ( अजैषम् ) मैंने जीत लिया है । ( यथा ) जैसे ( वृकः ) भेड़िया ( अविम् ) बकरी को ( मथत् ) मथ डालता है, ( एव ) वैसे ही ( ते ) तेरे ( कृतम् ) कर्म को ( मथ्नामि ) मैं मथ डालूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस दुष्ट जन का नाम राजकीय पुस्तकों में लिखा हो, और बड़ा विघ्नकारी ही उसको यथावत् दण्ड मिलना चाहिये ॥ ५ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति

( इन्द्र ) हे परमैश्वर्यवान् राजन् ( वरीयः ) उरु—ईयसुन्, वरादेशः । उरुतरम् । विस्तीर्णतरं देशम् ( सुगम् ) सुगमम् ( कृधि ) कुरु ( प्र ) ( शत्रूणाम् ) ( मघवन् ) हे बहुधनवान् ( वृष्ण्या ) वृष्णि भवानि । सामर्थ्यानि ( रुज ) रुजो भङ्गे । भङ्गि ॥

५—( अजैषम् ) अहं जितवानस्मि ( त्वा ) त्वां शत्रुम् ( संलिखितम् ) राजकीय पुस्तकेषु सम्यग् लिखितम् ( अजैषम् ) ( उत ) अपि च ( संरुधम् ) रुधेः—क्विप् । निरोधकम् । विघ्नकारिणम् ( अविम् ) अजाम् ( वृकः ) अर-श्वश्वा ( यथा ) ( मथत् ) मथ्नाति ( एव ) एवम् ( मथ्नामि ) नाशयामि ( ते ) तव ( कृतम् ) कर्म ॥ C-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.



( १६२४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५० [ ३६५ ]

काले । यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः  
सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्र-हाम् । अति-दीवा । जयति । कृतस्-इव । श्व-घ्नी ।  
वि । चिनीति । काले । यः । देव-कामः । न । धनम् ।  
रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥६॥

भाष्यार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहारकुशल पुरुष (प्रहाम्)  
उपद्रवी शत्रु को ( जयति ) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करनेवाला जुआरी  
( काले ) [हार के] समयपर (इव) ही ( कृतम् ) अपने काम का (वि चिनीति)  
विवेक करता है। ( यः ) जो ( देवकामः ) शुभगुणों का चाहनेवाला ( धनम् )  
धन को [शुभ काम में] ( न ) नहीं ( रुणद्धि ) रोकता है, ( रायः ) अनेक धन  
( तम् ) उसको ( इत् ) ही ( स्वधाभिः ) आत्म धारण शक्तियों के साथ  
( सम् सृजति ) मिलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय  
करा देता है, शुभगुण चाहनेवाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्म-  
बल पाता है ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ४२ । ६, १० ॥

गोभिष्टरे मामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।

६—( उत ) अपि च ( प्रहाम् ) जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति  
बाहुलकात् हन्तेर्विद् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नर्य आ-  
त्वम् । प्रहन्तारम् । उपद्रविणम् ( अतिदीवा ) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० । १ ।  
१५६ । दिवु क्रीडाव्यवहारादिषु—कनिन्, दीर्घश्च । अतिव्यवहारकुशलः  
( जयति ) ( कृतम् ) कर्म ( इव ) अवधारणे ( श्वघ्नी ) अ० ४ । १६ । ५ । धन-  
हन्ता कितवः ( वि चिनीति ) विवेकेन प्राप्नोति ( काले ) पराजयकाले ( यः )  
( देवकामः ) शुभगुणान् कामयमानः ( न ) निषेधे ( धनम् ) ( रुणद्धि ) वर्ज-  
यति ( इत् ) एव ( तम् ) देवकामम् ( रायः ) धनानि ( सम् सृजति ) बहु-  
वचनस्यैकवचनम् । सम् सृजन्ति । संयोजयन्ति ( स्वधाभिः ) आत्मधारणशक्तिभिः ॥



सू० ५० [ ३६५ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६२५ )

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥७॥  
 गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुः-स्वाम् । यवेन । वा । क्षुधम् ।  
 पुरु-हुत । विश्वे । वयम् । राज-सु । प्रथमाः । धनानि ।  
 अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( पुरुहुत ) हे बहुत बुलाये गये राजन् ! ( विश्वे ) हम सब लोग ( गोभिः ) विद्याओं से ( तरेवाम् ) दुर्गतिवाली ( अमतिम् ) कुमति को ( तरेम ) हटावें, ( वा ) जैसे ( यवेन ) जव आदि अन्न से ( क्षुधम् ) भूख को । ( वयम् ) हम लोग ( राजसु ) राजाओं के बीच ( प्रथमाः ) पहिले और ( अरिष्टासः ) अजेय होकर ( वृजनीभिः ) अनेक वर्जन शक्तियों से ( धनानि ) अनेक धनों को ( जयेम ) जीते ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सुव्य आहितः ।  
 गोजिह्व भूयासमश्वजिह्व धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥  
 कृतम् । मे । दक्षिणे । हस्ते । जयः । मे । सुव्ये । आ-हितः ।  
 गो-जित् । भूयासम् । अश्व-जित् । धन-जयः । हिरण्य-जित् ।

भाषार्थ—( कृतम् ) कर्म ( मे ) मेरे ( दक्षिणे ) दाहिने ( हस्ते ) हाथ

७—( गोभिः ) वाग्भिः । विद्याभिः ( तरेम ) अभिभवेम ( अमतिम् ) दुर्ब-  
 क्षिम् ( दुरेवाम् ) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इण् गता—वन् । दुर्गतियुक्ताम्  
 ( यवेन ) यवादिना ( क्षुधम् ) बुभुक्षाम् ( पुरुहुत ) बह्वाह्वान ( विश्वे ) सर्वे  
 वयम् ( वयम् ) ( राजसु ) नृपेषु ( प्रथमाः ) मुख्याः ( धनानि ) ( अरिष्टासः )  
 अहिंसिताः । अजेयाः ( वृजनीभिः ) कृपवृजि० । उ० २ । ८१ । वृजी वर्जने-  
 मयुः । वर्जनशक्तिभिः । सेनाभिः ॥

८—( कृतम् ) विहित कर्म ( मे ) मेरे ( दक्षिणे ) ( हस्ते ) पाणौ ( जयः )



( १६२६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५० [ ३६५ ]

में और ( जयः ) जीत ( मे ) मेरे ( सव्ये ) बायें हाथ में ( आहितः ) स्थित है ।  
 मैं ( गोजित् ) भूमि जीतनेवाला, ( अश्वजित् ) घोड़े जीतनेवाला, ( धनंजयः )  
 धन जीतनेवाला और ( हिरण्यजित् ) सुवर्णजीतनेवाला ( भूयासम् ) रहूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर  
 सुखी होवें ॥ ८ ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।

सं मां कृतस्य धारया धनुः स्नावन्व नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फल-वतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्-इव ।

सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नावन्-इव । नह्यत ॥ ९ ॥

भावार्थ—( अक्षाः ) हे व्यवहारकुशल पुरुषो । ( क्षीरिणीम् ) बड़ी  
 दुधेल ( गाम् इव ) गऊ के समान ( फलवतीम् ) उत्तम फलवाली ( द्युवम् )  
 व्यवहार शक्ति ( दत्त ) दानकरो । ( कृतस्य ) कर्म की ( धारया ) धारा  
 [ प्रवाह ] से ( मा ) मुझको ( सम् नह्यत ) यथावत् बांधो ( इव ) जैसे ( स्नावन् )  
 डोरी से ( धनुः ) धनुष को [ बांधते हैं ] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन  
 सुफल करें ॥ ९ ॥

उत्कर्षः ( मे ) ( सव्ये ) वामे ( आहितः ) स्थापितः ( गोजित् ) भूमिजेता ( भूया-  
 सम् ) ( अश्वजित् ) अश्वानां जेता ( धनंजयः ) अ० ३ । १४ । २ । धनानां जेता  
 ( हिरण्यजित् ) सुवर्णस्य जेता ॥

९—( अक्षाः ) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारकुशलाः ( फलवतीम् ) उत्तम-  
 फलयुक्ताम् ( द्युवम् ) दीव्यतेर्भावे—क्विप् । च्छ्वोः शृङ्गुनासिके च । पा०  
 ६ । ४ । १६ । इत्यूट्-अभि उवङादेशः । व्यवहारशक्तिम् ( दत्त ) प्रयच्छत  
 ( गाम् ) धेनुम् ( क्षीरिणीम् ) बहुदोग्ध्रीम् ( इव ) यथा ( मा ) माम् ( कृतस्य )  
 विहितस्य कर्मणः ( धारया ) प्रवाहेण ( धनुः ) चापम् ( स्नावन् ) स्नायन्-  
 पयति० उ० ४ । ११३ । स्ना शौचे—वनिप् । वायुवाहिन्या नाड्या । स्नायुनि-  
 र्मितया मौर्व्या ( इव ) यथा ( सम् नह्यत ) संयोजयत ॥



सू० ५१ [ ३६६ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६२७ )

सूक्तम् ५१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुत्तरस्मादधरादघायोः ।

इन्द्रः पुरस्तादुत्त मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः ।

कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत्त । उत्तर-  
स्मात् । अधरात् । अघ-योः । इन्द्रः । पुरस्तात् । उत्त ।  
मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरीयः । कृणोतु ॥ १ ॥भाषार्थ—( बृहस्पतिः ) बड़े शूरों का रक्षक सेनापति ( नः ) हमें  
( पश्चात् ) पीछे, ( उत्तरस्मात् ) ऊपर ( उत्त ) और ( अधरात् ) नीचे से  
( अघायोः ) बुरा चीतनेवाले शत्रु से ( परि पातु ) सब प्रकार बचावे । ( इन्द्रः )  
बड़े ऐश्वर्य वाला राजा ( पुरस्तात् ) आगे से ( उत्त ) और ( मध्यतः ) मध्य से  
( नः ) हमारे लिये ( वरीयः ) विस्तीर्ण स्थान ( कृणोतु ) करे, ( सखा ) जैसे  
मित्र ( सखिभ्यः ) मित्रों के लिये [ करता है ] ॥भावार्थ—मनुष्य बीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर  
उधैसे प्रजा की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ॥ १० । ४२ । ११ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

१—( बृहस्पतिः ) बृहतां शूरानां पालकः सेनापतिः ( परि ) सर्वतः ( पातु )  
रक्षतु ( पश्चात् ) ( उत्त ) अपि च ( उत्तरस्मात् ) ऊर्ध्वाल्लोकात् ( अधरात् )  
अधस्तनाल्लोकात् ( अघायोः ) अ० १ । २० । २ । पापेच्छुकात् । बुराचारिणः  
( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( पुरस्तात् ) अग्रे ( उत्त ) ( मध्यतः ) मध्यात्  
( नः ) अस्मभ्यम् ( सखा ) सुहृत् ( सखिभ्यः ) मित्राणां हिताय ( वरीयः ) उर-  
द्वरं स्थानम् ( कृणोतु ) करोतु ॥



( १६२८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५२ [ ३६७ ]

## अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

परस्परैकमत्योपदेशः—आपस में एकता का उपदेश ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सुम्-ज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सुम्-ज्ञानम् । अरणेभिः । सुम्-ज्ञानम् ।

अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( स्वेभिः ) अपनों के साथ ( नः ) हमारा ( संज्ञानम् ) एक मत और ( अरणेभिः ) बाहिर वालों के साथ ( संज्ञानम् ) एकमत हो। ( अश्विना ) हे माता पिता ! ( युवम् ) तुम दोनों ( इह ) यहां पर ( अस्मासु ) हम लोगों में ( संज्ञानम् ) एक मत ( नि ) निरन्तर ( यच्छतम् ) दान करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिकों से शिक्षा पाकर वेद द्वारा संसार में एकता फैलावे ॥ १ ॥

संज्ञानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसादैव्येन  
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पशूदिन्द्र स्याह  
न्यागते ॥ २ ॥

सम् । ज्ञानम् । है । मनसा । सम् । चिकित्वा । मा । युष्महि ।  
मनसा । दैव्येन । मा । घोषाः । उत् । स्थुः । बहुले । वि-निर्हते ।

१—( संज्ञानम् ) संगत ज्ञानम् । ऐकमत्यम् ( नः ) अस्माकम् ( स्वेभिः ) स्वकीयैः पुरुषैः ( अरणेभिः ) अ० १ । १६ । ३ । विदेशिभिः ( अश्विना ) अ० २ । २६ । ६ । हे मातापितरौ ( युवम् ) युवाम् ( इह ) अस्मिन् संसारे ( अस्मासु ) ( नि ) निरन्तरम् ( यच्छतम् ) दत्तम् ॥



सू० ५३ [ ३६८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६२८ )

मा । इषुः । पुप्तुत् । इन्द्रस्य । अहनि । आ-गते ॥ २ ॥

भाषार्थ—( मनसा ) आत्मबल के साथ ( सम् जानामहै ) हम मिले रहें, ( चिकित्वा ) ज्ञान के साथ ( सम् ) मिले रहें, ( दैव्येन ) विद्वानों के हित-कारी ( मनसा ) विज्ञान से ( मा युष्महि ) हम अलग न होवें । ( बहुले ) बहुत ( विनिर्हते ) विविध वध के कारण युद्ध होने पर ( घोषाः ) कोलाहल ( मा उत् स्युः ) न उठें, ( इन्द्रस्य ) बड़े ऐश्वर्यवान् राजा का ( इषुः ) बाण ( अहनि ) दिन [ न्याय दिन ] ( आगते ) आने पर [ हम पर ] ( मा पप्तुत् ) न गिरे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से एकमत रहने का प्रयत्न करें, और ऐसा काम न करें जिससे आपस में युद्ध होवे और पाप के कारण राजा के दण्डनीय होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-७ ॥ १-३ अग्निः; ४-६ प्राणायानौ; ७ सूर्यो देवता ॥

१-३ त्रिष्टुप्; ४ आस्तारपङ्क्तिः; ५-७ अनुष्टुप् ॥

विदुषां कर्त्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशास्तेरमुञ्चः ।  
प्रत्यैहतामुश्वनामृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा श-  
चीभिः ॥ १ ॥

२—( सम् जानामहै ) समानज्ञाना भवाम ( मनसा ) आत्मबलेन ( सम् ) संजानामहै ( चिकित्वा ) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कित ज्ञाने-कनिप् । छान्दसं द्विर्वचनम्, तृतीयाया उद्देशः । चिकित्वना । ज्ञानेन ( मा युष्महि ) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङ्गि लुङि सिचि रूपम् । मां वियुक्ता भूम ( मनसा ) विज्ञानेन ( दैव्येन ) देवहितेन ( घोषाः ) कोलाहलाः ( मा उत् स्युः ) माङ्गि लुङि रूपम् । उथिता मा भूवन् ( बहुले ) प्रचुरे ( विनिर्हते ) विविध वधनिमित्ते युद्धे सति ( इषुः ) बाणः ( मा पप्तुत् ) पत-लुङ् । मा पततु ( इन्द्रस्य ) ऐश्वर्यवती राजा ( अहनि ) दिने । न्यायदिने ( आगते ) प्राप्ते ॥



( १६३० ) - अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५३ [ ३६८ ]

अमुत्र-भूयात् । अधि । यत् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभि-  
शस्तेः । अमुञ्चः । प्रति । औहताम् । अश्विना । मृत्युम् ।  
अस्मत् । देवानाम् । अग्ने । मिषजा । शचीभिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे सर्व व्यापक परमेश्वर ! ( यत् ) जिस कारण से  
( अमुत्रभूयात् ) परलोक में होनेवाले भय से और ( बृहस्पतेः ) बड़ों के रत्नक  
( यमस्य ) नियम कर्ता राजा के [ सम्बन्धी ] ( अभिशस्तेः ) अपराध से ( अधि )  
अधिकारपूर्वक ( अमुञ्चः ) तू ने छुड़ाया है । ( देवानाम् ) विद्वानों में ( मिष-  
जा ) वैद्यरूप ( अश्विना ) माता पिता [ वा अध्यापक, उपदेशक ] ने ( मृत्युम् )  
मृत्यु [ मरण के कारण दुःख ] को ( अस्मत् ) हम से ( शचीभिः ) कर्मों द्वारा  
( प्रति ) प्रतिकूल ( औहताम् ) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने वेदद्वारा बताया है कि मनुष्य गुप्त मानसिक  
कुविचार छोड़कर परलोक में नरक पतन से, और प्रकट शारीरिक पाप छोड़-  
कर राजा के दरुड से बचकर आनन्दित रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७ ६ ॥

सं क्रामतं मा जंहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह-  
स्ताम् । शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा  
वसिष्ठः ॥ २ ॥

सम् । क्रामतम् । मा । जंहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ ।

१—( अमुत्रभूयात् ) भुवो भावे । पा० ३ । १ । १०७ । अमुत्र + भू—कप ।  
परजन्मनि भाविनो भयात् । परलोकगमनान्मरणाद् वा ( अधि ) अधिकृत्य  
( यत् ) यस्मात्कारणात् ( यमस्य ) नियन्तू राज्ञः ( बृहस्पतेः ) महतां पालकस्य  
( अभिशस्तेः ) अपराधात् ( अमुञ्चः ) लङि रूपम् । मोचितवानसि ( प्रति )  
प्रतिकूलम् ( औहताम् ) उहिर् अर्दने—लङ् । नाशितवन्तौ ( अश्विना ) माता-  
पितरौ । अध्यापकोपदेशकौ ( मृत्युम् ) मरणकारणम् ( अस्मत् ) अस्मत्सा  
( देवानाम् ) विदुषां मध्ये ( अग्ने ) हे सर्व व्यापक परमेश्वर ( मिषजा ) अ०  
२ । ६ । ३ । मिषजौ वैद्यरूपौ ( शचीभिः ) कर्मविभिः—निघ० २ । १ ॥



सू० ५३ [ ३६८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६३१ )

ते । स-युजौ । इह । स्ताम् । शतम् । जीव । शरदः ।

वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधि-पाः । वसिष्ठः ॥२॥

भाषार्थ—( प्राणापानौ ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों ( संक्राम-  
तम् ) मिलकर चलो, ( शरीरम् ) इसके शरीर को ( मा जहीतम् ) मत छोड़ो ।  
[ हे मनुष्य ! ] वे दोनों ( ते ) तेरे लिये ( सयुजौ ) मिले हुये ( इह ) यहाँ  
पर ( स्ताम् ) रहें, ( शतम् शरदः ) सौ वरस तक ( वर्धमानः ) बढ़ता हुआ  
( जीव ) तू जीता रहें, ( अग्निः ) सर्व व्यापक परमेश्वर [ वा जाठराग्नि ] ( ते )  
तेरा ( गोपाः ) रक्षक, ( अधिपाः ) अधिक पालन करने वाला और ( वसिष्ठः )  
अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण, अपान और जाठ-  
राग्नि को सम रख सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें ॥२॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पुराचैः पानः प्राणः पुनरा ता-  
विताम् । अग्निष्टदाहानिःतेरुपस्थात् तदात्मनि  
पुनरा वैश्यामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अति-हितम् । पुराचैः । अपानः । प्राणः ।  
पुनः । आ । तौ । हुताम् । अग्निः । तत् । आ । अहुः । निः-क्तेः ।  
उप-स्थात् । तत् । आत्मनि । पुनः । आ । वैश्यामि । ते ॥३॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( आयुः ) जीवन

२—(संक्रामतम्) संगतौ भवतम् (मा जहीतम्) ओ हाक त्यागो-लोड् । मा  
त्यजतम् (शरीरम्) देहम् (प्राणापानौ) प्राणिलीति प्राणो नासिका विचराद्  
बहिर्निर्गच्छन् वायुः, अपानिलीति अपानो हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः,  
तौ (ते) तुभ्यम् (सयुजौ) संयुक्तौ (इह) अस्मिन् देहे (स्ताम्) भवताम्  
(शतम्) (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) सम्वत्सरान् (वर्धमानः) वृद्धिं  
कुर्वाणः (अग्निः) परमेश्वरो जाठराग्निर्वा (गोपाः) अ० ५ । ३ । २ । गोपायिता ।  
रक्षकः (अधिपाः) अधिकं पालकः (वसिष्ठः) अ० ४ । २६ । ३ । अतिश्रेष्ठः ॥  
३—(आयुः) जीवनबलम् (यत्) (ते) तव (अतिहितम्) धा—क्त ।



( १६३२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५३ [ ३६८ ]

सामर्थ्य ( पराचैः ) पराङ्मुख होकर ( अतिहितम् ) घट गया है, ( तौ ) वे दोनों ( प्राणः ) प्राण और ( अपानः ) अपान ( पुनः ) फिर ( आ इताम् ) आवें । ( अग्निः ) वैद्य वा शरीराग्नि ( तत् ) उस [ आयु ] को ( निऋतेः ) महा विपत्ति के ( उपस्थात् ) पास से ( आ अहाः ) लाया है, ( तत् ) उसको ( ते ) तेरे ( आत्मनि ) शरीर में ( पुनः ) फिर ( आ वेशयामि ) प्रविष्ट करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे, मनुष्य वैद्यों की सम्मति से जाठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो अवहाय परा गात् । सुप्तर्षिभ्यं एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥३॥  
मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवहाय । परा । गात् । सुप्तर्षिभ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे । वहन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( प्राणः ) प्राण ( इमम् ) इस [ प्राणी ] को ( मा हासीत् ) न छोड़े, ( मो ) और न ( अपानः ) अपान वायु ( अवहाय ) छोड़ कर ( परा गात् ) चला जावे । ( एनम् ) इस पुरुष को ( सप्तर्षिभ्यः ) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों [ अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि ] को

हानिं गतम् ( पराचैः ) पराङ्मुखम् ( अपानः )—म० २ ( प्राणः ) ( पुनः ) ( तौ ) ( आ इताम् ) इण गतौ—लोट् । आगच्छताम् ( अग्निः ) वैद्यः शरीराग्निर्वा ( तत् ) आयुः ( आ अहाः ) अ० ६ । १०३ । २ । हरतेर्लुङ् । अहार्षीत् । आनीतवान् ( निऋतेः ) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्म्याः । कृष्णापत्तेः ( उपस्थात् ) समीपात् ( तत् ) आयुः ( आत्मनि ) शरीरे ( पुनः ) ( आवेशयामि ) प्रवेशयामि ( ते ) तव ॥

४—( इमम् ) प्राणिनम् ( प्राणः ) श्वासः ( मा हासीत् ) ओ हाक् त्यागे लुङ् । मा त्यजतु ( मो ) नैव ( अपानः ) प्रश्वासः ( अवहाय ) ओ हाक् त्यागे । प्रत्यज्य ( परा गात् ) दूरे गच्छेत् ( सप्त र्षेभ्यः ) अ० ४ । १३ । ६ । सप्त अप्यः प्रतिहिताः शरीरे—यजु० ३४ । ५५ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिभ्यः



सू० ५३ [ ३६८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६३३ )

( परि ददामि ) मैं समर्पण करता हूँ, ( ते ) वे ( एनम् ) इसको । ( स्वस्ति )  
आनन्द के साथ ( जरसे ) स्तुति के लिये ( वहन्तु ) ले चलें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि से  
स्वस्थ रख कर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनृद्धाहविव व्रजम् ।

अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनृद्धाहौ-इव । व्रजम् । अयम् ।

जरिम्णः । शेव-धिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—( प्राणापानौ ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों ( प्र विशतम् )  
प्रवेश करते रहो, ( इव ) जैसे ( अनृद्धाहौ ) रथ ले चलने वाले दो बैल ( व्रजम् )  
गोशाला में । ( अयम् ) यह जीव ( जरिम्णः ) स्तुति का ( शेवधिः ) निधि,  
( अरिष्टः ) दुःखरहित होकर ( इह ) यहां पर ( वर्धताम् ) बढ़ती करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर संसार में  
उन्नति करें ॥ ५ ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।

आयुर्नो विश्वतो दधदुयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

( एनम् ) जीवम् ( परि ददामि ) समर्पयामि ( ते ) सप्तर्षयः ( एनम् ) ( स्वस्ति )  
केमेण ( जरसे ) अ० १ । ३० । २ । जृ स्तुतौ—अमुन् । जरा स्तुतिर्जरतेः  
स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । स्तुतये ( वहन्तु ) नयन्तु ॥

५—( प्र विशतम् ) प्रवेशं कुरुतम् ( प्राणापानौ ) श्वासप्रश्वासौ ( अन-  
ृद्धाहौ ) अ० ४ । ११ । १ । अनस् + वह प्राणो-क्विप्, अनसोडश्च । शकट—  
वहनशक्तौ बलीवदौ ( इव ) यथा ( व्रजम् ) गोष्ठम् ( अयम् ) जीवः ( जरिम्णः )  
अ० २ । २८ । १ । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जरतेः—  
इमनिन् । स्तुत्यस्य कर्मणः ( शेवधिः ) अ० ५ । २२ । १४ । निधिः—निरु० २ ।  
४ । ( अरिष्टः ) अहिंसितः ( इह ) अस्मिँल्लोके ( वर्धताम् ) समृद्धो भवतु ॥



आयुः । नः । विश्वतः । दधत् । अयम् । अग्निः । वरेण्यः ॥६॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य! ] ( ते ) तेरे ( प्राणम् ) प्राण को ( आ सुवामसि ) हम अच्छे प्रकार आगे बढ़ाते हैं, और ( ते ) तेरे ( यक्ष्मम् ) राजरोग को ( परा सुवामि ) मैं दूर निकालता हूँ । ( अयम् ) यह ( वरेण्यः ) स्वीकरणीय ( अग्निः ) जाठराग्नि ( नः ) हमारे ( आयुः ) आयु को ( विश्वतः ) सब प्रकार ( दधत् ) पुष्ट करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक निर्बलता आदि रोगों को नाश करके अपना जीवन सब प्रकार सुफल करें ॥ ६ ॥

उद् वयं तमसुसपरि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

उत् । वयस् । तमसः । परि । रोहन्तः । नाकम् । उत्-तमम् ॥

देवम् । देव-त्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्-तमम् ॥७॥

भाषार्थ—( तमसः ) अन्धकार से ( परि ) पृथक् होकर ( उत्तमम् ) उत्तम ( नाकम् ) सुख में ( उद् रोहन्तः ) ऊपर चढ़ते हुये ( वयम् ) हमने ( देवत्रा ) प्रकाशमानों में ( देवम् ) प्रकाशमान, ( उत्तमम् ) उत्तम ( ज्योतिः ) ज्योतिस्वरूप, ( सूर्यम् ) सब के प्रेरक सूर्य जगदीश्वर को ( अगन्म ) पाया है ॥७॥

६—( आ ) समन्तात् ( ते ) तव ( प्राणम् ) जीवनसामर्थ्यम् ( सुवामसि ) प्रेरणे । वयं प्रेरयामः ( परा ) दूरे ( यक्ष्मम् ) राजरोगम् ( सुवामि ) प्रेरयामि ( ते ) तव ( आयुः ) जीवनम् ( नः ) अस्माकम् ( विश्वतः ) सर्वतः ( दधत् ) दधातेर्लेटि, अडागमः । पोषयेत् ( अयम् ) ( अग्निः ) जाठराग्निः ( वरेण्यः ) अ० ७ । १४ । ४ । स्वीकरणीयः । सम्भजनीयः ॥

७—( उत् ) उत्कर्षेण ( वयम् ) योगिनः ( तमसः ) अन्धकारात् ( परि ) पृथग्भूय ( रोहन्तः ) आरूढाः सन्तः ( नाकम् ) दुःखरहितं मोक्षसुखम् ( उत्तमम् ) सर्वोत्कृष्टम् ( देवम् ) प्रकाशमानम् ( देवत्रा ) देवमनुष्यपुरुषपुरु० । पा० ५ । ४ । ५६ । सप्तम्यर्थे—त्रा । प्रकाशमानेषु ( सूर्यम् ) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकं परमात्मानम् ( अगन्म ) वयं प्राप्तवन्तः ( ज्योतिः ) ज्योतीरूपं द्योतमानम् ( उत्तमम् ) ॥



सू० ५४ [ ३६८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६३५ )

भावार्थ—विद्वान् योगीजन विद्या के प्रकाश से मुक्ति सुख को भोगते हुये ज्योतिस्वरूप परमात्मा में निरन्तर विचरते हैं ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २१; २७। १०; ३५। १४; ३८। २५॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-२ ॥ शचीपतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याग्रहणोपदेशः—वेद विद्या के ग्रहण का उपदेश ॥

ऋचं सामं यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।

एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । सामं । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।

एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ऋचम् ) स्तुति विद्या [ ईश्वर से लेकर समस्त पदार्थों के ज्ञान ], ( साम ) दुःख नाशक मोक्ष विद्या का ( यजामहे ) हम स्तुति करते हैं, ( याभ्याम् ) जिन दोनों के द्वारा ( कर्माणि ) कर्मों को ( कुर्वते ) वे [ सब प्राणी ] करते हैं । ( एते ) यह दोनों ( सदसि ) [ संसार रूपी ] बैठक में ( राजतः ) विराजते हैं और ( देवेषु ) विद्वानों के बीच ( यज्ञम् ) सङ्गति ( यच्छतः ) दान करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित हों ॥ १ ॥

१—( ऋचम् ) ऋच स्तुतौ—क्विप् । ऋग् वाङ् नाम—निरु० १। ११। ऋगर्चनी—निरु० १। ८। स्तुतिविद्या । ईश्वरमाश्रय समस्तपदार्थज्ञानम् ( साम ) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४। १५३। षो अन्तर्कर्मणि—मनिन् । साम सम्मित-मृचास्यतेर्वर्चा समं मेन इति नैदानाः—निरु० ७। १२ । दुःखनाशिकां मोक्ष-विद्याम् ( याभ्याम् ) ऋक्सामाभ्याम् ( कर्माणि ) कर्तव्यानि ( कुर्वते ) कुर्वन्ति प्राणिनः ( एते ) ऋक्सामे ( सदसि ) संसाररूपे समाजे ( राजतः ) दीप्यते ( यज्ञम् ) सङ्गतिकरणम् ( देवेषु ) विद्वत्सु ( यच्छतः ) दत्तः ॥



ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।

एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्षम् । हविः । ओजः । यजुः ।

बलम् । एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः ।

शची-पते ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस लिये ( ऋचम् ) पदार्थों की स्तुतिविधा,  
( साम ) दुःखनाशक मोक्षविद्या और ( यजुः ) विद्वानों के सत्कार, विद्यादान  
और पदार्थों के सङ्गति करण द्वारा ( हविः ) ग्राह्यकर्म, ( ओजः ) मानसिक  
बल और ( बलम् ) शारीरिक बल को ( अप्राक्षम् ) मैंने पूछा है [विचारा है] ।  
( तस्मात् ) इसलिये, ( शचीपते ) हे वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक आचार्य !  
( एषः ) यह ( पृष्टः ) पूछा हुआ ( वेदः ) वेद ( मा ) मुझको ( मा हिंसीत् )  
न दुःख देवे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विचार पूर्वक वेदों का अध्ययन करके उत्तम कर्मसे  
मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाकर आनन्दित होवे ॥२॥

सूक्तम् ५५ ॥

१ ॥ वसुदेवता ॥ विराडुष्णक् छन्दः ॥

२—( ऋचम् ) म० १ । पदार्थस्तुतिविधाम् ( साम ) म० १ । दुःख-  
नाशिकां मोक्षविधाम् ( यत् ) यस्मात्कारणात् ( अप्राक्षम् ) प्रच्छ झीप्सायाम्—  
लुब्ध, द्विकर्मकः । प्रश्नेन विचारितवानस्मि ( हविः ) ग्राह्यं कर्म ( ओजः )  
मानसं बलम् ( यजुः ) अतिपूवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति यज देवपूजा-  
सङ्गतिकरणदानेषु—उसि । यजुर्यजतेः—निरु० ७ । १२ । विदुषां सत्कारं विद्या-  
दानं पदार्थसङ्गतिकरणं च ( बलम् ) शरीरबलम् ( एषः ) प्रसिद्धः ( मा हिं-  
सीत् ) मा दुःखयेत् ( तस्मात् ) कारणात् ( मा ) माम् ( वेदः ) अ० ७ । १८ ।  
१ । ईश्वरोक्तज्ञानम् ( पृष्टः ) विचारितः । अधीतः ( शचीपते ) शची-वाक्—  
निघ० १ । ११ ; कर्म २ । १ ; प्रज्ञा ३ । ६ । हे वाचः कर्मणः प्रज्ञायाः पालक ॥



सू० ५६ [ ३७१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६३७ )

वेदमार्गग्रहणोपदेशः—वेदमार्ग के ग्रहण का उपदेश ॥

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।

तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥

ये । ते । पन्थानः । अव । दिवः । येभिः । विश्वम् । ऐरयः

तेभिः । सुम्न-या । आ । धेहि । नुः । वसो इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( वसो ) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( दिवः ) प्रकाश के ( पन्थानः ) मार्ग ( अव ) निश्चय करके हैं, ( येभिः ) जिनके द्वारा ( विश्वम् ) संसार को ( ऐरयः ) दूने चलाया है । ( तेभिः ) उनसे ही ( सुम्नया ) सुख के साथ ( नः ) हमें ( आ धेहि ) सब ओर से पुष्टकर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के वेदमार्ग पर चलकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पुष्टि करे ॥ १ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १-३, ५-८ अनुष्टुप्; ४ बृहती ॥

विषहरणोपदेशः—विष नाश का उपदेशः ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।

तत् कुङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चि-राजेः । असितात् । पृदाकोः । परि । सम्-भृतम् ।

तत् । कुङ्क-पर्वणः । विषम् । इयम् । वीरुत् । अनीनशत् ॥ १ ॥

१—( ये ) ( ते ) तब ( पन्थानः ) वेदमार्गाः ( अव ) निश्चयेन ( दिवः ) प्रकाशस्य ( येभिः ) यैः ( विश्वम् ) जगत् ( ऐरयः ) ईर गतौ—लङ् । प्रेरित-वानसि ( तेभिः ) तैः पथिभिः ( सुम्नया ) आतश्चोपसर्गौ पा० ३ । १ । १३६ । इति सु + म्ना अभ्यासे-क । विभक्त्योर्जादेशः । सुम्नं सुखम्—निघ० ३ । ६ । सुम्नेन सुखेन ( आ ) सम्यक् ( धेहि ) पोषय ( नः ) अस्मान् ( वसो ) हे श्रेष्ठपरमात्मन् ॥



भाषार्थ—( इयम् ) इस ( वीरुत् ) जड़ी बूटी ने ( तिरश्चिराजेः ) तिरछी रेखाओं वाले, ( असितात् ) कृष्णवर्ण वाले, ( कङ्कपर्वणः ) काक वा चिल्ह पक्षी के समान जोड़ वाले ( पृदाकोः ) फुसकारते हुये सांप से ( सम्भृतम् ) पाये हुये ( तत् ) उस ( विषम् ) विष को ( परि ) सब प्रकार ( अनीनशत् ) नाश कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा सर्प आदि के विष को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् विद्या द्वारा मानसिक दोषों का नाश करे ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।  
सा विहृतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुश्चुत् । मधुला । मधूः ।  
सा । वि-हुतस्य । भेषजी । अथो इति । मशक-जम्भनी ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह [ब्रह्मविद्या] (वीरुत्) जड़ी बूटी (मधुजाता) मधुरपन से उत्पन्न हुई, ( मधुश्चुत् ) मधुरपन टपकानेवाली ( मधुला ) मधुरपन देने वाली और ( मधूः ) मधुर स्वभाव वाली है । ( सा ) वही ( विहृतस्य ) बड़े कुटिल विष की ( भेषजी ) ओषधि ( अथो ) और ( मशकजम्भनी ) मच्छरों

१—( तिरश्चिराजेः ) अ० ३ । २७ । २ । तिर्यग्रेखायुक्तात् ( असितात् ) अ० ३ । २७ । १ । कृष्णवर्णात् ( पृदाकोः ) अ० ३ । २७ । ३ । कुत्सितशब्दकारिणः सर्पात् ( परि ) सर्वतः ( सम्भृतम् ) प्राप्तम् ( तत् ) ( कङ्कपर्वणः ) काकि गतौ—अच् + पृ पालनपूरणयोः—वनिप् । लोहपृष्ठस्तु कङ्कः स्यात्—अमर० १५ । १६ । कङ्कपक्षिसदृशपर्वणि सन्धयो यस्य तस्मात् ( विषम् ) हलाहलम् ( इयम् ) ( वीरुत् ) ओषधिः ( अनीनशत् ) अ० १ । २४ । २ । नाशितवती ॥

२—( इयम् ) ब्रह्मविद्या ( वीरुत् ) ओषधिः ( मधुजाता ) माधुर्याद् निष्पन्ना ( मधुश्चुत् ) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । मधुररसस्य क्षरणशीला ( मधुला ) ला दाने—क । माधुर्यदात्री ( मधूः ) मधुरस्वभावा ( सा ) वीरुत् ( विहृतस्य ) विशेषकुटिलस्य विषस्य ( भेषजी ) ओषधिः ( अथो ) अपि च ( मशकजम्भनी )



सू० ५६ [ ३७१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६३८ )

[मच्छर के समान गुणों] की नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से बड़े बड़े विष और क्लेश नाश होते हैं, वैसेही मनुष्य ब्रह्म विद्या द्वारा अपने दोषों का नाश करे ॥ २ ॥

यतो दृष्टं यतो धीतं ततस्ते निह्वयामसि ।

अर्भस्य तूप्रदं शिनौ मशकस्यारुसं विषम् ॥ ३ ॥

यतः । दृष्टम् । यतः । धीतम् । ततः । ते । निः । ह्वयामसि ।

अर्भस्य । तूप्र-दं शिनः । मशकस्य । अरुसम् । विषम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( यतः ) जहां पर ( दृष्टम् ) काटा गया है और ( यतः ) जहां पर ( धीतम् ) [ रुधिर ] पिया गया है, ( ते ) तेरे ( ततः ) उसी [ अङ्ग ] से ( अर्भस्य ) छोटे ( तूप्रदंशिनः ) तीव्र काटनेवाले ( मशकस्य ) मच्छर के ( अरुसम् ) निर्बल [ किये हुये ] ( विषम् ) विष को ( निः ) निकालकर ( ह्वयामसि ) हम वचन देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुपरीक्षित ओषधियों से प्रयत्न पूर्वक विष आदि रोग नाश करें ॥ ३ ॥

अयं यो वृक्रो विपर्व्व्यङ्गो मुखानि वृक्रा वृजिना  
कुणोषि । तानि त्वं ब्रह्मणस्पतदुषीकामिव संनमः ॥ ४ ॥  
अयस् । यः । वृक्रः । वि-पर्व्वः । वि-अङ्गः । मुखानि । वृक्रा ।  
वृजिना । कुणोषि । तानि । त्वम् । ब्रह्मणः । पुते । दुषी-  
कास्-इव । सम् । नमः ॥ ४ ॥

जमि नाशने—ल्युट् । मशकानां मशकस्वभाषानां नाशयित्री ॥

३—( यतः ) सप्तम्यर्थे तसिः । यस्मिन् देशे ( दृष्टम् ) हिंसितम् ( यतः ) यस्मिन्ने ( धीतम् ) घेद् पाने-क्त । रुधिरं पीतम् ( ततः ) तस्मादङ्गात् ( ते ) तव ( निः ) निःसार्य ( ह्वयामसि ) कथयामः ( अर्भस्य ) अल्पस्य ( तूप्रदंशिनः ) तूप्र संदीपने प्रीणने च—रक् + दंश दंशने-णिनि । तीव्रदंशनशीलस्य ( मशकस्य ) मश ध्वनौ कोपे च-धुन् । कीटभेदस्य ( अरुसम् ) निर्बलं कृतम् ( विषम् ) ॥



भाषार्थ—(अयम् यः) यह जो [विषरोगी] (वक्रः) टेढ़े शरीरवाला (विपरः) विकृत जोड़ों वाला (व्यङ्गः) ढीले अङ्गों [हाथ पैरों] वाला (मुखानि) अपने मुख के अवयवों [दांत नाक नेत्र आदि] को (वक्रा) टेढ़ा और (वृजिना) पेंटे मरोड़े (कृणोषि=कृणोति) करता है। (ब्रह्मणः पते) हे बड़े ज्ञान के स्वामी [वैद्यराज !] (त्वम्) तू (तानि) उन [अङ्गों] को (सम् नमः) मिलाकर ठीक करदे (इव) जैसे (इषीकाम्) कांस या मृजको [रसरी के लिये] ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वैद्य लोग विष रोगी को औषध आदि से शीघ्र स्वस्थ करें ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।

विषं ह्यस्यादिप्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उप-सर्पतः । विषम् । हि ।

अस्य । आ-अदिषि । अथो इति । ए नम् । अजोजभम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (अरसस्य) निर्बल [तुच्छ वा काटनेवाले], (नीचीनस्य) नीचे पड़े हुये, (उपसर्पतः) रेंगते हुये, (शर्कोटस्य) काटकर टेढ़ा कर देनेवाले [बीछू आदि] के (विषम्) विष को (हि) निश्चय करके (आ-अदिषि)

४—(अयम्) (यः) विषरोगी (वक्रः) कुटिलावयवः (विपरः) विमिश्र-ष्टपर्वा विकृतसन्धिः (व्यङ्गः) विकृताङ्गः (मुखानि) मुखावयवान् (वक्रा) कुटिलानि (वृजिना) अ० १ । १० । ३ । क्लिष्टानि (कृणोषि) प्रथमस्य मध्यम-पुरुषः । कृणोति । करोति (तानि) अङ्गानि (त्वम्) (ब्रह्मणस्पते) प्रवृद्धस्य ज्ञानस्य रक्षक वैद्यराज (इषीकाम्) ईषेः किङ् ध्रस्वश्च । उ० ४ । २१ । ईष हिंसने—ईकन्, टाप् । काशं मुञ्जं वा (इव) यथा (सम्) संगत्य (नमः) एनम् प्रहृत्ये शब्दे च—लेटि, अडागमः । सं नमय । ऋजूकुरु ॥

५—(अरसस्य) निर्बलस्य तुच्छस्य । यद्वा । अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । ऋ हिंसायाम्-असच् । हिंसकस्य (शर्कोटस्य) अन्येभ्योपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शृ हिंसायां-विच् + कुट कौटिल्ये—घञ् । शरा हिंसने कुटिलीकरस्य (नीचीनस्य) नीच—ख । नीचदेशे भवस्य (उपसर्पतः) समीप गच्छतः (विषम्) (हि) अवश्यम् (आ—अदिषि) दो खण्डने लुङ्, आत्मने



सू० ५६ [ ३७१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६४१ )

मैंने खरिडत कर दिया है ( अथो ) और ( पनम् ) इस [ जन्तु ] को ( अजी-जभम् ) मैंने कुचिल डाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बीछू आदि के विष को हटाकर उस विपैले जन्तु को भी मार डालें जिससे वह औरों को न सतावे ॥ ५ ॥

न ते बाहोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।

अथ किं पापयाभुया पुच्छे विभर्षिर्भुक्कम् ॥ ६ ॥

न। ते। बाहोः। बलम्। अस्ति। न। शीर्षे। न। उत। मध्यतः।

अथ। किम्। पापया। अभुया। पुच्छे। विभर्षिः। भुक्कम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—[ हे बीछू ! ] ( न ) न तो ( ते ) तेरे ( बाहोः ) दोनों भुजाओं में ( बलम् ) बल ( अस्ति ) है, ( न ) न ( शीर्षे ) शिर में ( उत ) और ( न ) न ( मध्यतः ) बीच में है । ( अथ ) फिर ( किम् ) क्यों ( अभुया पापया ) उस पाप बुद्धि से ( पुच्छे ) पूछू में ( भुक्कम् ) थोड़ा सा [ विष ] ( विभर्षि ) तू रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे बीछू सामने से निर्विष होता है और पीछे से चट्ट डंक मारता है, मनुष्यों को ऐसी कुदिलता छोड़ कर सर्वथा सरल स्वभाव होना चाहिये ॥ ६ ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयुर्यः ।

सर्वे भल ब्रवाथ शाकैटमरुसं विषम् ॥ ७ ॥

अदन्ति । त्वा । पिपीलिकाः । वि । वृश्चन्ति । मयुर्यः ।

एवं छान्दसम् । सर्वतः खरिडतवानस्मि ( अथो ) अपि च ( पनम् ) जन्तुम् ( अजीजभम् ) जमि हिंसने । अनीनशम् ॥

६—( न ) निषेधे ( -ते ) तव ( बाहोः ) हस्तयोः ( बलम् ) सामर्थ्यम् ( अस्ति ) ( न ) ( -शीर्षे ) शिरसि ( न ) ( उत ) अपि ( मध्यतः ) सप्तम्यर्थे तसिः । मध्ये । कटिभागे ( अथ ) पुनः ( किम् ) किमर्थम् ( पापया ) पापिष्ठया बुद्ध्या ( अभुया ) अनया ( पुच्छे ) पुच्छ प्रमादे—अच् । लाङ्ले ( विभर्षि ) धरसि ( भुक्कम् ) अल्पे । पा० ५ । ३ । ८५ अल्पार्थे कन् । अत्यल्पं विषम् ॥



( १६४२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ५६ [ ३७१ ]

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[ हे बीछू वा सर्प ! ] ( त्वा ) तुम्हको ( पिपीलिकाः ) चिउं-  
टियें ( अदन्ति ) खा जाती हैं और ( मयूर्यः ) मोरनियें ( वि वृश्चन्ति )  
काट डालती हैं । [ हे मनुष्यो ! ] ( सर्वे ) तुम सब ( शार्कोटम् ) बीछू वा सर्प  
के ( विषम् ) विष के ( अरसम् ) निर्बल ( भल ) भली भांति ( ब्रवाथ ) बतलाओ ॥

भावार्थ—जैसे चिउंटी, मोर मोरनी आदि विषैले जीवों का आहार  
कर जाते हैं, वैसेही मनुष्य ओषधि द्वारा विष को निर्बल करके हटावे ॥ ७ ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।

आस्ये ३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्र-हरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च । आस्ये ।  
न । ते । विषम् । किम् । ऊ-इति । ते । पुच्छ-धौ । असत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[ हे बीछू ! ] ( यः ) जो तू ( उभाभ्याम् ) दोनों ( पुच्छेन )  
पूंछ से ( च च ) और ( आस्येन ) मुख से ( प्रहरसि ) चोट मारता है । ( ते )  
तेरे ( आस्ये ) मुख में ( विषम् ) विष ( न ) नहीं है, ( उ ) तौ, ( ते ) ( पुच्छधौ )  
पूंछ की धौली में ( किम् ) क्या ( असत् ) होवे ॥ ८ ॥

७—(अदन्ति) भक्षयन्ति (त्वा) त्वां वृश्चिकं सर्पं वा ( पिपीलिकाः ) अपि  
+ पील रोधने—एषुल्, अल्लोपः, टापि, अत इत्वम् । पिपीलिका पेलतेर्गति-  
कर्मणः—निरु० ७ । १३ । क्षद्रजन्तुविशेषाः ( वि ) विशेषेण ( वृश्चन्ति ) छिन्दन्ति  
( मयूर्यः ) मीनातेरुज् । उ० १ । ६७ । मीज् हिंसायाम्—ऊरज्, डीष् । मयूर-  
स्त्रियः ( सर्वे ) यूयं सर्वे विषनिर्हारकाः । ( भल ) भल परिभाषणहिंसा-  
दानेषु—पचाद्यच् । साधु ( ब्रवाथ ) लेटि आडागमः । ब्रूत ( शार्कोटम् ) शार्कोट-  
म० ५, अण् । शार्कोटस्य वृश्चिकस्य सर्पस्य वा सम्बन्धि ( अरसम् ) निर्बलम्  
( विषम् ) ॥

८—( यः ) ( उभाभ्याम् ) द्वाभ्याम् ( प्रहरसि ) बाधसे ( पुच्छेन ) म० ६ ।  
लाङ्लोने ( आस्येन ) मुखेन ( च च ) समुच्चये ( आस्ये ) मुखे ( न ) निषेधे  
( ते ) तव ( विषम् ) ( किम् असत् ) किं स्यात्, न भवेदित्यर्थः ( ते ) तव  
( पुच्छधौ ) पुच्छ + डधाञ्—कि । पुच्छधान्याम् ॥



सू० ५७ [ ३७२ ]

सप्तमं कोण्डम् ॥ ७ ॥

( १६४३ )

भावार्थ—बीछू के मुख में तौ विष नहीं होता, उसकी पूंछ के विष को भी विद्वान् लोग ओषधि द्वारा नाश करें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-२ ॥ सरस्वती देवता ॥ जगती छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो  
जनान् अनु । यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती  
तदा पृणत् घृतेन ॥ १ ॥

यत् । आ-शसा । वदतः । मे । वि-चुक्षुभे । यत् । याचमानस्य ।  
चरतः । जनान् । अनु । यत् । आत्मनि । तन्वः । मे ।  
वि-रिष्टम् । सरस्वती । तत् । आ । पृणत् । घृतेन ॥ १ ॥

भाषार्थ—( वदतः मे ) मुझ बोलने वाले का ( यत् ) जो [ मन ]  
( आशसा ) किसी हिंसा से ( विचुक्षुभे ) व्याकुल होगया है, [ अथवा ]  
( जनान् अनु ) मनुष्यों के पास ( चरतः ) चलकर ( याचमानस्य ) मुझ मांगने  
वाले का ( यत् ) जो [ मन व्याकुल होगया है ] । [ अथवा ] ( मे तन्वः ) मेरे  
शरीर के ( आत्मनि ) आत्मा में ( यत् विरिष्टम् ) जो कष्ट है, ( सरस्वती )  
विज्ञानयुक्त विद्या ( तत् ) उसको ( घृतेन ) प्रकाश वा सारतत्त्व से ( आ )  
भली भांति ( पृणत् ) भर देवे ॥ १ ॥

१—( यत् ) मनः ( आशसा ) शत्रु हिंसायाम् विषप् । आशसनेन । आशा—  
भङ्गेन ( वदतः ) भाषमाणस्य ( मे ) मम ( विचुक्षुभे ) विशेषेण क्षुभितं व्याकुलं  
बभूव ( यत् ) मनः ( याचमानस्य ) प्रार्थयमानस्य ( चरतः ) गच्छतः ( जनान्  
अनु ) जनान् प्रति ( यत् ) ( आत्मनि ) स्वस्मिन् ( तन्वः ) शरीरस्थ ( मे )  
मम ( विरिष्टम् ) रिष्ट हिंसायाम्—क । विशेषेण क्लिष्टम् ( तत् ) दुःखम् ( सर-  
स्वती ) वाक्—निघ० १ । ११ । विज्ञानवती विद्या ( तत् ) ( आ ) समन्तात्  
( पृणत् ) पृण प्रीणने—लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥



भावार्थ—मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुये क्लेशों को विद्या द्वारा नाश करें ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वन्ते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृ-  
तन्नुतानि । उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यन्ते  
उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वन्ते । पित्रे । पुत्रासः । अपि ।  
अवीवृतन् । नुतानि । उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य ।  
राजतः । उभे इति । यन्ते ते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः २

भाषार्थ—( सप्त ) सात [ इन्द्रियां अर्थात् दो कान, दो नथुने, दो  
आंख, एक मुख ] ( मरुत्वन्ते ) सुवर्ण वाले ( शिशवे ) दुःखनाशक बालक [ वा प्रशं-  
नीय वा उदार विद्वान् ] के लिये [ सुख से ] ( क्षरन्ति ) बरसती हैं, ( अपि )  
और ( पुत्रासः ) पुत्रों [ पुत्र समान हितकारी पुरुषों ] ने ( पित्रे ) उस पिता  
[ पिता तुल्य माननीय ] के लिये ( नुतानि ) सत्य धर्मों को ( अवीवृतन् )  
प्रवृत्त किया है । ( उभे ) दोनों [ वर्तमान और भविष्यत् जन्म वा अवस्था ]  
( इत् ) ही ( अस्य ) इस [ विद्वान् ] के होते हैं, ( अस्य ) इसके ( उभे ) दोनों

२—( सप्त ) सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ६ । कः सप्त खानि विततर्द  
शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ० । १० । २ । ६ । शीर्षण्यानि  
सप्तच्छिद्राणि ( क्षरन्ति ) सुखं वर्षन्ति ( शिशवे ) शः कित् सन्वच । ७० ।  
१ । २० । शो तनूकरणे—उ । शिशुः शंसनीयो भवति शिशोतेर्वा स्याद् दान-  
कर्मणः—निरु० १० । ३६ । दुःखस्य अल्पीकर्त्रे नाशयित्रे बालकाय दात्रे विदुषे वा  
( मरुत्वन्ते ) मरुत्=हिरण्यम्—निघ० १ । २ । सुवर्णवन्ते ( पित्रे ) पितृतुल्यमा-  
ननीयाय विदुषे ( पुत्रासः ) पुत्रवदुपकारिणः पुरुषाः ( अपि ) च ( अवीवृतन् )  
वर्ततेर्यन्ताल्लुङ् चङि रूपम् । प्रवर्तितवन्तः ( नुतानि ) सत्यधर्माणि ( उभे )  
उभ पूरणे—क । उभौ समुब्धौ भवतः—निरु० ४।४। उभे निपासि जन्मनी—यजु०  
८ । ३ । द्वे वर्तमानभविष्यती जन्मनी अवस्थेवा ( इत् ) एव ( अस्य ) शिशोर्विदुषः  
पुरुषस्य ( उभे ) ( अस्य ) ( राजतः ) राजतिर्द=ष्टे—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्य-



सू० ५८ [ ३७३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६४५ )

( राजतः ) ऐश्वर्यतान् होते हैं, ( उभे ) दोनों ( यतेते ) प्रयत्नशाली होते हैं,  
( उभे ) दोनों ( अस्य ) इसका ( पुष्यतः ) पोषण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—धनी, परोपकारी, विद्वान् पुरुष इस जन्म और परजन्म और  
वर्तमान और भविष्यत् काल में पूर्ण सुख भोगते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में कुछ भेद से है—१०।१३।४।

सूक्तम् ५८ ॥

१-२ ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाजनकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा जन के कर्त्तव्य का उपदेश है ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।  
युवो रथौ अध्वरो देववीतये प्रतिस्वसरमुप यातु पीतये १  
इन्द्रावरुणा । सुत-पौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिबतम् ।  
मद्यम् । धृत-व्रतौ । युवोः । रथः । अध्वरः । देव-वीतये ।  
प्रति । स्वसरम् । उप । यातु । पीतये ॥ १ ॥

भावार्थ—( सुतपौ ) हे पुत्रों के रक्षा करने वाले । ( धृतव्रतौ )  
उत्तम कर्मों के धारण करने वाले । ( इन्द्रावरुणा ) बिजुली और वायु के समान  
वर्त्तमान राजा और प्रजाजन ( इमम् सुतम् ) इस पुत्र को ( मद्यम् ) आनन्द-  
दायक ( सोमम् ) ऐश्वर्य [ वा बड़ी बड़ी ओषधियों का रस ] ( पिबतम् =  
पाययतम् ) पान कराओ, ( युवोः ) तुम दोनों का ( अध्वरः ) मार्ग बताने  
वाला ( रथः ) विमान आदि यान ( देववीतये ) दिव्य पदार्थों की प्राप्ति के

युक्त भवतः ( यतेते ) यतीं प्रयत्ने । प्रयत्नं कुरुतः ( पुष्यतः ) पोषणं कुरुतः ॥  
१—( इन्द्रावरुणा ) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ ( सुतपौ )  
पुत्रपालकौ ( इमम् ) प्रत्यक्षम् ( सुतम् ) पुत्रम् ( सोमम् ) ऐश्वर्यम् । महौषधि-  
रसं वा ( पिबतम् ) अन्तर्गतस्यार्थः । पाययतम् ( मद्यम् ) आनन्दकम् ( धृतव्रतौ )  
धृतकर्माणौ ( युवोः ) युवयोः ( रथः ) विमानादियानम् ( अध्वरः ) अध्वन् +  
रा दाने-क । मार्गप्रदः ( देववीतये ) दिव्यपदार्थप्राप्तये ( प्रति ) वीप्सायाम्  
( स्वसरम् ) दिनम्—निघ० १।६। गृहम्—निघ० ३।४ ( उप ) समीपे



लिये और ( पीतये ) वृद्धि के लिये ( प्रति स्वसरम् ) प्रतिदिन वा प्रतिघर  
( उप यातु ) आया करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजागणों को चाहिये कि परस्पर रक्षक होकर  
परस्पर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—६। ६८। १०, ११ ॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णाः सोमस्य वृषणा  
वृषेथाम् । इदं वामन्धः परिषिक्तमासदा स्मिन्  
बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥

इन्द्रावरुणा । मधुमत्-तमस्य । वृष्णाः । सोमस्य । वृषणा ।  
आ । वृषेथाम् । इदम् । वामम् । अन्धः । परि-सिक्तम् । आ-  
सदा । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयेथाम् ॥ २ ॥

भावार्थ—( वृष्णा ) हे बलिष्ठ ! ( इन्द्रावरुणा ) विजुली और वायु के  
समान राजा और प्रजाजनो तुम ( मधुमत्तमस्य ) अत्यन्तज्ञानयुक्त, ( वृष्णाः )  
बल करने वाले ( सोमस्य ) ऐश्वर्य की ( वृषेथाम् ) बरसा करो । ( वामम् )  
तुम दोनों का ( इदम् ) यह ( परिषिक्तम् ) सब प्रकार सींचा हुआ ( अन्धः )  
अन्न है, ( अस्मिन् ) इस ( बर्हिषि ) वृद्धि कर्म में ( आसदा ) बैठकर ( माद-  
येथाम् ) आनन्दित करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा और प्रजागण सब की उन्नति के लिये पुरुषार्थ  
करते हैं, वे ही सत्कार योग्य होते हैं ॥ २ ॥

( यातु ) गच्छतु ( पीतये ) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४। ११५। इति बाङ्-  
लकात् प्यैङ् वृद्धौ-किनि प्रत्यये सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६। ४। २। इति  
दीर्घः । वृद्धये ॥

२—( इन्द्रावरुणा ) विद्युद्वायुवद्बर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ ( मधुमत्त-  
मस्य ) अतिशयेन ज्ञानयुक्तस्य ( वृष्णाः ) बलकरस्य ( सोमस्य ) ऐश्वर्यस्य  
( वृषणा ) बलिष्ठौ ( वृषेथाम् ) वर्षणं कुरुतम् ( इदम् ) ( वामम् ) युवयोः  
( अन्धः ) अन्नम्—निघ० २। ७। ( परिषिक्तम् ) सर्वतः सिक्तम् ( आसदा )  
उपविश्य ( अस्मिन् ) ( बर्हिषि ) वृद्धिकर्मणि ( मादयेथाम् ) आनन्दयतम् ॥



सू० ६० [ ३७५ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६४७ )

सूक्तम् ५८ ॥

१ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृक्षः-इव । वि-द्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यः ) जो ( अशपतः ) न शाप देने वाले ( नः ) हम लोगों को ( शपात् ) शाप देवे, ( च ) और ( यः ) जो ( शपतः ) शाप देने वाले ( नः ) हम लोगों को ( शपात् ) शाप देवे । ( विद्युता ) बिजुली से ( हतः ) मारे गये ( वृक्षः इव ) वृक्ष के समान वह ( आ मूलात् ) जड़ से लेकर ( अनु ) निरन्तर ( शुष्यतु ) सूख जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अ० ६ । ३७ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-७ ॥ ॥ गृहपतिर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-७ अनुष्टुप् ॥

१—( यः ) दुष्टः ( नः ) अस्मान् ( शपात् ) शपेत् । निन्देत् ( अशपतः ) अशापिनः ( शपतः ) शापकारिणः ( यः ) ( च ) ( नः ) ( शपात् ) ( वृक्षः ) ( इव ) ( विद्युता ) अशन्या ( हतः ) भस्मीकृतः ( आ मूलात् ) मूलमारभ्य ( अनु ) निरन्तरम् ( शुष्यतु ) शुष्को भवतु ॥



( १६४८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ६० [ ३७५ ]

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

ऊर्जं विभ्रं ह वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मि-  
त्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा वि-  
भीत मत् ॥ १ ॥

ऊर्जम् । विभ्रत् । वसु-वनिः । सु-मेधाः । अघोरेण । चक्षुषा ।  
मित्रियेण । गृहान् । आ । एमि । सु-मनाः । वन्दमानः ।  
रमध्वम् । मा । विभीत । मत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ऊर्जम् ) पराक्रम (विभ्रत्) धारण करता हुआ, (वसुवनिः)  
धन उपार्जन करने वाला, ( सुमेधाः ) उत्तम बुद्धि वाला, ( अघोरेण )  
अभयानक, ( मित्रियेण ) मित्र के ( चक्षुषा ) नेत्र से [देखता हुआ] (सुमनाः)  
सुन्दर मन वाला, ( वन्दमानः ) [ तुम्हारे ] गुण बखानता हुआ मैं ( गृहान् )  
घर के लोगों में ( आ एमि ) आता हूँ । ( रमध्वम् ) तुम प्रसन्न होओ, ( मत् )  
मुझ से ( मा विभीत ) भय मत करो ॥१॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष शरीर और आत्मा का बल और धन आदि पदार्थ  
प्राप्त करके बड़ी प्रीति से प्रसन्नचित्त रह कर गृहस्थाश्रम को सिद्ध करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ । ४१ ॥

इमे गृहा मयिभुव ऊर्जस्वन्तः पर्यस्वन्तः ।

पुर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायुतः ॥ २ ॥

१—( ऊर्जम् ) पराक्रमम् ( विभ्रत् ) धारयन् ( वसुवनिः ) छन्दसि वन-  
सनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । वसु + वन सम्भक्तौ-इन् । वसुनो धनस्य  
सम्भक्ता, उपार्जकः ( सुमेधाः ) अ० ५ । ११ । ११ । सुबुद्धियुक्तः ( अघोरेण )  
अभयानकेन ( चक्षुषा ) नेत्रेण पश्यन्ति शेषः । मित्रियेण ) अ० २ । २८ । १ ।  
मित्र-ध । मित्रसम्यन्धिना ( गृहान् ) गृहस्थान् पुरुषान् ( ऐमि ) आगच्छामि  
( सुमनाः ) शोभनज्ञानः ( वन्दमानः ) शुष्मान् स्तुवन् ( मा विभीत ) भयं मा  
प्राप्तुत ( मत् ) मत्तः ॥



सू० ६० [ ३७५ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६४८ )

इमे । गृहाः । मयः-भुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः । पूर्णाः ।  
वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( इमे ) यह ( गृहाः ) घर के लोग ( मयोभुवः ) आनन्द  
देने वाले, ( ऊर्जस्वन्तः ) बड़े पराक्रमी, ( पयस्वन्तः ) उत्तम जल, दुग्ध आदि  
वाले, ( वामेन ) उत्तम धन से ( पूर्णाः ) भरपूर ( तिष्ठन्तः ) खड़े हुये हैं । ( ते )  
वे लोग ( आयतः ) आते हुये ( नः ) हमको ( जानन्तु ) जाने ॥ २ ॥

भावार्थ—घर के लोग बाहिर से आये हुये गृहस्थों और अतिथियों  
का यथावत् सत्कार करें ॥२॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।

गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तवायतः ॥ ३ ॥

येषाम् अधि-एति । प्र-वसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।

गृहान् । उप । ह्वयामहे । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( प्रवसन् ) परदेश वसता हुआ मनुष्य ( येषाम् ) जिन  
[ गृहस्थों ] का ( अध्येति ) स्मरण करता है, और ( येषु ) जिन में ( बहुः )  
अधिक ( सौमनसः ) प्रीतिभाव है, ( गृहान् ) उन घर वालों को ( उप ह्वयामहे )  
हम प्रीति से बुलाते हैं, ( ते ) वे लोग ( आयतः ) आते हुये ( नः ) हम को  
( जानन्तु ) जाने ॥ ३ ॥

२—( इमे ) ( गृहाः ) गृहस्थाः ( मयोभुवः ) अ० १ । ५ । १ । सुखस्य  
भावयितारः ( ऊर्जस्वन्तः ) अ० ३ । १२ । २ । प्रभूतपराक्रमिणः ( पयस्वन्तः )  
उत्तमजलदुग्धादिसमृद्धाः ( पूर्णाः ) समृद्धाः ( वामेन ) प्रशस्येन धनेन । वामः  
प्रशस्यः—निघ० ३ । ८ ( तिष्ठन्तः ) ( ते ) गृहाः ( जानन्तु ) अवबुध्यन्ताम्  
( आयतः ) इण् गतौ-शतृ । आगच्छतः ॥

३—( येषाम् ) गृहस्थानाम् ( अध्येति ) इक् स्मरणे । अधीगर्थदयेशां  
कर्मणि । पा० ३ । २ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । स्मरणं करोति ( प्रवसन् ) दे-  
शान्तरे वसन् पुरुषः ( येषु ) गृहेषु ( सौमनसः ) अ० ३ । ३० । ७ । सुप्रीति-  
भावः ( बहुः ) अधिकः ( गृहान् ) गृहस्थान् पुरुषान् ( उप ) सत्कारेण ( ह्वयामहे )  
आह्वयामः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥



( १६५० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ६० [ ३७५ ]

भावार्थ—जिस प्रकार परदेश गया हुआ पुरुष प्रीति से घर वालों का स्मरण करता रहता है, वैसे ही घर वाले प्रीति से उसका स्मरण रखें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—३ । ४२ और संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसमुदः ।

अक्षुध्या अतृष्या स्तु गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ४ ॥

उप-हूताः । भूरि-धनाः । सखायः । स्वादु-समुदः । अक्षुध्याः ।

अतृष्याः । स्तु । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( भूरिधनाः ) बड़े धनी, ( स्वादुसमुदः ) स्वादिष्ठ पदार्थों से आनन्द करने वाले ( सखायः ) मित्र लोग ( उपहूताः ) स्वागत किये गये हैं । ( गृहाः ) हे घर के लोगो ! ( अक्षुध्याः, अतृष्याः, स्तु ) तुम भूखे प्यासे मत रहो, ( अस्मत् ) हम से ( मा बिभीतन ) मत भय करो ॥४॥

भावार्थ—बाहिर से आये हुये और घर वाले सब पुरुष प्रसन्न हो कर परस्पर आनन्द करें ॥ ४ ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

उप-हूताः । इह । गावः । उप-हूताः । अज-अवयः । अथो

इति । अन्नस्य । कीलालः । उप-हूतः । गृहेषु । नः ॥ ५ ॥

४—(उपहूताः) सत्कारेण प्रार्थिताः ( भूरिधनाः ) प्रभूतधनाः ( सखायः ) सुहृदः ( स्वादुसमुदः ) स्वादुभी रोचकैः पदार्थैः संमोदमानाः ( अक्षुध्याः ) तदर्थं हन्ति । पा० ५ । १ । ६३ । इत्यर्थे । छन्दसि च । पा० ५ । १ । ६७ । जुध्-य-प्रत्ययः । जुध्-वुमुन्नामर्हन्तीति जुध्याः, न जुध्या अक्षुध्याः । जुधारहिताः ( अक्षुध्याः ) पूर्ववत् तृष्-य प्रत्ययः । तृष्णारहिताः ( स्तु ) भवत ( गृहाः ) गृहस्थाः ( अस्मत् ) अस्मत्तः ( मा बिभीतन ) जि भी भये लोटि तस्य तनादेशः । भयं मा प्राप्नुत ॥



सू० ६० [ ३७५ ]

भाषार्थ—( इह ) यहां पर ( नः ) हमारे ( गृहेषु ) घरों में ( गावः ) गायें ( उपहृताः ) आदर से बुलायी गयीं, और ( अजावयः ) भेड़ बकरी ( उपहृताः ) पास में बुलायी गयीं होवे । ( अथो ) और भी ( अन्नस्य ) अन्न का ( कीलालः ) रस्सीला पदार्थ ( उपहृतः ) पास लाया गया हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूध वाले गौ आदि पशु और भोजन के उत्तम पदार्थ संग्रह करके परस्पर रक्षा करें ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३ । ४३ । और संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

सुनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अतृष्या अक्षुध्या स्तु गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

सुनृता-वन्तः । सु-भगाः । इरा-वन्तः । हसामुदाः । अतृष्याः ।

अक्षुध्याः । स्तु । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतनु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( सुनृतावन्तः ) प्रिय सत्य वचन वाले, ( सुभगाः ) बड़े पेश्वर्य वाले, ( इरावन्तः ) उत्तम भोजन वाले, ( हसामुदाः ) हंस हंस कर प्रसन्न करने वाले, ( गृहाः ) हे घर के लोगो ! तुम ( अतृष्याः, अक्षुध्याः स्तु ) प्यासे भूखे मत रहो, ( अस्मत् ) हम से ( मा बिभीतन ) मत भय करो ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य परस्पर सत्यभाषी, धर्मात्मा होते हैं, वे ही पेश्वर्य बढ़ाकर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ६ ॥

इहैव स्तु मानु' गात् विश्वा' रूपाणि पुष्यत ।

१—( उपहृताः ) सत्कारेण समीपे वा प्राप्ताः ( इह ) गृहाश्रमे ( गावः ) गवादिदुग्धपशवः ( उपहृताः ) ( अजावयः ) अजाश्च अवयश्च ( अथो ) अपि ( अन्नस्य ) भोजनस्य ( कीलालः ) अ० ४ । ११ । १० । सारपदार्थः ( उपहृतः ) ( गृहेषु ) गृहेषु ( नः ) अस्माकम् ॥

४—( सुनृतावन्तः ) अ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियवागयुक्ताः ( सुभगाः ) शोभनैश्वर्यवन्तः ( इरावन्तः ) अन्नवन्तः—निघ० २ । ७ ( हसामुदाः ) हस हसने—किप + मुद मोदे क, अन्तर्गतार्थः । हासेन मोदयमानाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥



ऐष्यामि भुद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

इह । एव । स्तु । मा । अनु । गातु । विश्वा । रूपाणि । पुष्यतु ।

आ । ऐष्यामि । भुद्रेण । सह । भूयांसः । भवतु । मया ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इह एव) यहां ही (स्त) रहो, (अनु) पीछे पीछे (मा गात) मत चलो, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप वाली वस्तुओं को (पुष्यतु) पुष्ट करो । (भुद्रेण सह) कुशल के साथ (आ ऐष्यामि) मैं आऊंगा, [फिर] (मया) मेरे साथ (भूयांसः) अधिक अधिक होकर (भवतु) रहो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परदेश जाने पर प्रतिज्ञा करके स्वदेशवृद्धि की चिन्ता रखे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-२ ॥ अग्निदेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्राप्त्युपदेशः—वेद विद्या प्राप्ति का उपदेश ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उप-तप्यामहे । तपः । प्रियाः ।

श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सु-मेधसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! (यत्) जिस कारण से (तपसा) तप [शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों के सहन] से (तपः) ऐश्वर्य के हेतु (तपः)

७—(इह) अत्र (एव) (स्त) भवत (अनु) मम पश्चात् (मा गात) इह गतौ—माङ्गि लुङ्गि रूपम् । मा गच्छत (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) रूप-वन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि (पुष्यत) समर्धयत (ऐष्यामि) आगमिष्यामि (भुद्रेण) कुशलेन (सह) सहितः (भूयांसः) अतिप्रभूताः (भवत) (मया) पुनरागतेन ॥

१—(यत्) यस्मात् कारणात् (अग्ने) विद्वन् । आचार्य (तपसा) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च-असुन । अमेण । शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनेन (तपः) ऐश्वर्यकारणम् (उपतप्यामहे) यथावदनुतिष्ठामः (तपः) ब्रह्मचर्या-



सू० ६२ [ ३७७ ]

सप्तमं कारण्डम् ॥ ७ ॥

( १६५३ )

तप [ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रत] को (उपतप्यामहे) हम ठीक ठीक काम में लाते हैं ।  
[वसीले] हम (श्रुतस्य) वेदशास्त्र के (प्रियाः) प्रीति करने वाले, (आयुष्मन्तः)  
प्रशंसनीय आयु वाले और (सुमेधसः) तीव्रबुद्धि (भूयास्म) होजावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य तप अर्थात् द्वन्द्वों का सहन और पूर्ण ब्रह्मचर्य का  
सेवन से वेद विद्या प्राप्त करके यशस्वी और तीव्रबुद्धि होकर संसार का  
उपकार करें ॥ १ ॥

अग्ने तपस्तप्यामहे उप तप्यामहे तपः ।

श्रुतानि श्रुण्वन्तौ वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अग्ने । तपः । तप्यामहे । उप । तप्यामहे । तपः । श्रुतानि ।

श्रुण्वन्तः । वयम् । आयुष्मन्तः । सु-मे-धसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वन् आचार्य ! हम ( तपः ) तप [द्वन्द्व सहन]  
( तप्यामहे ) करते हैं, और ( तपः ) ब्रह्मचर्यादि व्रत ( उप तप्यामहे ) यथा-  
वत् साधते हैं । ( श्रुतानि ) वेदशास्त्रों को ( श्रुण्वन्तः ) सुनते हुये ( वयम् )  
हम ( आयुष्मन्तः ) उत्तम जीवन वाले और ( सुमेधसः ) तीव्र बुद्धि वाले  
[ हो जावें ] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्वन्द्व सहन और ब्रह्मचर्य सेवन से वेदों का श्रवण,  
मनन और निदिध्यासन करके संसार में कीर्तिमान् होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१ ॥ अग्निदेवता ॥ जगती छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धृष्णो रथीव पुत्तीनजयत् पुरो-  
हितः । नामा पृथिव्यां निहितो दविदुतदधस्पदं

दिसत्ववतम् ( प्रियाः ) प्रीतिकर्तारः ( श्रुतस्य ) वेदशास्त्रस्य ( भूयास्म )  
( आयुष्मन्तः ) श्रेष्ठजीवनयुक्ताः ( सुमेधसः ) सुमेधावन्तः ॥

२—( तप्यामहे ) साधयामः ( श्रुतानि ) वेदशास्त्राणि ( श्रुण्वन्तः )  
श्रवणेन स्वीकुर्वन्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥



( १६५४ )

अथर्ववेद भाष्यम्

सू० ६३ [ ३७८ ]

कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्-पतिः । वृद्ध-वृष्णः । रथी-इव । पत्नीन् ।  
अजयत् । पुरः-हितः । नाभा । पृथिव्याम् । नि-हितः ।  
दविद्युतत् । अधः-पदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अयम् ) इस ( सत्पतिः ) श्रेष्ठों के रक्षक, ( वृद्धवृष्णः )  
बड़े बल वाले, ( पुरोहितः ) सब के अगुआ ( अग्निः ) अग्नि समान तेजस्वी  
सेनापति ने ( रथी इव ) रथ वाले योद्धा के समान ( पत्नीन् ) [ शत्रु की ] सेनाओं  
को ( अजयत् ) जीत लिया है । ( पृथिव्याम् ) पृथिवी पर ( नाभा ) नाभि  
में ( निहितः ) स्थापित किया हुआ ( दविद्युतत् ) अत्यन्त प्रकाशमान वह  
[ उनको ] ( अधस्पदम् ) पांव के तले ( कृणुताम् ) कर लेवे, ( ये ) जो ( पृत-  
न्यवः ) सेना चढ़ाने वाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर पुरुष सब शत्रुओं को जीत कर सज्जनों की  
रक्षा करे, वही गोलाकार पृथिवी के बीच में सब ओर से चक्रवर्ती राजा होकर  
संसार में उपकारी बने ॥ १ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकर्त्तव्योद्देशः—सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सुध-

१—( अयम् ) प्रसिद्धः ( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी सेनापतिः ( सत्पतिः )  
सतां सज्जनानां पालकः ( वृद्धवृष्णः ) इणसिञ्जि० । उ० ३ । २ । वृषु सेचने-  
नक् । वृष्णं बलम् । प्रवृद्धबलः ( रथी ) रथ—इनि । रथवान् योद्धा ( इव )  
यथा ( पत्नीन् ) पदिप्रथिव्यां नित् । उ० ४ । १८३ । पद गतौ स्थैर्ये च—ति ।  
शत्रुसेनाः ( अजयत् ) जितवान् ( पुरोहितः ) अ० ३ । १६ । १ अग्रगामी ( नाभा )  
नाभौ मध्यदेशे ( पृथिव्याम् ) भूमौ ( निहितः ) स्थापितः । अभिषिक्तः ( दवि-  
द्युतत् ) दाघर्त्तिर्दधर्त्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ द्युत दीप्तौ यङ्लुकि शत्रु ।  
अत्यर्थं द्योतमानः ( अधस्पदम् ) पादस्याधो देशे ( कृणुताम् ) करोतु ( ये )  
शत्रवः ( पृतन्यवः ) अ० ७ । ३४ । १ । संग्रामेच्छवः ॥



स्थात् । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति  
दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

पृतना-जितम् । सहमानम् । अग्निम् । उक्थैः । हवामहे ।  
परमात् । सुध-स्थात् । सः । नः । पर्षत् । अति । दुः-गानि ।  
विश्वा । क्षामत् । देवः । अति । दुः-दुतानि । अग्निः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( पृतनाजितम् ) संग्राम जीतने वाले, ( सहमानम् ) विजयी,  
( अग्निम् ) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति को ( उक्थैः ) स्तुतियों के साथ  
[ उसके ] ( परमात् ) बहुत ऊँचे ( सधस्थात् ) निवास स्थान से ( हवामहे )  
हम बुलाते हैं । ( सः ) वह ( देवः ) व्यवहार कुशल ( अग्निः ) तेजस्वी सेना-  
पति ( विश्वा ) सब ( दुर्गाणि ) दुर्गों को ( अति ) उल्लांघ कर और ( दुरितानि )  
विघ्नों को ( अति ) हटाकर ( नः ) हमें ( पर्षत् ) पार लगावे, और ( क्षामत् )  
समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति शत्रुओं के गढ़ तोड़ कर विजय पाता है  
वही प्रजापालन में समर्थ होता है ॥ १॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-२ ॥ १ आपः; २ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुभ्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

इदं यत् कुष्णः शुकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।

आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ १ ॥

१—( पृतनाजितम् ) संग्रामजेतारम् ( सहमानम् ) वह अभिभवने  
नैकको धातुः । अभिभवन्तम् । विजयिनम् ( अग्निम् ) अग्निवत्तेजस्विनं  
सेनापतिम् ( उक्थैः ) वक्तव्यैः स्तोत्रैः ( हवामहे ) आह्वयामः ( परमात् )  
उत्कृष्टात् ( सधस्थात् ) निवासात् ( सः ) ( नः ) अस्मान् ( पर्षत् ) अ० ६ ।  
३४ । १ । पारयेत् ( अति ) उल्लांघ्य ( दुर्गाणि ) दुर्गमनान् शत्रुकोटान् ( विश्वा )  
सर्वाणि ( क्षामत् ) क्षमूष् सहने णिचि, लेटि, अडागमः । क्षामयेत् समर्थयेत्  
( देवः ) व्यवहारकुशलः ( अति ) अतीत्य ( दुरितानि ) विघ्नान् ( अग्निः )  
सेनापतिः ॥



( १६५६ )

अथर्ववेद भाष्ये

सू० ६४ [ ३७८ ]

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभि-निष्पतन् । अपीपतत् ।  
आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुः-इ तात् । पान्तु । अंहसः ॥१॥

भाष्यार्थ—( कृष्णः ) कौवे वा ( शकुनिः ) चित्त के समान निन्दित  
उपद्रव ने ( अभिनिष्पतन् ) सन्मुख आते हुये ( इदम् यत् ) यह जो कष्ट ( अपी  
पतत् ) गिराया है । ( आपः ) उत्तम कर्म ( मा ) मुझको ( तस्मात् ) उस  
( सर्वस्मात् ) सब ( दुरितात् ) कठिन ( अंहसः ) कष्ट से ( पान्तु )  
वचावे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके सब बाहिरी और भीतरी विपत्तियों से  
बचे ॥१॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिर्वामृक्षन्निर्हते ते मुखेन ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अवा-अमृक्षत् । निः-हते ।  
ते । मुखेन । अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्ह-पत्यः ।  
प्र । मुञ्चतु ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( निर्हते ) हे कठिन आपत्ति ! ( ते ) तेरे ( मुखेन ) मुख के  
सहित ( कृष्णः ) कौवे अथवा ( शकुनिः ) चित्त के समान निन्दित उपद्रव ने  
( इदम् ) यह ( यत् ) जो कुछ कष्ट ( अवा-अमृक्षत् ) पकड़ किया है । ( गार्हपत्यः )

१—( इदम् ) ( यत् ) कष्टम् ( कृष्णः ) श्वाकाक इति कुत्सायाम्—निद०  
३ । १८ । काक इव निन्दित उपद्रवः । शक्रेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४६ । शक्र  
शक्तौ—उनि । चित्त इव निन्दितः ( अभिनिष्पतन् ) अभिमुखमागच्छन् ( अपी-  
पतत् ) पत्न्य अधः पतने—णिचि लुङि रूपम् । पातितवान् । प्रापितवान् ( आपः )  
अ० ६ । ६१ । ३ । उत्तमानि कर्माणि ( मा ) माम् ( तस्मात् ) ( सर्वस्मात् )  
( दुरितात् ) दुर्गतात् । कठिनात् ( पान्तु ) रक्षन्तु ( अंहसः ) कष्टात् ॥

२—( इदम् ) ( यत् ) कष्टम् ( कृष्णः ) म० १ । काक इव निन्दित उप-  
द्रवः ( शकुनिः ) चित्त इव निन्दितः ( अवा-अमृक्षत् ) मृक्ष संघाते—लङ् । राशी-  
कृतवान् ( निर्हते ) हे कृच्छ्रापत्ते ( ते ) तव ( मुखेन ) ( अग्निः ) व्यापकः



गृहपति [ आत्मा ] से संयुक्त ( अग्निः ) पराक्रम ( तस्मात् ) उस ( एनसः )  
कष्ट से ( मा ) मुक्त को ( प्र मुञ्चतु ) छुड़ा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्म पराक्रम करके विघ्नों को हटाकर सुखी रहे ॥२॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वैद्यकर्मोपदेशः—वैद्य के कर्म का उपदेश ॥

प्रतीचीनफलं हि त्वमपामार्गं रुरोहिथ ।

सर्वान् मञ्चुपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीन-फलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ । सर्वान् ।

मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यावयाः । इतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपामार्ग) हे सर्व संशोधक वैद्य ! [वा अपामार्ग औषध !]  
(त्वम्) तू ( हि ) निश्चय करके (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूलगतिवाले रोगों का  
नाश करने वाला (रुरोहिथ) उत्पन्न हुआ है । (इतः मत्) इस मुझसे (सर्वान्)  
सब (शपथान्) शापों [ दोषों ] को (अधि) अधिकार पूर्वक (वरीयः) अति  
दूर (यावयाः) तू हटाता देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य अपामार्ग आदि औषध से रोगों को दूर करता है,  
वैसे ही विद्वान् अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को हटावे ॥१॥

अपामार्ग औषध विशेष है जिससे कफ बवासीर, खुजिली, उदररोग  
और विष रोग का नाश होता है—देखो अ० ४ । १७ । ६ ॥

पराक्रमः ( मा ) माम् ( तस्मात् ) ( एनसः ) कष्टात् ( गार्हपत्यः ) अ० ५ ।  
३१ । ५ । गृहपतिना आत्मना संयुक्तः ( प्र ) प्रकर्षेण ( मुञ्चतु ) मोचयतु ॥

१—( प्रतीचीनफलः ) अ० ५ । १६ । ७ प्रतिकूलगतिवानां रोगाणां  
विदारकः ( हि ) निश्चयेन ( त्वम् ) ( अपामार्ग ) अ० ४ । १७ । ६ । हे सर्वथा  
संशोधक वैद्य । औषधविशेष ( रुरोहिथ ) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावो च—लिङ्  
उत्पन्नो बभूविथ ( सर्वान् ) ( मत् ) मत्तः ( शपथान् ) शापान् दोषान् ( अधि )  
अधिकृत्य ( वरीयः ) उरुतरम् । अति दूरम् ( यावयाः ) यु मिश्रणामिश्रणयोः—  
लोडि, आडागमः, साहितिको दीर्घः । पृथक् कुर्याः ( इतः ) अस्मात् ॥



यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चे रिम प्रापया ।

त्वया तद् विश्वतोमुखापांमार्गापि मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुः-कृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चे रिम । प्रापया ।  
त्वया । तत् । विश्वतः-मुख । अपांमार्ग । अप । मृज्महे ॥२४

भाषार्थ—( यत् ) जो कुछ ( दुष्कृतम् ) दुष्कर्म ( यद् वा ) अथवा  
( यत् ) जो कुछ ( शमलम् ) मलिन कर्म ( पापया ) पाप बुद्धि से ( चे रिम )  
हमने किया है । ( विश्वतोमुख ) हे सब ओर मुख रखने वाले ! [अतिदूरदर्शी]  
( अपामार्ग ) हे सर्वथा संशोधक ! ( त्वया ) तेरे साथ . ( तत् ) उसको ( अप  
मृज्महे ) हम शोधते हैं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्कर्म और मलिनकर्म से उत्पन्न रोगों को सदैव  
की सम्मति से औषध द्वारा निवृत्त करे ॥२॥

श्यावदंता कुन्खिना वृण्डेन यत् सहासिम ।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपि मृज्महे ॥ ३ ॥

श्याव-दंता । कुन्खिना । वृण्डेन । यत् । सह । आसिम ।  
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥३॥

भाषार्थ—( श्यावदंता ) काले दांत वाले, ( कुन्खिना ) दूषितनख  
वाले ( वृण्डेन ) बरगड़े [ टेढ़े मेढ़े अङ्ग वाले रोगी ] के ( सह ) साथ ( यत् )  
जो ( आसिम ) रहे हैं । ( अपामार्ग ) हे सर्वथा संशोधक ! [वैद्य वा अपामार्ग]

२—( यत् ) यत् किञ्चित् ( दुष्कृतम् ) दुष्कर्म ( यत् ) ( शमलम् ) अ०  
४ । ६ । ६ मालिन्यम् ( यद् वा ) अथवा ( चे रिम ) चर गतिभक्षणयोः—लिट् ।  
वयं कृतवन्तः ( पापया ) पापबुद्ध्या ( त्वया ) ( तत् ) दुष्कृतं शमलं वा ( विश्व-  
तोमुख ) सर्वदिग्मुख । अतिदूरदर्शिन ( अपामार्ग ) म० १ । सर्वथा संशोधक  
( अप मृज्महे ) सर्वथा शोधयासः ॥

३—( श्यावदंता ) विभाषा श्यावारोकाभ्यां च पा० । पा० ५ । ४ । १४४ ।  
श्यावपदादुत्तरस्य दन्तस्य दत्त इत्यादेशः । कृष्णदन्तयुक्तेन ( कुन्खिना ) दूषित-  
नखयुक्तेन ( वृण्डेन ) षडि विभाजने, वृण्डेन च—अच । विकलाङ्गेन ( यत् )



सू० ६६ [ ३८१ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६५८ )

श्रीपथ ! ] ( त्वया ) तेरे साथ ( वयम् ) हम ( तत् सर्वम् ) उस सब को ( अप  
मुञ्चहे ) शोधते है ॥३८॥

भावार्थ—यदि रोग की व्याकुलता से शरीर अकम्पक हो जावे, उसे  
श्रीपथि द्वारा स्वस्थ करें ॥३॥

सूक्तम् ६६ ॥

१ ॥ ब्राह्मणं देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविज्ञानव्याप्त्युपदेशः—वेद विज्ञान की व्याप्ति का उपदेश ॥

यद्यन्तरिक्षे यद्विवात् आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।  
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥१॥  
यदि । अन्तरिक्षे । यदि । वाते । आस । यदि । वृक्षेषु । यदि ।  
वा । उलपेषु । यत् । अश्रवन् । पशवः । उद्यमानम् । तत् ।  
ब्राह्मणम् । पुनः । अस्मान् । उप-पैतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यदि=यत् ) जो [ ब्रह्मज्ञान ] ( अन्तरिक्षे ) आकाश में,  
( यदि ) जो ( वाते ) वायु में ( यदि ) जो ( वृक्षेषु ) वृक्षों में, ( वा ) और  
( यदि ) जो ( उलपेषु ) कोमल तृणों [ अन्न आदि ] में ( आस ) व्याप्त था ।  
( यत् ) जिस ( उद्यमानम् ) उच्चारण किये हुये को ( पशवः ) सब प्रा-

( सह ) ( आसिम ) अस भुवि-लङ्, इत्वं छान्दसम् । आस्म । अमवाम ।  
अन्यत् स्पष्टम् ॥

१—( यदि ) यत् । ब्राह्मणम् ( अन्तरिक्षे ) आकाशे ( यदि ) ( वाते )  
वायौ ( आस ) अस गतिदीप्त्यादानेषु—लिट् । व्याप्तं बभूव ( यदि ) ( वृक्षेषु )  
सेवनीयेषु तरुषु ( यदि ) ( वा ) अवधारणे । समुच्चये ( उलपेषु ) विटपविष्ट-  
पविशिपोलपाः । उ० ३ । १४५ । वल संवरणे—कपप्रत्ययः, सम्प्रसारणम् ।  
कोमलतृणेषु । अन्नादिषु ( यत् ) ब्राह्मणम् ( अश्रवन् ) शृणोतेर्लङि छान्दसः  
शप् । अश्रवन् ( पशवः ) अ० २ । २६ । १ । मनुष्यादिप्राणिनः ( उद्यमानम् )  
यद् व्यक्तायां वाचि कर्मणि शानच्, यक्, यजादिवात् सम्प्रसारणम् ।  
उच्चार्यमाणम् ( तत् ) ( ब्राह्मणम् ) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । ब्रह्मन्—  
अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । नटिलोपः । ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ब्राह्मणस्य



( १६६० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ६७ [ ३८२ ]

णियों ने ( अभवन् ) सुना है; ( तत् ) वह ( ब्राह्मणम् ) वेद विज्ञान ( पुनः ) बारंबार [ अथवा परजन्म में ] ( अस्मान् ) हमें ( उपैतु ) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञान सब पदार्थों में, और सब पदार्थ ईश्वर ज्ञान में हैं, मनुष्य उस ईश्वर ज्ञान को नित्य और जन्म जन्म में प्राप्त करके मोक्षपद भागी होवे ॥ १ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्तदेवताः ॥ बृहती छन्दः ॥

सुकर्मकरणायोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

पुनर्मै त्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।

पुनरुग्नयो धिषण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१॥

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् ।

ब्राह्मणम् । च । पुनः । अग्नयः । धिषण्याः । यथा-स्थाम ।

कल्पयन्ताम् । इह । एव ॥ १ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रियम् ) इन्द्रत्व [ परम पेश्वर्य ] ( मा ) मुझको ( पुनः ) अवश्य [ वा फिर जन्म में ], ( आत्मा ) आत्मबल, ( द्रविणम् ) धन ( च ) और ( ब्राह्मणम् ) वेदविज्ञान ( पुनः ) अवश्य [ वा परजन्ममें ] ( आ एतु ) प्राप्त होवे ( धिषण्याः ) बोलने में चतुर ( अग्नयः ) विद्वान् लोग ( यथास्थाम ) यथास्थान [ कर्मअनुसार मुझको ] ( इह ) यहाँ ( एव ) ही ( पुनः ) अवश्य

वेदम् । वेदविज्ञानम् ( पुनः ) बारं बारम् । परजन्मनि वा ( अस्मान् ) उपासकान् ( उपैतु ) उप + आ + एतु । प्राप्नोतु ॥

१—( पुनः ) अवश्यं परजन्मनि वा ( मा ) मां प्राणिनम् ( ऐतु ) आगच्छतु ( इन्द्रियम् ) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । धनम्—निष्ठा २ । १० । ( पुनः ) ( आत्मा ) आत्मबलम् ( द्रविणम् ) धनम् ( ब्राह्मणम् ) अ० ७ । ६६ । १ । वेदविज्ञानम् ( च ) ( पुनः ) ( अग्नयः ) अ० २ । ३५ । १ । ज्ञानिनः पुरुषाः ( धिषण्याः ) अ० २ । ३५ । १ । धिष शब्दे—एय । शब्दकुशलाः ( यथास्थाम ) आतोमनिन् ० । पा० ३ । २ । ७४ । तिष्ठतेर्मनिन् । यथास्थानम् ।



सू० ६८. [ ३८३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६६१ )

[ वा पर जन्म में ] ( कल्पयन्ताम् ) समर्थ करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा सुकर्मी होकर इस लोक और परलोक का आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका, पुनर्जन्म विषय, पृष्ठ २०३ में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ सरस्वती देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री ॥

सरस्वत्याराधनोपदेशः—सरस्वती की आराधना का उपदेश ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुषस्व हव्यमाहु तं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धाम-सु । जुषस्व ।

हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( देवि ) हे देवी ( सरस्वति ) सरस्वती ! [ विज्ञानवती वेद विद्या ] ( ते ) अपने ( दिव्येषु ) दिव्य ( व्रतेषु ) व्रतों [ नियमों ] में और ( धामसु ) धर्मों [ धारण शक्तियों ] में [ हमारे ] ( आहुतम् ) दिये हुये ( हव्यम् ) ग्राह्य कर्म को ( जुषस्व ) स्वीकार कर, ( देवि ) हे देवी ! ( नः ) हमें ( प्रजाम् ) [ उत्तम ] प्रजा ( ररास्व ) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उत्तम विद्या प्राप्त करके सब प्रजा प्राणीमात्र को उत्तम बनावे ॥ १ ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं १

यथाकर्मफलम् ( कल्पयन्ताम् ) समर्थयन्तु ( इह ) अस्मिन् संसारे ( एव ) हि ॥

१—( सरस्वति ) विज्ञानवति ( व्रतेषु ) नियमेषु ( ते ) तव । स्वेषु ( दिव्येषु ) उत्तमेषु ( देवि ) दिव्यगुणे ( धामसु ) धारणसामर्थ्येषु । धर्मसु ( जुषस्व ) सेवस्व ( हव्यम् ) हु-यत् ग्राह्यं कर्म ( आहुतम् ) सम्यग् दत्तम् ( प्रजाम् ) मनुष्यादिरूपाम् ( देवि ) ( ररास्व ) रा दाने, शपः श्लुः । देहि ( नः ) अस्मभ्यम् ॥



यत् । इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधु-  
मन्तः स्याम ॥ २ ॥

इदम् । ते । हव्यम् । घृत-वत् । सरस्वति । इदम् । पितृ-  
णाम् । हविः । आस्यम् । यत् । इमानि । ते । उदिता ।  
शम्-तमानि । तेभिः । वयम् । मधु-मन्तः । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—( सरस्वति ) हे सरस्वती ! ( इदम् ) यह ( यत् ) जो ( ते )  
तेरा ( घृतवत् ) प्रकाशयुक्त ( हव्यम् ) ग्राह्य कर्म है, और ( इदम् ) यह [ जो ]  
( पितृणाम् ) पिता समान माननीय विद्वानों के ( आस्यम् ) मुख पर रहनेवाला  
( हविः ) ग्राह्य पदार्थ है । और [ जो ] ( ते ) तेरे ( इमानि ) यह सब ( शंत-  
मानि ) अत्यन्त शान्ति देनेवाले ( उदिता ) वचन हैं, ( तेभिः ) उनसे  
( वयम् ) हम ( मधुमन्तः ) उत्तम ज्ञानवाले ( स्याम ) होंगे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदविद्या का प्रकाश सारे संसार भर में फैल रहा  
है, और विद्वान् लोग जिसका अभ्यास करके उपदेश करते हैं, उस विद्या से  
सब मनुष्य लाभ उठावे ॥ २ ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृडोका सरस्वति ।

मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

शिवा । नः । शम्-तमा । भव । सु-मृडोका । सरस्वति ।  
मा । ते । युयोम । सुम्-दृशः ॥ ३ ॥

२—( इदम् ) प्रत्यक्षम् ( ते ) तव ( हव्यम् ) ग्राह्यं ज्ञानम् ( घृतवत् )  
प्रकाशयुक्तम् ( सरस्वति ) विज्ञानवति विद्ये ( इदम् ( पितृणाम् ) पितृसम-  
माननीयानां विदुषाम् ( हविः ) ग्राह्यं कर्म ( आस्यम् ) आस्य-यत्, यलोपः ।  
आस्ये मुखे भवम् । विधिवदभ्यस्तम् ( यत् ) ( इमानि ) ( ते ) तव ( उदिता )  
वदव्यक्तायां वाचि-क्त, यजादित्वात् संप्रसारणम् । उक्तानि वचनानि ( शंतमानि )  
अत्यर्थं सुखकराणि ( तेभिः ) ( तैः ) वचनैः ( मधुमन्तः ) उत्तमज्ञानयुक्ताः  
( स्याम ) भवेम ॥



भाषार्थ—( सरस्वति ) हे सरस्वती । तू ( नः ) हमारे लिये ( शिवा ) कल्याणी, ( शंतमा ) अत्यन्त शक्ति देनेवाली और ( सुमृडीका ) अत्यन्त सुख देनेवाली ( भव ) हो । हम लोग ( ते ) तेरे ( संदशः ) यथावत् दर्शन [ यथार्थ स्वरूप के ज्ञान ] से ( मा युयोम ) कभी अलग न हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य नित्य अभ्यास से विद्या का ठीक ठीक स्वरूप जान कर आत्मा को सदा शान्त रखे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१ ॥ वातादयो देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सुखाय प्रयत्नोपदेशः—सुख के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

शं नो वाता वातु शं नस्तपतु सूर्यः । अहानि शं  
भवन्तु नः शं रात्रौ प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः ।  
अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्रौ । प्रति । धीयताम् ।  
शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( शम् ) सुखकारी ( वातः ) वायु ( नः ) हमारे लिये ( वातु ) चले, ( शम् ) सुखकारी ( सूर्यः ) सूर्य ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) ( तपतु ) तपे । ( अहानि ) दिन ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) सुखकारी ( भवन्तु ) हों, ( रात्रौ ) रात्रि ( शम् प्रति ) सुख के लिये ( धीयताम् ) धारण की जावे ( शम् )

३—( शिवा ) कल्याणी ( नः ) अस्मभ्यम् ( शंतमा ) अत्यर्थ रोगनिवारिका ( भव ) ( सुमृडीका ) अत्यन्त सुखदा ( सरस्वति ) ( ते ) तव ( मा युयोम ) यौतेलौटि शपः श्लुः । पृथग्भूता मा भवेम ( संदशः ) दृशिर्-क्षिप् । समीचीनाद् दर्शनात् । यथार्थस्वरूपज्ञानात् ॥

१—( शम् ) सुखकरः ( नः ) अस्मभ्यम् ( वातः ) वायुः ( वातु ) संचरतु ( शम् ) ( नः ) ( तपतु ) तापं करोतु ( सूर्यः ) ( अहानि ) दिनानि ( शम् ) सुखकराणि ( भवन्तु ) ( नः ) ( शम् ) सुखम् ( रात्रौ ) ( प्रति ) व्याप्य ( धीयताम् )



( १६६४ )

अथर्ववेद भाष्ये

सू० १० [ ३८५ ]

सुखकारी (उषाः) उषा [ प्रभात बेला ] ( नः ) हमारे लिये ( वि ) विविध प्रकार ( उच्छ्रुतु ) चमके ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा से ऐसे काम करें जिसमें वायु, सूर्य आदि पदार्थों से प्रतिक्षण सुख मिलता रहे ॥ १ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-५ ॥ इन्द्रोऽग्निर्वा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

शत्रुदमनोपदेशः—शत्रु के दमन का उपदेश ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा युजैर्जुहोति हविषा  
यजुषा । तन्मृत्युना निःश्रुतिः संविदाना पुरा सत्या-  
दाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च । असौ । मनसा । यत् । च । वाचा । युजैः ।  
जुहोति । हविषा । यजुषा । तत् । मृत्युना । निः-श्रुतिः । स-  
विदाना । पुरा । सत्यात् । आ-हुतिम् । हन्तु । अस्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—( असौ ) वह [ शत्रु ] ( यत् किम् ) जो कुछ ( मनसा )  
मन से, ( च ) और ( यत् ) जो कुछ ( वाचा ) वाणी से, ( यज्ञैः ) सङ्गति  
कर्मों से, ( हविषा ) भोजन से और ( यजुषा ) दान से ( जुहोति ) आहुति  
करता है । ( मृत्युना ) मृत्यु के साथ ( संविदाना ) मिली हुई ( निःश्रुतिः )

दुधाञ् धारणपोषणयोः—कर्मणि लोट् । ध्रियताम् ( शम् ) सुखप्रदा ( उषाः )  
प्रभातवेला, ( नः ) अस्मभ्यम् ( वि ) विविधम् ( उच्छ्रुतु ) उच्छी विवासे ।  
विवासिता प्रकाशिता भवतु ॥

१—( यत् किम् ) यत् किञ्चित् ( च ) ( असौ ) शत्रुः ( मनसा ) अन्तः-  
करणेन ( यत् ) ( च ) ( वाचा ) वाण्या ( यज्ञैः ) सङ्गतिकर्मभिः ( जुहोति )  
आहुतिं करोति ( हविषा ) भोजनेन ( यजुषा ) दानेन ( तत् ) ताम् ( मृत्युना )  
( निःश्रुतिः ) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तिः । दरिद्रतादिः ( संविदाना ) अ०



निष्कृति, दरिद्रता आदि अलक्ष्मी (सत्यात् पुरा) सफलता से पहिले (अस्य) इसकी (तत्) उस (आहुतिम्) आहुति को (हन्तु) नाश करे ॥१॥

भावार्थ—जो शत्रु मन, वचन और कर्म से प्रजा को सताने का उपाय करे, निपुण सेनापति शीघ्र ही उसे धनहरण आदि दण्ड देकर रोक देवे ॥ १ ॥

यातुधाना निष्कृतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वन्तेन  
सत्यम् । इन्द्रैषिता देवा आज्यमस्य मथनन्तु मा तत्  
संपादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातु-धानाः । निः-कृतिः । आत् । जं इति । रक्षः । ते ।  
अस्य । घ्नन्तु । अनृतेन । सत्यम् । इन्द्रैषिताः । देवाः ।  
आज्यम् । अस्य । मथनन्तु । मा । तत् । सम् । पादि ।  
यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निष्कृतिः) अलक्ष्मी (आत् उ) और भी (ते) वे सब (यातुधानाः) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) सफलता को (अनृतेन) मिथ्या आचरण के कारण (घ्नन्तु) नाश करें (इन्द्रैषिताः) इन्द्र, परम ऐश्वर्य वाले सेनापति के भेजे हुये (देवाः) विजयी शूर (अस्य) इसके (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (मथनन्तु) विध्वंस करें, (असौ) वह [शत्रु] (यत्) जो कुछ (जुहोति) आहुति दे, (तत्) वह (मा सम् पादि) सम्पन्न [सफल] न होवे ॥ २ ॥

२। २८। २। सङ्गच्छमाना (पुरा) पूर्वम् (सत्यात्) कर्मसाफल्यात् (आहुतिम्) होमक्रियाम् (हन्तु) नाशयतु (अस्य) शत्रोः ॥

२—(यातुधानाः) अ० १। ७। १। पीडाप्रदाः (निष्कृतिः) म० १। कृच्छ्रापत्तिः । दरिद्रतादिः (आत्. उ) अपि च (रक्षः) राक्षसः (ते) सर्वे (अस्य) शत्रोः (घ्नन्तु) नाशयन्तु (अनृतेन) मिथ्याचरणेन (सत्यम्) कर्मसाफल्यम् (इन्द्रैषिताः) इन्द्रेण परमैश्वर्यवता सेनापतिना प्रेरितः (देवाः) विजयिनः शराः (आज्यम्) घृतम् । तत्त्वपदार्थम् (अस्य) शत्रोः (मथनन्तु) नाशयन्तु (तत्) (मा सम् पादि) पद गतौ माङ्गि लुङ्गिरूपम् । सम्पन्नं सफलं मा भवेत् (यत्) यत् किञ्चित् (असौ) शः ॥ (जुहोति) आहुतिं करोति ॥



( १६६६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७० [ ३८५ ]

भावार्थ—सेना पति की नीति निपुणता से शत्रुओं में निर्धनता और परस्पर फूट पड़ जाने से शत्रु लोग निर्बल होकर आधीन हो जावे ॥ २ ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनौ इव । आज्यं  
पृतन्यतो हुतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अजिर-अधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौ-इव । आज्यम् ।  
पृतन्यतः । हुताम् । यः । नः । कः । च । अभि-अघायति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अजिराधिराजौ ) शीघ्रगामी दोनों बड़े राजा [ दरिद्रता ]  
और मृत्यु—म० १ ] ( संपातिनौ ) अपट मारने वाले ( श्येनौ इव ) दो श्येन  
वा वाज पक्षी के समान ( पृतन्यतः ) उस चढ़ाई करने वाले शत्रु के (आज्यम्)  
घृत [ तत्त्वपदार्थ ] को ( हुताम् ) नाश करें ( यः कः च ) जो कोई ( नः ) हम  
से ( अभ्यघायति ) दुष्ट आचरण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुःखदायी शत्रुओं के नाश करने में राजा शीघ्रता करे ॥ ३ ॥

अपाञ्चौ त उभौ ब्राह्म अपि नह्याभ्यास्यम् ।

अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । ब्राह्म इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।

अग्नेः । देवस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[ हे शत्रु ! ] ( ते ) तेरे ( अपाञ्चौ ) पीछे को चढ़ाये गये

३—( अजिराधिराजौ ) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १९ । ५३ । अज-  
गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिरः शीघ्रगामी । अधिराजः । राजाहः सखिभ्यष्टच्  
पा० ५ । ४ । ६१ । इति टच् । अधिको राजा । तौ निऋतिमृत्यू ( श्येनौ ) अ०  
३ । ३ । ३ । पक्षिविशेषौ ( संपातिनौ ) निष्पतनशीलौ ( इव ) यथा (आज्यम्)  
घृतम् । तत्त्वपदार्थम् ( पृतन्यतः ) अ० १ । २१ । २ । सङ्ग्रामेच्छोः ( हुताम् )  
नाशयताम् ( यः ) ( नः ) अस्मान् ( कः च ) कश्चित् ( अभ्यघायति ) अ०  
५ । ६ । ६ । पापं कर्तुमिच्छति ॥

४—( अपाञ्चौ ) अपाञ्चनौ पृष्ठे सम्बद्धौ ( ते ) तव ( उभौ ) द्वौ ( ब्राह्म )



सू० ७१ [ ३८६ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६६७ )

(उभौ) दोनों (बाहू) भुजाओं को (अपि) और (आस्यम्) मुखको (नह्यामि) मैं बांधता हूं । (देवस्य) विजयी (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजन आदि ग्राह्यपदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को दण्ड देकर कारागार में रखकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ४ ॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।

अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।

अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (अपि) नह्यामि) बांधे देता हूं और (आस्यम्) मुख को (अपि) भी (नह्यामि) बन्द करता हूं । (घोरस्य) भयंकर (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजनादि ग्राह्य पदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र चार के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिगुणोपदेशः—सेनापति के गुणों का उपदेश ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

धृषद्वर्णं दिवेदिवे हुन्तारं भङ्गरावतः ॥ १ ॥

भुजौ (अपि) एव (नह्यामि) बध्नामि (आस्यम्) मुखम् (अग्नेः) तेजस्विनः सेनापतेः (देवस्य) विजयमानस्य (मन्युना) तेजसा । क्रोधेन (ते) तव (अवधिषम्) हन्तेर्लुङ् । नाशितवानस्मि (हविः) होतव्यम् । ग्राह्यं द्रव्यम् ॥

५—(घोरस्य) भयङ्करस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥



( १६६८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७२ [ ३८७ ]

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सुहृस्य । धीमहि ।  
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भृङ्गुर-वतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ।  
(पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृषद्बर्णम्) अभयस्वभाव, (भृङ्गुर-  
वतः) नाश करने वाले कर्म से युक्त [ कपटी ] के (हन्तारम्) नाश करने  
वाले (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि)  
परिधी बनाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के  
नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८७ । २२ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रोदेवता ॥ १ अनुष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमुत्थियम् ।

यदि श्रातं जुहोतन् यदश्रातं मुमत्तन् ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठतु । अव । पश्यतु । इन्द्रस्य । भागम् । ऋत्थियम् ।

यदि । श्रातम् । जुहोतन् । यदि । अश्रातम् । मुमत्तन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्यो ! ] (उत् तिष्ठत) खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य)

१—(परिधीमहि) अ० ७ । १७ । २ । परिधिरूपेण धारयेम (त्वा)  
त्वाम् (अग्ने) तेजस्विन् सेनापते (पुरम्) दुर्गरूपम् (वयम्) प्रजागणः  
(विप्रम्) मेधाविनम् (सहस्य) अ० ४ । ५ । १ । सहसे बलाय हित (धृष-  
द्बर्णम्) धर्षकरूपम् (दिवे दिवे) प्रति दिनम् (हन्तारम्) नाशयितारम्  
(भृङ्गुरवतः) भञ्जभासमिदो घुरच् । पा० ३ । २ । १ ६१ । भञ्जो आमर्दने—  
घुरच् । चजोः कु घिणयतोः पा० ७ । ३ । ५२ । कुत्वम् । भञ्जनकर्मयुक्तस्य  
कपटिनः पुरुषस्य ॥

१—(उत्तिष्ठत) ऊर्ध्वं तिष्ठत । पौरुषं कुरुत (अवपश्यत) निरीक्ष-



सू० ७२ [ ३८७ ] सप्तमं कारडम् ॥ ७ ॥

( १६६८ )

बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य के ( ऋत्विगम् ) सब काल में मिलनेवाले ( भागम् )  
ऐश्वर्य समूह को ( अव पश्यत ) खो जो । ( यदि ) जो ( श्रोतम् ) वह परिपक्व  
[ निश्चित ] है, ( जुहोतन ) ग्रहण करो, ( यदि ) जो ( अश्रातम् ) अपरिपक्व  
[ अनिश्चित ] है, [ उसे पक्का, निश्चित करके ] ( ममत्तन ) तृप्त [ भरपूर ]  
करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े मनुष्यों के समान निश्चित ऐश्वर्य प्राप्त करें,  
और अनिश्चितकर्म को विवेक पूर्वक निश्चित करके समाप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १७६। १—३ ॥

आतं हविरो ध्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरौ अध्वनो  
वि मध्यम् । परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा  
न ब्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

आतस् । हविः । ओ इति । सु । इन्द्र । प्र । याहि । जगाम ।  
सूरः । अध्वनः । वि । मध्यम् । परि । त्वा । आसते । निधिभिः ।  
सखायः । कुल-पाः । न । ब्राज-पतिम् । चरन्तस् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! ( आतम् ) परिपक्व  
[ निश्चित ] ( हविः ) ग्राह्यकर्म को ( ओ ) अवश्य ( सु ) भले प्रकार से  
( प्र याहि ) प्राप्त हो, [ जैसे ] ( सूरः ) सूर्य ( अध्वनः ) अपने मार्ग के ( मध्यम् )

ध्वम् ( इन्द्रस्य ) परमैश्वर्यवतो मनुष्यस्य, ( भागम् ) भग—अण् समूहे ।  
ऐश्वर्यसमूहम् ( ऋत्विगम् ) अ० ३। २०। १ । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु भवम्  
( यदि ) सम्भावनायाम् ( आतम् ) श्रीञ् पाके—क्त । अपसृधेथामानृचुः० ।  
पा० ६। १। ३६ । इति आभावः । पक्वम् । निश्चितम् ( जुहोतन ) हु दाना—  
दानादनेषु । लोटितस्य तनप्, जुहुत । गृह्णीत ( यदि ) ( अश्रातम् ) अपक्वम् ।  
अनिश्चितम् ( ममत्तन ) मद तृप्तयोगे । लोटि शपः श्लु । मद्यत । तर्पयत ।  
समाधत्त ॥

२—( आतम् ) म० १ । पक्वम् । निश्चितम् ( हविः ) ग्राह्यं कर्म ( ओ )  
अवश्यम् ( सु ) सुष्ठु ( प्र याहि ) प्राप्नुहि ( जगाम ) प्राप ( सूरः ) अ० ४ ।



मध्य भाग को ( वि ) विशेष करके ( जगाम ) प्राप्त हुआ है । ( सखायः ) सब मित्र ( निधिभिः ) अनेक निधियों के साथ ( त्वा ) तेरे ( परि आसते ) चारों ओर बैठते हैं, ( न ) जैसे ( कुलपाः ) कुल रत्नक लोग ( चरन्तम् ) चलते फिरते ( ब्राजपतिम् ) घर के स्वामी को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुपहर के सूर्य के समान तेजस्वी होकर अपने कर्तव्य को पूरा करें, पुरुषार्थी मनुष्य के ही अन्य सब लोग सहायक होते हैं ॥२॥

आ॒तं म॑न्य॒ ऊ॒ध॒नि आ॒त॒म॒ग्नौ सु॒शृ॑तं म॒न्ये॒ तदु॑तं  
नवी॑यः । मा॒ध्य॑न्दिनस्य॒ सर्व॑नस्य॒ दु॒धः पि॒बेन्द्र॑ वज्रिन्  
पु॒रु॒कृ॒ज्जु॒षा॒णः ॥ ३ ॥

आ॒त॒म् । म॒न्ये॒ । ऊ॒ध॒नि । आ॒त॒म् । अ॒ग्नौ । सु॒शृ॑तम् ।  
म॒न्ये॒ । तत् । अ॒त॒म् । नवी॑यः । मा॒ध्य॑न्दिनस्य । सर्व॑नस्य ।  
दु॒धः । पि॒बे॑ । इ॒न्द्र॒ । व॒ज्रिन् । पु॒रु॒कृ॒त् । जु॒षा॒णः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ऊधनि ) [ दूसरों को ] चलाने वा सींचने में ( आतम् ) परिपक्वता [ निश्चय पन ], ( अग्नौ ) अग्नि अर्थात् पराक्रम में ( आतम् ) परिपक्वता ( मन्ये ) मैं मानता हूँ, [ जो ] ( अतम् ) सत्य धर्म है, ( तत् ) उसको ( नवीयः ) अधिक स्तुतियोग्य, ( सुशृतम् ) सुपरिपक्व [ सुनिश्चित

२ । ४ । लोकप्रेरकः सूर्यः ( अध्वनः ) अ० १ । ४ । १ । मार्गस्य ( वि ) विशेषण ( मध्यम् ) मध्याह्नकालम् ( परि ) व्याप्य ( त्वा ) इन्द्रम् ( आसते ) उपविशन्ति ( निधिभिः ) धनकोषैः ( सखायः ) सुहृदः ( कुलपाः ) वंशरत्नकाः ( न ) इव ( ब्राजपतिम् ) ब्रजगता—घञ् । गृहस्वामिनं प्रधानम् ( चरन्तम् ) गच्छन्तम् । उद्योगिनम् ॥

३—( आतम् )—म० १ । भावे—क । परिपचनम् सुनिश्चयम् ( मन्ये ) अहं जाने ( ऊधनि ) अ० ४ । ११ । ४ । श्वेः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । १६३ । वह प्रापणे—असुन् । यद्वा । उन्दी क्लेदने—असुन्, इति ऊधस्, पृषोदरादि रूपम् । ऊधस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । ऊधस् शब्दस्यापि अनङ् आदेशः । यद्वा । ऊधसोऽनङ् । पा० ५ । ४ । १३१ । समासे विधीयमानोऽनङ् ऊधसि केवला-



सू० ७३ [ इट्ट ] सप्तमं कारुडम् ॥ ७ ॥

( १६७१ )

कर्म ] ( मन्ये ) मैं मानता हूँ । ( वज्रिन् ) है वज्रधारी ! ( पुरुकृत् ) हे अनेक कर्म करनेवाले ( इन्द्र ) बड़े पेश्वर्यवाले मनुष्य ! ( जुषाणः ) प्रसन्न होकर ( माध्यन्दिनस्य ) मध्य दिन के ( सवनस्य ) काल वा स्थान की ( दध्नः ) धारण शक्ति का ( पिब ) पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखकर परोपकार और पराक्रम करके सूर्य के समान तेजस्वी हो ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७३ ॥

१-११ ॥ १-५ अश्विनौ; ६, ७ सविता; ८, ११ अचन्या; ८,

१० अग्निदेवता ॥ १, ४ जगती; २ बृहती; ३, ५-११ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रुथो दिवस्तुप्ती घर्मे दुह्यते वा-  
मिषे मधु । वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे  
सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

सम्-इन्द्रः । अग्निः । वृषणा । रुथी । दिवः । तुप्तः । घर्मः ।

दधि । ऊधसि । वहने नयने । सेचने ( भ्रातम् ) ( अग्नौ ) पराक्रमे ( सुशृतम् ) शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । आ पाके—क । परिपक्वम् । निश्चितम् ( मन्ये ) ( तत् ) ( ऋतम् ) यत्सत्यं धर्म ( नवीयः ) गु स्तुतौ—अप् + ईयसुन् । स्तुत्य-तरम् ( माध्यन्दिनस्य ) अन्तः पूर्वपदात् ठञ् । पा० ४ । ३ । ६० । मध्यो मध्यं दिनम् चारमात् । इति वार्तिकम् । मध्य-दिनप्रत्ययः । मध्ये भवस्य । यद्वा । उत्सादिभ्योऽञ् । पा० ४ । १ । ८६ । मध्यन्दिन-अञ् । मध्यदिने भवस्य ( सव-नस्य ) षू प्रेरणे—ल्युट् । सवनानि स्थानानि—निरु० ५ । २५ । कालस्य स्थानस्य ( दध्नः ) भाषायां धाञ्कुञ्सृजनि । वा० पा० ३ । २ । १७१ । जु धाञ् धारणपोषणयोः—कि । यद्वा । सर्वधातुरय इन् । उ० ४ । ११८ । दध्न धारणे—इन् । अस्थिदधि० । पा० ७ । १ । ७५ । इत्यनङ् । धारणस्य । आलम्बनस्य ( पिब ) पानं कुरु । स्वीकुरु ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवान् पुरुष ( वज्रिन् ) वज्रधारक ( पुरुकृत् ) हे बहुकर्मन् ( जुषाणः ) प्रीयमाणः ॥



दुह्यते । वाम् । इषे । मधु । वयम् । हि । वाम् । पुरु-  
दमासः । अश्विना । हवामहे । सधमादेशु । कारवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( वृषणा ) हे दोनों पराक्रमियो ! ( समिद्धः ) प्रदीप्त ( अग्निः )  
अग्नि [ के समान तेजस्वी ], ( दिवः ) आकाश के [ मध्य ] ( रथी ) रथवाला  
( तप्तः ) ऐश्वर्ययुक्त ( घर्मः ) प्रकाशमान [ आचार्य वर्तमान है ]; ( वाम् )  
तुम दोनों की ( इषे ) इच्छापूर्ति के लिये ( मधु ) ज्ञान ( दुह्यते ) परिपूर्ण  
किया जाता है । ( पुरुदमासः ) बड़े दमनशील, ( कारवः ) काम करने वाले  
( वयम् ) हम लोग ( वाम् ) तुम दोनों को ( हि ) ही, ( अश्विना ) हे चतुर  
स्त्री पुरुष ! ( सधमादेशु ) अपने उत्सवों पर ( हवामहे ) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विज्ञानी शिक्षकों से विविध विद्यायें प्राप्त  
करें । और सब लोग ऐसे विद्वान् स्त्री पुरुषों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वा घर्म आ गतम् ।

दुह्यन्ते नूनं वृषणे ह धेनवो दस्त्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥

सम्-द्वद्धः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ ।  
गतम् । दुह्यन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । धेनवः । दस्त्रा ।  
मदन्ति । वेधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अश्विना ) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! ( वाम् ) तुम दोनों के  
लिये ( समिद्धः ) प्रदीप्त ( अग्नि ) अग्नि समान तेजस्वी ( तप्तः ) ऐश्वर्य-

१—( समिद्धः ) प्रदीप्तः ( अग्निः ) अग्निरिव तेजस्वी ( वृषणा ) पराक्र-  
मिणौ ( रथी ) रथ-इनि । रथिकः ( दिवः ) आकाशस्य मध्ये ( तप्तः ) तप  
ऐश्वर्य—क्त । ऐश्वर्ययुक्तः ( घर्मः ) अ० ४ । १ । २ । प्रकाशमान आचार्यः  
( दुह्यते ) प्रपूर्यते ( वाम् ) युवयोः ( इषे ) इच्छापूर्तये ( मधु ) ज्ञानम् ( वयम् )  
( हि ) अवधारणे ( वाम् ) युवाम् ( पुरुदमासः ) अनुगागमः । बहुदमनशीलाः ।  
( अश्विना ) अ० २ । २६ । ६ । कर्मसु व्यापकौ स्त्रीपुरुषौ ( हवामहे ) आह्वयामः  
( सधमादेशु ) उत्सवेषु ( कारवः ) उ० १ । १ । करोतेः—उण् । कर्मकर्तारः ॥

२—( आ गतम् ) आगच्छतम् ( दुह्यन्ते ) प्रपूर्यन्ते ( नूनम् ) निश्चयेन  
( इह ) अस्मिन् समाजे ( धेनवः ) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्वाङ्नाम-निष०



सू० ७३ [ ३८८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६७३ )

युक्त, ( धर्मः ) प्रकाशमान [ आचार्य वर्तमान है ], ( आ गतम् ) तुम्हें दर्शनों  
आवो । ( वृषणा ) हे दोनों पराक्रमियो ! और ( दक्षा ) हे दर्शनीयो घा रोग-  
नाशको ! ( धेनवः ) वेदवाणियों ( नूनम् ) अवश्य ( इह ) यहां पर ( दुहन्ते )  
दुही जाती हैं, और ( वेधसः ) बुद्धिमान् लोग ( मदन्ति ) आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष वेद विद्या द्वारा विज्ञानी होकर कीर्तिमान्  
होते हैं, बुद्धिमान् उनसे उपदेश पाकर लाभ उठाते हैं ॥ २ ॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनौ चमसो दे-  
वपानः । तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य  
प्रत्यासना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा-कृतः । शुचिः । देवेषु । यज्ञः । यः । अश्विनौः ।  
चमसः । देव-पानः । तम् । जं इति । विश्वे । अमृतासः ।  
जुषाणाः । गन्धर्वस्य । प्रति । आसना । रिहन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—( देवेषु ) उत्तम गुणों में वर्तमान; ( अश्विनोः ) दोनों चतुर  
स्त्री पुरुषों का ( यः ) जो ( स्वाहाकृतः ) सुन्दरवाणी से सिद्ध किया गया,  
( शुचिः ) पवित्र ( देवपानः ) विद्वानों से रक्षा योग्य ( यज्ञः ) पूजनीय व्यवहार  
( चमसः ) मेघ [ के समान उपकारी ] है । ( तम् उ ) उसी [ उत्तम व्यवहार  
को ( जुषाणाः ) सेवन करते हुये ( विश्वे ) सब ( अमृतासः ) अमर [ निरा-

१।११। तर्पयिष्यो वेदवाचः ( दक्षा ) स्फापीतश्चिवश्चि० । उ० २ । १३ ।  
दसु उपजुये, दस दर्शने-रक् । रोगनिवारकौ । दर्शनीयौ—निरु० ६ । २६ ( मदन्ति )  
दृष्यन्ति ( वेधसः ) अ० १ । ११ । १ । विध विधाने—असुन् । मेधाविनः—निघ०  
३ । १५ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—( स्वाहाकृतः ) अ० २ । १६ । १ । सुवाचा निष्पन्नः ( शुचिः ) पवित्रः  
( देवेषु ) दिव्यगुणेषु वर्तमानयोः ( यज्ञः ) पूजनीयो व्यवहारः ( अश्विनोः )  
उत्तमस्त्रीपुरुषयोः ( चमसः ) अ० ६ । ४७ । ३ । मेघः—निघ० १ । १० । मेघ  
इवोपकारी ( देवपानः ) विद्वद्भिः पानं रक्षणं यस्य सः ( तम् ) यज्ञम् ( उ ) एव  
( विश्वे ) सब ( अमृतासः ) अमराः । निरलसाः ( जुषाणाः ) सेवमानाः । प्रीय-



लसी ] लोग ( गन्धर्वस्य ) पृथिवी रक्षक सूर्य के ( आस्ना ) मुख से [ महा तेजस्वी होकर ] ( प्रति ) प्रत्यक्ष ( रिहन्ति ) पूजते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुषों के उत्तम व्यवहारों का अनुकरण करके पुरुषार्थी लोग उनको सराहते हैं ॥ ३ ॥

यदुस्त्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् । माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तुप्तं घृमं पिबतं रोचुने दिवः ॥ ४ ॥

यत् । उस्त्रियासु । आ-हुतम् । घृतम् । पयः । अयम् । सः । वाम् । अश्विना । भागः । आ । गतम् । माध्वी इति । धर्तारा । विदथस्य । सत्पती इति सत्-पती । तुप्तम् । घृमम् । पिबतम् । रोचुने । दिवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जैसे ( उस्त्रियासु ) गौवों में ( घृतम् ) घृत और ( पयः ) दूध ( आहुतम् ) दिया गया है, ( अश्विना ) हे चतुर स्त्री पुरुषों ! ( आ गतम् ) आओ, ( अयम् सः ) वही ( वाम् ) तुम दोनों का ( भागः ) भाग [ सेवनीय व्यवहार ] है । ( माध्वी ) हे मधुविद्या [ वेद विद्या ] के जानने वाले, ( विदथस्य ) जानने योग्य कर्म के ( धर्तारा ) धारण करने वाले, ( सत्पती ) सत्पुरुषों के रक्षा करने वाले ! तुम दोनों ( दिवः ) सूर्य के ( रोचने )

माणाः ( गन्धर्वस्य ) अ० २ । १ । २ । भूमिधारकस्य सूर्यस्य ( प्रति ) प्रत्यक्षम् ( आस्ना ) मुखेन । प्रकाशनेत्यर्थः ( रिहन्ति ) अर्चन्ति—निघ० ३ । १४ ॥

४—( यत् ) यथा ( उस्त्रियासु ) अ० ४ । २६ । ५ । गोषु ( आहुतम् ) सम्पन्नं दक्षम् ( घृतम् ) ( पयः ) दुग्धम् ( अयम् ) ( सः ) ( वाम् ) युवयोः ( अश्विना ) उत्तमस्त्रीपुरुषौ ( भागः ) सेवनीयो व्यवहारः ( आ गतम् ) आगच्छतम् ( माध्वी ) मधु + ई गतौ-क्विप्, छान्दसो दीर्घः । सुगां सुलुक्पूर्वसवर्णा० । पा० ७ । १ । ३४ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णादीर्घः । मधु मधुविद्यां वेदविद्यामीयेते जानीतो मध्यौ मधुविद्यावेदितारौ ( धर्तारा ) धारकौ ( विदथस्य ) अ० १ । १३ । ४ । ज्ञातव्यस्य कर्मणः ( सत्पती ) सज्जनानां पालकौ ( तप्तम् )



सू० ७३ [ ३८८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६७५ )

प्रकाश में (तप्तम्) पेश्वर्ययुक्त (धर्मम्) प्रकाशमान [ धर्म ] का (पिबतम्) पान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे गौ से घृत दुग्ध आदि स्तार पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष संसार के सब पदार्थों से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म विद्या का प्रकाश करके आनन्दित होवें ॥ ४ ॥

तुप्तो वा घृमो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु  
पयस्वान् । मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं  
पयस उत्थियायाः ॥ ५ ॥

तुप्तः । वाम् । घृमः । नक्षतु । स्व-होता । प्र । वाम् ।  
अध्वर्युः । चरतु । पयस्वान् । मधोः । दुग्धस्य । अश्विना ।  
तनायाः । वीतम् । पातम् । पयसः । उत्थियायाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों को (स्वहोता) धन देनेवाला, (तप्तः) पेश्वर्ययुक्त (धर्मः) प्रकाशमान धर्म (नक्षतु) व्याप्त होवे, (पयस्वान्) ज्ञानवान् (अध्वर्युः) अहिंसा कर्म चाहनेवाला [ वह धर्म ] (वाम्) तुम दोनों के लिये (प्रचरत्) प्रचरित होवे। तुम दोनों (तनायाः) उपकारी विद्या के (दुग्धस्य) परिपूर्ण (मधोः) मधु-

पेश्वर्ययुक्तम् (धर्मम्) प्रकाशमानं धर्मम् (पिबतम्) स्वीकृतम् (रोचने) प्रकाशे (दिषः) सूर्यस्य ॥

५—(तप्तः) पेश्वर्ययुक्तः (वाम्) युवाम् (धर्मः) प्रकाशमानो धर्मः (नक्षतु) व्याप्नोतु—निघ० २ । १८ । (स्वहोता) धनदाता (वाम्) युवाभ्याम् (अध्वर्युः) मृगयवादयश्च । उ० १, ३७ । अध्वर+या प्रापणे—कु । अथवा सुप आत्मानः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ अध्वर-क्यच् । क्याञ्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० उपत्ययः, अलोपः । अहिंसाप्रापकः । अहिंसामिच्छुः । याजकः (प्रचरतु) प्रचरितो भवति (पयस्वान्) ज्ञानवान् (मधोः) मधुनः । मधुविद्यायाः (दुग्धस्य) प्रपूरितस्य (अश्विना) हे उत्तमस्त्रीपुरुषौ (तनायाः) तनु



( १६७६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७३ [ ३८८ ]

विद्या [ ईश्वरज्ञान ] की ( वीतम् ) प्राप्ति करो और ( पातम् ) रक्षा करो, [ जैसे ] ( उस्त्रियायाः ) गऊ के ( पयसः ) दूध की [ प्राप्ति और रक्षा करते हैं ] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि वे धर्म निष्ठ होकर विद्या प्राप्त करके सर्वहितकारी कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ५ ॥

उप॑ द्रव॑ पय॑सा गो॒धुगो॒षमा घ॒र्मे सिञ्च॑ पय॑ उ॒स्त्रिया॒  
याः । वि॒ नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनु॒प्रयाण॑मुषमो  
वि॒ राज॑ति ॥ ६ ॥

उप॑ । द्रव॑ । पय॑सा । गो-धुक् । ओषम् । आ । घ॒र्मे । सिञ्च॑ ।  
पयः॑ । उ॒स्त्रियायाः॑ । वि॒ । नाक॑म् । अ॒ख्यत् । स॒विता ।  
वरे॑ण्यः । अ॒नु-प्र॒यान॑म् । उ॒षसः॑ । वि॒ । रा॒ज॒ति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( गोधुक् ) हे विद्या के दोहने वाले विद्वान् ! ( पयसा ) विज्ञान से ( ओषम् ) अन्धकार दाहक, व्यवहार को ( घर्मे ) प्रकाशमान् यज्ञ के बीच ( उप ) आदर से ( द्रव ) प्राप्त हो, और ( आ ) सब ओर से ( सिञ्च ) सींच [ जैसे ] ( उस्त्रियायाः ) गऊ के ( पयः ) दूध को । ( वरेण्यः ) श्रेष्ठ ( सविता ) सब के चलानेवाले परमेश्वर ने ( नाकम् ) मोक्षसुख का ( वि अख्यत् ) व्याख्यान किया है, वही ( उषसः ) अन्धकार नाशक उषा के ( अनुप्रयाणम् ) निरन्तर गमन का ( वि ) विशेष करके ( राजति ) राजा होता है ॥ २ ॥

विस्तारे, तन उपकारे—पचाद्यच्, टाप् । उपकारिकाया विद्यायाः ( वीतम् ) प्राप्तिं कुरुतम् ( पातम् ) रक्षां कुरुतम् ( पयसः ) दुग्धस्य ( उस्त्रियायाः ) धेनोः ॥

६—( उप ) सादरम् ( द्रव ) गच्छ । प्राप्नुहि ( पयसा ) ज्ञानेन ( गोधुक् ) विद्यादाहकः ( ओषम् ) उष दाहे—घञ् । अन्धकारदाहकं व्यवहारम् ( आ ) समन्तात् ( घर्मे ) प्रकाशमाने यज्ञे—निघ० ३ । १७ ( सिञ्च ) वर्धय ( पयः ) दुग्धम् ( उस्त्रियायाः ) गोः ( नाकम् ) मोक्षसुखम् ( वि अख्यत् ) व्याख्यातवान् ( सविता ) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः ( वरेण्यः ) श्रेष्ठः ( अनुप्रयाणम् ) निरन्तरप्रगमनम् ( उषसः ) अन्धकारदाहकस्य प्रभातप्रकाशस्य ( वि ) विशेषेण ( राजति ) राजयति । शास्ति ॥



भावार्थ—मनुष्य गऊ के दूध के समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रकाश करे। जैसे सूर्य का प्रकाश लगातार सब देशों पर चला आता है, उसी प्रकार परमात्मा ने सब के लिये मोक्ष का उपदेश वेद द्वारा किया है ॥ ६ ॥

उप ह्वये सुदुघा धेनुमेतां सुहस्तौ गोधुगुतदोहदेनाम् ।  
श्रेष्ठं सुवसंविता साविषन्तोभीहोघर्मस्तदुषु प्रवोचत् ॥ ७ ॥

उप । ह्वये । सु-दुघास् । धे-नुम् । एताम् । सु-हस्तः । गो-  
धुक् । उत । दोहत् । एनाम् । श्रेष्ठम् । सुवम् । सुविता ।  
साविषत् । नः । अभि-द्वद्धः । घर्मः । तत् । ऊ-इति । सु ।  
प्र । वोचत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( सुदुघाम् ) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करनेवाली ( एताम् ) इस ( धेनुम् ) विद्या को ( उप ह्वये ) मैं स्वीकार करता हूँ, ( उत ) वैसेही ( सुहस्तः ) हस्तक्रिया में चतुर ( गोधुक् ) विद्या को दोहने वाला [ विद्वान् ] ( एनाम् ) इस [ विद्या ] को ( दोहत् ) दुहे । ( सविता ) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ( श्रेष्ठम् ) श्रेष्ठ ( सुवम् ) ऐश्वर्य को ( नः ) हमारे लिये ( साविषत् ) उत्पन्न करे । ( अभीद्वः ) सब ओर प्रकाशमान ( घर्मः ) प्रतापी परमेश्वर ने ( तत् उ ) उस सब को ( सुः ) अच्छे प्रकार ( प्र वोचत् ) उपदेश किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य-प्राप्त करें। जिस प्रकार परमेश्वर ने उसका उपदेश किया है ॥ ७ ॥  
यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१। १६४। २६।

७—( उप ) सादरम् ( ह्वये ) स्वीकरोमि ( सुदुघाम् ) दुहः कव्यश्च ।  
पा० ३। २। ७०। सु+दुह प्रपूर्णे—कप्, हस्य घः । सुष्ठु कामप्रपूर्काम्  
( धेनुम् ) वाचम् । विद्याम्—म० २ ( एताम् ) ( सुहस्तः ) अत्यन्तहस्तक्रिया-  
कुशलः ( गोधुक् ) विद्यादोहकः ( उत ) ( दोहत् ) लेटिरूपम् । दोघु ( एनाम् )  
वाचम् ( श्रेष्ठम् ) ( सुवम् ) ऐश्वर्यम् ( सविता ) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः ( सा-  
विषत् ) अ० ६। १। ३। उत्पादयेत् ( नः ) अस्मभ्यम् ( अभीद्वः ) सर्वतः  
दीप्तः ( घर्मः ) प्रकाशमानः परमेश्वरः ( तत् ) पूर्वोक्तं सर्वम् ( उ ) ( सु )  
( प्र ) ( वोचत् ) ब्रूञ्—लुङ्, अडभावश्छान्दसः । उपदिष्टवान् ॥



हिङ्-कृण्वती वसुपत्नी वसूना वत्समिच्छन्ती मनसा  
न्यागन् । दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां म-  
हते सौभगाय ॥ ८ ॥

हिङ्-कृण्वती । वसु-पत्नी । वसू'नाम् । वत्सम् । इच्छन्ती ।  
मनसा । नि-आगन् । दुहाम् । अश्वि-भ्याम् । पयः । अघ्न्या ।  
इयम् । सा । वर्ध'ताम् । महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( हिङ्कृण्वती ) गति वा वृद्धि करने वाली, ( वसुपत्नी )  
धन की रक्षा करने वाली, ( वसूनाम् ) श्रेष्ठों के बीच ( वत्सम् ) उपदेशक  
पुरुष को ( इच्छन्ती ) चाहने वाली [ वेदवाणी ] ( मनसा ) विज्ञान के साथ  
( न्यागन् ) निश्चय करके प्राप्त हुई है । ( इयम् ) यह ( अघ्न्या ) हिंसा न  
न करने वाली विद्या ( अश्विभ्याम् ) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये, ( पयः )  
विज्ञान को ( दुहाम् ) परिपूर्ण करे, ( सा ) वही [ विद्या ] ( महते ) अत्यन्त  
( सौभाग्य ) सुन्दर पेश्वर्य के लिये ( वर्धताम् ) बढ़े ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब  
स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। २७ ॥

जुष्टो दमू'ना अतिथिदु'रीणा इमं नौ यज्ञमुप याहि

८—( हिङ्कृण्वती ) हि गतिवृद्धयोः—डि । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती ( वसु-  
पत्नी ) धनां पालिका ( वसूनाम् ) श्रेष्ठानां मध्ये ( वत्सम् ) अ० ३। १२। ३।  
वद कथने—सप्रत्ययः । उपदेशकम् ( इच्छन्ती ) कामयमाना ( मनसा ) विज्ञा-  
नेन ( न्यागन् ) गमेर्लुङि रूपम् । निश्चयेनागतवती ( दुहाम् ) दुहु'लोदि,  
आत्मने पदम्, तलोपः । दुग्धाम् । प्रपूरयेत् ( अश्विभ्याम् ) स्त्रीपुरुषयोर्हिताय  
( पयः ) विज्ञानम् ( अघ्न्या ) अ० ३। ३०। १। अहिंसिका वेदविद्या ( इयम् )  
प्रसिद्धा ( सा ) ( वर्धताम् ) समृद्धा भवतु ( महते ) प्रभूताय ( सौभाग्य )  
शौभेनैश्वर्याणां भावाय ॥



सू० ७३ [ ३८८ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६७८ )

विद्वान् । विश्वा अग्ने अभियुजैः विहत्य शत्रूयतामा  
भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

जुष्टः । दमूनाः । अतिथिः । दुरोणे । इमम् । नः । यज्ञम् ।  
उप । याहि । विद्वान् । विश्वाः । अग्ने । अभि-युजैः । वि-  
हत्य । शत्रु-यताम् । आ । भर । भोजनानि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे बिजुली सदृश उत्तम गुण वाले राजन् ! ( जुष्टः )  
सेवा किया गया वा प्रसन्न किया गया, ( दमूनाः ) शम दम आदि से  
युक्त, ( अतिथिः ) सदा गतिशील [ महापुरुषार्थी ], ( विद्वान् ) विद्वान् तू  
( नः ) हमारे ( दुरोणे ) घर में वर्तमान ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) उत्तम दान  
को ( उप याहि ) सादर प्राप्त हो । और ( शत्रुयताम् ) शत्रु समान आचरण  
करने वालों की ( विश्वाः ) सब ( अभियुजैः ) चढ़ाई करती हुई सेनाओं को  
( विहत्य ) अनेक प्रकार से मार कर ( भोजनानि ) पालन साधनों को ( आ )  
सब ओर से ( भर ) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण धर्मात्मा पराक्रमी राजा को सदा प्रसन्न  
रखे, जिससे वह शत्रुओं को जीत कर प्रजापालन करता रहे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५।४।५ ॥

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।  
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठाम-  
हासि ॥ १० ॥

६—( जुष्टः ) सेवितः प्रीतो वा ( दमूनाः ) अ० ७।१४।४। शमदमा-  
दियुक्तः ( अतिथिः ) अ० ७।२१।१। अतनशीलः । महापुरुषार्थी ( दुरोणे )  
अ० ५।२।६। गृहे वर्तमानम् ( इमम् ) प्रत्यक्षम् ( नः ) अस्माकम् ( यज्ञम् )  
उत्तमपदार्थदानम् ( उप ) ( याहि ) ( विद्वान् ) ( विश्वाः ) समग्राः ( अग्ने )  
विद्युदिव शुभगुणाढ्य राजन् ( अभियुजैः ) अभियोक्ताः परसेनाः ( विहत्य )  
विविधं हत्वा ( शत्रुयताम् ) अ० ३।१।३। शत्रुवदाचरताम् ( आ ) समन्तात्  
( भर ) धर ( भोजनानि ) पालनसाधनानि ॥



( १६८० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७३ [ ३८८ ]

अग्ने । शर्ध । महते । सौमगाय । तव । द्युम्नानि । उत्तमानि । सन्तु । सम् । जाः-पत्यम् । सु-यमम् । आ । कृणुष्व । शत्रु-यताम् । अभि । तिष्ठ । महं॑सि ॥ १० ॥

भाष्यार्थ—( शर्ध ) हे बलवान् ( अग्ने ) विद्वान् राजन् ! ( महते ) हमारे बड़े ( सौमगाय ) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये ( तव ) तेरे ( द्युम्नानि ) यश वा धन ( उत्तमानि ) अति ऊँचे ( सन्तु ) होवें । ( जास्पत्यम् ) [ हमारे ] पत्नी-पतिधर्म [ गृहस्थ आश्रम ] को ( सुयमम् ) सुन्दर नियम युक्त ( सम् आ ) बहुत ही भले प्रकार ( कृणुष्व ) कर, ( शत्रुयताम् ) शत्रुसमान आचरण करने वालों के ( महं॑सि ) बलों को ( अभि तिष्ठ ) परास्त कर दे ॥ १० ॥

भावार्थ—संयमी पुरुषार्थी स्त्री पुरुष बड़ा ऐश्वर्य, कीर्ति, बल प्राप्त करके शत्रुओं को जीत कर प्रजा पालन करें ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । २८ । ३ । और यजु०—३३ । १२ ॥

सुयवसाद् भगवती हि भुया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।  
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिवं शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥  
सुयवस-अत् । भग-वती । हि । भुयाः । अध । वयम् । भग-  
वन्तः । स्याम् । अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्व-दानीम् ।  
पिवं । शुद्धम् । उदकम् । आ-चरन्ती ॥ ११ ॥

१०—( अग्ने ) विद्वान् राजन् ( शर्ध ) शृधु उन्दे उत्साहे वा—पचायच् । बलवान् । शर्धः=बलम्—निघ० २ । ६ । ( महते ) प्रभूताय ( सौमगाय ) शोभ-  
नैश्वर्याय ( तव ) ( द्युम्नानि ) अ० ६ । ३५ । ३ । धनानि यशांसि वा ( उत्त-  
मानि ) उद्गततमानि । उन्नततमानि ( सन्तु ) ( सम् ) सम्यक् ( जास्पत्यम् )  
पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । जायापति—यक्, छान्दसो  
याशब्दपोलः सुडामश्च । जायापत्यम् । पत्नीपतिधर्म ( सुयमम् ) ईषद्-  
सुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । इति खल् । जितेन्द्रियत्वादिनियमयुक्तम् ( आ )  
समन्तात् ( कृणुष्व ) कुरु ( शत्रुयताम् ) शत्रुवदाचरताम् ( अभि तिष्ठ )  
आक्रमस्व । अभिभव ( महं॑सि ) तेजांसि । बलानि ॥



सू० ७४ [ ३८८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८१ )

भाषार्थ—[ हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो ! ] ( सुयवसात् ) सुन्दर अन्न  
आदि भोगने वाली और ( भगवती ) बहुत ऐश्वर्य वाली ( हि ) ही ( भूयाः )  
हो, ( अध ) फिर ( वयम् ) हमलोग ( भगवन्तः ) बड़े ऐश्वर्य वाले ( स्याम )  
होवें । ( अघ्न्ये ) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! ( विश्वदानीम् ) समस्त दानों  
की क्रिया का ( आचरन्ती ) आचरण करती हुई तू [ हिंसा न करने वाली गौ  
के समान ] ( तृणम् ) घास [ अल्प मूल्य पदार्थ ] को ( अद्धि ) खा और  
( शुद्धम् ) शुद्ध ( उदकम् ) जल को ( पिब ) पी ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर  
दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध  
आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। ४० ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

## अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-४ ॥ १, २ वैद्यः; ३ त्वष्टा; ४ जातवेदा देवता ॥ १-३  
अनुष्टुप्; ४ त्रिष्टुप्; ॥

शारीरिकमानसिकरोगनिवारणोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग  
हटाने का उपदेश ॥

अपुचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम । मुनेर्दे-

११—(सुयवसात्) अदोऽन्त्रे । पा० ३। २। ६८। सुयवस + अद भक्षण-  
विद् । शोभनानि यवसानि अन्नादीनि अदन्ती प्रजा ( भगवती ) बह्वैश्वर्य-  
युक्ता ( हि ) अवधारणे ( भूयाः ) ( अध ) अथ । अनन्तरम् ( भगवन्तः )  
बह्वैश्वर्ययुक्ताः ( स्याम ) भवेम ( अद्धि ) अशान ( तृणम् ) घासम् ( अघ्न्ये )  
अहिंसिके ( विश्वदानीम् ) दानीं च । पा० ५। ३। १८। विश्व—दानीं प्रत्ययः  
सप्तम्यर्थे । विश्वदानीम् = सर्वदा—निरु० ११। ४४। विश्वानि सप्तआणि दानानि  
पस्यास्तां क्रियाम्, यथा दयानन्दभाष्ये ऋक् ० १। १६४। ४०। ( पिब )  
( शुद्धम् ) पवित्रम् ( उदकम् ) जलम् ( आचरन्ती ) अनुतिष्ठन्ती ॥



वस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अप-चिताम् । लोहिनीनाम् । कुष्णा । माता । इति । शुश्रुम् ।  
मुनेः । देवस्य । मूलेन । सर्वाः । विध्यामि । ताः । अहम् ॥१॥

भाषार्थ—( लोहिनीनाम् ) रक्तवर्ण ( अपचिताम् ) गण्डमाला आदि रोगों की ( माता ) माता ( कुष्णा ) काले रंग वाली है, ( इति ) यह ( शुश्रुम् ) हमने सुना है । ( अहम् ) मैं ( मुनेः ) मननशील ( देवस्य ) विद्वान् वैद्य के ( मूलेन ) मूल ग्रन्थ से ( ताः सर्वाः ) उन सब को ( विध्यामि ) छेदता हूँ ॥१॥

भावार्थ—गण्डमाला आदि चर्म रोगों में पहिले काले धब्बे पड़ते, फिर रक्त वर्ण होजाते हैं, सद्वैद्य बड़े बड़े वैद्यों के मूल ग्रन्थों से कारण समझकर उनका छेदन आदि करे, इसी प्रकार मनुष्य आत्म दोषों को हटावे ॥ १ ॥

( मूल ) ओषधि विशेष भी है जिसे पीपलामूल कहते हैं ॥

इस सूक्त का मिलान अ० सू० ६ । ८३ से करो ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् । इदं

जघ्न्यामासामा छिन्नदि स्तुकामिव ॥ २ ॥

विध्यामि । आसाम् । प्रथमाम् । विध्यामि । उत । मध्यमाम् ।

इदम् । जघ्न्याम् । आसाम् । आ । छिन्दिम् । स्तुकाम्-इव ॥२॥

भाषार्थ—( आसाम् ) इन [गण्डमालाओं] में से ( प्रथमाम् ) पहिली

१—( अपचिताम् ) अ० ६ । ८३ । १ । गण्डमालादिरोगाणाम् ( लोहिनीनाम् ) वर्णादिनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३६ । लोहित-ङीप्, तस्य च नः । रोहिणीनां रक्तवर्णानाम् ( कुष्णा ) कृष्णवर्णा ( माता ) जननी । उत्पादयित्री ( इति ) एवम् ( शुश्रुम् ) लिटि रूपम् । वयं श्रुतवन्तः ( मुनेः ) मनेरुच्च । उ० ४ । १२३ । मनु अवबोधने—इन् । मननशीलस्य ( देवस्य ) विदुषो वैद्यस्य ( मूलेन ) मूलग्रन्थेन । निदानेन ( सर्वाः ) समस्ताः ( विध्यामि ) व्यध ताडने । विदारयामि ( ताः ) अपचितः ( अहम् ) वैद्यः ॥

२—( विध्यामि ) छिन्धि विदारयामि ( आसाम् ) अपचितां मध्ये ( प्रथ-



सू० ७४ [ ३८८ ]

सण्तमं कारुडम् ॥ ७ ॥

( १६८३ )

को ( विध्यामि ) छेदता हूँ, ( उत ) और ( मध्यमाम् ) बीचवाली को ( विध्यामि ) तोड़ता हूँ । ( आसाम् ) इनमें से ( जघन्याम् ) नीचे वाली को ( इदम् ) अभी ( आ ) सब ओर ( छिनभि ) मैं छिन्न भिन्न करता हूँ ( इव ) जैसे ( स्तुकाम् ) उनके बाल को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य रोगों के नाश करने में बहुत शीघ्रता करें ॥ २ ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् । अथो

यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण । अहम् । वचसा । वि । ते । ईर्ष्याम् । अमीमदम् ।

अथो इति । यः । मन्युः । ते । पते । तम् । ऊं इति । ते ।

शमयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] त्वाष्ट्रेण ) सब के बनानेवाले परमेश्वर के ( वचसा ) वचन से ( अहम् ) मैंने ( ते ) तेरी ( ईर्ष्याम् ) ईर्ष्या को ( वि अमीमदम् ) मद रहित कर दिया है ( अथो ) और ( पते ) हे स्वामिन् ! [ परमेश्वर ! ] ( यः ) जो ( ते ) तेरा ( मन्युः ) क्रोध है, ( ते ) तेरे ( तम् ) उसको ( उ ) अवश्य ( शमयामसि ) हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करे ॥ २ ॥

माम् ) मुख्याम् ( विध्यामि ) ( उत ) ( मध्यमाम् ) ( इदम् ) इदानीम् ( जघन्याम् ) हन यङ् लुक्-अच् । पृष्णोदरादिरूपम् यद्वा । जघन-यत्, इवाथू । अधमाम् ( आसाम् ) ( आ ) समन्तात् ( छिनभि ) भिनभि ( स्तुकाम् ) प्लुच प्रसादे—क, टाप्, कुत्वम् । ऊर्णस्तुकाम् । रोमस्तोकमात्राम् ( इव ) यथा ॥

३—( त्वाष्ट्रेण ) अ० २ । ४ । ६ । त्वष्टृ-अण । सर्वनिर्मातुः परमेश्वरस्य सम्यन्धिना ( अहम् ) जीवः ( वचसा ) वचनेन ( ते ) तव ( ईर्ष्याम् ) अ० ६ । १८ । १ । परसम्पत्त्यसंहनम् । मत्सरम् ( वि अमीमदम् ) विगतमदां कृतवानस्मि ( अथो ) अपि च ( यः ) ( मन्युः ) क्रोधः ( ते ) तव ( पते ) स्वामिन् । परमेश्वर ( तम् ) ( उ ) अवधारणे ( ते ) ( शमयामसि ) शमयामः । शान्तं कुर्मः ॥



( १६८४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७५ [ ३८० ]

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहि ।  
 तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥४॥  
 व्रतेन । त्वम् । व्रत-पते । सम्-अक्तः । विश्वाहा । सु-मनाः ।  
 दीदिहि । इह । तम् । त्वा । वयम् । जात-वेदः । सम्-  
 इद्धम् । प्रजा-वन्तः । उप । सदेम । सर्वे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( व्रतपते ) हे उत्तम नियमों के रक्षक परमेश्वर ! [ वा वि-  
 द्वान् ! ] ( त्वम् ) तू ( व्रतेन ) उत्तम नियम से ( समक्तः ) संगति करता हुआ  
 ( सुमनाः ) प्रसन्न चित्त होकर ( विश्वाहा ) सब दिन ( इह ) यहां पर ( दी-  
 दिहि ) प्रकाशमान हो । ( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध बुद्धि वा धन वाले ! ( प्रजा-  
 वन्तः ) उत्तम प्रजाओं वाले ( सर्वे वयम् ) हम सब लोग ( समिद्धम् ) अन्न  
 भांति प्रकाशमान ( तम् त्वा ) उस तुझको ( उप सदेम ) पूजा करते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के वेदोक्त धर्मों पर चलकर  
 सामाजिक उन्नति करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-२ ॥ प्रजा देवताः ॥ १ त्रिष्टुप्; २ मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

सामाजिकोन्नत्युपदेशः—सामाजिक उन्नति का उपदेश ॥

प्रजावतीः सुयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिब-

४—( व्रतेन ) अ० २ । ३० । २ । वरणीयेन नियमेन ( त्वम् ) ( व्रतपते )  
 सत्कर्मणां पालक परमेश्वर विद्वान् वा ( समक्तः ) अन्न व्यक्तिसत्त्वकान्ति-  
 गतिषु—क्त । संगतः ( विश्वाहा ) सर्वाणि दिनानि ( सुमनाः ) प्रसन्नचित्तः  
 ( दीदिहि ) अ० २ । ६ । १ । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति वलोपः  
 दीप्यस्व ( इह ) अस्माकं मध्ये ( तम् ) ( त्वा ) ( वयम् ) ( जातवेदः ) अ० १ ।  
 ७ । २ । हे प्रसिद्धप्रज्ञ । प्रसिद्धधन ( समिद्धम् ) सम्यग्दीप्तम् ( प्रजावन्तः )  
 प्रशस्तपुत्रपौत्रभृत्यादिसहिताः ( उप सदेम ) षड्विंशतिविशरणगत्यादिषु-लिङ्गा-  
 शिष्येण । पा० ३ । १ । ६६ । इति वलोपः । उपसदास्म । परिचर्यास्म ( सर्वे ) ॥



सू० ७५ [ ३८० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८५ )

न्तीः । मा व' स्तेन ईशतु माघशंसुः परि वो रुद्रस्य  
हेतिवृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजा-वतीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्र-पाने ।  
पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशतु । मा । अघ-शंसः ।  
परि । वः । रुद्रस्य । हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य प्रजाओ ! ] ( प्रजावतीः ) उत्तम सन्तान वाली,  
( सुयवसे ) सुन्दर यव आदि अन्न घाले [ घर ] में [अन्न] ( रुशन्तीः ) खाती  
हुई, और ( सुप्रपाणे ) सुन्दर जलस्थान में ( शुद्धाः ) शुद्ध ( अपः ) जलों को  
( पिबन्तीः ) पीती हुई ( वः ) तुमको ( स्तेनः ) चोर ( मा ईशत ) वश में न  
करे, और ( मा ) न ( अघशंसः ) बुरा चीतने वाला, डाकू उचक्का आदि [ वश  
में करे ], ( रुद्रस्य ) पीड़ानाशक परमेश्वर की ( हेतिः ) हनन शक्ति ( वः )  
तुमको ( परि ) सब ओर से ( वृणक्तु ) त्यागे रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य विचार्यें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम  
शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा दृष्ट पुष्ट बुद्धि-  
मान और धर्मिष्ठ रहें, जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर  
दण्ड देवे ॥१॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । २१ । ७ ॥

पदज्ञा स्थ रमतयःसंहिता विश्वनाम्नीः । उप मा देवीर्दे-  
वेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदा घृतेनास्मान्समुक्षत ॥२॥  
पद-ज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम् । हिताः । विश्व-नाम्नीः ।  
उप । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इतु । इमस् । गो-स्थस् ।  
इदस् । सदाः । घृतेन । अस्मान् । सम् । उक्षतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[ हे प्रजाओ ! तुम ] ( पदज्ञाः ) पगदंडी [ वा अपने पद ] को

१—शब्दार्थो यथा, अ० ४ । २१ । ७ ॥

२—( पदज्ञाः ) पदबिहस्य स्थानस्य वा ज्ञायः ( स्थ ) भवथ ( रम-



जानने वाली, ( रमतयः ) क्रीड़ा करने वाली, ( संहिताः ) यथावत् हित करने वाली वा परस्पर मिली हुई और ( विश्वनाम्नीः ) व्याप्तना मवाली ( स्थ ) हो । ( देवीः ) हे दिव्य गुण वाली देवियो ! ( देवेभिः ) उत्तम गुणों के साथ ( मा ) मुझ को ( उप ) समीप से ( आ इत ) प्राप्त होवो । ( इमम् ) इस ( गोष्ठम् ) वाचनालय को, ( इदम् ) इस ( सदः ) बैठक को और ( अस्मान् ) हमको ( घृतेन ) प्रकाश से ( सम् ) यथावत् ( उन्नत ) बढ़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के मार्ग और अपनी स्थिति को जान कर परस्पर हित करके सामाजिक उन्नति करे ॥ १ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-६ ॥ १-५ वैद्यः; ६ इन्द्रो देवता ॥ १,३-५ अनुष्टुप्;  
२ द्विपदा जगती; ६ त्रिष्टुप् ॥

१-५ रोगनाशस्य, ६ मनुष्यधर्मस्योपदेशः । १-५ रोग नाश और ६ मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असंतीभ्यो असत्तराः । सेहोरस-  
तरा लवणाद् विकलदीयसीः ॥ १ ॥

आ । सु-स्रसः । सु-स्रसः । असंतीभ्यः । असत्-तराः । सेहोः ।  
अरुस-तराः । लवणात् । वि-क्लदीयसीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( आ ) सब ओर से ( सुस्रसः ) बहुत बहनेवाले पदार्थ से

तयः ) अ० ६ । ७३ । २ । रमयित्र्यः ( संहिताः ) सम् + धा धारणी वा हि गतौ-  
क । सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यासां ताः परस्परसंगता वा ( विश्वनाम्नीः )  
वा च्छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः । व्याप्तनामधेयाः  
( उप ) समीपे ( मा ) माम् ( देवीः ) देव्यः । दिव्यगुणाः ( देवेभिः ) उत्तम-  
गुणैः ( आ इत ) आगच्छत ( इमम् ) ( गोष्ठम् ) वाचस्तिष्ठन्त्यत्र । वाचना-  
लयम् ( इदम् ) ( सदः ) सदनम् ( घृतेन ) प्रकाशेन ( अस्मान् ) ( सम् )  
सम्यक् ( उन्नत ) उन्नतः, महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उन्नत उन्नतेर्वृद्धिकर्मणः—  
निरु० १२ । ६ । वर्धयत ॥

१—( आ ) समन्तात् ( सुस्रसः ) सु + स्रसृ पतने—क्विप् । अनिर्विता



सू० ७६ [ ३८१ ]

सर्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८७ )

(सुस्रसः) बहुत बहनेवाली और (असतीभ्यः) बहुत बुरी [पीड़ाओं] से (असत्तराः) अधिक बुरी, (सेहोः) सेहु [नीरस वस्तु विशेष] से (अरसतराः) नीरस [शुष्कस्वभाव] और (लवणात्) लवण से (विकले-दीयसीः) अधिक गल जानेवाली [गण्डमालाओं]को [नष्ट करदिया है—म०३]॥१

भावार्थ—मन्त्र १ तथा २ का सम्बन्ध (निर्हाः) “नष्ट करदिया है” क्रिया मन्त्र ३ के साथ है। जैसे गंडमालायें कभी सूख जाती, कभी हरी हो जाती हैं, ऐसी ही कुवासनायें कभी निर्वल और कभी सबल हो जाती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः। विजाम्नि या अपचितः स्वयं स्रसः ॥ २ ॥

याः। ग्रैव्याः। अप-चितः। अथो इति। याः। उप-पक्ष्याः। वि-जाम्नि। याः। अप-चितः। स्वयं-स्रसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ग्रैव्याः) गले पर (अथो) और (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्षियों [कन्धों] के जोड़ों पर (अपचितः) गण्डमालायें [फुडियां] हैं। और (याः) जो (स्वयंस्रसः) अपने आप बहने वाली (अपचितः)

हल उपधाया क्लिति। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। अतिस्रवणशीलात्पदार्थात् (सुस्रसः) अत्यर्थं स्रवणशीलाः (असतीभ्यः) दुष्टाभ्यः (असत्तराः) अधिक-दुष्टाः (सेहोः) भृमृशीङ्०। उ० १। ७। षिञ् बन्धने—उ, हुगागमः। सेहुनामनिः—सारपदार्थविशेषात् (अरसतराः) अधिकशुष्काः (लवणात्) नन्दिग्रहिपचादि०। पा० ३। १। १३४। लूञ् छेदने—ल्यु। सैन्धवादिह्यारसभेदात् (विकले-दीयसीः) किलदू आद्रीभावे—घञ्। विविधः ल्केदो यासां ता विकलेदाः। तत ईयसुन्, डीप्। शसि रूपम्। अधिकस्रवणशीलाः ॥

२—(याः) (ग्रैव्याः) अ० ६। २५। २। ग्रीवासु गलप्रदेशेषु भवा नाड्यः (अपचितः) अ० ६। ८३। १। गंडमालादिपीडाः (याः) (उपपक्ष्याः) उपपक्ष—यत्। उपपक्षे स्कन्धसन्धौ भवाः (विजाम्नि) विविधं जायते विजामा। अन्योभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। वि+जनी प्रादुर्भव—मनिन्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। आत्वम्। गुह्यप्रदेशे



( १६८८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७६ [ ३८१ ]

कुंसियां ( विजाम्नि ) गुह्य स्थान पर हैं [ उनको नष्ट दिया है—म० ३ ] ॥ २ ॥  
 भावार्थ—दुःखदायी रोगों को वैद्य लोग नष्ट करें ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

यः । कीकसाः । प्र-शृणाति । तलीद्यम् । अव-तिष्ठति । निः ।  
 हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥

भाषार्थ—( यः ) जो [ क्षय रोग ] ( कीकसाः ) हंसली की हड्डियों को ( प्रशृणाति ) तोड़ देता है और ( तलीद्यम् ) हथेली और तलवे के चर्म पर ( अवतिष्ठति ) जम जाता है । ( च ) और ( यः ) जो ( कः ) कोई ( ककुदि ) शिर में ( श्रितः ) ठहरा हुआ है, ( तम् ) उस ( सर्वम् ) सब ( जायान्यम् ) क्षय रोग को [ उस वैद्य ने ] ( निः ) निरन्तर ( हाः ) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य रोगों के लक्षण जान कर उचित चिकित्सा करे ॥ २ ॥

पुक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च ॥ ४ ॥

पुक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पूरुषम् ।  
 तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सु-क्षितस्य । च ॥ ४ ॥

( याः ) ( अपचितः ) ( स्वयंस्रसः )—म० १ । व्रणरूपेण स्वयं स्रवणशीलाः ॥

३—( यः ) जायान्यः ( कीकसाः ) अ० २ । ३३ । २ । जन्तुवक्षोगतास्थीनि ( प्रशृणाति ) प्रच्छिनत्ति ( तलीद्यम् ) हस्तृहहि० । उ० १ । ६७ । तल प्रतिष्ठा-  
 याम्—इतिप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । यत् ।  
 तलिति तले करतलपदतले भवं चर्म ( अवतिष्ठति ) आश्रयति ( निः ) निरन्तरम् ।  
 ( हाः ) अ० ६ । १०३ । २ । हज् नाशने—लुङ् । अहाः । अहार्षीत् । नाशितवान् ।  
 स वैद्य इति शेषः ( तम् ) ( सर्वम् ) ( जायान्यम् ) वदेरान्यः । उ० ३ ।  
 १०४ । जै क्षये—आन्य । क्षयम् । राजरोगम् ( यः ) ( कः ) ( च ) ( ककुदि )  
 अ० ३ । ४ । २ । उत्तमाङ्गे । शिरसि ( श्रितः ) अवस्थितः ॥



सू० ७६ [ ३८१ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥ ( १६८८ )

भाषार्थ—( पत्नी ) पंख वाला [ उड़ाऊ ] ( जायान्यः ) क्षयरोग ( पतति ) उड़ता है, ( सः ) वह ( पूरुषम् ) पुरुषमें ( आ विशति ) प्रवेश कर जाता है। ( तत् ) यह ( अक्षितस्य ) भीतर व्यापे हुये ( च ) और ( सुक्षतस्य ) बहुत फोड़ों वाले, ( उभयोः ) दोनों प्रकार के [ क्षयरोग ] की ( भेषजम् ) औषधि है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य भीतरी और बाहिरी लक्षणों से रोग की पहिचान कर निवृत्ति करे ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।

कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृणमो ह विगृहे ॥ ५ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।

कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृणमः । हविः । गृहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( जायान्य ) हे क्षयरोग ! ( वै ) निश्चय करके ( ते ) तेरा ( जानम् ) जन्मस्थान ( विद्म ) हम जानते हैं, ( यतः ) जहां से, ( जायान्य ) हे क्षयरोग ! ( जायसे ) तू उत्पन्न होता है। ( त्वम् ) तू ( तत्र ) वहां पर ( कथम् ह ) किस प्रकार से ही [ मनुष्य को ] ( हनः ) मार सकता है, ( यस्य ) जिसके ( गृहे ) घर में ( हविः ) ग्राह्य कर्म को ( कृणमः ) हम करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रोगों का कारण जान कर पथ्य का सेवन और कुपथ्य का त्याग करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं ॥ ५ ॥

४—( पत्नी ) पक्षवान् । शीघ्रगतिः ( जायान्यः ) म० ३ । क्षयरोगः ( पतति ) शीघ्र गच्छति ( सः ) ( आविशति ) प्रविशति ( पूरुषम् ) पुरुषम् । शरीरम् ( तत् ) ( अक्षितस्म ) अक्षू व्याप्तौ—क । अन्तर्व्याप्तस्य क्षयस्य ( भेषजम् ) औषधम् ( उभयोः ) अक्षितसुक्षतयोः ( सुक्षतस्य ) क्षण हिंसायाम्

—क । बहुव्रणयुक्तस्य ॥

५—( विद्म ) जानीमः ( वै ) अवश्यम् ( ते ) तव ( जायान्य ) म० ३ । हे क्षयरोग ( जानम् ) जन—घञ् । जन्मस्थानम् ( यतः ) यस्मात् ( जायान्य ) ( जायसे ) उत्पद्यसे ( कथम् ) केन प्रकारेण ( ह ) अवश्यम् ( तत्र ) ( त्वम् ) ( हनः ) हन्तेर्लेटि अडागमः । हन्याः पुरुषम् ( यस्य ) पुरुषस्य ( कृणमः ) कर्मः ( हविः ) ग्राह्यं पथ्यं कर्म ( गृहे ) ॥



( १६८० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११ [ ३८२ ]

धृषत् पिब कुलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसू-  
नाम् । माध्यन्दिने सर्वन् आ वृषस्व रयिस्थानो रु-  
यिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

धृषत् । पिब । कुलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्र-हा । शूर ।  
सम्-अरे । वसूनाम् । माध्यन्दिने । सर्वने । आ । वृषस्व ।  
रयि-स्थानः । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( धृषत् ) हे निर्मय ! ( शूर ) हे शूर ! ( इन्द्र ) हे परम ऐश्वर्य-  
वान् मनुष्य ! ( वसूनाम् ) धनों के निमित्त ( समरे ) युद्ध में ( वृत्रहा ) शत्रु-  
नाशक हो कर ( कुलशे ) [ संसाररूप ] कलस में [ वर्तमान ] ( सोमम् )  
अमृत रस को ( पिब ) पी । ( माध्यन्दिने ) मध्य दिन के ( सर्वने ) काल वा  
स्थान में ( आ वृषस्व ) सब प्रकार बली हो, ( रयिस्थानः ) धनों का स्थान रु-  
( रयिम् ) धन को ( अस्मासु ) हम लोगों में ( धेहि ) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि पथ्य कर्मों से स्वस्थ, बलवान् और  
मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी होकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन संवय  
करके सब को सुखी रखे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ६ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

वीराणां कर्तव्योपदेशः—वीरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

६—( धृषत् ) अधृषा प्रागल्भ्ये—शत्रु, छान्दसः शः । हे प्रगल्भ ( पिब )  
( कुलशे ) अ० ३ । १२ । ७ । संसाररूपे घटे वर्तमानम् ( सोमम् ) अमृतरसम्  
( इन्द्र ) हे परमैश्वर्यवान् जीव ( वृत्रहा ) शत्रुनाशकः ( शूर ) वीर ( समरे )  
रणे ( वसूनाम् ) धनानां निमित्ते ( माध्यन्दिने ) अ० ७ । ७२ । ३ । मध्याह्ने  
भवे ( सर्वने ) अ० ७ । ७२ । ३ । काले स्थाने वा ( आ ) सर्वतः ( वृषस्व )  
बली भव ( रयिस्थानः ) रायो धनानि तिष्ठन्ति यस्मिन्तः ( रयिम् ) धनम्  
( अस्मासु ) ( धेहि ) धार ॥



सू० ११ [ ३८२ ] सप्तमं काण्डम् ॥ १ ॥

( १६८१ )

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जु जुष्टन । अस्माकोती रि-  
शादसः ॥ १ ॥

साम्-तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन ।  
अस्माक । ऊती । रिशादसुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सांतपनाः ) हे बड़े पेश्वर्य में रहने वाले ! ( रिशादसः )  
हे हिंसकों के मारने वाले ( मरुतः ) शूर विद्वान् मनुष्यो ! ( अस्माक ) हमारी  
( ऊती ) रक्षा के लिये ( इदम् ) इस और ( तत् ) उस ( हविः ) ग्रहणयोग्य  
योग्य कर्म का ( जुजुष्टन ) स्वीकार करो ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी विद्वान् मनुष्य प्रजा की पुकार को सब प्रकार  
सुनकर रक्षा करें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २० । १ । से करो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । ५६ । ६ ।

यो नो मर्ता मरुतो दुर्हणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो  
जिघासति । द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन  
तपसा हन्तनो तम् ॥ २ ॥

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुः-हुणायुः । तिरः । चित्तानि ।  
वसवः । जिघासति । द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् ।  
सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तनु । तम् ॥ २ ॥

१—(सांतपनाः) सम् + तप पेश्वर्ये—ल्युट् । तत्र भवः । पा० ४ । ३ । ५३ ।  
अण । सांतपने पूर्वपेश्वर्ये भवा वर्तमानाः ( इदम् ) समीपस्थम् ( हविः ) ग्राह्यं  
कर्म ( मरुतः ) अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । ऋत्विजः—नि० ३ । १८  
( तत् ) दूरस्थम् ( जुजुष्टन ) जुषते शपः श्लुः, तस्य तनादेशश्च । स्वीकुरुत  
( अस्माक ) अस्माकम् ( ऊती ) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्षादीर्घः । ऊतये रक्षार्थम्  
( रिशादसः ) अ० २ । २८ । २ । हिंसकानां हिंसकाः ॥



( १६८२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७७ [ ३८२ ]

भाषार्थ—( वसवः ) हे वसाने वाले ( मरुतः ) शूरो ! ( यः ) जो ( दुर्हणायुः ) अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ ( मर्तः ) मनुष्य ( चित्तानि ) हमारे चित्तों के ( तिरः ) आड़े होकर ( नः ) हमें ( जिघांसति ) मारना चाहता है । ( सः ) वह [ हमारे लिये ] ( द्रुहः ) द्रोह [ अनिष्ट ] के ( पाशान् ) फन्दों को ( प्रति ) प्रत्यक्ष ( मुञ्चताम् ) छोड़ देवे, ( तम् ) उसे ( तपिष्ठेन ) अत्यन्त तपाने वाले ( तपसा ) ऐश्वर्य वा तुपक आदि हथियार से ( हन्तन ) मार डालो ॥२॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन करें ॥२॥  
यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७।५६।८ ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः । ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सुरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सुस्वत्सरीणाः । मरुतः । सु-अर्काः । उरु-क्षयाः । स-गणाः । मानुषासः । ते । अस्मत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्-तपनाः । मत्सुराः । मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( संवत्सरीणाः ) पूरे निवास काल तक [जीवन भर] प्रार्थना किये गये, ( स्वर्काः ) बड़े बज्रों वाले ( उरुक्षयाः ) बड़े घरों वाले, ( सगणाः )

२—( यः ) ( नः ) अस्मान् ( मर्तः ) मनुष्यः ( मरुतः ) हे शूरगणाः ( दुर्हणायुः ) दृणीयते क्रुध्यतिकर्मा-निघ० २।१२। दृणीङ् रोषणे लज्जायां च-क। छन्दसीणः । उ० १। २। दृण + इण् गतौ—जुण् । दुर्हणं दुष्टं क्रोधं गतः । प्राप्तक्रोधः ( तिरः ) तिरस्कृत्य । उल्लङ्घ्य ( चित्तानि ) अन्तःकरणानि ( वसवः ) हे वासयितारः ( जिघांसति ) हन्तुमिच्छति ( द्रुहः ) द्रोहस्य । अनिष्टस्य ( पाशान् ) बन्धान् ( प्रति ) प्रत्यक्षम् ( मुञ्चताम् ) त्यजतु ( सः ) शत्रुः ( तपिष्ठेन ) तापयितृत्वेन ( तपसा ) ऐश्वर्येण तापकेनायुधेन वा ( हन्तन ) तस्य तनप् । इत ॥

३—(संवत्सरीणाः) संपूर्वाचित् । उ० ३।७२। सम्+वस निवासे-सरन् । सः स्यार्धधातुके । पा० ७।४।४६। सस्य तत्वम् । संपरिपूर्वादि स



सू० ७८ [ ३८३ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८३ )

सेनाओं वाले, ( मानुषासः ) मनन शील ( मरुतः ) शूर पुरुष हैं । ( ते ) वे ( सांतपनाः ) बड़े ऐश्वर्य वाले, ( मत्सराः ) प्रसन्न रहने वाले, ( मादयिष्णवः ) प्रसन्न रखने वाले पुरुष ( अस्मत् ) हम से ( एनसः ) पाप के ( पाशान् ) फन्दों को ( प्र मुञ्चन्तु ) छुड़ा दें ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे शूर वीर पुरुष धन्य हैं जो प्रसन्नता से पुरुषार्थ करके सब को क्लेशों से छड़ा कर सुखी करते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-२ अग्निदेवता ॥ १स्वराड् गायत्री; २ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ।

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।

इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । नि-योजनम् । इह । एव । त्वम् । अजस्रः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे आत्मा ! ] ( ते ) तेरी । ( रशनाम् ) रसरी को, ( योक्त्रम् ) जोते वा डोरी को और ( नियोजनम् ) बन्धन गांठ को ( वि ) विशेष करके ( वि ) विविध प्रकार ( वि मुञ्चामि ) मैं खोलता हूँ । ( अग्ने ) हे अग्नि [ स-

च । पा० ५ । १ । ६२ । संवतसर—ख, अधीष्टार्थे । सम्बत्सरं सम्यग् निवास-कालमधीष्टाः प्रार्थिताः ( मरुतः )—म० १ । शूराः ( स्वर्काः ) अ० ७ । २४ । १ सुवज्रिणः ( उरुक्षयाः ) क्षि निवासगत्योरैश्वर्ये च विस्तीर्णगृहाः ( सगणाः ) सैन्यैः सहिताः ( मानुषासः ) अ० ४ । १४ । ५ । असुक् । मनुर्मनंत येषां ते ( ते ) मरुतः ( अस्मत् ) अस्मत्तः ( पाशान् ) बन्धान् ( प्र ) ( मुञ्चन्तु ) मोचयन्तु ( एनसः ) पापस्य ( सांतपनाः )—म० १ । पूर्णैश्वर्यवन्तः ( मत्सराः ) अ० ४ । २५ । ६ । मदी हर्षे—सरन् । हृष्टाः । प्रसन्नाः ( मादयिष्णवः ) ऐश्वर्यवन्तः । पा० ३ । २ । १३७ । मादयते—इष्टुञ्च । हर्षकराः ॥

१—( वि मुञ्चामि ) वियोजयामि ( ते ) तव ( रशनाम् ) आध्यात्मिक-क्लेशरूपां रज्जुम् ( वि ) विशेषेण ( योक्त्रम् ) अ० ३ । ३० । ६ । आधिभौतिक-रूपं बन्धनसाधनम् ( इह ) अस्मिन् संसारे ( एव ) निश्चयेन ( त्वम् ) आत्मा



( १६८४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७८ [ ३८३ ]

मान बलवान् आत्मा ! ] ( इह ) यहां पर ( एव ) ही ( त्वम् ) तू ( अजस्रः ) दुःख रहित होकर ( एधि ) रह ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी योगी जन तीन गाठों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं, वे संसार में रह कर सब को सुखी रखते हैं ॥ २ ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनजिम त्वा ब्रह्मणा दै-  
व्येन । दीदिहि १ अस्मभ्यं द्रविणे ह भद्रं प्रेमं वोचो हवि-  
र्दा देवतासु ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनजिम । त्वा ।  
ब्रह्मणा । दैव्येन । दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह ।  
भद्रम् । प्र । इमम् । वोचः । हविः-दास् । देवतासु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ तुल्य पराक्रमी आत्मा ! ] ( अस्मै ) इस [ प्राणी ] के लिये ( क्षत्राणि ) अनेक बलों को ( धारयन्तम् ) धारण करने वाले ( त्वा ) तुझको ( दैव्येन ) परमेश्वर से पाये हुये ( ब्रह्मणा ) वेदज्ञान से ( युनजिम ) मैं नियुक्त करता हूं । ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये ( इह ) यहां पर ( द्रविणा ) अनेक धन ( भद्रम् ) आनन्द से ( दीदिहि ) प्रकाशित कर, ( इमम् ) इस [ मनुष्य ] को ( देवतासु ) विद्वानों के बीच ( हविर्दाम् ) देने योग्य पदार्थ

( अजस्रः ) नभिकम्पिस्म्यजस्रकमहिंसदीपो रः । पा० ३ । २ । १६७ । नञ् + जसु हिंसायाम्-रप्रत्ययः । अहिंसितः ( एधि ) भव ( अग्ने ) अग्निवद् बलवन्नात्मन् ॥

२—( अस्मै ) प्राणिने ( क्षत्राणि ) अ० २ । १५ । ४ । बलानि ( धारयन्तम् ) धरन्तम् ( अग्ने ) अग्नितुल्यपराक्रमिन्नात्मन् ( युनजिम ) योजयामि ( त्वा ) त्वाम् ( ब्रह्मणा ) वेदज्ञानेन ( दैव्येन ) अ० २ । २ । २ । परमेश्वर सम्बद्धेन ( दीदिहि ) अ० २ । ६ । १ । अन्तर्गतण्यर्थः । संदोषय ( अस्मभ्यम् ) ( द्रविणा ) अ० २ । २६ । ३ । धनानि ( इह ) अस्मिन् संसारे ( भद्रम् ) यथा तथा सुखेन ( प्र ) प्रकर्षेण ( वोचः ) लुब्धिरूपम् । अशोचः । सूचितवानसि



सू० ७८ [ ३८४ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८५ )

का देने वाला ( प्रवोचः ) तू ने सूचित किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य योगाभ्यास आदि शुभ गुणों से अपने बलों को बढ़ा कर परोपकारी हो कर कीर्ति बढ़ावे ॥ २ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-४ ॥ अमावास्या देवता ॥ १. ३४ त्रिष्टुप्; २ विराट् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो  
महित्वा । तेन नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रुयि नो  
धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

यत् । ते । देवाः । अकृण्वन् । भाग- धेयम् । अमा-वास्ये ।  
संव-सन्तः । म-हित्वा । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि ।  
विश्व-वारे । रुयिम् । नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अमावास्ये ) हे अमावास्या ! [सब के साथ बसी हुई शक्ति परमेश्वर !] ( यत् ) जिस कारण से ( ते ) तेरी ( महित्वा ) महिमा से ( संवसन्तः ) यथावत् बसते हुये ( देवाः ) विद्वानों ने ( भागधेयम् ) अपना सेवनीय काम ( अकृण्वन् ) किया है । ( तेन ) उसीसे, ( विश्ववारे ) हे सब से स्वीकार करने योग्य शक्ति ! ( नः ) हमारे ( यज्ञम् ) यज्ञ [ पूजनीय व्यवहार ] को ( पिपृहि ) पूरा कर, ( सुभगे ) हे बड़े परेश्वरवाली ! ( नः ) हमें ( सुवी-

( हविर्दाम् ) ददातेः—द्विप् । दातव्यस्य दाताराम् ( देखतासु ) बिद्वत्सु ॥

१—( यत् ) यस्मात्कारणात् ( ते ) तव ( देवाः ) विद्वांसः ( अकृण्वन् ) कृचि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकुर्वन् ( भागधेयम् ) सेवनीय व्यवहारम् ( अमावास्ये ) अमावस्यदन्यतरस्याम् । पा० १ । १ । १२२ । अमा + वस आच्छादने निवासे च—एयत्, टाप् । अमा सर्वैः सह वसति सा अमावास्या तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वैः सह निवासशीले शक्ते परमात्मन् ( संवसन्तः ) वस-शतृ ।



( १६८६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ७८ [ ३८४ ]

१२) बड़े वीरों वाला ( रयिम् ) धन ( धेहि ) दान कर ॥ १ ॥

भाषार्थ—इस मन्त्र में ( अमावस्ये, संवसन्तः ) पद [ वस-रहना, ढांकना ] धातु से बने हैं । विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में आश्रय लेकर सृष्टि के सब पदार्थों से उपकार करके सब को वीर, पुरुषार्थी और धनी बनावें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका—अ० ७।२०।४ ॥

अहमे वास्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।  
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्तु सर्वे ॥ २ ॥  
अहम् । एव । अस्मि । अमा-वास्या । माम् । आ । वसन्ति ।  
सु-कृतः । मयि । इमे । मयि । देवाः । उभये । साध्याः ।  
च । इन्द्र-ज्येष्ठाः । सम् । अगच्छन्तु । सर्वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अहम् ) मैं ( एव ) ही ( अमावास्या ) अमावास्या [ सबके साथ बसी हुई शक्ति ] ( अस्मि ) हूं, ( मयि ) मुझ में [ वर्तमान होकर ] ( इमे ) यह सब ( सुकृतः ) सुकर्मी लोग ( माम् ) लक्ष्मी में ( आ वसन्ति ) यथावत् वास करते हैं । ( मयि ) मुझ में ( उभये ) दोनों प्रकार के ( सर्वे ) सब ( देवाः ) दिव्य पदार्थ अर्थात् ( साध्याः ) साधने योग्य [ स्थावर ] ( च और ( इन्द्रज्येष्ठाः ) जीव को प्रधान रखने वाले [ जंगम ] पदार्थ ( सम्-समेत्य ) मिलकर ( आगच्छन्तु ) प्राप्त हुये हैं ॥ २ ॥

सम्यग् निवसन्तः ( महित्वा ) अ० ४।२।२। महत्त्वेन । अन्यद्गतम्—अ० ७।२०।४ ॥

२—( अहम् ) परमेश्वरः ( एव ) ( अस्मि ) ( अमावास्या ) म० १।सर्वैः सह निवासशीला शक्तिः ( माम् ) इन्द्रिा लोकमाता मा—अमरः १।२६। लक्ष्मीष ( आ वसन्ति ) उपान्वध्याङ्वसः । पा० १।४।४८। अधिकरणस्य कर्मता । समन्ताद् अवतिष्ठन्ते ( सुकृतः ) सुकर्माणः ( मयि ) ( देवाः ) दिव्यपदार्थाः ( उभये ) अ० ४।३१।६। द्विविधाः, चराचराः ( साध्याः ) अ० ७।५।१। साधनीयाः । स्थावराः ( इन्द्रज्येष्ठाः ) जीवप्रधानाः । जङ्गमाः ( सम् ) समेत्य ( अगच्छन्तु ) प्राप्तवन्तः ( सर्वे ) समस्ताः ॥



सू० ७८ [ ३८४ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १६८७ )

भाषार्थ—इस मन्त्र में ( अमावास्या, वसन्ति ) पद [ वस-रहना, ढांकना ] धातु से बने हैं । परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि वह अन्तर्यामी होकर समस्त, चर और अचर संसारको अपने वश में रखता है॥२॥

धृज्वेद अ० ४० म० १ में ऐसा वचन है ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ॥

( इदम् सर्वम् ) यह सब, ( यत् किञ्च ) जो कुछ ( जगत्याम् ) सृष्टि में ( जगत् ) जगत् है, ( ईशा ) ईश्वर से ( वास्यम् ) बसा हुआ है ॥

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वविशयन्ती । अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

आ । अगन् । रात्री । सु-गमनी । वसूनाम् । ऊर्जम् । पुष्टम् । वसु । आ-वे-शयन्ती । अमा-वास्यायै । हविषा । विधेम । ऊर्जम् । दुहाना । पयसा । नः । आ । अगन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( वसूनाम् ) निवास स्थानों [ लोकों ] का ( संगमनी ) संयोग करने वाली, ( ऊर्जम् ) पराक्रम और ( पुष्टम् ) पोषण और ( वसु ) धन ( आवेशयन्ती ) दान करती हुई ( रात्री ) सुख देने वाली शक्ति ( आ अगन् ) आई है । ( अमावास्यायै ) उस अमावास्या [ सब के साथ वास करने वाली शक्ति, परमेश्वर ] को ( हविषा ) आत्मदान [ पूरण भक्ति ] से ( विधेम ) हम पूजें, ( ऊर्जम् ) पराक्रम को ( पयसा ) ज्ञान के साथ ( दुहाना ) पूरण करती हुई वह ( नः ) हमें ( आ अगन् ) प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥

३—( आ अगन् ) अ० २ । ६ । ३ । आगता ( रात्री ) अ० १ । १६ । १ । रा दाने—त्रिप्, डीप् । सुखदात्री ( संगमनी ) संयोजयित्री ( वसूनाम् ) निवास-स्थानानां लोकानाम् ( ऊर्जम् ) पराक्रमम् ( पुष्टम् ) पोषणम् ( वसु ) धनम् ( आवेशयन्ती ) प्रयच्छन्ती ( अमावास्यायै )—म० १ । सर्वैः सह निवास-शीलायै ( हविषा ) आत्मदानेन ( विधेम ) परिचरेम ( ऊर्जम् ) ( दुहाना ) प्रपूरयन्ती ( पयसा ) पयगतौ—असुन । ज्ञानेन ( नः ) अस्मान् ( आ अगन् ) ॥



भावार्थ—इस मन्त्र में ( अमावास्यायै, वसूताम्, वसु ) पद [ वस रहना ] धातु से बने हैं । जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से पुरुषार्थ और भक्तिके साथ उपकार लेते हैं, वे ही ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

अमावास्यायै न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभू-  
जं जान । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम  
पतयोर्यीणाम् ॥ ४ ॥

अमा-वास्यायै । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।  
परि-भूः । जजानु । यत्-कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः ।  
अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । र्यीणाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—( अमावास्या ) हे अमावास्या ! [ सब के साथ निवास करने वाली शक्ति, परमेश्वर ! ] ( त्वत् ) तुझ से ( अन्यः ) दूसरे किसी ने ( परिभूः ) व्यापक होकर ( पतानि ) इन ( विश्वा ) सब ( रूपाणि ) रूपवाले [ आकार वाले ] पदार्थों को ( न ) नहीं ( जजान ) उत्पन्न किया है । ( यत्कामाः ) जिस वस्तु की कामना वाले हम ( ते ) तेरा ( जुहुमः ) स्वीकार करते हैं, ( तत् ) वह ( नः ) हमारे लिये ( अस्तु ) होवे, ( वयम् ) हम ( र्यीणाम् ) अनेक धनों के ( पतयः ) स्वामी ( स्याम ) बने रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही अनुपम, सर्वशक्तिमान् और सब सृष्टि का कर्ता है, उसी की शरण लेकर विद्या सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १२१ । १० । और यजुर्वेद—  
अ० २३ । ६५ ॥

४—( अमावास्या )—म० १ । सर्वैः सह निवासशीले ( न ) निषेधे ( त्वत् ) त्वत्तः ( पतानि ) दृश्यमानानि ( अन्यः ) भिन्नः ( विश्वा ) सर्वाणि ( रूपाणि ) मूर्तानि वस्तूनि ( परिभूः ) भू प्राप्तौ—क्विप् । व्यापकः ( जजान ) जन जनने-  
लिट् । उत्पादयामास ( यत्कामाः ) यद्वस्तु कामयमानाः ( ते ) तव ( जुहुमः ) हु दानादानयोः । स्वीकारं कुर्मः ( तत् ) कमनीयं वस्तु ( नः ) असमर्थम् ( अस्तु ) ( वयम् ) ( स्याम ) भवेम ( पतयः ) स्वामिनः ( र्यीणाम् ) धनानाम् ॥



सूक्तम् ८० ॥

१-४ ॥ पौर्णमासी देवता ॥ १, ३, ४. त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

पुर्णा पश्चादुत पुर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी  
जिगाय । तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे  
समिषा मदेम ॥ १ ॥

पुर्णा । पश्चात् । उत । पुर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः ।  
पौर्ण-मासी । जिगाय । तस्याम् । देवैः । सम्-वसन्तः । महि-  
त्वा । नाकस्य । पृष्ठे । सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—( पश्चात् ) पीछे ( पूर्णा ) पूर्णा, ( पुरस्तात् ) पहिले ( उत )  
और ( मध्यतः ) मध्य में ( पूर्णा ) पूर्ण ( पौर्णमासी ) पौर्णमासी [ सम्पूर्ण  
परिमेय वा आकारवान् पदार्थों की आधारशक्ति, परमेश्वर ] ( उत् जिगाय ) सब  
से उत्कृष्ट हुई है । ( तस्याम् ) उस [ शक्ति ] में ( देवैः ) उत्तम गुणों और  
( महित्वा ) महीमा के साथ ( संवसन्तः ) निवास करते हुये हम ( नाकस्य )  
सुख की ( पृष्ठे ) ऊँचाई पर [ वा सिंचाई में ] ( इषा ) पुरुषार्थ से ( सम् )  
यथावत् ( मदेम ) आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—( पूर्णा ) समग्रा ( पश्चात् ) सृष्टेः पश्चात् ( उत ) अपि ( पूर्णा )  
( पुरस्तात् ) सृष्टेः प्राक् ( उत् ) उत्तमतया ( मध्यतः ) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ।  
पा० ५ । ३ । १४ । इति सप्तम्यर्थे तसिल् । मध्ये । सृष्टिकाले ( पौर्णमासी )  
सर्वधातुरयोऽसुन् । उ० ४ । १८६ । माङ् माने—असुन् । सास्मिन्पौर्णमासीति ।  
पा० ४ । २ । २१ । इति पूर्णमास-अण् । पूर्णाः सम्पूर्णा मासः परिच्छेद्याः पदार्था  
यस्मिन् स पौर्णमासः, स्त्रियां ङीप् । सम्पूर्णपरिच्छेद्यपदार्थाधारा शक्तिः पर-  
मेश्वरः ( जिगाय ) उत्कृष्टा बभूव ( तस्याम् ) पौर्णमास्याम् ( देवैः ) उत्तम-  
गुणैः ( संवसन्तः ) सम्यग् निवसन्तः ( महित्वा ) अ० ४ । २ । २ । महिम्ना  
( नाकस्य ) सुखस्य ( पृष्ठे ) पृष्ठु सेचने-यक् । उपरिभागे सेचने वा ( सम् )  
सम्यक् ( इषा ) इष गतौ—किप् । उपायेन ( मदेम ) हृज्ये ॥



भाषार्थ—परमेश्वर सृष्टि से पहिले और पीछे और मध्य में वर्तमान और सर्वोत्कृष्ट है, उसी के आभय से मनुष्य उत्तम गुणी होकर मोक्ष सुख प्राप्त करे ॥ १ ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।

स नो ददात्वक्षितां रुयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्ण-मासम् । यजामहे । सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रुयिम् । अनुप-दस्वतीम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( वयम् ) हम लोग ( वृषभम् ) सर्वश्रेष्ठ, ( वाजिनम् ) महाबलवान् ( पौर्णमासम् ) पौर्णमास [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों के आधार परमेश्वर] को ( यजामहे ) पूजते हैं । ( सः ) वह ( नः ) हमें ( अक्षिताम् ) बिना घटी हुई और ( अनुपदस्वतीम् ) बिना घटने वाली ( रुयिम् ) सम्पत्ति ( ददातु ) देवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके पुरुषार्थ के साथ पेश्वर्यवान् होवें ॥ २ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रुपाणि परिभूज-  
जान । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतये  
रयोणाम् ॥ ३ ॥

प्रजा-पते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रुपाणि । परि-भूः । जुजानु । यत्-कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयोणाम् ॥ ३ ॥

२—( वृषभम् ) अ० ४।५।१ । सर्वश्रेष्ठम् ( वाजिनम् ) महाबलि-  
नम् ( वयम् ) ( पौर्णमासम् )—म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारं परमेश्वरम्  
( यजामहे ) पूजयामः ( सः ) पौर्णमासः ( नः ) अस्मभ्यम् ( ददातु ) ( अक्षि-  
ताम् ) अक्षीणाम् ( रुयिम् ) सम्पत्तिम् ( अनुपदस्वतीम् ) उपभोगोऽपि  
क्षयरहिताम् ॥



भाषार्थ—( प्रजापते ) हे प्रजापालक परमेश्वर ! ( त्वत् ) तुझ से ( अन्यः ) दूसरे किसी ने ( परिभूः ) व्यापक हो कर ( पतानि ) इन ( विश्वा ) सब ( रूपाणि ) रूपवाले [ आकार वाले ] पदार्थों को ( न ) नहीं ( जजान ) उत्पन्न किया है । ( यत्कामाः ) जिस वस्तु की कामना वाले हम ( ते ) तेरा ( जुहुमः ) स्वीकार करते हैं, ( तत् ) वह ( नः ) हमारे लिये ( अस्तु ) होवे, ( वयम् ) हम ( रयीणाम् ) अनेक धनों के ( पतयः ) स्वामी ( स्याम ) बने रहें ॥३

भावार्थ—यह मन्त्र अ० ७ । ७६ । ४ । में आ चुका है, ( अमावास्या ) के स्थान पर यज्ञं ( प्रजापते ) पद है, भावार्थ समान है ॥ ३ ॥

३—( प्रजापते ) हे प्रजापालक । अन्यद्गतम्—अ० ७ । ७६ । ४ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्ना रात्रीणामतिशर्व-  
रेषु । ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाकं सुकृतः  
प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्ण-मासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्री-  
णाम् । अति-शर्व-रेषु । ये । त्वाम् । यज्ञैः । पृच्छिये । अर्ध-  
यन्ति । अमी इति । ते । नाकं । सु-कृतः । प्र-विष्टाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( पौर्णमासी ) पौर्णमासी [ सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों की आ-  
धार शक्ति ] ( अह्नाम् ) दिनों के बीच और ( रात्रीणाम् ) रात्रियों के ( अति-  
शर्वरेषु ) अत्यन्त अन्धकारों में ( प्रथमा ) पहिली ( यज्ञिया ) पूजा योग्य ( आ-  
सीत् ) हुई है । ( यज्ञिये ) हे पूजायोग शक्ति ! ( ये ) जो ( त्वाम् ) तुम्हें ( यज्ञैः )  
पूजनीय व्यवहारों से ( अर्धयन्ति ) पूजते हैं, ( अमी ) यह सब [ वर्तमान ]  
और ( ते ) वे [ आगे और पीछे होने वाले ] ( सुकृतः ) सुकर्म लोग ( नाकं )

४—(पौर्णमासी)—म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारा शक्तिः ( प्रथमा )  
आद्या ( यज्ञिया ) पूजार्हा ( अह्नाम् ) दिनानां मध्ये ( रात्रीणाम् ) ( अतिशर्वेषु )  
कृ गृ शू वृञ्चतिभ्यः स्वरच् । उ० २ । १२१ । शू हिंसायाम्—स्वरच् । शर्वरं  
तमः । अत्यन्तान्धकारेषु ( ये ) मनुष्याः ( त्वाम् ) पौर्णमासीम् ( यज्ञैः ) पूज-  
नीयैः कर्मभिः ( यज्ञिये ) पूजार्हं ( अर्धयन्ति ) ऋधु वृद्धौ—णिच् । वर्धयन्ति ।  
अर्चन्ति ( अमी ) इदानीतनाः ( ते ) दूरस्थाः । भूते भविष्यति च भवाः ( नाकं )



आनन्द में ( प्रविष्टाः ) प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि और प्रलय से अनादि और अनन्त है, उसकी पूजा करके सब मनुष्य आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-६ ॥ ॥ १ सोमार्की; २-६ चन्द्रमा देवता ॥ १ जगती; ३, ६ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः; ५ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती ॥

सूर्यचन्द्रलक्षणोपदेशः—सूर्य, चन्द्रमा लक्षणों का उपदेश ॥

पूर्वापरं चरतो माययै तौ शिशु क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् । विश्वान्यो भुवना विचष्टे अर्णवतून् अन्यो विदधे जायसे नवः ॥ १ ॥

पूर्व अपरम् । चरतः । मायया, एतौ । शिशु इति । क्रीडन्तौ । परि । यातः । अर्णवम् । विश्वा । अन्यः । भुवना । वि-चष्टे । अर्णवम् । अन्यः । वि-दधत् । जायसे । नवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( एतौ ) यह दोनों [ सूर्य, चन्द्रमा ] ( पूर्वापरम् ) आगे पीछे ( मायया ) बुद्धि से [ ईश्वर नियम से ] ( चरतः ) विचरते हैं, ( क्रीडन्तौ ) खेलते हुये ( शिशू ) [ माता पिता के दुःख हटाने वाले ] दो बालक [ जैसे ] ( अर्णवम् ) अन्तरिक्ष में ( परि ) चारों ओर ( यातः ) चलते हैं । ( अन्यः ) एक [ सूर्य ] ( विश्वा ) सब ( भुवना ) भुवनों को ( विचष्टे ) देखता है;

सुखे ( सुकृतः ) सुकर्मणः ( प्रविष्टाः ) स्थिता भवन्ति ॥

१—( पूर्वापरम् ) यथा तथा, पूर्वापरपर्यायेण ( चरतः ) विचरतः ( मायया ) ईश्वरप्रज्ञया ( एतौ ) सूर्याचन्द्रमसौ ( शिशू ) शिशुः शंखनीयो भवति शिशूतिर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति—निरु० १० । ३६ । शः कित् सन्वच्च । उ० १ । २० । शो तनूकरणे—उ प्रत्ययः, श्यात् पित्रोर्दुःखानीति शिशुः । बालकौ यथा ( क्रीडन्तौ ) विहरन्तौ ( परि ) सर्वतः ( यातः ) गच्छतः ( अर्णवम् ) अ० १ । १० । ४ । समुद्रम् । अन्तरिक्षम् ( विश्वा ) सर्वाणि



सू० ८१ [ ३८६ ]

सप्तमं कारकम् ॥ ७ ॥

( १७७३ )

( अन्यः ) दूसरा तू [ चन्द्रमा ] ( ऋतून् ) ऋतुओं को [ अपनी गति से ] ( विदधत् ) बनाता हुआ [ शुक्ल पक्ष में ] ( नवः ) नवीन ( जायसे ) प्रगट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से आकाश में घूमते हैं और सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को प्रकाश पहुंचाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आरम्भ से एक एक कला बढ़कर वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १०। ८५। १८, १९ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्वाग्रम् ।  
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घ-  
मायुः ॥ २ ॥

नवः-नवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् ।  
एषि । अग्रम् । भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आ-यन् ।  
प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भावार्थ—( चन्द्रमः ) हे चन्द्रमा ! तू [ शुक्लपक्ष में ] ( नवोनवः ) नया नया ( जायमानः ) प्रकट होता हुआ ( भवसि ) रहता है, और ( अह्नाम् ) दिनों का ( केतुः ) जताने वाला तू ( उषसाम् ) उषाओं [ प्रभातवेलाओं ] के ( अग्रम् ) आगे ( एषि ) चलता है। और ( आयन् ) आता हुआ तू ( देवेभ्यः ) उत्तम पदार्थों को ( भागम् ) सेवनीय उत्तम गुण ( वि दधासि ) विविध प्रकार

( अन्यः ) सूर्यः ( भुवना ) चन्द्रादिलोकान् ( विचष्टे ) विविधं पश्यति । प्रकाशयति ( ऋतून् ) वसन्तादिकालान् ( अन्यः ) चन्द्रमाः ( विदधत् ) कुर्वन् ( जायसे ) प्रादुर्भवसि ( नवः ) नवीनः शुक्लपक्षे ॥

२—( नवोनवः ) पुनःपुनरभिनवः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु, एकैककला-  
वृद्ध्या ( भवसि ) ( जायमानः ) प्रादुर्भवन् ( अह्नाम् ) चान्द्रतिथीनाम् ( केतुः )  
केतयिता आपयिता ( उषसाम् ) प्रभातवेलानाम् ( एषि ) प्राप्नोषि ( अग्रम् )  
पुरोगतिम् ( भागम् ) सेवनीयमुत्तमं गुणम् ( देवेभ्यः ) दिव्यपदार्थेभ्यः ( वि )  
विविधम् ( दधासि ) ददासि ( आयन् ) आगच्छन् प्रादुर्भवन् ( प्र ) प्रकर्षेण



( १७०४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८१ [ ३८६ ]

देता है, और ( दीर्घम् ) लम्बे ( आयुः ) जीवन काल को ( प्र ) अच्छे प्रकार ( तिरसे ) पार लगाता है ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है और दिनों, अर्थात् प्रतिपदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता है। और पृथिवी के पदार्थों में जीवन शक्ति देकर पुष्टिकारक होता है ॥ २ ॥

भगवान् यास्क का मत है—निरु० ११। ६। “नया नया प्रकट होता हुआ”—यह शुक्लपक्ष के आरम्भ से अभिप्राय है। दिनों को जताने वाला उषाओं के आगे चलता है, यह कृष्णपक्ष की समाप्ति से अभिप्राय है। कोई कहते हैं कि दूसरा पाद सूर्य देवता का है ॥”

सोमस्यांशो युधां पतेऽनू'नो नाम वा असि ।

अनू'नं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य । अंशो इति । युधाम् । पते । अनू'नः । नाम । वै । असि । अनूनम् । दुर्श । मा । कृधि । प्र-जया । च । धनेन । च ॥

भाष्यार्थ—( सोमस्य ) हे अमृत के ( अंशो ) बांटने वाले । ( युधाम् ) हे युद्धों के ( पते ) स्वामी । ( वै ) निश्चय करके तू ( अनूनः ) न्यूनता रहित [ सम्पूर्ण ] ( नाम ) प्रसिद्ध ( असि ) है । ( दर्श ) हे दर्शनीय । ( मा ) मुझको ( प्रजया ) प्रजा से ( च च ) और ( धनेन ) धन से ( अनूनम् ) सम्पूर्ण ( कृधि ) कर ॥ ३ ॥

( चन्द्रमः ) अ० ५। २४। १०। हे चन्द्र ( तिरसे ) पारयसे ( दीर्घम् ) अ० १। ३५। २। लम्बमानम् ( आयुः ) जीवनकालम् ।

३—( सोमस्य ) अमृतस्य । जीवनसाधनस्य ( अंशो ) अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा—निरु० २। ५। मृगय्वादयश्च । उ० १। ३७। अंश विभाजने—कु । अंशुः=सोमो विभागो विभक्ता वा । हे विभाजयितः ( युधाम् ) युद्धानां पार्थिवजलस्याकर्षणानाम्, यथा ग्रहतारागणानामुल्लेखदियुद्धानाम्, सूर्यसिद्धान्ते—अ० ७। श्लोक १८-२३ ( पते ) स्वामिन् ( अनूनः ) ऊन परिहाणे—क । न्यूनतारहितः । सम्पूर्णकलः ( नाम ) प्रसिद्धौ ( वै ) निश्चयेन ( असि ) ( अनूनम् ) सम्पूर्णं समुद्रम् ( दर्श ) दृश—घञ् । हे दर्शनीय । पूर्ण



भावार्थ—पूर्ण चन्द्रमा अमृत का बांटने वाला इस लिये है कि उसकी किरणों से पार्थिव पदार्थों और प्राणियों में पोषण शक्ति पहुँचती है। और युद्धों का स्वामी इस कारण है कि पौर्णमासी को पार्थिव समुद्र का जल चन्द्रमा की ओर लहराता है, अथवा उल्लेखादि युद्धों अर्थात् ग्रह और तारा गणों के परस्पर निकट हो जाने वा टकरा जाने का काल चन्द्रमा की गति से निर्णय किया जाता है—देखो सूर्यसिद्धान्त, अध्याय ७। श्लोक १८-२३। मनुष्यपौष्टिक पदार्थों से उपकार लेकर प्रजावान् और धनवान् होवें ॥ ३ ॥

दुर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः। समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजयां पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥

दुर्शः। असि। दर्शतः। असि। सम-अग्रः। असि। सम-अन्तः। सम-अग्रः। सम-अन्तः। भूयासम्। गोभिः। अश्वैः। प्र-जयां। प-शुभिः। गृहैः। धनेन ॥ ४ ॥

भावार्थ—[ चन्द्र ! ] तू ( दर्शः ) दर्शनीय ( असि ) है, ( दर्शतः ) देखने का साधन ( असि ) है, ( समग्रः ) सम्पूर्ण गुण वाला, और ( समन्तः ) सम्पूर्ण कला वाला, ( असि ) है। ( गोभिः ) गोओं से, ( अश्वैः ) घोड़ों से, ( पशुभिः ) अन्य पशुओं से, ( प्रजया ) सन्तान भृत्य आदि प्रजा से, ( गृहैः ) घरों से ( धनेन ) और धन से ( समग्रः ) सम्पूर्ण और ( समन्तः ) परिपूर्ण ( भूयासम् ) मैं रहूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र संसार का उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्य सब विधि से परिपूर्ण होकर परस्पर सहायक रहें ॥ ४ ॥

चन्द्र ( मा ) माम् ( कृधि ) कुरु ( प्रजया ) सन्ततिभृत्यादिना ( च च ) समु-  
च्चये ( धनेन ) ॥

४—( दर्शः )—म० ३। दर्शनीयः ( असि ) भवसि ( दर्शतः ) अ० ४।  
१०। ६। पश्यति येन सः। सूर्यः। चन्द्रः ( समग्रः ) सम्पूर्ण गुणः ( समन्तः )  
पूर्ण कलाः ( समग्रः ) संपूर्णः ( समन्तः ) समृद्धः ( गोभिः ) अश्वैः ( प्रजया )  
( पशुभिः ) हस्तिमहिषीमेवादभिः ( गृहैः ) ( धनेन ) ॥



यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना  
प्यायस्व । आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया  
पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । यस्य । त्वम् ।  
प्राणेन । आ । प्यायस्व । आ । वयम् । प्याशिषीमहि । गोभिः ।  
अश्वैः । प्र-जया । पशु-भिः । गृहैः । धनेन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( यः ) जो मनुष्य ( अस्मान् ) हम से ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है,  
और ( यम् ) जिस से ( वयम् ) हम ( द्विष्मः ) विरोध करते हैं, ( त्वम् ) तू  
[ हे चन्द्र ! ] ( तस्य ) उसको ( प्राणेन ) प्राण से ( आप्यायस्व ) वियुक्त कर ।  
( वयम् ) हम लोग ( गोभिः ) गौओं से, ( अश्वैः ) घोड़ों से, ( पशुभिः )  
[ हाथी भैंस भेड़ आदि ] अन्य पशुओं से, ( प्रजया ) सन्तान भृत्य आदि  
से, ( गृहैः ) घरों से, और ( धनेन ) धन से ( आ ) सब प्रकार ( प्याशिषी-  
महि ) बढ़े ॥ ५ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा आदि के उत्तम गुण कुव्यवहार से दुःखदायक  
और सुव्यवहार से सुखदायक होते हैं ॥ ५ ॥

( प्याशिषीमहि ) के स्थान पर पं० सेवकलाल के पुस्तक में ( प्याशिषी-  
महि ) पाठ है ॥

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।  
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य

५—( यः ) शत्रुः ( अस्मान् ) धार्मिकान् ( द्वेष्टि ) विरोधयति ( यम् )  
( वयम् ) ( द्विष्मः ) विरोधयामः ( तस्य ) तम् ( त्वम् ) हे चन्द्र ( प्राणेन )  
जीवनेन ( आ ) वियोगे—यथा आपद् शब्दे ( आ प्यायस्व ) वियोजय ( आ )  
समन्तात् ( वयम् ) ( प्याशिषीमहि ) ओ प्यायी वृद्धौ, आशिषि लिङि यकार-  
स्थाने शकारश्छान्दसः । प्यायिषीमहि—यथा पं० सेवकलालस्य पुस्तके पाठः ।  
वर्धिषीमहि । अन्यत्पूर्ववत्—म० ४ ॥



सू० ८२ [ ३८७ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७०७ )

गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आ-प्याययन्ति । यम् । अक्षितम् ।  
 अक्षिताः । भक्षयन्ति । तेन । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः ।  
 बृहस्पतिः । आ । प्याययन्तु । भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यम् ) जिस ( अंशुम् ) अमृत [ चन्द्रमा के रस ] को  
 ( देवाः ) प्रकाशमान सूर्य की किरणें [ शुक्लपक्ष में ] ( आप्याययन्ति ) बढ़ा  
 देती हैं, और ( यम् ) जिस ( अक्षितम् ) बिना घटे हुये को ( अक्षिताः ) वे  
 व्यापक [ किरणें ] ( भक्षयन्ति ) [ कृष्ण पक्ष में ] खा लेती हैं । ( तेन ) उसी  
 [ नियम ] से ( अस्मान् ) हमको ( भुवनस्य ) संसार के ( गोपाः ) रक्षा करने  
 वाला ( इन्द्रः ) परम पेश्वर्यवान् राजा, ( वरुणः ) श्रेष्ठ वैद्य और ( बृहस्पतिः )  
 बड़ी विद्याओं का स्वामी, आचार्य ( आ ) सब प्रकार ( प्याययन्तु ) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस नियम से सूर्य की किरणें चन्द्रमा के अनिष्ट रस को  
 खींचकर अमृत उत्पन्न करती हैं, वैसे ही राजा आदि गुरुजन प्रजा के दुखोंका  
 नाश करके सुख प्राप्त करावें ॥ ६ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-६ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ४-६ त्रिष्टुप्; २ बृहती; ३ जगती ॥

वेदविज्ञानोपदेशः—वेद के विज्ञान का उपदेश ॥

६—( यम् ) ( देवाः ) देवः=द्युस्थानः—निरु ७ । १५ । प्रकाशमानाः सूर्य-  
 रश्मयः ( अंशुम् )—म० ३ । सोमम् । चन्द्ररसम् ( आ प्याययन्ति ) सर्वतो वर्ध-  
 यन्ति, शुक्लपक्षे ( यम् ) ( अक्षितम् ) अक्षीणम् ( अक्षिताः ) अक्षू व्याप्तौ—क्त ।  
 व्याप्ताः किरणाः ( भक्षयन्ति ) अदन्ति । आकर्षन्ति, कृष्णपक्षे ( तेन ) नियमेन  
 ( अस्मान् ) ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( वरुणः ) श्रेष्ठो वैद्यः ( बृहस्पतिः )  
 बृहतीनां विद्यानां पालकः । आचार्यः ( आ ) समन्तात् ( प्याययन्तु ) वर्धयन्तु  
 ( भुवनस्य ) लोकस्य ( गोपाः ) गुप् रक्षणे—घञ । गोपयितारः । रक्षाः ॥



अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमुस्मासु भद्रा द्रविणानिधत्त  
 इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्  
 अभि । अर्चत । सु-स्तुस्मि । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु ।  
 भद्रा । द्रविणानि । धत्त । इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता ।  
 नः । घृतस्य । धाराः । मधु-मत् । पवन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्वानो ! ] ( सुष्टुतिम् ) बड़ी स्तुति वाले, ( गव्यम् )  
 पृथिवी वा स्वर्ग के लिये हितकारक, ( आजिम् ) प्राप्तियोग्य परमेश्वर को  
 ( अभि ) भले प्रकार ( अर्चत ) पूजो, और ( अस्मासु ) हम लोगों में ( भद्रा )  
 सुखों और ( द्रविणानि ) बलों और धनों को ( धत्त ) धारण करो । ( देवता )  
 प्रकाशमान तुम सब ( इमम् ) इस ( यज्ञम् ) पूजनीय परमात्मा को ( नः ) हम  
 में ( नयत ) पहुंचाओ, ( घृतस्य ) प्रकाशित ज्ञान की ( धाराः ) धारायें  
 [ धारण शक्तियां वा प्रवाह ] ( मधुमत् ) श्रेष्ठ विज्ञानयुक्त कर्म को ( पवन्ताम् )  
 शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों का  
 उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ४ । ५८ । १० ॥

मय्यग्रं अग्निं गृह्णामि सुह क्षत्रेण वर्चसा बलैन ।

१—( अभि ) सर्वतः ( अर्चत ) पूजयत ( सुष्टुतिम् ) अतिस्तुति  
 युक्तम् ( गव्यम् ) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । गो—यत् । गवे पृथिव्यै  
 स्वर्गाय वा हितम् ( आजिम् ) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेप-  
 णयोः—इण । प्रापणीयं परमात्मानम् ( अस्मासु ) ( भद्रा ) सुखानि ( द्रवि-  
 णानि ) बलानि धनानि च ( धत्त ) धारयत ( इमम् ) प्रसिद्धम् ( यज्ञम् ) पूज-  
 नीयं परमेश्वरम् ( नयत ) प्रापयत ( देवता ) स्वार्थे तल् । सुपां सुबुक्० । पा०  
 ७ । १ । ३६ । इति विभक्त्येल् । देवताः । यूयं प्रकाशमानाः ( घृतस्य ) प्रका-  
 शितस्य बोधस्य ( धाराः ) धारणशक्तयः प्रवाहा वा ( मधुमत् ) प्रशस्तविज्ञान-  
 युक्तं कर्म ( पवन्ताम् ) शोधयन्तु ॥



सू० ८२ [ ३८७ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७०८ )

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्ने । अग्निम् । गृह्णामि । सुह । क्षत्रेण । वर्चसा  
बलेन । मयि । प्र-जाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा ।  
मयि । अग्निम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—मैं ( अग्ने ) सब से पहिले वर्तमान ( अग्निम् ) सर्वज्ञ परमे-  
श्वर को ( मयि ) अपने में ( क्षत्रेण ) [ दुःख से बचाने वाले ] राज्य, ( वर्चसा )  
प्रताप और ( बलेन सह ) बल के साथ ( गृह्णामि ) ग्रहण करता हूं । मैं ( मयि )  
अपने में ( प्रजाम् ) प्रजा [ सन्तान भृत्य आदि ] को, ( मयि ) अपने में  
( आयुः ) जीवन को, ( मयि ) अपने में ( अग्निम् ) अग्नि [ शारीरिक और  
आत्मिक बल ] को ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी [ वेदवाणी ] के द्वारा ( दधामि )  
धारण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि, अनन्त, परमात्मा का भरोसा रखकर  
शारीरिक, आत्मिक बल बढ़ा कर राज्य आदि की वृद्धि करे ॥ २ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रुयि मा त्वा नि क्रुन् पूर्वचित्ता  
निकारिणः । क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्ध-  
तां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥

इह । एव । अग्ने । अधि । धारय । रुयि । मा । त्वा ।  
नि । क्रुन् । पूर्व-चित्ताः । नि-कारिणः । क्षत्रेण । अग्ने । सु-  
यमम् । अस्तु । तुभ्यम् । उप-सत्ता । वर्ध-ताम् । ते । अनि-ष्टृतः ॥

२—( मयि ) आत्मनि ( अग्ने ) सर्वप्रथमं वर्तमानम् ( अग्निम् ) सर्वज्ञ  
परमात्मानाम् ( गृह्णामि ) स्वीकरोमि ( सह ) सहितः ( क्षत्रेण ) क्षत्रे हिंसा-  
याम्—किप् + ञैङ् पालने—क । क्षतः क्षतात् त्रायकेण राज्येन ( वर्चसा ) प्रता-  
पेन ( बलेन ) ( मयि ) ( प्रजाम् ) सन्ततिभृत्यादिरूपाम् ( मयि ) ( आयुः )  
जीवनम् ( दधामि ) धारयामि ( स्वाहा ) अ० २ । १६ । १ । सुवाण्या । वेद-  
वाचा ( मयि ) ( अग्निम् ) विद्युत् शारीरिकात्मिकबलहेतुम् ॥



( १७१० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८२ [ ३८७ ]

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (इह एव) यहां पर ही (रयिम्) धन को (अधि) अधिकार पूर्वक (धारय) पुष्ट कर, (पूर्वचिन्ताः) पहिले से सोचने वाले [घाती], (निकारिणः) अपकारी [दुष्ट] लोग (त्वा) तुझ को (मा नि क्रन्) नीचा न करे । (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (तुभ्यम्) तेरे (क्षत्रेण) [विघ्न से बचाने वाले] राज्य के साथ [हमारा] (सुयमम्) सुन्दर नियम वाला कर्म (अस्तु) होवे, (ते) तेरा (उपसत्ता) उपासक [अश्रित जन] (अनिष्टतः) अजेय होकर (वर्धताम्) बढ़ता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूरदर्शी नीतिज्ञ हो कर घात लगाने वाले शत्रुओं से बच कर धर्म के साथ अपनी और प्रजा की उन्नति करे ॥ ३ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।  
अनुसूर्योऽउषसोऽअनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेशः  
अनु । अग्निः । उषसां । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि ।  
प्रथमः । जात-वेदाः । अनु । सूर्यः । उषसः । अनु । रश्मीन् ।  
अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेशः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकास को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले

२—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) (अग्ने) हे सर्वज्ञ (अधि) अधिकृत्य (धारय) पोषय (रयिम्) धनम् (त्वा) परमेश्वरम् (मा नि क्रन्) मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । करोतेर्लुङि च्लेर्लुक् । नीचैर्मा कार्षुः (पूर्वचिन्ताः) प्राग्विचारवन्तः, घातिन इत्यर्थः (निकारिणः) अपकारिणः (क्षत्रेण)—म० २ । विघ्नाद् रक्षकेण राज्येन (अग्ने) सर्वव्यापक (सुयमम्) ईषद्दुःसुषुः० पा० ३ । ३ । १२६ । सु + यम नियमने—खल् । यथावद् नियमयुक्तं कर्म (अस्तु) (तुभ्यम्) षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्या । वा० पा० २ । ३ । ६२ । तव (उपसत्ता) षद् ल विषरणगत्यवसादनेषु—तृच् । उपासकः । आश्रितः (वर्धताम्) (ते) तव (अनिष्टतः) स्तृञ् आच्छादने—क्त । स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २ । १६ । अहिंसितः । अजेयः ॥

४—(अनु) निरन्तरम् (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (उषसाम्) प्रभात-वेलांनाम् (अग्रम्) प्रादुर्भावम् (अख्यत्) ख्यातेर्लुङ् । अ० ७ । ७३ । ६ ।



सू० ८२ [ ३८७ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७११ )

वर्तमान ( जातवेदाः ) उत्पन्नवस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को ( अनु ) निरन्तर ( अख्यत् ) प्रसिद्ध किया है । ( सूर्यः ) [ उसी ] सूर्य [ सब में व्यापक वा सब को चलाने वाले परमेश्वर ] ने ( उषसः ) उषाओं में ( अनु ) लगातार, ( रश्मीन् ) व्यापक किरणों में ( अनु ) लगातार, ( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी में ( अनु ) लगातार ( आ विवेश ) प्रवेश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रच कर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्य का उपास्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।  
प्रतिसूर्यस्यपुरुधाच्च रश्मीन्प्रतिद्यावापृथिवीआ ततान  
प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि ।  
प्रथमः । जात-वेदाः । प्रति । सूर्यस्य । पुरु-धा । च । रश्मीन् ।  
प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( अग्निः ) सर्वव्यापक परमेश्वर ने ( उषसाम् ) उषाओं के ( अग्रम् ) विकाश को ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से, [ उसी ] ( प्रथमः ) सब से पहिले वर्तमान ( जातवेदाः ) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से ( अख्यत् ) प्रसिद्ध किया है । ( च ) और ( सूर्यस्य ) सूर्य की ( रश्मीन् ) व्यापक किरणों को ( पुरुधा ) अनेक प्रकार ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से, और ( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी लोकों को ( प्रति ) प्रत्यक्ष रूप से ( आ ) सब ओर ( ततान ) फैलाया है ॥ ५ ॥

प्रख्यातवान् ( अनु ) ( अहानि ) दिनानि ( प्रथमः ) प्रथमानः ( जातवेदाः )  
अ० १ । ७ । २ । जातानि वस्तूनि वेदयति ज्ञापयतीति सः ( अनु ) ( सूर्यः )  
सर्वव्यापकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः ( उषसः ) प्रभातकालान् ( रश्मीन् ) अ०  
२ । ३२ । १ । व्यापकान् किरणान् ( अनु ) ( द्यावापृथिवी ) सूर्यभूलोकौ  
( आ विवेश ) समन्तात् प्रविष्टवान् ॥

५—( प्रति ) प्रत्यक्षरूपेण ( सूर्यस्य ) आदित्यमण्डलस्य ( पुरुधा ) अनेकधा ( च ) ( आ ) समन्तात् ( ततान ) विस्तारयामास ॥ अन्यत् पूर्ववत्-म० ४ ॥



भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचारकर मनुष्य अपनी उन्नति करे ॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सुधस्थे घृतेन त्वां मनु रद्या समिन्धे ।  
 घृतं ते देवीर्नृपत्यः । आवहन्तु घृतं तुभ्यं दुहतां गावो अग्ने ।  
 घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सुध-स्थे । घृतेन । त्वाम् ।  
 मनुः । अद्य । सम् । इन्धे । घृतम् । ते । देवीः । नृपत्यः ।  
 आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् । दुहताम् । गावः । अग्ने ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! ( ते ) तेरा ( घृतम् ) प्रकाश ( दिव्ये ) दिव्य [ सूक्ष्म ] कारण में और ( सुधस्थे ) मिलकर ठहरने वाले कार्य रूप जगत् में है, ( घृतेन ) प्रकाश के साथ वर्तमान ( त्वा ) तुझ को ( मनुः ) मननशील पुरुष ( अद्य ) अब ( सम् ) यथावत् ( इन्धे ) प्रकाशित करता है । ( ते ) तेरे ( घृतम् ) प्रकाश को ( देवीः ) उत्तम गुणवाली, ( नृपत्यः ) न गिरनेवाले प्रजायें [ हमें ] ( आ वहन्तु ) प्राप्त करावें, ( अग्ने ) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! ( गावः ) वेद वाणियां ( तुभ्यम् ) तेरे ( घृतम् ) प्रकाश को ( दुहताम् ) परिपूर्ण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की सत्ता और शक्ति को कारण और कार्य रूप जगत् में साक्षात् करके संसार को पुरुषार्थी बनावें ॥ ६ ॥

६—( घृतम् ) घृ सेके दीप्तौ च-क्त । दीप्तिः ( ते ) तव ( अग्ने ) सर्वज्ञ परमेश्वर ( दिव्ये ) विचित्रे कारणे ( सुधस्थे ) सहस्थितिशीले कार्यरूपे संसारे ( घृतेन ) प्रकाशेन ( त्वाम् ) ( मनुः ) मननशीलः पुरुषः ( अद्य ) इदानीम् ( सम् ) सम्यक् ( इन्धे ) जि इन्धी दीप्तौ, एयर्थः । दीपयति । विज्ञापयति ( घृतम् ) ज्ञानप्रकाशम् ( ते ) तव ( देवीः ) उत्तमगुणयुक्ताः ( नृपत्यः ) नष्ट-ने घृत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । नञ् + पतलृ गतौ-तृच्, डीप्, छान्दसं रूपम् । न पततीति नपञी । नपञ्यः । न पतनशीलाः प्रजाः ( आ ) अभिमुखम् ( वहन्तु ) प्रापयन्तु ( घृतम् ) ( तुभ्यम् ) म० ३ । तव ( दुहताम् । ) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । रुडागमः । दुहताम् । प्रपूरयन्तु ( गावः ) वेदवाचः ( अग्ने ) हे सर्वव्यापक ॥



## सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वरुणो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वर नियमोपदेशः—ईश्वर के नियम का उपदेश ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गुहो हिरण्ययो मिथः ।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्-सु । ते । राजन् । वरुण । गुहः । हिरण्ययः । मिथः ।

ततः । धृत-व्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( राजन् ) हे राजन् ! ( वरुण ) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर !

( ते ) तेरा ( हिरण्ययः ) तेजोमय ( ग्रहः ) ग्रहण सामर्थ्य ( अप्सु ) सब प्राणों में ( मिथः ) एक दूसरे के साथ [ वर्तमान है ] । ( ततः ) उसी से ( धृत-व्रतः ) नियमों के धारण करनेवाले ( राजा ) राजा आप ( सर्वा ) सब ( धामानि ) बन्धनों को ( मुञ्चतु ) खोल दें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना से पापों को छोड़, धर्म में प्रवृत्त होकर क्लेशों से मुक्त हों ॥

धाम्नो धाम्नो राजन्वितो वरुण मुञ्च नः । यदापै

अध्वया इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥

धाम्नः-धाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः । यत् ।

आपैः । अध्वयाः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम । ततः ।

१—( अप्सु ) आपः प्राणाः—दयानन्द भाष्ये यजु० २० । १८ । प्राणेषु ( ते ) तव ( राजन् ) ऐश्वर्यवान् ( वरुण ) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ( गुहः ) ग्रहण-सामर्थ्यम् ( हिरण्ययः ) अ० ४ । २ । ८ । तेजोमयः ( मिथः ) मिथ ज्ञाने—असुप्तं च कित् । परस्परम् ( ततः ) तस्मात् कारणात् ( धृतव्रतः ) नियम-धारकः ( राजा ) शासकः ( सर्वा ) सर्वाणि ( धामानि ) दधातेर्मनिन् । धीयन्ते बध्यन्ते । बन्धनानि ( मुञ्चतु ) मोचयतु ॥



वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( राजन् ) हे राजन् ! ( वरुण ) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर । ( इतः ) इस ( धाम्नो धाम्नः ) प्रत्येक बन्धन से ( नः ) हमें ( मुञ्च ) छुड़ा । ( यत् ) जिस कारण से ( आपः ) यह प्राण ( अह्न्याः ) न भारने योग्य गौ [ के तुल्य ] हैं, ( इति ) इस प्रकार से, ( वरुण ) हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर । ( इति ) इस प्रकार से, ( यत् ) जो कुछ ( ऊचिम ) हमने कहा है, [ इसी कारण से ] ( वरुण ) हे दुःखनिवारक ! ( नः ) हमें ( ततः ) उस [ बन्धन ] से ( मुञ्च ) छुड़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो लोग परमात्मा को बन्धनमोचक जानकर विरुद्ध आचरण से गौके समान अपने और पराये प्राणों की रक्षा करते हैं, वे हृदय की गांठ खुल जाने से सदा आनन्दित रहते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्थ कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० १८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधुमं वि मध्यमं प्रथाय ।  
अधा वयमादित्य व्रते तवनागसो अदितये स्याम ॥३॥  
उत् । उत्-तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अव । अधुमम् ।  
वि । मध्यमम् । अयय । अध । वयम् । आदित्य । व्रते ।  
तव । अनागसः । अदितये । स्याम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( वरुण ) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! ( अस्मत् ) हम

२—( धाम्नो धाम्नः ) म० १ । वीप्सायां द्विर्वचनम् । प्रत्येकबन्धनात् ( राजन् ) ( इतः ) अस्मात् ( वरुण ) सर्वश्रेष्ठ ( मुञ्च ) ( नः ) अस्मान् ( यत् ) यस्मात् कारणात् ( आपः ) प्राणाः—दयानन्दभाष्ये यजु० २० । १८ ( अह्न्याः ) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्यां गावो यथा ( इति ) अनेन प्रकारेण ( वरुण ) सर्वोत्कृष्ट ( इति ) एवम् ( यत् ) यत् किञ्चित् ( ऊचिम ) ब्रूज—लिट् । वयं कथितवन्तः ( ततः ) तस्मात् क्लेशबन्धनात् ( वरुण ) दुःखनिवारक ( मुञ्च ) पृथक् कुरु ( नः ) अस्मान् ॥

३—( उत् ) ऊर्ध्वम् । उत्कृष्य ( उत्तमम् ) ऊर्ध्वस्थिम् ( पाशम् ) बन्धनम्



सू० ८३ [ ३८८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७१५ )

से ( उत्तमम् ) ऊंचे वाले ( पाशम् ) पाश को ( उत् ) ऊपर से, ( अधमम् ) नीचे वाले को ( अव ) नीचे से, और ( मध्यमम् ) बीचवाले को ( वि ) विविध प्रकार से ( अथय ) खोल दे। ( आदित्य ) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्डनीय जगदीश्वर ! ( अध ) फिर ( वयम् ) हम लोग ( ते ) तेरे ( व्रते ) वरणीय नियम में ( अदितये ) अदीना पृथिवी के [ राज्य के ] लिये ( अनागसः ) निरपराधी ( स्याम ) हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके धर्माचरण से भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्लेशों को अलग करके सदा सुखी रहें ॥३॥ यह मन्त्र ऋग्वेद में है। १। २४। १५ और यजु० १२। १२। और अथर्ववेद में भी है—१८। ४। ६६ ॥

आस्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधुमा वारुणा ये । दुःस्वप्न्यं दुरितं नि ष्व्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

प्र। आस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । ये । उत्तमाः । अधुमाः । वारुणाः । ये । दुः-स्वप्न्यम् । दुः-इतम् । निः । स्व । आस्मत् । अथ । गच्छेम । सु-कृतस्य । लोकम् ॥४॥

भाषार्थ—( वरुण ) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! ( आस्मत् ) हम से ( सर्वान् ) सब ( पाशान् ) फन्दों को ( प्रमुञ्च ) खोल दे, ( ये ) जो ( उत्तमाः )

( आस्मत् ) आस्मत्तः ( अव ) अधस्तात् । अवकृष्य ( अधमम् ) नीचस्थम् ( वि ) विविधम् ( मध्यमम् ) मध्यस्थम् ( अथय ) अथ दौर्बल्ये, चुरादिः, छान्दसो दीर्घः । शिथिलीकुरु । विमोचय ( अध ) अथ । अनन्तरम् ( आदित्य ) अ० १। ६। १। आ + दीपी दीप्तौ-यक् । यद्वा । नञ्—इो अव खण्डने-क्तिन्, ततो एय-प्रत्यय । सर्वतः प्रकाशमान । अदितिरखण्डनं यस्यास्ति आदित्यः । हे अखण्डनीय ( व्रते ) वरणीये नियमे ( तव ) ( अनागसः ) अ० ७। ७। १ अनपराधिनः ( अदितये ) अ० २। २८। ४। अदीनायै पृथिव्यै, तद्वाज्याय ( स्याम ) भवेम ॥ ४—( प्र ) प्रकर्षेण ( वरुण ) हे दुःखनिवारक परमेश्वर ( मुञ्च ) मोचय ।



( १७१६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८४ [ ३८८ ]

ऊँचे और ( ये ) जो ( अधमाः ) नीचे [ फन्दे ] ( वारुणः ) दोष निवारक  
वरुण परमेश्वर से आये हैं । ( दुस्स्वप्न्यम् ) नींद में उठे कुविचार और (दुरि-  
तम् ) विघ्न को ( अस्मत् ) हम से ( निः स्व ) निकाल दे, ( अथ ) फिर ( सुह-  
तस्य ) धर्म के ( लोकम् ) समाज में ( गच्छेम ) हम जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुःस्वप्न  
से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है । अ० ६ । १२१ । १ ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः; २, ३ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराट् क्षत्रभृद् दी-  
दिहिह । विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवा-  
भिरुद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः । जात-वेदाः । अमर्त्यः । वि-राट् । अग्ने । क्षत्र-  
भृत् । दीदिहि । इह । विश्वाः । अमीवाः । प्र-मुञ्चन् ।  
मानुषीभिः । शिवाभिः । उद्य । परि । पाहि । नः । गयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे प्रतापी राजन् ( अनाधृष्यः ) सब प्रकार अजेय,  
( जातवेदाः ) बड़ा ज्ञानवान् वा धनवान्, ( अमर्त्यः ) अमर [ यशस्वी ], ( विराट् )  
बड़ा ऐश्वर्यवान्, ( क्षत्रभृत् ) राज्यपोषक होकर तू ( इह ) यहां पर ( दीदिहि )  
प्रकाशमान हो । ( विश्वाः ) सब ( अमीवाः ) पीड़ाओं को ( प्रमुञ्चन् )

अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६ । १२१ । १ ॥

१—( अनाधृष्यः ) ऋदुपधाच्चाकल्पितः । ३ । १ । ११० । जि धृषा प्राग-  
लभ्ये पराभवे च—क्यप् । धर्षितुमयोग्यः । अजेयः ( जातवेदाः ) अ० १ । ७ ।  
२ । प्रसिद्धज्ञानः । बहुधनः ( अमर्त्यः ) अ० ४ । ३७ । १२ । अमरः । यशस्वी  
( विराट् ) राजतिरैश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ क्विप् । विवधैश्वर्यवान् ( अग्ने )  
हे प्रतापिन् राजन् ( क्षत्रभृत् ) राज्यपोषकः ( दीदिहि ) अ० ७ । ७४ । ४ ।



हुडाता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यों की हितकारक (शिवाभिः) मुक्तियों के साथ (अथ) अब (नः) हमारे (गयम्) घर की (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ, प्रतापी राजा प्रजाओं को कष्टों से मुक्त करके सदा सन्तुष्ट रख उन्नति करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७।७ ॥

इन्द्रं क्षत्रम्भि वाममे।जोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।  
अपानुदोजनममित्रायन्तमुरु देवेभ्योऽअकृणोरु लोकम्  
इन्द्रं । क्षत्रम् । अभि । वामम् । ओजः । अजायथाः । वृषभ ।  
चर्षणीनाम् । अप । अनुदुः । जनम् । मित्र-यन्तम् । उरुम् ।  
देवेभ्यः । अकृणोः । ऊं इति । लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (वामम्) उत्तम (क्षत्रम्) राज्य और (ओजः अभि) पराक्रम के लिये (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है । तू ने (अमित्रयन्तम्) अमित्र समान आचरण वाले (जनम्) लोगों को (अप अनुदः) हटा दिया है (उ) और (देवेभ्यः) विजय चाहने वालों के लिये (उरुम्) विस्तीर्ण (लोकम्)

दोष्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (विश्वाः) सर्वाः (अमीवाः) अ० ७।४२।  
१। पीडाः (प्रमुञ्चन्) निवारयन् (मानुषीभिः) अ० ४।३२। २। मनुर्हिताभिः  
(शिवाभिः) अ० २।६।३। मङ्गलकारिकाभिः क्रियाभिः। मुक्तिभिः (अथ)  
इदानीम् (परि) (पाहि) (नः) अस्माकम् (गयम्) अ० ६।३।३। गृहम् ॥

२—(इन्द्र) परमैश्वर्यवान् राजन् (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं राज्यम् (अभि)  
अभिलक्ष्य (वामम्) प्रशस्यम्—निघ० ३।८ (ओजः) पराक्रमम् (अजा-  
यथाः) उत्पन्नोऽभवः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम्—निघ० २।३। (अप अनुदः)  
अपागमयः (जनम्) लोकम् (अमित्रयन्तम्) उपमानादाचारे। पा० ३॥१।  
१०। अमित्र—क्यच्, शतृ। नञ्छन्दस्यपुत्रस्य। पा० ७।४।३५। इति ईत्व-  
स्य आत्वस्य च निषेधः। सांहितिको दीर्घः। अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तम्  
(उरुम्) विस्तीर्णम् (देवेभ्यः) विजिगीषुभ्यः (अकृणोः) अकृषीः (उ)



स्थान ( अकृणोः ) किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा के पराक्रमी होने से सेनापति लोग और प्रजागण भी ओजस्वी होते हैं ॥ २ ॥

मह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । ३ ॥

मुगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत् आ जगम्यात्  
परस्याः । सुकं संशायं पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताडि  
वि मृधौ नुदस्व ॥ ३ ॥

मुगः । न । भीमः । कुचुरः । गिरि-स्थाः । परा-वतः । आ ।  
जगम्यात् । परस्याः । सुकम् । सुम्-शायं । पविम् । इन्द्र ।  
तिग्मम् । वि । शत्रून् । ताडि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे राजन् ! ( भीमः ) भयानक ( कुचुरः ) टेढ़े चलने  
वाले [ ऊंचे नीचे, दायें बायें जाने वाले ] ( गिरिष्ठाः ) पहाड़ों पर रहने वाले  
( मुगः न ) [ आखेट दूढ़ने वाले ] सिंह आदि के समान आप ( परावतः ) समीप  
देश और ( परस्याः ) दूर दिशा से ( आ जगम्यात् ) आते रहें । ( तिग्मम् )  
उत्साह वाले ( सुकम् ) बाण और ( पविम् ) वज्र को ( संशायं ) तीक्ष्ण करके  
शत्रून् शत्रुओं को ( वि ) विशेष कर ( ताडि ) ताड़नाकर और ( मृधः )  
हिंसकों को ( वि नुदस्व ) निकाल दे ॥ ३ ॥

समुच्चये ( लोकम् ) स्थानम् ॥

३—( सुकम् ) सूत्रभू० । उ० ३ । ४१ । सू गतौ—कक् । बाणम् ( संशायं )  
शो तनूकरणे—ल्यप् । तीक्ष्णीकृत्य ( पविम् ) वज्रम्—निघ० २ । २० । ( इन्द्र )  
परमैश्वर्यवान् राजन् ( तिग्मम् ) अ० ४ । २७ । ७ । तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः  
—निघ० १० । ६ । उत्साहवन्तम् ( वि ) विशेषेण ( ताडि ) तड । अघाते-  
लोद् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । हेरार्धधानुक्त्याद् । शिलोपः ।  
ताडय ( वि ) विविधम् ( मृधः ) हिंसकान् ( नुदस्व ) प्रेरय । अन्यद् गतम्—  
अ० ७ । २६ । २ ॥



सू० ८५ [ ४०० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७१८ )

भाषार्थ—राजा सिंह के समान पराक्रमी होकर शत्रु अश्वों को तीक्ष्ण करके शत्रुओं को जीत प्रजा को सुखी रखे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०। १८०। २। और यजु० १८। ७१। इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७। २६। २ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१ ॥ ताक्ष्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्यमु षु वाजिनं देवजतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।  
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये ताक्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥  
त्यम् । जं इति । सु । वाजिनम् । देव-जतम् । सहः-वानम् ।  
तरुतारम् । रथानाम् । अरिष्ट-नेमिम् । पृतना-जिम् । आशुम् ।  
स्वस्तये । ताक्ष्यम् । हुह । आ । हुवेम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्यम् उ) उस ही (वाजिनम्) अश्ववाले (देवजतम्) विद्वानों से प्रेरणा किये गये, (सहोवानम्) महाबली, (रथानाम्) रथों के [ जल थल और आकाश में ] (तरुतारम्) तिराने [ चलाने ] वाले, (अरिष्ट-नेमिम्) अद्वैत वज्रवाले, (पृतनाजिम्) सेनाओं को जीतने वाले (आशुम्)

१—(त्यम्) तं प्रसिद्धम् (उ) एव (सु) पूजायाम् (वाजिनम्) अश्व-  
वन्तम् (देवजतम्) जु गतौ—क । जूर्गतिः प्रीतिर्वा देवजतं देवगतं देवप्रीतं  
वा—निरु० १०। २८। विद्वद्भिः प्रेरितम् (सहोवानम्) छन्दसीवनिपौ च वक-  
व्यौ । वा० पा० ५। २। १०६। सहस्-वनिप् । सहस्वन्तं बलवन्तम् (तरुतारम्)  
असितस्कभित० । पा० ७। २। ३४। तरतेस्तृचि उडागमः । तरीतारम् । तारयि-  
तारम् (रथानाम्) यानानाम् (अरिष्टनेमिम्) रिष हिंसायाम्—क । नियो मिः ।  
उ० ४। ४३। एीज् प्रापणे—मि । नेमिर्वज्रनाम—निघ० २। २०। अच्छिन्न-  
वज्रम् (पृतनाजिम्) वातेर्दिच्छ । उ० ४। १३४। जि जये—इण, स च डित् ।  
शत्रुसेनानां जेतारम् (आशुम्) अ० २। १४। ६। अश्रू व्याप्तौ संघाते च ।  
उण । व्यापनशीलम् (स्वस्तये) कल्याणाय (ताक्ष्यम्) वृक्ष गतौ—घञ्, बाहुल-



( १७२० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८६ [ ४०१ ]

व्यापने वाले, ( तादर्यम् ) महावेगवान् राजा को ( इह ) यहां पर ( स्वस्तये )  
अपने कल्याण के लिये ( सु ) आदर से ( आ ) भले प्रकार ( हुवेम ) हम बुलावें ॥१॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण उत्तम गुणी राजा को अपनी रक्षा के लिये  
आवाहन करते रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०।१७८।१। साम० पू० ४।५।१, और  
निरुक्त १०।२८। में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्रातारमिन्द्रं मवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।  
हुवे नु शुक्रं पुरुहुतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ।  
त्रातारम् । इन्द्रम् । अवितारम् । इन्द्रम् । हवे-हवे ।  
सु-हवम् । शूरम् । इन्द्रम् ॥ हुवे । नु । शुक्रम् । पुरु-हुतम् ।  
इन्द्रम् । स्वस्ति । नुः । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—( त्रातारम् ) पालन करने वाले ( इन्द्रम् ) बड़े पेश्वर्य वाले  
राजा को, ( अवितारम् ) तृप्त करने वाले ( इन्द्रम् ) सभाध्यक्ष [ राजा ] को,  
( हवेहवे ) संग्राम संग्राम में ( सुहवम् ) यथावत् संग्राम वाले, ( शूरम् ) शूर  
( इन्द्रम् ) सेनापति [ राजा ] को, ( शुक्रम् ) शक्तिमान्, ( पुरुहुतम् ) बहुत  
[ लोगों ] से पुकारे गये ( इन्द्रम् ) प्रतापी राजा को ( नु ) शीघ्र ( हुवे ) मैं बुलाता हूँ।

काद् वृद्धिः । तत्र साधुः । पा० ४।४।६८ । तार्क्ष्यं—यत् । तार्क्ष्ये वेगे साधुम् ।  
वेगवन्तं राजानम् । तार्क्ष्योऽश्वनाम-निघ० १।१४ । तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः,  
तीर्थोऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नोतेर्वा-निरु० १०।२७। ( इह ) अत्र ( आ  
हुवेम ) अ० ७।४०।२। आह्वयेम ॥

१—( त्रातारम् ) त्रैङ् पालने—तृच् । पालकम् ( इन्द्रम् ) परमैश्वर्यवन्तं  
राजानम् ( अवितारम् ) तर्पयितारम् ( इन्द्रम् ) सभाध्यक्षम् ( हवेहवे )  
सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे ( सुहवम् ) यथावत् सङ्ग्रामिणम् ( शूरम् ) पराक्रमिणम्



सू० ८७ [ ४०२ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७२१ )

( मघवान् ) बड़ा धन वाला ( इन्द्रः ) राजा ( नः ) हमारे लिये ( स्वस्ति ) मङ्गल ( कृणोतु ) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य धर्मात्मा, न्यायकारी, जितेन्द्रिय, शूरवीर राजा का सदा आदर करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।४७।११; यजु० २०।५०; और साम० पू० ४।५।२ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१ रुद्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरमहिमोपदेशः—ईश्वर की महिमा का उपदेश ॥

यो अ॒ग्नौ रु॒द्रो यो अ॒प्स्व॑न्त॒र्य ओष॑धीर्वी॒रुध॑ आ-  
वि॒वेश॑ । य इ॒मा वि॒श्वा भुव॑नानि चा॒कल॑पे तस्मै  
रु॒द्राय॑ नमो॑ अ॒स्त्व॒ग्नये॑ ॥ १ ॥

यः । अ॒ग्नौ । रु॒द्रः । यः । अ॒प्-सु । अ॒न्तः । यः । ओष॑धीः ।  
वी॒रुधः॑ । आ-वि॒वेश॑ ॥ यः । इ॒मा । वि॒श्वा । भुव॑नानि ।  
च॒कल॑पे । तस्मै॑ । रु॒द्राय॑ । नमः॑ । अ॒स्तु । अ॒ग्नये॑ ॥ १ ॥

भावार्थ—( यः ) जो ( रुद्रः ) रुद्र, ज्ञानवान् परमेश्वर ( अ॒ग्नौ ) अग्नि में, ( यः ) जो ( अ॒प्सु अ॒न्तः ) जल के भीतर है, ( यः ) जिसने ( ओष॑धीः ) उष्णता रखने वाली अन्न आदि ओषधियों में और ( वी॒रुधः ) विविध प्रकार

( इन्द्रम् ) सेनापतिम् ( हुवे ) आह्वयामि ( तु ) शीघ्रम् ( शक्नुम् ) अ० २।५।४। शक्तिमन्तम् ( पुरुहूतम् ) बहुभिः पुरुषैराहूतम् ( इन्द्रम् ) प्रतापिनम् ( स्वस्ति ) सुखम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यः ( मघवान् ) अ० ६।५८। १ धनवान् ( कृणोतु ) करोतु ॥

१—( यः ) ( अ॒ग्नौ ) सूर्यविद्युदादिरूपे ( रुद्रः ) अ० २।२७।६। रु गतौ—क्विप्, तुक् रो मत्वर्थे । ज्ञानवान् परमेश्वरः ( यः ) ( अ॒प्सु ) जलेषु ( अ॒न्तर् ) मध्ये ( यः ) ( ओष॑धीः ) अ० १।२३॥१। उष्णत्वधारिका अन्ना-दिरूपाः ( वी॒रुधः ) अ० १।३२।१। विरोहणशीला लतादिरूपाः ( आ॒वि॒वेश )



( १७२२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८८ [ ४०३ ]

उगने वाली बेलों वा बूटियों में ( आविवेश ) प्रवेश किया है । ( यः ) जिसने ( इमा ) इन ( विश्वा ) सब ( भुवनानि ) लोकों [ उपस्थित पदार्थों ] को ( चकल्लपे ) रचा है, ( तस्मै ) उस ( अग्नये ) सर्वव्यापक ( रुद्राय ) रुद्र, दुःखनाशक परमेश्वर को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो अद्भुत स्वरूप, सर्वप्रकाशक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ बृहती छन्दः ॥

कुसंस्कारनाशोपदेशः—कुसंस्कार के नाश का उपदेश ॥

अपे ह्यरि रस्य रिवा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद्  
वा अपृक्थाः । अहिमे वाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अप । इहि । अरिः । असि । अरिः । वै । असि ॥ विषे ।  
विषम् । अपृक्थाः । विषम् । इत् । वै । अपृक्थाः ॥ अहिम् ।  
एव । अभि-अपेहि । तम् । जहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे विष ! ] ( अप इहि ) चला जा, ( अरिः असिः ) तू शत्रु है, ( अरिः ) तू शत्रु ( वै ) ही ( असि ) है । ( विषे ) विष में ( विषम् ) विष को ( अपृक्थाः ) तू ने मिला दिया है, ( विषम् ) विष को ( इत् ) ही ( वै ) हां ( अपृक्थाः ) तू ने मिला दिया है, ( अहिम् ) सांप के पास ( एव ) ही

प्रविष्टवान् ( यः ) ( इमा ) दृश्यमानानि ( विश्वा ) सर्वाणि ( भुवनानि ) भूत-  
जातानि । लोकान् ( चकल्लपे ) रूप मिश्रीकरणे चिन्तने च,—लिट् । रूपोरोलः ।  
पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम्, अभ्यासस्य सांहतिको दीर्घः । रचितवान्  
( तस्मै ) ( रुद्राय ) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे-क्विप्, तुक् + रु वधे-ड । दुःख-  
नाशकाय ( नमः ) नतिः ( अस्तु ) ( अग्नये ) सर्वव्यापकाय ॥

१—( अपेहि ) अपगच्छ ( अरिः ) हिंसकः शत्रुः ( असि ) ( वै ) खलु  
( असि ) ( विषे ) ( विषम् ) ( अपृक्थाः ) पृची सम्पर्के लुङ् । संयोजितवानसि  
( इत् ) एव ( अहिम् ) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारं सर्पम् ( एव ) ( अभ्यपेहि )



सू० टटं [ ४०४ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ६ ॥

( १७२३ )

( अभ्यपेहि ) त् चला जा, ( तम् ) उसको ( जहि ) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे विष में विष मिलने से अधिक प्रचण्ड हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की इन्द्रियां एक तो आप ही पाप की ओर चलायमान होती हैं, फिर कुसंस्कार वा कुसंगति पाकर अधिक प्रचण्ड विपैली हो जाती हैं। जैसे वैद्य विष को विष से मारता है, वैसे ही विद्वान् जितेन्द्रियता से इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ १ ॥

सूक्तम् टटं ॥

१-४ ॥ १, २ अग्निः; ३ आपः; ४ समिद् देवता ॥

१-३ अनुष्टुप्; ४ गायत्री ॥

विद्वत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों की संगति का उपदेश ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्षमहि । पय-

स्वानग्नं आगमं तं मा सं सृजु वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्षमहि ॥ पय-

स्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृजु । वर्चसा ॥ १

भावार्थ—( दिव्याः ) दिव्य गुण स्वभाव वाले ( अपः ) जलों [ के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों ] को ( अचायिषम् ) मैं ने पूजा है ( रसेन ) पराक्रम से ( सम् अपृक्षमहि ) हम संयुक्त हुये हैं । ( अग्ने ) हे विद्वान् ! ( पयस्वान् ) गति वाला मैं ( आ अगमम् ) आया हूं, ( तम् ) उस ( मा ) मुझको ( वर्चसा ) [ वेदाध्ययन आदि के ] तेज से ( सम् सृजु ) संयुक्त कर ॥ १ ॥

अभिलक्ष्य समीपं गच्छ ( तम् ) अहिम् ( जहि ) मारय । अन्यद् गतम् ॥

१—( अपः ) जलानि । जलानीव शोधकान् विदुषः ( दिव्याः ) दिव्य-गुणस्वभावाः ( अचायिषम् ) चायु पूजानिशामनयोः—लुङ् । पूजितवानस्मि ( रसेन ) पराक्रमेण ( सम् अपृक्षमहि ) पृची सम्पर्के—लुङ् । संगता अभूम ( पयस्वान् ) पय गतौ—असुन् । गतिमान् । उद्योगी ( अग्ने ) हे विद्वन् ( आ अगमम् ) गमेर्लुङ् । आगतोऽस्मि ( तम् ) तादृशम् ( मा ) माम् ( संसृजु ) संयोजय ( वर्चसा ) ब्रह्मवर्चसेन ॥



( १९२४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८८ [ ४०४ ]

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २२ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्यु मे  
अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ २ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्र-जया । सम् ।  
आयुषा ॥ विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् ।  
सह । ऋषि-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वान् ! ( मा ) मुझको ( वर्चसा ) [ ब्रह्म विद्या के ] तेज से ( सम् ) अच्छे प्रकार ( प्रजया ) प्रजा से ( सम् ) अच्छे प्रकार और ( आयुषा ) जीवन से ( सम् सृज ) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । ( देवाः ) विद्वान् लोग ( अस्य ) इस ( मे ) मुझको ( विद्युः ) जानें, ( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् आचार्य ( ऋषिभिः सह ) ऋषियों के साथ [ मुझे ] ( विद्यात् ) जाने ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ २ ॥

इदमाप्ः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्च अभिदुद्रो-  
हानृतं यच्च शे पे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहतु । अवद्यम् । च । मलम् । च ।  
यत् ॥ यत् । च । अभि-दुद्रोह । अनृतम् । यत् । च । शे पे ।  
अभीरुणम् ॥ ३ ॥

२—( सम् ) सम्यक् ( मा ) माम् ( अग्ने ) विद्वान् ( वर्चसा ) वेदाध्ययनादितेजसा ( सृज ) संयोजय ( सम् ) ( प्रजया ) ( सम् ) ( आयुषा ) जीवनेन ( विद्युः ) जानीयुः ( मे ) द्वितीयार्थे षष्ठी । माम् ( अस्य ) एनम् ( देवाः ) विद्वान् ( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् । आचार्यः ( विद्यात् ) जानीयात् ( ऋषिभिः ) अ० २ । ६ । १ । आप्तैः । मुनिभिः ॥



सू० ८८ [ ४०४ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १९२५ )

भाषार्थ—( आपः ) हे जल [ के समान शुद्धि करने वाले विद्वानो ! ]  
 ( इदम् ) इस [ सय ] को ( प्रवहत ) बहा दो, ( यत् ) जो कुछ [ मुझ में ]  
 ( अवद्यम् ) अकथनीय [ निन्दनीय ] ( च च ) और ( मलम् ) मलिन कर्म है ।  
 ( च ) और ( यत् ) जो कुछ ( अनृतम् ) झूठ मूठ ( अभिदुद्रोह ) बुरा चीता  
 है, ( च ) और ( यत् ) जो कुछ ( अभीरुणम् ) निर्भय [ निरपराधी ] पुरुष को  
 ( शेषे ) मैंने दुर्वचन कहा है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को  
 सुधारें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—६। १७ ॥

एधैऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

एधैः । असि । एधिषीय । सम-इत् । असि । सम् । एधिषीय ।

तेजः । असि । तेजः । मयि । धेहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्वन् ! ] तू ( एधः ) बड़ा हुआ ( असि ) है, ( एधि-  
 षीय ) मैं बढ़ूँ, ( समित् ) तू प्रकाशमान ( असि ) है, मैं ( सम् ) ठीक ठीक  
 ( एधिषीय ) प्रकाशमान होऊँ । ( तेजः असि ) तू तेज है, ( तेजः ) तेज को

३—( इदम् ) वक्ष्यमाणम् ( आपः ) जलानीव शुद्धिकरा विद्वांसः ( प्र  
 वहत ) अपनयत ( अवद्यम् ) अकथनीयं निन्द्यम् ( च च ) समुच्चये ( मलम् )  
 अ० २। ७। १। मलिनं कर्म ( यत् ) यत् किञ्चित् ( अभिदुद्रोह ) द्रह जिघांसा-  
 याम्-लिट् । अनिष्टं चिन्तितवानस्मि ( अनृतम् ) यथा तथा । असत्यम् ( शेषे )  
 शप आक्रोशे-लिट् । दुर्वचनं कथितवानस्मि ( अभीरुणम् ) क्षधिपिशिमिथिभ्यः  
 कित् । उ० ३। ५५ । जि भी भये-उनन्, स च कित्, रुडागमः । निर्भयम् ।  
 अनपराधिनम् ॥

४—( एधः ) एध वृद्धौ—पचाद्यच् । प्रवृद्धः ( असि ) ( एधिषीय ) एध  
 वृद्धौ—आशीर्लिङ् । अहं वर्धिषीय ( समित् ) जि इन्धो दीप्तौ—किपि, नकारलोपः ।  
 प्रकाशमानः ( असि ) ( सम् ) सम्यक् ( एधिषीय ) जि इन्धो दीप्तौ आशी-  
 र्लिङि छान्दसो नकारलोपो गुणश्च । इन्धिषीय । अहं समिद्धः प्रदीप्तः भूया-



( १७२६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८० [ ४०५ ]

( मयि ) मुक्तं मे ( धेहि ) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध विद्वानों से सुशिक्षा पाकर उन्नति करते हुये तेजस्वी हों ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ जगती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।

ओजो दासस्य दुम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराण-वत् । व्रततेः—इव । गुष्पितम् ॥

ओजः । दासस्य । दुम्भय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे राजन् । ] ( पुराणवत् ) पुराण [ पुराने नियम ] के अनुसार ( दासस्य ) दुःखदायी डाकू के ( ओजः ) बल को ( व्रततेः ) बेल के ( गुष्पितम् इव ) गांठ के समान ( अपि ) निश्चय करके ( वृश्च ) काट दे और ( दुम्भय ) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा चोर आदि दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी रखे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—८। ४०। ६ ॥

वृथं तदस्य संभुतं वस्विन्द्रेण विभंजामहै । म्लाप-

सम् ( तेजः ) प्रकाशस्वरूपः ( असि ) ( तेजः ) प्रकाशम् ( मयि ) ब्रह्मचारिणि ( धेहि ) धारय ॥

१—( अपि ) अवधारणे ( वृश्च ) छिन्धि ( पुराणवत् ) पुरा नीयते पुराणम् । पुरा + णीञ् प्राणणे-ड । एत्वं च, वतिः शादृश्ये । पुरातननियमवत् ( व्रततेः ) अमेरतिः । उ० ४। ५६ । वृत्तु वर्तने-अति । व्रततिर्वरणवच्च सयनाच्च ततः नावच्च-निरु० ६ । २८ लतायाः ( इव ) यथा ( गुष्पितम् ) गुप् रक्षणे—क, यकारश्छान्दसः । गुपितम् । लताग्रन्थिम् ( ओजः ) बलम् ( दासस्य ) हिंसकस्य ( दुम्भय ) दम्भि प्रेरणे । प्रेरय । निःसारय ॥



सू० ८० [ ४०५ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १९२९ )

यामि भुजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । 'सम्-भृतम् । वसु' । इन्द्रेण । वि । भु-  
जामहै ॥ स्लापयामि । भुजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते । २ ।

भाषार्थ—( वयम् ) हम लोग ( इन्द्रेण ) बड़े ऐश्वर्यवाले राजा के  
साथ ( अस्य ) इस [ शत्रु ] के ( संभृतम् ) एकत्र किये हुये ( तत् ) उस ( वसु )  
धन को ( वि भजामहै ) बांट लेवे । [ हे शत्रु ! ] ( वरुणस्य ) शत्रु निवारक  
राजा की ( व्रतेन ) व्यवस्था से ( ते ) तेरी ( भुजः ) तमक और ( शिभ्रम् )  
ढिठाई को ( स्लापयामि ) मैं मेटता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—राजा और राजपुरुष यथान्याय शत्रु को धनदण्ड आदि  
देकर निर्बल कर दें ॥ २ ॥

यथा शोपे अपायतै स्त्रीषु चासुदनावयाः । अवस्थ-  
स्य क्रुदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः । यदाततमव-  
तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शोपः । अप-अपातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ॥  
अवस्थस्य । क्रुदि-वतः । शाङ्कुरस्य । नि-तोदिनः ॥ यत् । आ-  
ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्-ततम् । नि । तत् । तनु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अवस्थस्य ) हिंसा में रहने वाले, ( क्रुदिवतः ) गाली बकने  
वाले, ( शाङ्कुरस्य ) शङ्का उत्पन्न करनेवाले, ( नितोदिनः ) नित्य सताने

२—( वयम् ) धार्मिकाः ( तत् ) ( अस्य ) शत्रोः ( संभृतम् ) संगृहीतम्  
( वसु ) धनम् ( इन्द्रेण ) परमैश्वर्यवता राजा सह ( वि भजामहै ) विभक्तं  
करवामहै ( स्लापयामि ) स्लै हर्षक्षये, एयन्तात् पुगागमः । नाशयामि ( भुजः )  
इ भ्राजृ दीप्तौ-असुन, ह्रस्वः । दीपनम् ( शिभ्रम् ) स्फुटितश्चिवश्चि० । उ०  
२ । १३ । शीभृ कथ्यते-रक्, ह्रस्वः । आत्मश्लाघाम् ( वरुणस्य ) शत्रुनिवार-  
कस्य राज्ञः ( व्रतेन ) धर्मणा । व्यवस्थया ( ते ) तव ॥

३—( यथा ) येन प्रकारेण ( शोपः ) अ० ४ । ३७ । ७ । पराक्रमः ( अपायतै )  
अय गतौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । आडागमः । चैतोऽन्यत्र । पा०



( १७२८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८१ [ ४०६ ]

वाले पुरुष का ( शेषः ) पराक्रम ( यथा ) जिस प्रकार ( अपायतै ) मिट जावे ( च ) और ( स्त्रीषु ) स्तुति योग्य स्त्रियों [ वा उनके समान सज्जन प्रजाओं ] में ( अनावयाः ) न पहुँचने वाला ( असत् ) होवे, [ उसी प्रकार हे राजन् ! ] ( यत् ) जो कुछ [ उसका बल ] ( आततम् ) फैला हुआ है, ( तत् ) उसे ( अवतनु ) संकुचित करदे और ( यत् ) जो कुछ [ सामर्थ्य ] ( उत्ततम् ) ऊँचा फैला है, ( तत् ) उसे ( नितनु ) नीचा कर दे ॥ ३ ॥

**भावार्थ**—राजा सज्जनों के सतानेवाले अत्याचारियों को सदा धर में रक्खे ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

## अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश

इन्द्रः सुत्राम्ना स्वर्वाँः अवैभिः सुमृड्डीको भवतु विश्ववैदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य

३। ४। ६६। एकारस्य ऐकारः । अपगच्छेत् ( स्त्रीषु ) अ० १। ८। १। स्तूयते सा स्त्री, ष्टुञ् स्तुतौ—इद्, डीप् । स्तुत्यासु नारीषु यद्वा ताभिस्तुत्यासु सत्प्रजासु ( अनावयाः ) अन् + आङ् + वी गतौ—असुन् । अनागमनीयः ( अवस्थस्य ) अव हिंसायाम्—अच् + तिष्ठते—क । हिंसने स्थितिशीलस्य ( क्रुदिवतः ) खनिकथज्यसि० । उ० ४। १४०। क्रुद आह्वानरोदनयोः—इ प्रत्ययः, मतुप्, रस्यनकारः, साहितिको दीर्घः । संज्ञायाम् । पा० ८। २। ११। मस्य वः । दुर्वचनशीलस्य ( शाङ्करस्य ) मन्दिवाशिमधि० । उ० १। ३८। शकि संशये, अन्तर्गतार्थः—उरच् स्वार्थेऽण् । शङ्कोत्पादकस्य ( नितोदिनः ) तुद व्यथने—णिनि । नित्यपीडकस्य ( यत् ) सामर्थ्यम् ( आततम् ) आयतम् ( तत् ) ( अवतनु ) सङ्कोच्य ( यत् ) ( उत्ततम् ) ऊर्ध्वविस्तृतम् ( तत् ) सामर्थ्यम् ( नितनु ) नितनं नीचीनं कुरु ॥



सू० ८२ [ ४०७ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७२८ )

पतयः स्याम ॥ १ ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवो-भिः । सु-सृङ्गीकः ।

भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः ।

कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सुत्रामा ) बड़ा रत्नक, ( स्ववान् ) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, ( विश्ववेदाः ) बहुत धन वा ज्ञान वाला ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा ( अवोभिः ) अनेक रक्षाओं से ( सुसृङ्गीकः ) अत्यन्त सुख देनेवाला ( भवतु ) होवे । वह ( द्वेषः ) बैरियों को ( बाधताम् ) हटावे, ( नः ) हमारे लिये ( अभयम् ) निर्भयता ( कृणोतु ) करे और हम ( सुवीर्यस्य ) बड़े पराक्रम के ( पतयः ) पालन करनेवाले ( स्याम ) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों को नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।४७।१२। तथा १०।१३१।६। और यजु०—२०।५१ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराचिच्च द्वेषः सनु-  
तयुं योतु । तस्य वयं सुमत्तौ युज्ञियस्यापि भद्रे सौ-  
मनसे स्याम ॥ १ ॥

१—( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( सुत्रामा ) त्रैङ् पालने-मनिन् । अति-  
रत्नकः ( स्ववान् ) स्वा ज्ञातयः । प्रशस्तज्ञातियुक्तः ( अवोभिः ) रक्षणैः ( सुसृङ्गीकः )  
बहुसुखयिता ( विश्ववेदाः ) वेदांसि धनानि ज्ञानानि वा । बहुधनः । बहुज्ञानः ।  
( बाधताम् ) निवारयतु ( द्वेषः ) द्विष अप्रीतौ—विच् । द्वेषन् ( अभयम् )  
निर्भयत्वम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( कृणोतु ) करोतु ( सुवीर्यस्य ) अतिपरा-  
क्रमस्य ( पतयः ) पालकाः ( स्याम ) भवेम ॥



सः । सु-त्रामी । स्व-वान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् ।  
 द्वेषः । सनुतः । युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मत्तौ । यज्ञियस्य ।  
 अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सः ) वह ( सुत्रामी ) बड़ा रक्षक, ( स्ववान् ) बड़ा धनी,  
 ( इन्द्रः ) महा प्रतापी राजा ( अस्मत् ) हम से ( आरात् चित् ) बहुत ही दूर  
 ( द्वेषः ) शत्रुओं को ( सनुतः ) निर्णय पूर्वक ( युयोतु ) हटावे । ( वयम् ) हम  
 लोग ( तस्य ) उस ( यज्ञियस्य ) पूजा योग्य राजा की ( अपि ) ही ( सुमत्तौ ) सुमति  
 में और ( भद्रे ) कल्याण करनेवालों ( सौमनसे ) प्रसन्नता में ( स्याम् ) रहें ॥ १ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य प्रजारक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर  
 लड़ा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-६। ४७। १३ । तथा १०। १३१। ७।  
 और यजु० २०। ५२ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शरत्तपोपदेशः—शरों के लक्षणों का उपदेश ॥

इद्रेण मनुयुना वयमभि ष्याम पृतन्यतः ।

घ्नन्तौ वृत्राण्यमृति ॥ १ ॥

इन्द्रेण । मनुयुना । वयम् । अभि । स्याम् । पृतन्यतः ॥

घ्नन्तः । वृत्राणि । अमृति ॥ १ ॥

१—( सः ) प्रसिद्धः ( सुत्रामी ) सुरक्षकः ( स्ववान् ) गतमन्त्रे । महाधनः  
 ( इन्द्रः ) प्रतापी राजा ( अस्मत् ) अस्मत्तः ( आरात् ) दूरे ( चित् ) एवं ( द्वेषः )  
 गतमन्त्रे । शत्रून् ( सनुतः ) स्वरादि निपातमव्यम् । पा० १। १। ३७। अव्यय-  
 संज्ञा । सनुतः—निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३। २५। निर्णयपूर्वकम् । निश्चयी-  
 कृतम् ( युयोतु ) यौतेः शपः श्लुः । निवारयतु ( तस्य ) ( वयम् ) ( सुमत्तौ )  
 अनुग्रहबुद्धौ ( यज्ञियस्य ) पूजार्हस्य ( अपि ) ( भद्रे ) कल्याणकरे ( सौमनसे )  
 सुमनसो भावे । प्रसन्नतायाम् ( स्याम् ) ॥



सू० ८४ [ ४०८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७३१ )

भाषार्थ—( इन्द्रेण ) प्रतापी सेनापति के साथ और ( मन्युना ) क्रोध के साथ ( वृत्राणि ) [ घेरनेवाले ] सेनादलों को ( अप्रति ) बेरोक ( घ्नन्तः ) मारते हुये ( वयम् ) हम लोग ( पृतन्यतः ) सेना चढ़ाने वालों को ( अभि स्याम् ) हरा देंगे ॥ १ ॥

भाषार्थ—शूर सेनानी के साथ समस्त सेना शूर होकर शत्रुओं को मारे ॥ १ ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्ञःस्तुत्युपदेशः—राजा की स्तुति का उपदेश ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।

यथा न इन्द्रः केवलीविशः संमनसुस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अथ । सोमम् । नयामसि ॥ यथा ।

नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्-मनसः । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( ध्रुवम् ) दृढ़ स्वभाव ( सोमम् ) ऐश्वर्यवान् राजा को ( ध्रुवेण ) दृढ़ ( हविषा ) आत्मदान वा भक्ति के साथ ( अथ नयामसि ) हम स्वीकार करते हैं । ( यथा ) जिस से [ वह ] ( इन्द्रः ) प्रतापी, राजा ( नः ) हमारे लिये ( केवलीः ) सेवास्वभाव वाली ( विशः ) प्रजाओं को ( संमनसः ) एक मन ( करत् ) कर देवे ॥ १ ॥

१—( इन्द्रेण ) परमैश्वर्यवता सेनापतिना ( मन्युना ) क्रोधेन ( वयम् ) सैनिकाः ( अभि स्याम ) अभिभवेम ( पृतन्यतः ) अ० १ । २१ । २ । पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् ( घ्नन्तः ) मारयन्तः ( वृत्राणि ) । आचारकाणि सेनादलानि ( अप्रति ) अप्रतिपक्षम् ॥

१—( ध्रुवम् ) ध्रु स्वैर्ये—अच् । स्थिरम् ( ध्रुवेण ) दृढेन ( हविषा ) आत्मदानेन ( सोमम् ) ध्रु ऐश्वर्ये—मन् । ऐश्वर्यवन्तम् ( अथ नयामसि ) स्वी-कुर्मः ( यथा ) येन प्रकारेण ( नः ) अस्मभ्यम् ( इन्द्रः ) प्रतापी ( केवलीः ) अ० ३ । १८ । २ केवल-डीप् । सेवास्वभावाः । सेवनीयाः ( विशः ) प्रजाः ( संमनसः ) समानमनस्काः ( करत् ) कुर्यात्



( १७३२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८५ [ ४१० ]

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वान् राजा का अभिषेक करके प्रार्थना करें कि सब प्रजा को परस्पर मिलाकर प्रसन्न रखे ॥ १ ॥  
यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १७३ । ६ । और यजु० ७ । २५ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ गृध्रौ देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधनिवारणोपदेशः—काम और क्रोध के निवारण का उपदेश ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः । उच्छ्रो-  
चनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्-इव । पेततुः ॥  
उच्छ्रोचन-प्रशोचनौ । अस्य । उत्-शोचनौ । हृदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अस्य ) इस [जीव]के ( श्यावौ ) दोनों गति शील (विथुरौ) व्यथा देने वाले, ( गृध्रौ ) बड़े लोभी [ काम क्रोध ] ( द्याम् इव ) आकाश को जैसे ( उत् पेततुः ) उड़ गये हैं । ( उच्छ्रोचनप्रशोचनौ ) अत्यन्त दुखाने वाले और सब ओर से दुखाने वाले दोनों (अस्य) इसके (हृदः) हृदय के (उच्छोचनौ) अत्यन्त दुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोधके वशीभूत होकर बड़ी बड़ी व्यर्थ कल्प-  
नायें करके सदा दुखी रहते हैं ॥ १ ॥

१—( उत् ) ऊर्ध्वम् ( अस्य ) जीवस्य ( श्यावौ ) अ० ५ । ५ । ८ । गति-  
शीलौ । कृष्णपीतवर्णौ वा ( विथुरौ ) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किञ्च । उ० १ ।  
३६ । व्यथ ताडने-उरच्, स च कित् । व्यथनशीलौ । चोरौ ( गृध्रौ ) सुसूक्ष्मा  
गृधिभ्यः कन् । उ० १२ । २४ । गृधु अभिकाक्षायाम्-कन् । अतिलोभिनौ कामक्रोधौ  
( द्याम् ) आकाशम् ( इव ) यथा ( पेततुः ) पल्ल पतने-लिट् । गतवन्तौ ( उच्छ्रो-  
चनप्रशोचनौ ) शोचयतेर्नन्धादिष्वाल् ल्युः । उच्छ्रोचयति अत्यन्तं दुःखयतीति  
उच्छ्रोचनः, प्रकर्षेण शोचायतीति प्रशोचनः, एवंविधौ कामक्रोधौ ( अस्य )  
( प्राणिनः ) ( उच्छ्रोचनौ ) अत्यन्तं शोचयितारौ ( हृदः ) हृदयस्य ॥



अहमन्नावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।

कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसदा-इव ॥

कुर्कुरौ-इव । कूजन्तौ । उत्-अवन्तौ । वृकौ-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अहम् ) मैंने ( एनौ ) इन दोनों को ( उत् अतिष्ठिपम् ) उठा दिया है, ( इव ) जैसे ( श्रान्तसदा ) थक कर बैठे हुये ( गावौ ) दो बैलों को, ( इव ) जैसे ( कूजन्तौ ) घुरघुराते हुये ( कुर्कुरौ ) [ कुर कुर करने वाले ] कुत्तों को, और ( इव ) जैसे ( उदवन्तौ ) दो घुस आने वाले ( वृकौ ) भेड़ियों को ॥ २ ॥

भाषार्थ—मनुष्य काम क्रोध रूप शत्रुओं को विचार पूर्वक तुरन्त हटावे ॥ २ ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथौ संतोदिनावुत ।

अपि नह्याम्यस्य मेढूय इतः स्त्री पुमान् जुभार ॥३॥

आ-तोदिनौ । नि-तोदिनौ । अथो इति । सम्-तोदिनौ ।

उत ॥ अपि । नह्यमि । अस्य । मेढूम् । यः । इतः । स्त्री ।

पुमान् । जुभार ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अथो ) और भी ( आतोदिनौ ) दोनों सब ओर से सताने वालों, ( नितोदिनौ ) नित्य सताने वालों, ( उत ) और ( संतोदिनौ ) मिलकर

२—( अहम् ) विद्वान् ( एनौ ) पूर्वोक्तौ गृध्रौ कामक्रोधौ ( उदतिष्ठिपम् ) तिष्ठतेर्यन्ताल् लुङि चङि रूपम् । उत्थापितवानस्मि । अपसारितवानस्मि ( गावौ ) वृषभौ ( श्रान्तसदा ) श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ निषीदन्तौ ( कुर्कुरौ ) कुर शब्दे—क्विप् + कुर शब्दे—क । कुरमिति शब्दं कुर्वन्तौ श्वानौ ( इव ) ( कूजन्तौ ) ध्वनिं कुर्वन्तौ ( उदवन्तौ ) अव प्रवेशे—शतृ । उद्गत्य प्रविशन्तौ ( वृकौ ) अ० ४ । ३ । १ । अरण्यश्वानौ ( इव ) ॥

३—( आतोदिनौ ) तुद व्यथने—णिनि । सर्वतो व्यथनशीलौ ( नितोदिनौ )



( १७३४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ट६ [ ४१९ ]

सताने वालों को ( इतः ) यहां पर [ हमारे बीच ] ( यः ) जिस किसी ( स्त्री ) स्त्री [ वा ] ( पुमान् ) पुरुष ने ( जभार ) स्वीकार किया है, ( अस्य ) उसके ( मेढूम ) सेचनसामर्थ्य [ वृद्धि शक्ति ] को ( अपि ) सर्वथा ( नह्यामि ) मैं बांधता हूं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो स्त्री पुरुष काम क्रोध में फंस जाते हैं, वे अनेक पाप बन्धनों में पड़कर शक्तिहीन और वृद्धिहीन होकर कष्ट भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ट६ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधशान्त्युपदेशः—काम और क्रोध की शान्ति का उपदेश ॥

असदन् गावः सदनेऽपपत्तु वसतिं वयः । आस्थाने पर्वता  
अस्थुः स्थाग्निं वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

असदन् । गावः । सदने । अपपत्तु । वसतिम् । वयः ॥ आ-  
स्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाग्निं । वृक्कौ । अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( गावः ) गौयें ( सदने ) बैठक में ( असदन् ) बैठ गयी हैं, ( वयः ) पत्नी ने ( वसतिम् ) घोंसले में ( अपपत्तु ) बसेरा लिया है । ( पर्वताः ) पहाड़ ( आस्थाने ) विश्राम स्थान पर ( अस्थुः ) ठहर गये हैं, ( वृक्कौ ) दोनों रोक डालने वाले वा रोकने योग्य [ काम क्रोध ] को ( स्थाग्निं ) स्थान पर

नितरां व्यथयन्तौ ( अथो ) अनन्तरम् ( सन्तोदिनौ ) सम्भूय व्यथाकारिणौ ( उत ) अपि ( अपि ) सर्वथा ( नह्यामि ) बध्नामि ( अस्य ) ( प्राणिनः ) ( मेढूम ) सर्वधातुभ्यः घृन् । उ० ४ । १५६ । मिह सेचने—घृन् । सेचनसामर्थ्यम् । वृद्धिशक्तिम् ( यः ) कश्चित् ( इतः ) अत्र । अस्मासु ( स्त्री ) ( पुमान् ) पुरुषः ( जभार ) ह्य् स्वीकारे । जहार । स्वीकृतवान् ॥

१—( असदन् ) षद्ल—लुङ् । निषण्णा अभूवन् ( गावः ) घेनवः ( सदने ) षद्ल—ल्युट् । स्थाने ( अपपत्तु ) अ० ५ । ३० । ६ । अगमत् ( वसतिम् ) वहि-  
वस्यतिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । वस निवासे—अति । नीडम् ( वयः ) वी गतौ असुन् । पत्नी ( वृक्कौ ) सृष्टृभूयुषिमुपिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति वृजीवर्जने-कक् ।



सू० ८७ [ ४१२ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७३५ )

(अतिष्ठिपम्) मैंने ठहरा दिया है ॥ १ ॥

भाषार्थ—इस मन्त्र में (युधौ) काम क्रोध का अर्थ गत सूक्त से आता है। जैसे गौये आदि अपने २ स्थान पर विश्राम करते हैं, ऐसे ही मनुष्य काम-क्रोध को विद्या आदि से शान्त करके प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ६। ७७। १ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-८ ॥ १, २ इन्द्रः; ४, ७ विश्वे देवाः; ५, ६, ८ यज्ञो देवता ॥

१-४ त्रिष्टुप्; ५ आर्ची भुरिग् गायत्री; ६ प्राजापत्या बृहती;

७ साञ्जी भुरिग् जगती; ८ उपरिष्ठाद् बृहती छन्दः ॥

मनुष्य धर्मोपदेशः—मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

यदुद्य त्वा प्रयति युज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्वृणी-  
महीह । ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् युज्ञमुप  
याहि सोमम् ॥ १ ॥

यत् । अद्य । त्वा । प्र-यति । युज्ञे । अस्मिन् । होतः । चि-  
कित्वन् । अवृणीमहि । इह ॥ ध्रुवम् । अयः । ध्रुवम् । उत ।  
शविष्ठ । प्र-विद्वान् । युज्ञम् । उप । याहि । सोमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये कि (अद्य) आज (त्वा) तुझको (अ-  
स्मिन्) इस (प्रयति) प्रयत्नसाध्य (युज्ञे) संगतियोग्य व्यवहार में, (चिकि-  
त्वन्) हे ज्ञानवान् ! (होतः) हे दानी पुरुष ! (इह) यहां पर (अवृणीमहि)  
हमने चुना है [ वर्णी किया है ] । (शविष्ठ) हे महाबली । तू (ध्रुवम्) दृढ़ता

वर्जकौ वर्जनीयौ वा कामक्रोधौ गतमन्त्रात् । अन्यद् गतम्—अ० ६। ७७। १ ॥

१—(यत्) यतः (अद्य) वर्तमाने दिने (त्वा) त्वाम् (प्रयति) यती  
प्रयत्ने—किप्, यद्वा इण् गतौ-शतृ । प्रयत्नसाध्ये । प्रवर्तमाने (युज्ञे) संगन्तव्ये  
व्यवहारे (अस्मिन्) (होतः) दातः (चिकित्वन्) अ० ५। १२। १ । हे ज्ञानवान्



से ( उत ) और भी ( ध्रुवम् ) दृढ़ता से ( अयः ) आ, ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहार को ( प्रविद्वान् ) पहिले से जानने वाला तू ( सोमम् ) ऐश्वर्य को ( उप ) समीप से ( याहि ) प्राप्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्या और बल प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावै। यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में—३। २६। १६। और यजुर्वेद—८। २० ॥

समिन्द्र नो मनसा नेषु गोभिः सं सूरिभिर्हरिवृन्तस्  
स्वस्त्या । स ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति स देवानां  
सुमतौ युज्ञियानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेषु । गोभिः । सम् । सूरिभिः ।  
हरि-वृन् । सम् । स्वस्त्या ॥ सम् । ब्रह्मणा । देव-हितम् । यत् ।  
अस्ति । सम् । देवानाम् । सु-मतौ । युज्ञियानाम् ॥ २ ॥

भावार्थ—( इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! ( नः ) हमें ( मनसा ) विद्वान के साथ और ( गोभिः ) इन्द्रियों वा वाणियों के साथ ( सम् ) ठीक ठीक, ( हरिवृन् ) हे श्रेष्ठमनुष्यों वाले ! ( सूरिभिः ) विद्वानों के साथ ( सम् ) ठीक ठीक, ( स्वस्त्या ) अच्छी सत्ता [ क्षेम कुशल ] के साथ ( सम् ) ठीक ठीक ( यन् ) जो [ ब्रह्म ] ( देवहितम् ) विद्वानों का हितकारक ( अस्ति ) है, [ उस् ] ( ब्रह्मणा )

( अवृणीमहि ) वृज् वरणे—लङ् । वयं वृतवन्तः । स्वीकृतवन्तः ( ध्रुवम् ) दृढत्वेन ( अयः ) अय गतौ—लेट्, परस्मैपदम् । आगच्छेः ( ध्रुवम् ) निश्चयं यथा तथा ( उत ) अपि ( शविष्ठ ) अ० ७। २५। १। हे बलवत्तम ( प्रविद्वान् ) अप्रे जानन् ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहारम् ( उप ) समीपम् ( याहि ) प्राप्नुहि ( सोमम् ) ऐश्वर्यम् ॥

२—( सम् ) सम्यक् । यथावत् ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवान् राजन् । ( नः ) अस्मात् ( मनसा ) विद्वानेन ( नेषु ) णीज् प्रापणे—लोटि शप् । सिब्वहुलं लेटि । अ० ३। १। ३४ । इति लिप् । अतो हेः । पा० ६। ४। १०५ । इति हेलोपः । सम् । प्रापय । गोभिः ) इन्द्रियैर्वाग्भिर्वा ( सूरिभिः ) अ० २। ११। ४। विद्वद्भिः ( इन्द्रिय ) इन्द्रियो मनुष्याः—निघ० २। ३। प्रशस्तमनुष्ययुक्त ( सम् ) ( स्वस्त्या )



ब्रह्म, वेद, धन, वा अन्न के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (सम्) ठीक ठीक (नेष) तू ले चल ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से मनस्वी, वाग्मी, और कार्य-कुशल होकर सब को उन्नति की ओर प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५।४२।४ और यजु० ८।१५ ॥

यानाव'ह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरयुस्वे अग्ने सुधस्थे ।  
जक्षिवांसःपपिवांसोमधून्यस्मै धत्तवसवो वसूनि ॥ ३ ॥

यान् । आ-अवहः । उशतः । देव । देवान् । तान् । प्र ।  
ईरयु । स्वे । अग्ने । सुध-स्थे ॥ जक्षि-वांसः । पपि-वांसः ।  
मधूनि । अस्मै । धत्त । वसवः । वसूनि ॥ ३ ॥

भावार्थ—( देव ) हे प्रकाशमान अध्यापक ! ( यान् ) जिन ( उशतः ) लालसा वाले ( देवान् ) विद्वानों को ( आ-अवहः ) तू लाया है, ( अग्ने ) हे विद्वान् ! ( तान् ) उन्हें ( स्वे ) अपनी ( सुधस्थे ) बैठक में ( प्र ईरय ) ले चल । ( वसवः ) हे श्रेष्ठजनों ! तुम ( मधूनि ) मधुर वस्तुओं को ( जक्षिवांसः ) खा चुककर और ( पपिवांसः ) पी चुककर ( अस्मै ) इस पुरुष के लिये ( वसूनि ) उत्तम ज्ञानों को ( धत्त ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्वानों से शिक्षा लेकर श्रेष्ठ गुण प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है = १।१६ ॥

अ० १।३०।२। सुसत्तया । क्षेमेण (सम्) ( ब्रह्मणा ) वेदेन धनेनाग्नेन वा ( देवहितम् ) विद्वद्भ्यो हितम् ( यत् ) ब्रह्म ( अस्ति ) ( सम् ) ( देवानाम् ) विदुषाम् ( सुमतौ ) श्रेष्ठयां बुद्धौ ( यज्ञियानाम् ) पूजार्हणाम् ॥

३—( यान् ) वक्ष्यमाणान् ( आ अवहः ) वहेर्लङ् प्रापितवानसि ( उशतः ) षश कान्तौ—शतृ । कामयमानान् ( देव ) हे प्रकाशमानाध्यापक ( देवान् ) विदुषः ( तान् ) ( प्रेरय ) आनय ( स्वे ) स्वकीये ( अग्ने ) विद्वन् ( सुधस्थे ) संगतिस्थाने ( जक्षिवांसः ) अ० ४।७।३। भक्षितवन्तः ( पपिवांसः ) पिबते—कवसुः । वस्वेकांजाद्घसाम् । पा० ७।२।६७। इडागमः । पीतवन्तः ( मधूनि ) मधुरवस्तूनि ( अस्मै ) विद्यार्थिने ( धत्त ) दत्त ( वसवः ) हे श्रेष्ठजनाः ( वसूनि ) श्रेष्ठानि ज्ञानानि ॥



सुगा वो देवाः सद्ना अकर्म य आजगम सर्वने मा  
जुषाणाः । वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसु घर्म  
दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

सु-गा । वः । दे-वाः । सद्-ना । अ-कर्म । ये । आ-जगम ॥  
सर्वने । मा । जुषाणाः ॥ वहमानाः । भरमाणाः । स्वा । वसूनि ।  
वसुम् । घर्मम् । दिवम् । आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विद्वानो ! ( वः ) तुझारे लिये ( सुगा ) सुख से  
पहुंचने योग्य ( सद्ना ) आसनों को ( अकर्म ) हमने बनाया है, ( ये ) जो  
तुम [ अपने ] ( सर्वने ) ऐश्वर्य में ( मा ) मुझे ( जुषाणाः ) प्रसन्न करते हुये  
( आजगम ) आये हो ( स्वा ) अपनी ( वसूनि ) श्रेष्ठ वस्तुओं को ( वहमानाः )  
पहुंचाते हुये और ( भरमाणाः ) पुष्ट करते हुये तुम ( वसुम् ) श्रेष्ठ ( घर्मम् )  
दिन और ( दिवम् अनु ) व्यवहार के बीच ( आ रोहत ) चढ़ते जाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों का आदर मान करके अपनी उन्नति करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८ । १८ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा  
यज्ञं । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञ-पतिम् । गच्छ ॥ स्वास् ।  
योनिम् । गच्छ । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( यज्ञ ) हे पूजनीय पुरुष ! ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहार को

४—( सुगा ) अ० ३ । ३ । ४ । सुखेन गन्तव्यानि ( वः ) युष्मभ्यम् ( देवाः )  
हे विद्वान्सः ( सद्ना ) आसनानि ( अकर्म ) वयं कृतवन्तः ( ये ) यूयम् ( आजगम )  
आगताः स्थ ( सर्वने ) ऐश्वर्ये ( मा ) माम् ( जुषाणाः ) प्रीणन्तः ( वहमानाः )  
प्रापयन्तः ( भरमाणाः ) पोषयन्तः ( स्वा ) स्वकीयानि ( वसूनि ) श्रेष्ठानि  
वस्तूनि ( वसुम् ) श्रेष्ठम् ( घर्मम् ) दिनम् ( दिवम् ) दिव्य व्यवहारे-क । व्यव-  
हारम् ( आ रोहत ) आरूढा भवत ( अनु ) प्रति ॥

५—( यज्ञ ) पूजनीय पुरुष ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहारम् ( यज्ञपतिम् )



सू० ८७ [ ४१२ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७३८ )

( गच्छ ) प्राप्त हो, ( यज्ञपतिम् ) पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले को ( गच्छ ) प्राप्त हो । और ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी [ वेदवाणी ] के साथ ( स्वाम् ) अपने ( योनिम् ) स्वभाव को ( गच्छ ) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहार और उत्तम मनुष्यों के साथसे अपने मनुष्य धर्मका कर्त्तव्य करता रहे ॥ ५ ॥

यहमन्त्र यजुर्वेद में है—८ । २२ ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा । ६ ।  
एषः । ते । यज्ञः । यज्ञ-पते । सह-सू'क्तवाकः ॥ सु-वीर्यः । स्वाहा । ६ ।

भाषार्थ—( यज्ञपते ) हे पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले पुरुष ! ( एषः ) यह ( ते ) तेरा ( यज्ञः ) पूजनीय व्यवहार ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी [ वेदवाणी ] द्वारा ( सहसूक्तवाकः ) सुन्दर वचनोंके उपदेशोंके सहित ( सुवीर्यः ) बड़े वीर-त्ववाला [ होवे ] ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद मन्त्रोंके मनन और उपदेश से अपना पराक्रम बढ़ावे ।  
यह मन्त्र कुछ भेदसे यजुर्वेद में है—८ । २२ ॥

वषट् हुतेभ्यो वषट् हुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं  
विच्चा गातुमित ॥ ७ ॥  
वषट् । हुतेभ्यः । वषट् । अहुतेभ्यः ॥ देवाः । गातु-विदुः ।  
गातुम् । विच्चा । गातुम् । इतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( हुतेभ्यः ) दिये हुये [ माता पिता आदि से पाये हुये ]

पूजनीयव्यवहारस्य पालकम् ( गच्छ ) ( स्वाम् ) स्वकीयाम् ( योनिम् ) प्रकृ-  
तिम् । स्वभावम् ( गच्छ ) ( स्वाहा ) अ० २ । १६ । १ । सुवाण्या । वेदवाचा ॥

६—( एषः ) ( ते ) तव ( यज्ञः ) पूजनीयो व्यवहारः ( यज्ञपते ) पूज-  
नीयो व्यवहारस्य पालक ( सहसूक्तवाकः ) सह + सु + उक्त + वच परिभाषणै-  
षम् । शोभनानामुक्तानां वचनानां वाकैर्भाषणैः सहितः ( सुवीर्यः ) उत्तमपरा-  
क्रमयुक्तः ( स्वाहा ) सुवाण्या ॥

७—( वषट् ) अ० १ । ११ । १ । वह प्रमाणे—डषटि । आहुतिः । भक्तिः



( १७४० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ८७ [ ४१२ ]

पदार्थों के लिये ( वषट् ) भक्ति [ हो ] , ( अहुतेभ्यः ) न दिये हुये [ स्वयं प्राप्त किये हुये ] पदार्थों के लिये ( वषट् ) भक्ति [ हो ] । ( गातुविदः ) हे पृथिवी के जाननेवाले ! ( देवाः ) हे विजय चाहनेवाले वीरो ! ( गातुम् ) मार्ग को ( वित्त्वा ) पाकर ( गातुम् ) पृथिवी को ( इत ) प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिसे पाये हुये और अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किये हुये पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें । और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी-होवें ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरभाग यजुर्वेद में है—८ । २१ ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् । स्वाहा दिवि  
स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते ध्यां स्वाहा ।  
मनसः । पते । इमम् । नः । दिवि । देवेषु । यज्ञम् ॥ स्वाहा ।  
दिवि । स्वाहा । पृथिव्याम् । स्वाहा । अन्तरिक्षे । स्वाहा ।  
वाते । ध्याम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( मनसःपते ) हे मन के स्वामी [ मनुष्य ! ] ( इमम् ) इस ( नः ) अपने [ हमारे ] ( यज्ञम् ) संगतिकरण व्यवहार को ( दिवि ) आकाशमें [ वर्तमान ] ( देवेषु ) दिव्य पदार्थों में ( स्वाहा ) सुन्दरवाणीके साथ, [ अर्थात् ] ( दिवि ) सूर्य में ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी के साथ, ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में ( स्वाहा ) सुन्दर वाणीके साथ, ( अन्तरिक्षे ) मध्यलोक में ( स्वाहा ) सुन्दर

( अहुतेभ्यः ) अ० ६ । ७१ । २ । मातापित्रादिभिर्दत्तेभ्यः पदार्थेभ्यः ( वषट् ) ( अहुतेभ्यः ) अदत्तेभ्यः । स्वपौरुषप्राप्तेभ्यः ( देवाः ) हे विजिगीषवः ( गातुविदः ) कमिमनि-जनिगा० । उ० १ । ७३ । गाङ् गतौ—तु । गातुः पृथिवीनाम-निघ० १ । १ । मार्गः । विद ज्ञाने—क्विप् । पृथिवीगुणानां ज्ञातारः ( गातुम् ) मार्गम् ( वित्त्वा ) विदू लामे—क्त्वा । लब्ध्वा ( गातुम् ) भूमिम् । भूमिराज्यम् ( इत ) प्राप्नुवा-

८—( मनसः ) अन्तःकरणस्य ( पते ) स्वामिन् ( इमम् ) ( नः ) अस्मा-कम् ( दिवि ) आकाशे वर्तमानेषु ( देवेषु ) दिव्य पदार्थेषु ( यज्ञम् ) संगतिक-रणव्यवहारम् ( स्वाहा ) सुवाण्या । वेदवाण्या द्वारा ( दिवि ) सूर्यलोके ( पृ-



सू० टं० [४१३]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७४१ )

वाणी के साथ, ( वाते ) वायु में ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी के साथ, ( धाम् ) में धारण कर ॥ ८ ॥

भाषार्थ—मनुष्य वेद द्वारा अपनी मनन शक्ति बढ़ाकर सूर्यविद्या, पृथिवीविद्या, अन्तरिक्षविद्या और वायुविद्यामें निपुण होकर उपकार करें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछभेदसे यजुर्वेद में है —८। २१ ॥

सूक्तम् टं० ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्राह्यपदार्थप्राप्त्युपदेशः—ग्राह्य पदार्थ पाने का उपदेश ॥

सं बृ॒ह॒र॒क्तं ह॒विषा घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ स॒म॒रु॒द्रिः ।

सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रे॑ गच्छतु॒ ह॒विः स्वाहा ॥१॥

सम् । ब॒र्हिः । अ॒क्तम् । ह॒विषा । घृ॒तेन॑ । सम् । इन्द्रे॑ण ।

वसु॑ना । सम् । म॒रुत्-भिः ॥ सम् । दे॒वैः । वि॒श्व-दे॑वेभिः ।

अ॒क्तम् । इन्द्रे॑म् । ग॒च्छतु॑ । ह॒विः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—( हविषा ) ग्रहण से और ( घृतेन ) सेचन से ( सम् ) ठीक ठीक, ( इन्द्रेण ) ऐश्वर्य से और ( वसुना ) धन से ( सम् ) ठीक ठीक, ( मरुद्भिः ) विद्वानों से ( सम् ) ठीक ठीक, ( अक्तम् ) सुधारा गया ( बर्हिः ) वृद्धि कर्म, और ( देवैः ) प्रकाशमान ( विश्वदेवेभिः ) सब उत्तम गुणों से ( सम् ) ठीक ठीक, ( अक्तम् ) संभाला गया ( हविः ) ग्राह्य पदार्थ ( स्वाहा ) सुन्दर वाणी [ वेद-

विद्याम् ) भूलोके ( अन्तरिक्षे ) मध्यलोके ( वाते ) वायुविद्यायाम् ( धाम् ) दधाते विधिहितिच्छान्दसं रूपम् । धरेयम् । अन्यद् गतम् ॥

१—( सम् ) सम्यक् । यथावत् ( बर्हिः ) अ० ५ । २२ । १ । बृहि वृद्धौ दीप्तौ च—इसि । वृद्धिकर्म ( अक्तम् ) अञ्जू व्यक्तिभक्षणकान्तिगतिषु-क्त । सुधारितम् ( हविषा ) हु दानादानादनेषु—इसि ग्रहणेन ( घृतेन ) घृ सेचने—क्त । सेचनेन ( इन्द्रेण ) ऐश्वर्येण ( वसुना ) धनेन ( मरुद्भिः ) अ० १ । २० । १ । देवैः । विद्वद्भिः ( देवैः ) प्रकाशमानैः ( विश्वदेवेभिः ) सर्वदिव्यगुणैः ( अक्तम् )



( १७४२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० टट [ ४१४ ]

वाणी ] के साथ ( इन्द्रम् ) प्रतापी पुरुष को ( गच्छतु ) पहुँचे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न के साथ विद्या और धन की रक्षा और वृद्धि करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से यजुर्वेद में है—२।२२॥

सूक्तम् टट ॥

१ ॥ यजमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्रचारोपदेशः—विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया  
शयानाम् । होतृषदनं हरितं हिरण्यम् निष्का एते  
यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः ।  
अमुया । शयानाम् ॥ होतृ-षदनम् । हरितम् । हिरण्यम् ।  
निष्काः । एते । यजमानस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्वान् ! ] ( वेदिम् ) विद्या [ वा यज्ञभूमि ] ( परि )  
सब ओर ( स्तृणीहि ) फैला और ( परि ) सब ओर ( धेहि ) पुष्टकर (अमुया)  
उस [ विद्या ] के साथ ( शयानाम् ) वर्तमान ( जामिम् ) गति को ( मामोषीः )  
मत लूट । ( होतृषदनम् ) दाता का घर ( हरितम् ) हरा भरा [ स्त्रीकार योग्य ]  
और ( हिरण्यम् ) सोने से भरा [ होता है ], ( एते ) यह सब ( निष्काः )

शोधितम् ( इन्द्रम् ) प्रतापिनं जनम् ( गच्छतु ) प्राप्नोतु ( हविः ) ग्राह्यः पदार्थः  
( स्वाहा ) सुवाण्या । वेदविद्यया ॥

१—( परि ) सर्वतः ( स्तृणीहि ) स्तृज् आच्छादने । छादय । विस्तारय  
( परि ) परितः ( धेहि ) पोषय ( वेदिम् ) अ० ५ । २२ । १ । विद् ज्ञाने—इन्द्र ।  
विद्यां यज्ञभूमिं वा ( जामिम् ) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या प्रापणे—मि । यस्य  
जः । यद्वा वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । जमं गतौ—इज् । जामिरन्येऽस्यां  
जनयन्ति जामपत्यम् । जमतेर्वास्याद्गतिकर्मणे निर्गमनप्राया भवति—ति० ३ ।  
६ । गतिं प्रवृत्तिम् ( मा मोषीः ) मुष स्तेये—लुङ् । मा चोरय ( अमुया ) अनय



सू० १०० [४१५] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७४३ )

सुनहले अलङ्कार ( यजमानस्य ) यजमान [ विद्वानों के सत्कार करने वाले ]  
के ( लोके ) घर में [ रहते हैं ] ॥ १ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह  
महाधनी होकर सुखी रहता है ॥ १ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुविचारनिवारणोपदेशः—कुविचार के हटाने का उपदेश ॥

पर्यावर्ते दुष्पण्यात् पापात् स्वप्यादभूत्याः ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परि-आवर्ते । दुः-स्वप्यात् । पापात् । स्वप्यात् । अभूत्याः ॥

ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्न-मुखाः । शुचः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( दुष्पण्यात् ) बुरी निद्रा में उठे हुये और ( स्वप्यात् ) स्वप्न  
में उठे हुये ( पापात् ) पाप से [ प्राप्त ] ( अभूत्याः ) अनैश्वर्यता [ निर्धनता ]  
से ( पर्यावर्ते ) मैं अलग हटता हूँ । ( अहम् ) मैं ( ब्रह्म ) ब्रह्म [ ईश्वर ] को  
[ अपने ] ( अन्तरम् ) भीतर, और ( स्वप्नमुखाः ) स्वप्न के कारण से होने वाले  
( शुचः ) शोकों को ( परा ) दूर ( कृण्वे ) करता हूँ ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमात्मा में लवलीन होकर मन को ऐसा वश में करे  
कि स्वप्न में भी कुवासनाये न उठें ॥ १ ॥

वेद्या सह ( शयानाम् ) शीङ् शयने-शानच् । वर्तमानाम् ( होतृषदतम् ) दातृ-  
गृहम् ( हरितम् ) दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । ह्रस्व हरणे, स्त्रीकारे—इतन् ।  
स्वीकरणीयम् । शोभनम् ( हिरण्यम् ) हिरण्यमयम् । सुवर्णयुक्तम् ( निष्काः ) नौ  
सदेर्दिङ् । उ० ३ । ४५ । नि + षद् लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कन्, स च डित् ।  
सुवर्णमया अलङ्काराः ( पते ) दृश्यमानाः ( यजमानस्य ) देवपूजकस्य ( लोके ) गृहे ॥

१—( पर्यावर्ते ) पृथग् भवामि ( दुष्पण्यात् ) अ० ४ । ६ । ६ । दुर् दुष्टेषु  
स्वप्नेषु भवात् ( पापात् ) अ० २ । १२ । ५ । पातकात् ( स्वप्यात् ) स्वप्नप्रभवात्  
( अभूत्याः ) अनैश्वर्यत्वात् । निर्धनत्वात् ( ब्रह्म ) ईश्वरम् ( अहम् ) मनुष्यः ( अ-  
न्तरम् ) मध्ये । आत्मनि ( कृण्वे ) करोमि ( परा ) दूरे ( स्वप्नमुखाः ) स्वप्न-  
प्रधानाः ( शुचः ) शोकान् ॥



सूक्तम् १०१ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशोपदेशः—अविद्या के नाश का उपदेश ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।

सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्नामि । न । प्रातः । अधि-गम्यते ॥

सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तत् । दृश्यते । दिवा ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न में (अश्नामि) मैं खाता हूं, [वह] (प्रातः) प्रातःकाल (न) नहीं (अधिगम्यते) मिलता है । (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (तत्) वह (दिवा) दिन में (नहि) नहीं (दृश्यते) दीखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे इन्द्रियों की चंचलता से स्वप्न में खाया अन्न शरीर पोषक नहीं होता, वैसेही अविद्याजन्य सुख इष्टसाधक नहीं होता ॥ १ ॥

सूक्तम् १०२ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ विराट् पुरस्ताद् बृहती छन्दः ॥

उच्चपदप्राप्त्युपदेशः—ऊंचे पद पाने का उपदेश ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मुत्यवे ।

मे क्षाम्युर्ध्वं स्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

नमः—कृत्य । द्यावापृथिवीभ्याम् । अन्तरिक्षाय । मुत्यवे ॥

मे क्षामि । ऊर्ध्वः । तिष्ठन् । मा । मा । हिंसिषुः । ईश्वराः ॥ १ ॥

१—(यत्) यत्किञ्चित् (स्वप्ने) निद्रायाम् (अन्नम्) भोजनम् (अश्नामि) अश भोजने । खादामि (न) निषेधे (प्रातः) प्रभाते (अधिगम्यते) लग्न्यते (सर्वम्) (तत्) स्वप्नफलम् (अस्तु) (मे) मह्यम् (शिवम्) मङ्गलकरम् (नहि) नैव (तत्) अन्नम् (दृश्यते) निरीक्ष्यते (दिवा) दिने ॥



सू० १०३ [ ४१८ ] सप्तमं कार्डम् ॥ ७ ॥

( १७४५ )

भाषार्थ—( द्यावापृथिवीभ्याम् ) सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और ( अन्तरिक्षाय ) अन्तरिक्ष लोक को ( नमस्कृत्य ) नमस्कार करके ( मृत्यवे ) मृत्यु नाश करने के लिये ( ऊर्ध्वः ) ऊपर ( तिष्ठन् ) ठहरता हुआ ( मेक्षामि ) मैं चक्षता हूं, ( ईश्वराः ) [ कोई ] बलवान् ( मा ) मुझको ( मा हिंसिषुः ) न हानि करें ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करे ॥ १ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

## अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

द्रोहत्यागोपदेशः—द्रोह के त्याग का उपदेश ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्वत्या उन्नैष्यति क्षत्रियो  
वस्य द्रुच्छन् । को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को  
देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्व-वत्याः । उत् । नैष्यति ।  
क्षत्रियः । वस्यः । द्रुच्छन् ॥ कः । यज्ञ-कामः । कः । उ-इति ।  
पूर्ति-कामः । कः । देवेषु । वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

१—( नमस्कृत्य ) सत्कृत्य । उपकृत्य ( द्यावापृथिवीभ्याम् ) सूर्यभूलोक-  
भ्याम् ( अन्तरिक्षाय ) मध्यलोकाय ( मृत्यवे ) अ० पृ० ३० । १२ । मृत्यु नाश-  
यितुम् ( मेक्षामि ) म्यक्षति, मियक्षति, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ छान्दसं रूपम् ।  
मियक्षामि । गच्छामि ( ऊर्ध्वः ) उच्चः ( तिष्ठन् ) स्थितिं कुर्वन् ( मा ) माम्  
( मा हिंसिषुः ) मा नाशयन्तु ( ईश्वराः ) केऽपि बलवन्तः ॥



भाषार्थ—( वस्यः ) उत्तम फल ( इच्छन् ) चाहता हुआ ( कः ) प्रजापति [ प्रजा पालक प्रकाशमान वा सुखदाता ] ( क्षत्रियः ) क्षत्रिय ( नः ) हमको ( अस्याः ) इस ( अवद्यवत्याः ) धिक्कारयोग्य ( ब्रुहः ) डाह क्रिया से ( उन्नेष्यति ) उठावेगा । ( कः ) प्रजापति [ मनुष्य ] ( यज्ञकामः ) पूजनीय व्यवहार चाहने वाला और ( कः ) प्रजापति ( उ ) ही ( पूर्तिकामः ) पूर्ति [ सिद्धि ] चाहने वाला [ होता है ] ( कः ) प्रजापति [ मनुष्य ] ( देवेषु ) उत्तम गुणों के बीच ( दीर्घम् ) दीर्घ ( आयुः ) आयु ( वनुते ) मांगता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्रोह छोड़कर पुरुषार्थ करते हुये उत्तम गुण प्राप्त करके सुख बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्रचारोपदेशः—वेद विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

कः पृश्निर्धेनुं वरुणेन दुत्तामथर्वणे सुदुघानित्यवत्साम् ।  
बृहस्पतिना सुख्यं जुषाणो यथावृशं तन्वः कल्पयाति ॥  
कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । । दुत्ताम् । अथर्वणे । सु-  
दुघाम् । नित्यवत्साम् ॥ बृहस्पतिना । सुख्यम् । जुषाणः ।  
यथावृशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ १ ॥

१—( कः ) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कच दीप्तौ वा क्रमुः कान्तौ वा क्रमुः पादविक्षेपे गतौ च-ङ प्रत्ययः । कः कमनो वा क्रमणो वा सुहो वा- निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम-निघ० ३ । ६ । दीप्यमानः । सुखकारकः । प्रजापतिर्मनुष्यः ( अस्याः ) वर्तमानायाः ( नः ) अस्मान् ( ब्रुहः ) ब्रुह जिघांसायाम्—किप् । द्रोहक्रियायाः । दुर्गतेः सकाशात् ( अवद्यवत्याः ) निन्द्यकर्मयुक्तायाः ( उन्नेष्यति ) उद्धरिष्यति ( क्षत्रियः ) अ० ४ । २२ । १ । क्षत्रे राज्ये साधुः ( वस्यः ) अ० ६ । ४७ । ३ । वसीयः । प्रशस्तं फलम् ( इच्छन् ) अभिलष्यन् ( कः ) ( यज्ञकामः ) पूजनीयव्यवहारं कामयमानः ( कः ) ( उ ) एव ( पूर्तिकामः ) सिद्धिकामः ( कः ) ( देवेषु ) उत्तमगुणेषु वर्तमानः ( वनुते ) वनु याचने । याचते ( दीर्घम् ) ( आयुः ) जीवनम् ॥



सू० १०५ [ ४२० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १९४७ )

भाषार्थ—( कः ) प्रकाशमान [ प्रजापति मनुष्य ] ( बृहस्पतिना ) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [ परमेश्वर ] के साथ ( यथावशम् ) इच्छानुसार [अपने] ( तन्वः ) शरीर की ( सख्यम् ) मित्रता का ( जुषाणः ) सेवन करता हुआ, ( अथर्वणे ) निश्चल स्वभाव वाले पुरुष को ( वरुणेन ) श्रेष्ठ परमात्मा करके ( दत्ताम् ) दी हुई, ( सुदुधाम् ) अत्यन्त पूरण करनेवाली, ( नित्यवत्साम् ) नित्य उपदेश करने वाली, ( पृश्निम् ) प्रश्न करने योग्य ( धेनुम् ) वाणी [ वेद-वाणी ] को ( कल्पयाति ) समर्थ करे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की दी हुई कल्याणी वेदवाणी को ईश्वर-भक्ति के साथ संसार में फैलावे ॥ १ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥ .

पवित्रजीवनोपदेशः—पवित्र जीवन का उपदेश ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।

प्रणीतीरुभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अप-क्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ॥ प्र-  
णीतीः । अभि-आवर्तस्व । विश्वेभिः । सखि-भिः । सह ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्वान् ! ] ( पौरुषेयात् ) पुरुषवध से ( अपक्रामन् )

१—( कः ) गतसूक्ते व्याख्यातः । प्रकाशमानः प्रजापतिः पुरुषः ( पृश्निम् ) षृणिपृश्निपाणिर्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ झीप्सायाम्—नि । प्रच्छ्याम् ( धेनुम् ) अ० ३ । १० । १ । वाचम्—निघ० १ । ११ । वेदवाणीम् ( वरुणेन ) श्रेष्ठेन पर-मेश्वरेण ( दत्ताम् ) ( अथर्वणे ) अ० ४ । ३७ । १ । निश्चलस्वभावाय योगिने ( सुदुधाम् ) अ० ७ । ७३ । ७ । सुष्ठु पूरयित्रीम् ( नित्यवत्साम् ) वृत्तवदि-वचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—स प्रत्ययः । नित्योपदेशिकाम् ( बृहस्पतिना ) बृहतां लोकानां पालकेन । परमात्मना सह ( सख्यम् ) मित्र-भावम् ( जुषाणः ) सेवमानः ( यथावशम् ) यथेच्छम् ( तन्वः ) शरीरस्य ( कल्पयाति ) कल्पयतेर्लेटि आडागमः । समर्थयेत् ॥

१—( अपक्रामन् ) अपगच्छन् ( पौरुषेयात् ) पुरुषाद् वधविकारसम्



हृता हुआ, ( दैव्यम् ) दिव्य [ परमेश्वरीय ] ( वचः ) वचन ( वृणानः ) मानता हुआ तू ( विश्वेभिः ) सब ( सखिभिः सह ) सखाओं [ साथियों ] सहित ( प्रणीतीः ) उत्तमनीतियों [ ब्रह्मचर्य स्वाध्याय आदि मर्यादाओं ] का ( अभ्यावर्तस्व ) सब ओर से वर्ताव कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवे ॥ १ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अमृतत्वप्राप्त्युपदेशः—अमरपन पाने का उपदेश ॥

यदस्मृतिं चक्रुम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।  
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥ १ ॥  
यत् । अस्मृति । चक्रुम । किम् । चित् । अग्ने । उप-आ-  
रिम । चरणे । जात-वेदः ॥ ततः । पाहि । त्वम् । नः । प्र-  
चेतः । शुभे । सखि-भ्यः । अमृत-त्वम् । अस्तु । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! ( यत् किं चित् ) जो कुछ भी [ दुष्कर्म ] ( अस्मृति ) विस्मरण [ भूल, आगे पीछे के बिना विचार ] से ( चक्रुम ) हमने किया है, ( जातवेदः ) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ! [ अपने ] ( चरणे ) आचरण में ( उपारिम ) हमने अपराध किया है । ( प्रचेतः ) हे

हृतेन कृतेषु । वा० पा० ५ । १ । १० । इति पुरुष-ढञ्, ढस्य ण्य् । पुरुषवधात् ( वृणानः ) स्वीकुर्वन् ( दैव्यम् ) देव-यज्ञ् । देवात् परमेश्वरादागतम् ( वचः ) वाक्यं वेदलक्षणम् ( प्रणीतीः ) प्रकृष्टा नीतीः । ब्रह्मचर्यस्वाध्यायादिमर्यादाः ( अभ्यावर्तस्व ) अभितः प्रवर्तय ॥

१—( यत् ) दुष्कर्म ( अस्मृति ) यथा तथा । स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्म-फलानुसन्धानरहितम् ( चक्रुम ) वयं कृतवन्तः ( किंचित् ) किमपि ( अग्ने ) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ( उप-आरिम ) ऋ हिंसायाम्—लिट् । वयमपराद्ध-वन्तः ( चरणे ) आचरणे ( जातवेदः ) हे जातानां वेदितः ( ततः ) तस्मात्



सू० १०७ [ ४२२ ]

सप्तमं कार्डम् ॥ ७ ॥

( १७४८ )

महाविद्वान् ! ( ततः ) उससे ( त्वम् ) तू ( नः ) हमें ( पाहि ) बचा, ( नः ) हम [ तेरे ] ( सखिभ्यः ) सखाओं को ( शुभे ) कल्याण के लिये ( अमृतत्वम् ) अमरपन ( अस्तु ) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों से यदि आगा पीछा बिना विचारे अपराध हो जावे, उसका प्रायश्चित्त करके और आगे को अपराध त्याग कर शुभकर्म करके कीर्तिमान् होवे ॥ १ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परदुःखनाशोपदेशः—परस्पर दुःख नाश का उपदेश ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।

आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

अव । दिवः । तारयन्ति । सप्त । सूर्यस्य । रश्मयः ॥ आपः ।

समुद्रियाः । धाराः । ताः । ते । शल्यम् । असिस्रसन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सूर्यस्य ) सूर्य की ( सप्त ) सात [ वा नित्य मिली हुई ]

( रश्मयः ) किरण ( दिवः ) आकाश से ( समुद्रियाः ) अन्तरिक्ष में रहने वाले

( धाराः ) धारारूप ( आपः ) जलों को ( अव तारयन्ति ) उतारती हैं, ( ताः )

उन्होंने ( ते ) तेरी ( शल्यम् ) कील [ क्लेश ] को ( असिस्रसन् ) बहादिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें जल वरसा कर दुर्भिक्ष आदि पीड़ाएँ

दूर करती हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर दुःख नाश करें ॥ १ ॥

( पाहि ) रक्ष ( त्वम् ) ( नः ) अस्मान् ( प्रचेतः ) हे प्रकृष्टज्ञान ( शुभे ) कल्याणाय ( सखिभ्यः ) तव प्रियभूतेभ्यः ( अमृतत्वम् ) अमरत्वम् । दुःखराहित्यम् ( अस्तु ) ( नः ) अस्मभ्यम् ॥

१—( दिवः ) आकाशात् ( अवतारयन्ति ) अवपातयन्ति ( सप्त ) अ०

४ । ६ । २ । सप्तसंख्याकाः । समवेताः ( सूर्यस्य ) आदित्यस्य ( रश्मयः ) व्या-

पकाः किरणाः ( आपः ) द्वितीयार्थे प्रथमा । अपः । जलानि ( समुद्रियाः ) अ०

७ । ७ । १ । अन्तरिक्षे भवाः ( धाराः ) प्रवाहरूपाः ( ताः ) ( आपः ) ( ते ) तव

( शल्यम् ) अ० २ । ३० । ३ । वाणाग्रभागम् । क्लेशमित्यर्थः ( असिस्रसन् )

संसृ गतौ, एयन्ताल्लुङि चङि । अनदितां हल० पा० ६ । ४ । २४ । उपधातकार-

लोपः । सन्वल्लघुनि० । पा० ७ । ४ । ६३ । इति सन्वद्भावात् । सन्त्यतः । पा०

७ । ४ । ७६ । अभ्यासस्य इत्वम् । निवारितवत्यः ॥



( १७५० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १०८ [ ४२३ ]

सूक्तम् १०८ ॥

१-२ ॥ अग्निदेवतो ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो  
वा नो अग्ने । प्रतीच्ये त्वरणी दृत्वती तान् मेषामग्ने  
वास्तु भुम्नो अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् ।  
अरणः । वा । नः । अग्ने ॥ प्रतीची । एतु । अरणी । दृत्वती ।  
तान् । मा । एषाम् । अग्ने । वास्तु । भुत् । मो इति । अ-  
पत्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वान् राजन् ! ( यः ) जो कोई ( नः ) हमें  
( तायत् ) छिपे छिपे, ( यः ) जो कोई ( नः ) हमें ( आविः ) खुले खुले, ( दि-  
प्सति ) सताना चाहता है, ( नः ) हमें ( विद्वान् ) जानता हुआ ( स्वः ) अपना  
पुरुष, ( वा ) अथवा ( अरणः ) बाहिरी पुरुष । ( प्रतीची ) चढ़ाई करती हुई,  
( दृत्वती ) दमनशीला, ( अरणी ) शीघ्रगामिनी वा मारनेवाली [ सेना ] ( तान् )

१—( यः ) कश्चित् ( नः ) अस्मान् ( तायत् ) अ० ४ । १६ । १ । तायु-  
सन्तानपालनयोः—अति । तायुः स्तेनः—निघ० ३ । २४ । तायत्, अन्तर्हितनामै-  
तत्—इति सायणः । अप्रकाशम् । गुप्तम् ( दिप्सति ) अ० ४ । ३६ । २ । हिंसितुमि-  
च्छति ( यः ) ( नः ) अस्मान् ( आविः ) अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । आ + अवरक्षणे—  
इसि । आविरावेदनात्—निरु० ८ । १५ । प्रकाशम् ( स्वः ) स्वकीयो बन्धुः ( विद्वान् )  
जानन् ( अरणः ) अ० १ । १६ । ३ । विदेशीयः ( वा ) अथवा ( नः ) अस्मान्  
( अग्ने ) विद्वन् । तेजस्विन् राजन् ( प्रतीची ) अ० ३ । २७ । ३ । अभिमुखं  
गच्छन्ती ( एतु ) गच्छतु ( अरणी ) अर्तिसृष्टु० । उ० २ । १०२ । अगृतौ हिंसा-  
यां च—अति, डीप् । शीघ्रगामिनी । शत्रुनाशिनी सेना ( दृत्वती ) अ० ४ । ३ ।  
२ । हसिमृगिण्णामिदमि० । उ० ३ । ८६ । दमु उपशमे—तन् । दन्त—मतुप्, डीप् ।  
पद्मोमास० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दत् । दत्त्वती । दमनशीला ( तान् )



सू० १०८ [ ४२३ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७५१ )

उनपर ( एतु ) पहुंचे, ( अग्ने ) हे तेजस्वी राजन् ! ( एषाम् ) इनका ( मा ) न तो ( वास्तु ) घर ( मो ) और न ( अपत्यम् ) बालक ( भूत् ) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी अधर्मियों का नाश करके धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः । वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

यः । नुः सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभि-दासात् । तिष्ठतः । वा । चरतः । जात-वेदः ॥ वैश्वानरेण । स-युजा । स-जोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह । जात-वेदः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले राजन् ! ( यः ) जो कोई पुरुष ( सुप्तान् ) सोते हुये, ( वा ) वा ( जाग्रतः ) जागते हुये, ( तिष्ठतः ) ठहरे हुये, ( वा ) वा ( चरतः ) चलते हुये ( नः ) हम को ( अभिदासात् ) सतावे । ( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध धन वाले राजन् ! ( वैश्वानरेण ) सब नरोंके हितकारी ( सयुजा ) समानमित्र [ परमेश्वर ] के साथ ( सजोषाः ) प्रीति वाला तू ( प्रतीचः ) चढ़ाई करनेवाले ( तान् ) उनको ( निः ) निरन्तर ( दह ) भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के सहाय से आत्मबल बढ़ाकर सब डाकू उचकों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

शत्रून् ( मा ) निषेधे ( एषाम् ) शत्रूणाम् ( अग्ने ) राजन् ( वास्तु ) वसेरगारे णिच्च । उ० १ । ७० । वस निवासे—तुन् स च णित् । गृहम् ( मो भूत् ) मैव भूयात् ( अपत्यम् ) पुत्रादिकम् ॥

२—( यः ) शत्रुः ( नः ) अस्मान् ( सुप्तान् ) निद्राणान् ( जाग्रतः ) अ० ६ । ६६ । ३ । प्रबुद्धमानान् ( वा ) ( अभिदासात् ) अ० ५ । ६ । १० । अभितो दास्तुयात् । हिंस्यात् ( तिष्ठतः ) स्थितियुक्तान् ( वा ) ( चरतः ) चलनशीलान् ( जातवेदः ) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धज्ञान ( वैश्वानरेण ) अ० १ । १० । ४ सर्वनरहितेन ( सयुजा ) समानमित्रेण । परमेश्वरेण ( सजोषाः ) सहप्रोतिः ( तान् ) शत्रून् ( प्रतीचः ) अ० १ । २८ । २ । प्रतिकूलगतीन् ( निः ) निरन्तरम् ( दह ) भस्मसात् कुरु ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धधन ॥



( १७५२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० १०८ [ ४२४ ]

सूक्तम् १०८ ॥

१-७ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, ७ अनुष्टुप्;  
२, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् ॥

व्ययवहारसिद्ध्युपदेशः—व्ययवहार सिद्धि का उपदेश ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।

घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनु-वशी ॥

घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥ १ ॥

भाषार्थ—( इदम् ) यह ( नमः ) नमस्कार ( उग्राय ) तेजस्वी ( बभ्रवे ) पोषक [ परमेश्वर ] को है, ( यः ) जो ( अक्षेषु ) व्यवहारों में ( तनूवशी ) शरीरों का वश में रखनेवाला है । ( घृतेन ) प्रकाश के साथ ( कलिम् ) गिनने वाले [ परमेश्वर ] को ( शिक्षामि ) मैं सीखता हूँ, ( सः ) वह ( नः ) हमें ( ईदृशे ) ऐसे [ कर्म ] में ( मृडाति ) सुखी करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर की उपासना करके उत्तम कर्मों के साथ सुख भोगें ॥ १ ॥

घृतमप्सुराभ्यो वहु त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता  
अपश्च । यथाभागं हव्यदाति जुषाणा मदन्ति देवा  
उभयानि हव्या ॥ २ ॥

१—( इदम् ) ( उग्राय ) तेजस्विने ( बभ्रवे ) अ० ४ । २६ । २ । पोषकाय ( नमः ) नमस्कारः ( यः ) परमेश्वरः ( अक्षेषु ) अ० ४ । ३८ । ४ व्यवहारेषु ( तनूवशी ) अ० १ । ७ । २ । शरीराणां वशयिता ( घृतेन ) प्रकाशेन ( कलिम् ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । कल शब्दसंख्यानयोः—इन् । गणकम् । गणपतिं परमेश्वरम् ( शिक्षामि ) शिक्षा विद्योपादाने—लट्, परस्मैपदं छान्दसम् । शिक्षे । अभ्यस्यामि ( सः ) कलिः ( नः ) अस्मान् ( मृडाति ) सुखयेत् ( ईदृशे ) एवं-प्रकारे पुण्यकर्मणि ॥



सू०-१०८ [ ४२४ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७५३ )

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । अक्षेभ्यः ।  
सिकताः । अपः । च ॥ यथा-भागम् । हव्य-दातिम् । जुषाणाः ।  
मदन्ति । देवाः । उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वान् पुरुष ! ( त्वम् ) तू ( अप्सराभ्यः )  
अप्सराओं [ प्राणियों में व्यापक शक्तियों ] के लिये और ( अक्षेभ्यः ) व्यवहारों  
[ की सिद्धि ] के लिये ( पांसून् ) धूलि [ भूमिस्थलों ] से ( च ) और ( सिकताः )  
सीचनेवाले ( अपः ) जलों से ( घृतम् ) घृत [ सार पदार्थ ] ( वह ) पहुँचा ।  
( देवाः ) विद्वान् लोग ( यथाभागम् ) भाग के अनुसार ( हव्यदातिम् ) ग्राह्य  
पदार्थों के दान का ( जुषाणाः ) सेवन करते हुये ( उभयानि ) पूर्ण ( हव्या )  
ग्राह्य पदार्थों को ( मदन्ति ) भोगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमिविद्या, जलविद्या आदि में निपुण होकर आत्म-  
पोषण और समाजपोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावे ॥ २ ॥

अप्सरसः सध्माद मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।  
ता मे हस्तौ ससृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कित्वा रन्धयन्तु  
अप्सरसः । सध्मादम् । मदन्ति । हविः-धानम् । अन्तरा ।

२—( घृतम् ) सारपदार्थम् ( अप्सराभ्यः ) अ० २ । २ । ३ । अप्सु प्रजासु  
सरणीशीलाभ्यो व्यापिकाभ्यः शक्तिभ्यः ( वह ) द्विकर्मकः । प्रापय ( त्वम् )  
( अग्ने ) विद्वान् पुरुष ( पांसून् ) अर्जिदृशिकम्यमिपसि० । उ० १ । २७ । इति  
पसि नाशने—कु, दीर्घश्च । पांसवः पादैः सूर्यन्त इति वा, पन्ना शेरत इति वा  
पंसनीया भवन्तीति वा—निरु० १२ । १६ । धूलिकणान् । भूमिस्थलानीत्यर्थः  
( अक्षेभ्यः ) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहारन् साधितुम् ( सिकताः ) पृषिरक्षिभ्यां  
कित् । उ० ३ । १११ । सिक सेचने—अतच्, सच कित् । सेचनसमर्थाः ( अपः )  
जलानि ( च ) ( यथाभागम् ) भागमनतिक्रम्य ( हव्यदातिम् ) हव्यानां ग्राह्य-  
पदार्थानां दानम् ( जुषाणाः ) सेवमानाः ( मदन्ति ) आनन्दयन्ति ( देवाः )  
विद्वांसः ( उभयानि ) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । इति उभ पूरणे-  
कयन् । पूर्णानि ( हव्या ) ग्राह्यवस्तूनि ॥



सूर्यम् । च ॥ ताः । मे । हस्तौ । सस् । सृजन्तु । घृतेन । स-  
पत्नम् । मे । कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश में व्यापक शक्तियां [ वायु, जल, बिजुली आदि ] (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थों के आधार [ भूलोक ] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) सूर्य के बीच (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदन्ति) भोगती हैं (ताः) वे (मे) मेरे (हस्तौ) दोनों हाथ (घृतेन) घृत [सार पदार्थ] से (सं सृजन्तु) संयुक्त करें, और (मे) मेरे (कितवम्) ज्ञान नाशक [ ढग, जुआरी ] (सपत्नम्) बैरी को (रन्धयन्तु) नाश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु, जल, बिजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुःख नाश करें ॥ ३ ॥

आदिनुवन् प्रतिदीवन् घृतेनास्माँ अभि क्षर ।

वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥

आदिनुवम् । प्रति-दीवन् । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ॥

वृक्षम्-इव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रति-दीव्यति । ४ ।

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (प्रतिदीवन्) प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के नाश करने को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अस्मान् अभि) हमारे ऊपर (आदिनुवम्) प्रथम नवीन वा स्तुतिवाले [ बोध ] को (क्षर) छिड़क । (यः)

३—(अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे सरणशीलाः । वायुजलविद्युदादयः (मदन्ति) हर्षयन्ति (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थानामाधारं भूलोकम् (अन्तरा) मध्ये (सूर्यम्) (च) (ताः) अप्सरसः (मे) मम (हस्तौ) (सं सृजन्तु) संयोजयन्तु (घृतेन) सारपदार्थेन (सपत्नम्) शत्रुम् (मे) मम (कितवम्) अ० ७ । ५० । १ । ज्ञाननाशकम् । वञ्चकम् । घृतकारम् (रन्धयन्तु) अ० ४ । २२ । १ । नाशयन्तु ॥

४—(आदिनुवम्) एव स्तुतौ—अप् । आदौ प्रथमं नवो नूतनो यस्तम्, अथवा नवः स्तवो यस्य तं बोधम् (प्रतिदीवन्) कनिष्ठ युवृषितक्षिराजिधन्वि यप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । प्रति + दिव्य व्यवहारे—कनिष्ठ । वा दीर्घः । क्रियार्थो-



सू० १०८ [ ४२४ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥ ( १७५५ )

जो ( अस्मान् ) हम से ( प्रतिदीव्यति ) प्रतिकूल व्यवहार करता है, [ उसे ] ( जहि ) मार डाल, ( वृक्षम् इव ) जैसे वृक्ष को ( अशन्या ) बिजुली से ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिक ज्ञान से अपने विरोधी शत्रु वा अज्ञान का सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

यो नौद्यु वे धनमिदं चकार्यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।  
स नौदे वो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधुमादं मदेम ॥ ५ ॥  
यः । नुः । द्युवे । धनम् । इदम् । चकार । यः । अक्षाणाम् ।  
ग्लहनम् । शेषणम् । च ॥ सः । नुः । देवः । हविः । इदम् ।  
जुषाणः । गन्धर्वेभिः । सधु-मादम् । मदेम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( यः ) जिस [ परमेश्वर ] ने ( नः ) हमारे ( द्युवे ) आनन्द के लिये ( इदं धनम् ) यह धन, और ( यः ) जिसने ( अक्षाणाम् ) व्यवहारों का ( ग्लहनम् ) ग्रहण ( च ) और ( शेषणम् ) विशेषण [ ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन ] ( चकार ) बनाया है । ( सः ) वह ( देवः ) व्यवहार कुशल [ परमेश्वर ] ( नः ) हमारे ( इदम् ) इस ( हविः ) दान [ भक्तिदान ] को ( जुषाणः ) स्वीकार करनेवाला [ हो, कि ] ( गन्धर्वेभिः ) विद्या वा पृथिवी

पपदस्य च० । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । प्रतिदिवानं प्रतिकूलव्यवहा-  
हिणं नाशयितुम् ( धृतेन ) प्रकाशेन ( अस्मान् ) धार्मिकान् ( अभि ) प्रति ( क्षर )  
क्षर संचलने । वर्षय ( वृक्षम् ) ( इव ) यथा ( अशन्या ) विद्युत्ता ( जहि )  
मारय ( यः ) शत्रुः ( अस्मान् ) ( प्रतिदीव्यति ) प्रतिकूलं व्यवहरति ॥

५—( यः ) परमेश्वरः ( नः ) अस्मदीयाय ( द्युवे ) दिव्य मोदे—क्वपू ।  
आनन्दाय ( धनम् ) ( इदम् ) ( चकार ) कृतवान् ( यः ) ( अक्षाणाम् ) अ० १  
७० । १ । व्यवहाराणाम् ( ग्लहनम् ) रस्य लः । ग्रहणम् ( शेषणम् ) शिष्ट विशेष-  
णो-ल्युट् । विशेषणम् । गुणप्रकाशनं यथा ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं  
च ( च ) ( सः ) ( नः ) अस्माकं ( देवः ) व्यवहारकुशलः परमेश्वरः ( हविः )  
दानम् । आत्मसमर्पणम् ( इदम् ) वक्ष्यमाणम् ( जुषाणः ) सेवमानः । भवतु-



के धारण करने वाले [ मनुष्यों ] के साथ ( सधमादम् ) परस्पर आनन्द ( मदेम ) हम भोगें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य आदि गुरु परमेश्वर के अनुग्रह से सब व्यवहारों में कुशल होकर, विद्वानों के सत्संग से उन्नति करें ॥ ५ ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।  
तेभ्योवइन्दवोहविषाविधेमवयं स्याम पतयो रयीणाम् ।  
सम्-वसवः । इति । वः । नाम-धेयम् । उग्रम्-पश्याः । राष्ट्र-  
भृतः । हि । अक्षाः ॥ तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम् ।  
वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[ हे विद्वानो ! ] ( संवसवः ) “सम्यक् धनवाले, वा मिल के रहने वाले” ( इति ) यह ( वः ) तुम्हारा ( नामधेयम् ) नाम है, ( हि ) क्योंकि [ तुम ] ( उग्रंपश्याः ) उग्रदर्शी [ बड़े तेजस्वी ] ( राष्ट्रभृतः ) राज्यपोषक और ( अक्षाः ) व्यवहार कुशल ( हो ) । ( इन्दवः ) हे बड़े ऐश्वर्यवालो ! ( तेभ्यः वः ) उन तुम को ( हविषा ) आत्मदान से ( विधेम ) हम पूजें, ( वयम् ) हम ( रयीणाम् ) अनेक धनों के ( पतयः ) स्वामी ( स्याम ) हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग और सत्कार से अनेक धन प्राप्त करें ॥ ६ ॥

इति शेषः ( गन्धर्वेभिः ) अ० २ । १ । २ । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकैः पुरुषैः ( सधमादम् ) परस्परात्नन्दम् ( मदेम ) हृष्येम ॥

६—( संवसवः ) सम्यग् वसूनि धनानि येषां ते यद्वा, सम्यग् वासयितारः ( इति ) एवंप्रकारेण ( वः ) युष्माकम् ( नामधेयम् ) नाम ( उग्रंपश्याः ) उग्र-  
पश्येरमदपाणिं धमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । उग्र + दृशिर् प्रेक्षणे—क्षश् । उग्र-  
दर्शिनः । महातेजस्विनः ( राष्ट्रभृतः ) राज्यपोषकाः ( हि ) यस्मात्कारणात्  
( अक्षाः ) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारवन्तः ( तेभ्यः ) तथाभूतेभ्यः ( वः )  
युष्मभ्यम् ( इन्दवः ) अ० ६ । २ । २ । हे परमैश्वर्यवन्तः ( हविषा ) आत्मदानेन  
( विधेम ) परिचरणं कुर्याम ( वयम् ) ( स्याम ) ( पतयः ) ( रयीणाम् ) वि-  
विधधनानाम् ॥



सू० ११० [ ४२५ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( ११५७ )

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।

अज्ञान् यद् अभून्नालभे ते नो मृडन्त्विदृशे ॥ ७ ॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्म-चर्यम् । यत् । ऊषिम ॥

अज्ञान् । यत् । अभून् । आ-लभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे । ७ ।

भाषार्थ—( यत् ) जिस से कि ( नाथितः ) प्रार्थी मैं ( देवान् ) विद्वानों को ( हुवे ) बुलाता हूं, ( यत् ) जिस से कि ( ब्रह्मचर्यम् ) ब्रह्मचर्य [ आत्मनिग्रह, वेदाध्ययन आदि तप ] में ( ऊषिम ) हमने निवास किया है । ( यत् ) जिससे कि ( अभून् ) पालन करनेवाले ( अज्ञान् ) व्यवहारोंको ( आलभे ) मैं यथावत् ग्रहण करता हूं, ( ते ) वे सब [ विद्वान् ] ( नः ) हमें ( ईदृशे ) ऐसे [ कर्म ] में ( मृडन्तु ) सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति, ब्रह्मचर्य सेवन और उत्तम व्यवहारों से सुखी होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१-३ ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ १ गायत्री ; २ त्रिष्टुप् ; ३ अनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोः कर्त्तव्योपदेशः—राजा और मन्त्रीके कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अग्ने इन्द्रश्च द्वाशुषे हुतो वृत्राण्यमृति ।

उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

अग्ने । इन्द्रः । च । द्वाशुषे । हुतः । वृत्राणि । अमृति ॥

उभा । हि । वृत्रहन्-तमा ॥ १ ॥

७—( देवान् ) विदुषः ( यत् ) यस्मात्कारणात् ( नाथितः ) नाथ याओ-पतापैश्वर्याशीष्णु—क । प्रार्थी ( हुवे ) आह्वयामि ( ब्रह्मचर्यम् ) गदमदचरयम-श्चानुपसर्गं । पा० ३ । १ । १०० । ब्रह्म + चर गतौ—यत् । ब्रह्मणे वेदलाभाय चर्यं चरणम् । आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादितपः ( यत् ) यस्मात् ( ऊषिम ) वस-निवासे-लिद् । वयमुषितवन्तः ( अज्ञान् ) व्यवहारान् ( यत् ) ( अभून् ) भरणशीलान् ( आलभे ) समन्ताद् गृह्णामि ( ते ) विद्वांसः ( नः ) अस्मान् ( मृडन्तु ) सुखयन्तु ( ईदृशे ) एवं विधे धार्मिके कर्मणि ॥



( १७५८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११० [ ४२५ ]

भाषार्थ—( इन्द्रः ) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! ( च ) और ( अग्ने ) हे तेजस्वी मन्त्री ! [ आप दोनों ] ( दाशुषे ) दानशील [ प्रजागण ] के लिये ( वृत्राणि ) रोकावटों को ( अप्रति ) बे रोक टोक ( हतः ) नाश करते हैं । ( हि ) क्योंकि ( उभा ) दोनों ( वृत्रहन्तमा ) रोकावटों के अत्यन्त नाश करनेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा और विद्वान्मन्त्री शत्रुओं से प्रजाकी रक्षा करें ॥ १ ॥

याभ्यामजयन्तस्वः१ अग्र एवयावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा  
प्रचर्षणी वृषणा वज्र बाहू अग्निमिन्द्र वृत्रहणा हुवे अहम्  
याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आ-तस्थतुः ।  
भुवनानि । विश्वा ॥ प्रचर्षणी इति प्र-चर्षणी । वृषणा । वज्र-  
बाहु इति वज्र-बाहु । अग्निम् । इन्द्रम् । वृत्र-हना । हुवे । अहम् २

भाषार्थ—( याभ्याम् ) जित दोनोंके द्वारा ( एव ) ही उन्होंने [ महा-  
त्माओंने ] ( स्वः ) स्वर्ग [ सुख ] को ( अग्रे ) पहिले ( अजयन् ) जीता था  
[ पाया था ], ( यौ ) जो दोनों ( विश्वा ) सब ( भुवनानि ) प्राणियों में ( आ-  
स्थतुः ) ठहर गये हैं । [ उन दोनों ] ( प्रचर्षणी ) शीघ्र गामी वा अच्छे मनुष्यों  
वाले, ( वृषणा ) शूर, ( वज्रबाहु ) वज्र [ लोह समान दृढ़ ] भुजाओं वाले, ( वृत्र-  
हणा ) रोकावटे नाश करनेवाले ( इन्द्रम् ) परम ऐश्वर्यवाले राजा और ( अग्निम् )  
तेजस्वी मन्त्री को ( अहम् ) मैं ( हुवे ) बुलाता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण पहिले से राजा और मन्त्री के प्रबन्ध  
में सुखी रहे हैं, वैसेही सदा रहें ॥ २ ॥

१—( अग्ने ) हे तेजस्विन् मन्त्रिन् ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजन्—इत्य-  
र्थः ( च ) ( दाशुषे ) दानशीलाय प्रजागणाय ( हतः ) भवन्तौ नाशयतः ( वृत्रा-  
णि ) आवरकाणि कर्माणि ( अप्रति ) अप्रतिपक्षम् ( उभा ) द्वौ ( हि ) यतः  
( वृत्रहन्तमा ) विघ्नानां नाशयितृ तमौ ॥

२—( याभ्याम् ) राजमन्त्रिभ्याम् ( अजयन् ) प्राप्तवन्तौ महात्मानः ( स्वः )  
अ० २ । ५ । २ । सुखम् ( अग्रे ) पूर्वकाले ( एव ) अवश्यम् ( यौ ) ( आ-  
स्थतुः ) व्याप्तवन्तौ ( भुवनानि ) भूतजातानि ( विश्वा ) सर्वाणि ( प्रचर्षणी )  
अ० ४ । २४ । ३ । शीघ्रगामिनौ । प्रकृष्टमनुष्यवन्तौ ( वृषणा ) इन्द्रौ । पराक्र-  
मिणौ ( वज्रबाहु ) वज्रबलौ हतुः यौ दृढौ बाहु ययोस्तौ ( अग्निम् ) तेजस्विन्  
मन्त्रिणम् ( इन्द्रम् ) प्रतापिनं राजानम् ( वृत्रहणा ) विघ्ननाशकौ ( हुवे )  
आह्वयामि ( अहम् ) प्रजागणः ॥



सू० १११ [४२६] सप्तमं कार्डम् ॥ ७ ॥

( १७५८ )

उपं त्वा देवो अग्रभीचचमसेन बृहस्पतिः ।

इन्द्रं गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

उपं । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । बृहस्पतिः ॥ इन्द्रं ।

गीः-भिः । नः । आ । विश । यजमानाय । सुन्वते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे राजन् ! ( त्वा ) तुझे ( देवः ) प्रकाशमान, ( बृहस्पतिः ) बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमेश्वर ने ( चमसेन ) अन्न के साथ ( उप अग्रभीत् ) सहारा दिया है । तू ( गीर्भिः ) वाणियों [ स्तुतियों- ] के साथ ( यजमानाय ) संयोग वियोग करनेवाले ( सुन्वते ) तत्त्व मथन करनेवाले पुरुष के लिये ( नः ) हम में ( आ विश ) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से विवेकी धर्मात्माओं का सहाय करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१ ॥ ईश्वरों देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधाना आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् । इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्र ह तास्तै रमन्ताम् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । कुक्षिः । अस्त्रि । सोम-धानः । आत्मा । देवानाम् । उत । मानुषाणाम् ॥ इह । प्र-जाः । जनय । याः । ते । आसु ।

३—( उप ) समीपे ( त्वा ) त्वां राजानम् ( देवः ) प्रकाशमानः ( अग्रभीत् ) अग्रहीत् । गृहीतवान् ( चमसेन ) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नेन ( बृहस्पतिः ) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः ( इन्द्र ) प्रतापिन् राजन् ( गीर्भिः ) वाणीभिः । स्तुतिभिः ( नः ) अस्मान् ( आ विश ) प्रविश । प्राप्नुहि ( यजमानाय ) पदार्थानां संयोजकवियोजकाय ( सुन्वते ) तत्त्वमथनशीलाय ॥



( १७६० )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११२ [ ४३७ ]

याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[ हे ईश्वर ! ] तू ( इन्द्रस्य ) परम पेश्वर्य का ( कुत्तिः ) कोख रूप, ( सोमधानः ) अमृत का आधार, ( देवानाम् ) दिव्य लोकों [ सूर्य, पृथिवी आदि ] का ( उत ) और ( मानुषाणाम् ) मनुष्यों का ( आत्मा ) आत्मा [ अन्तर्बामी ] ( असि ) है । ( इह ) यहां पर ( प्रजाः ) प्रजाओं को ( जनय ) उत्पन्न कर, ( याः ) जो ( ते ) तेरे लिये [ तेरी आज्ञाकारी ] ( आसु ) इन [ प्रजाओं ] में, और ( याः ) जो ( अन्यत्र ) दूसरे स्थान में [ हों ] ( इह ) यहां पर ( ताः ) वे सब ( ते ) तेरे लिये ( रमन्ताम् ) विहार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य निकट और दूर स्थान में ईश्वर की आज्ञा मानते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१-२ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

इन्द्रियजयोपदेशः—इन्द्रियों के जय का उपदेश ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिब्रते ।

आपः सुप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्ति-सुम्ने ।

महिब्रते इति महि-ब्रते ॥ आपः । सुप्त । सुस्रुवुः । देवीः ।

ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहंसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( शुम्भनी ) शोभायमान ( द्यावपृथिवी ) सूर्य और पृथिवी

१—( इन्द्रस्य ) परमैश्वर्यस्य ( कुत्तिः ) अ० २ । ५ । ४ । कुत्तिरूपः ( सोम-धानः ) अमृताधारः ( आत्मा ) अन्तर्यामी ( देवानाम् ) सूर्यपृथिव्यादिव्य-लोकानाम् ( उत ) अपि ( मानुषाणाम् ) मनुष्याणाम् ( इह ) ( प्रजाः ) मनुष्यादि-रूपाः ( जनय ) उत्पादय ( याः ) प्रजाः ( ते ) तुभ्यम् । तवाज्ञापालनाय ( आसु ) प्रजासु ( याः ) ( अन्यत्र ) अन्यस्मिन् देशे ( इह ) अत्र ( ताः ) प्रजाः ( ते ) तुभ्यम् ( रमन्ताम् ) विहरन्तु ॥

१—( शुम्भनी ) शुम्भ शोभायाम्—ल्युट् । शुम्भन्यौ शोभायमाने । ( द्यावा-



सू० ११२ [ ४२७ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥ ( १७६१ )

लोक ( अन्तिसुम्ने ) [ अपनी ] गतियों से सुख देने वाले और ( महिषते ) बड़े अत [ नियम ] वाले हैं। ( देवीः ) उत्तम गुणवाली ( सप्त ) सात ( आपः ) व्यापनशील इन्द्रियां [ दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख ] ( सुस्रुवुः ) [ हमें ] प्राप्त हुई हैं, ( ताः ) वे ( नः ) हमें ( अंहसः ) कष्ट से ( सुञ्चन्तु ) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और पृथिवी लोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चल कर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥ १ ॥

( सप्त आपः ) पदों का मिलान करो ( सप्त सिन्धवः ) पदों से—अ० ४। ६। २ ॥

मुञ्चन्तु' मा शपथ्याश्च' दृष्टौ वरुण्यादुत ।

अथौ यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् २  
मुञ्चन्तु'। मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ॥ अथो  
इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात् । २।

भावार्थ—वे [ व्यापनशील इन्द्रियां—म० १ ] ( मा ) मुझको ( शप-  
थ्यात् ) शपथ सम्बन्धी ( अथो ) और ( वरुण्यात् ) श्रेष्ठों में हुये [ अपराध ]  
से ( अथो ) और ( यमस्य ) न्यायकारी राजा के ( पड्वीशात् ) बेड़ी डालने  
से ( उत ) और ( विश्वस्मात् ) सब ( देवकिल्बिषात् ) परमेश्वर के प्रति अप-  
राध से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमाद छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर सब प्रकार के  
दोषों से बचें ॥ २ ॥

यह मन्त्र आचुका है । अ० ६। ६६। २ ॥

पृथिवी ) सूर्यभूलोकौ ( अन्तिसुम्ने ) वसेस्तिः । उ० ४। १८०। अम गतौ-  
ति । सुम्नं सुखम्—निघ० ३। ६। स्वगतिभिः सुखकारिण्यौ ( महिषते ) अ-  
त्यन्तनियमयुक्ते ( आपः ) व्यापनशीलानिन्द्रियाणि । शीर्षण्यानि कर्णनासिका-  
चक्षुर्द्वयमुखानि । सिन्धवः—अ० ४। ६। २। ( सप्त ) अ० ४। ६। २। सप्त-  
संख्याकाः ( सुस्रुवुः ) सु गतौ—लिट् । अस्मान् प्रापुः ( देवीः ) दिव्यगुणाः  
( ताः ) आपः ( नः ) अस्मान् ( मुञ्चन्तु ) मोचयन्तु ( अंहसः ) कष्टात् ॥  
२—( मुञ्चन्तु ) मोचयन्तु ( ताः ) आपः—म० १ ( देवकिल्बिषात् ) परमे-  
श्वरं प्रति दोषात् । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६। ६६। २॥



( १७६२ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११३ [ ४२८ ]

सूक्तम् ११३ ॥

१-२ ॥ तृष्टिका देवता ॥ १ विराड् अनुष्टुप्; २ उष्णिक् ॥

तृष्णाविमोचनोपदेशः—तृष्णा त्याग का उपदेश ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदूमं छिन्धि तृष्टिके ।

यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्ट-वन्दने । उत् । असूम् । छिन्धि । तृष्टिके ॥

यथा । कृत-द्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्या-वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—( तृष्टिके ) हे कुत्सित तृष्णा ! ( तृष्टवन्दने ) हे लोलुपता की लता रूपा ! तू ( असूम् ) पीड़ा को ( उत् छिन्धि ) काट डाल, ( तृष्टिके ) हे लोभ में टिकने वाली ! तू ( यथा ) जिससे ( अमुष्मै ) उस ( शेप्यावते ) शक्तिमान् पुरुष के लिये ( कृतद्विष्टा ) द्वेषनाशिनी ( असः ) होवे [ वैसा किया जावे ] ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पीड़ादायिनी तृष्णा को छोड़कर ईर्ष्या द्वेष नाश करनेमें समर्थ होवे ॥ १ ॥

तुष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।

परिवृक्ता यथासंसृषभस्य वृशेव ॥ २ ॥

तुष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ॥

परि-वृक्ता । यथा । असंसि । ऋषभस्य । वृश-इव ॥ २ ॥

१—( तृष्टिके ) अत्र तृष्णा पिपासायाम् -क । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति कप्रत्ययः । हे कुत्सिततृष्णे ( तृष्टवन्दने ) यदि अभिवादनस्तुत्योः—युच्, टाप् । तृष्टस्य लोलुपताया लतारूपे ( उत् ) उत्कर्षेण ( असूम् ) कृषिचमितनि० उ० १ । ८० । अम रोगे पीडने-ऊ प्रत्ययः स्त्रियाम् । पीडाम् ( छिन्धि ) भिन्धि ( तृष्टिके ) अत्र तृष्णा-कृप् + टिक गतौ-क । तृष्णि लोभे टेकते गच्छति या सा तत्सम्बुद्धौ ( यथा ) येन प्रकारेण, तथा क्रियतामिति शेषः ( कृतद्विष्टा ) कृ हिंसा-याम्-क । कृतं नाशितम् द्विष्टं द्वेषणं यया सा ( असः ) भवेः ( अमुष्मै ) प्रसि-द्धाय ( शेप्यावते ) शेषोबलम्, स्वार्थे-यत्, टाप् । शक्तिमते पुरुषाय ॥



सू० ११४ [ ४२८ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७६३ )

भाषार्थ—( तृष्ठा ) तू तृष्णा ( तृष्टिका ) लोभ में टिकने वाली ( असि ) है, ( विषा ) विषैली ( विषातकी ) विष से जीवन दुःखित करने वाली ( असि ) है । ( यथा ) जिससे तू ( परिवृत्ता ) परित्यक्ता ( अससि ) हो जावे, ( इव ) जैसे—( ऋषभस्य ) श्रेष्ठ पुरुष की ( वशा ) वशीभूत [ प्रजा त्याज्य होती है, वैसा किया जावे ] ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दें, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१-२ ॥ अग्निः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्द ॥

राक्षसनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

आ ते ददे वृक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद् ददे ।

आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥१॥

आ । ते । ददे । वृक्षणाभ्यः । आ । ते । अहम् । हृदयात् । ददे ॥

आ । ते । मुखस्य । सम्-काशात् । सर्वम् । ते । वर्चः । आ । ददे ॥१॥

भाषार्थ—[ हे शत्रु ! ] ( अहम् ) मैं ने ( ते ) तेरी ( वृक्षणाभ्यः ) छाती के अवयवों से [ बल को ] ( आ ददे ) ले लिया है, ( ते ) तेरे ( हृदयात् ) हृदय से ( आ ददे ) ले लिया है । ( आ ) और ( ते ) तेरे ( मुखस्य ) मुख के

२—( तृष्ठा ) म० १ । तृष्णा ( असि ) भवसि ( तृष्टिका ) म० १ । लोभे गतिशीला ( विषा ) अर्श आद्यच् । विषयुक्ता ( विषातकी ) विष + आ + तकि कृच्छ्रजीवने—अण्, डीप्, नकारलोपः । विषेण आतङ्कति कृच्छ्रजीवनं करोति या सा ( असि ) ( परिवृत्ता ) परिवर्जिता । परित्यक्ता ( यथा ) येन प्रकारेण ( अससि ) शप् छान्दसः । भवसि ( ऋषभस्य ) श्रेष्ठस्य ( वशा ) वशीभूता । आयत्ता ( इव ) यथा ॥

१—( ते ) तव ( आ ददे ) लिटि रूपम् । गृहीतवानस्मि ( वृक्षणाभ्यः ) म० २ । ५ । ५ । वक्षःस्थलेभ्यः ( ते ) ( अहम् )



( १७६४ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११५ [ ४३० ]

( संकाशात् ) आकार से ( ते ) तेरे ( सर्वम् ) सब ( वर्चः ) ज्योति वा बल को ( आ ददे ) ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधार्मिक दोषों और शत्रुओं को नाश करें ॥ १ ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । वि-आध्यः । प्र । अनु-ध्याः । प्रोदति । अशस्तयः ॥  
अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( इतः ) यहां से ( व्याध्यः ) सब रोग ( प्र ) बाहिर, ( अनुध्याः ) सब अनुताप ( प्र ) बाहिर और ( अशस्तयः ) सब अपकीर्तियां ( प्रो ) बाहिर ही ( यन्तु ) चली जावें । ( अग्निः ) तेजस्वी राजा ( रक्षस्विनीः ) राक्षसों से युक्त [ सेनाओं ] को ( हन्तु ) मारे और ( सोमः ) पेश्वर्यवान् राजा ( दुरस्यतीः ) अनिष्ट चीतनेवाली [ प्रजाओं ] को ( हन्तु ) नाश करे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में शान्ति रखने के लिये चोर डाकू आदि राक्षसों का नाश करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१-४ ॥ सविता जातवेदा वा देवता ॥ १, ४ अनुष्टुप्;  
२ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

( हृदयात् ) ( आ ददे ) ( आ ) चार्थे ( ते ) ( मुखस्य ) ( संकाशात् ) आकारात् ( सर्वम् ) ( ते ) तव ( वर्चः ) तेजो बलं वा ( आ ददे ) ॥

२—( प्र ) बहिर्भावे ( इतः ) अस्मात् स्थानात् ( यन्तु ) गच्छन्तु ( व्याध्यः ) उपसर्गो घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । वि + आङ् + डुधाञ्—कि । जसि, गुणस्थाने यणादेशः । व्याध्यः । रोगाः ( प्र ) ( अनुध्याः ) आतश्चोपसर्गो । पा० ३ । ३ । १०६ । अनु + ध्यै चिन्तायाम्—अङ्, टाप् । अनुतापाः ( प्रो ) बहिरेव ( अशस्तयः ) अपकीर्तयः ( अग्निः ) तेजस्वी राजा ( रक्षस्विनीः ) अ० ६ । २ । २ । राक्षसैर्युक्ताः सेनाः ( हन्तु ) नाशयन्तु ( सोमः ) पेश्वर्यवान् राजा ( हन्तु ) ( दुरस्यतीः ) अ० १ । २६ । २ । दुरस्य—शत्रु, डीप् । अग्निष्टचिन्तिकाः प्रजाः ॥



सू० ११५ [ ४३० ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥ ( १७६५ )

दुर्लक्षणनाशोपदेशः—दुर्लक्षण के नाश का उपदेश ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्ये तः प्रामुतः पत ।

अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

प्र । पत । इतः । पापि । लक्ष्मि । नश्ये । इतः । प्र । अमुतः ।

पत ॥ अयस्मयेन । अङ्केन । द्विषते । त्वा । आ । सजामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—( पापि ) हे पापी ! ( लक्ष्मि ) लक्षण [ लक्ष्मी ] ! ( इतः )

यहां से ( प्र पत ) चला जा, ( इतः ) यहां से ( नश्ये ) छिप जा, ( अमुतः )

वहां से ( प्र पत ) चला जा । ( अयस्मयेन ) लोहे के ( अङ्केन ) कांटे से ( त्वा )

तुझको ( द्विषते ) बैरी में ( आ सजामसि ) इस चिपकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्लक्षणों का सर्वथा त्याग करें । दुर्लक्षों से दुष्ट लोग

महादुःख पाते हैं ॥ १ ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव

वृक्षम् । अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो

वसु नो रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभि-चस्कन्द ।

वन्दना-इव । वृक्षम् ॥ अन्यत्र । अस्मत् । सवितुः । ताम् ।

इतः । धाः । हिरण्य-हस्तः । वसु । नुः । रराणः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( या ) जो ( पतयालूः ) गिरानेवाला ( अजुष्टा ) अप्रिय

१—( प्र प्रत ) बहिर्गच्छ ( इतः ) अस्मात् स्थानात् ( पापि ) केवल-

मामकभागधेयपापा० । पा० ४ । १ । ३० । पाप—डीप्, हे दुष्टे ( लक्ष्मि )

लक्ष्मेर्मुद् च । उ० ३ । १६० । लक्ष् दर्शनाङ्कनयोः—ई, मुद् च । हे लक्षण ( नश्ये )

अदृष्टा भव ( इतः ) ( प्र ) ( अमुतः ) दूरदेशात् ( पत ) ( अयस्मयेन ) लोह-

मयेन ( अङ्केन ) कण्टकेन ( द्विषते ) शत्रवे ( त्वा ) त्वाम् ( आ ) समन्तात्

( सजामसि ) षञ्ज सङ्गे सम्बन्धे च । सजामः । संबन्धीमः ॥

२—( या ) ( मा ) माम् ( लक्ष्मीः ) म० १ । लक्षणम् ( पतयालूः ) स्पृहि-



( १७६६ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११५ [ ४३० ]

( लक्ष्मीः ) लक्षण ( मा ) मुक्तपर ( अभिचस्कन्द ) आ चढ़ा है, ( इव ) जैसे ( वन्दना ) बेल ( वृक्षम् ) वृक्ष पर । ( सवितः ) हे पेश्वर्यवान् [ परमेश्वर । ] ( हिरण्यहस्तः ) तेज वा सुवर्ण हाथ में रखनेवाला, ( नः ) हमें ( वसु ) धन ( रराणः ) देता हुआ तू ( इतः ) यहां से, ( अस्मत् ) हम से ( अन्यत्र ) दूसरे [ दुष्टों में ] ( ताम् ) उसको ( धाः ) धर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से अधर्मरूप दुर्लक्षणों और दुष्टों से बचकर शुभ गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

एकशतं लक्ष्म्यो ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि  
जाताः । तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिणमः शिवा  
अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एक-शतम् । लक्ष्म्यः । मर्त्यस्य । साकम् । तन्वा । जनुषः ।  
अधि । जाताः ॥ तासाम् । पापिष्ठाः । निः । इतः । प्र ।  
हिणमः । शिवाः । अस्मभ्यम् । जात-वेदः । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

भावार्थ—( एकशतम् ) एक सौ एक [ अपरिमित, पापिष्ठ और माङ्गलिक ] ( लक्ष्म्यः ) लक्षण ( मर्त्यस्य ) मनुष्य के ( तन्वा साकम् ) शरीर के साथ ( जनुषः ) जन्म से ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( जाताः ) उत्पन्न हुये हैं ।

गृहिपतिदयि० । पा० ३ । २ । १५८ । पत गतौ, चुरादिः, अदन्तः—आलुच् । ऊङुतः । पा० ४ । १ । ६६ । ऊङ् स्त्रियाम् । पातयित्री । दुर्गतिकारिणी (अजुष्ठा) अप्रिया ( अभिचस्कन्द ) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—लिट् । अभितः प्राप ( वन्दना ) सू० ११३ म० १ लता ( इव ) यथा ( वृक्षम् ) ( अन्यत्र ) अन्येषु दुष्टेषु ( अस्मत् ) अस्मत्तः धार्मिकेभ्यः ( सवितः ) हे परमेश्वर्यवान् परमात्मन् ( ताम् ) लक्ष्मीम् । लक्षणम् ( इतः ) अस्मात् स्थानात् ( धाः ) दध्याः ( हिरण्यहस्तः ) हिरण्यं तेजः सुवर्णं वा हस्ते वशे यस्य सः ( वसु ) धनम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( रराणः ) अ० ५ । २७ । ११ । ददानः ॥

३—( एकशतम् ) एकाधिकशतसंख्याकाः । अपरिमिता इत्यर्थः ( लक्ष्म्यः ) म० १ । लक्षणानि ( मर्त्यस्य ) मनुष्यस्य ( साकम् ) सह ( तन्वा ) शरीरेण ( जनुषः ) अ० ४ । १ । २ । जन्मनः सकाशात् ( अधि ) अधिकारे ( जाताः )



सू० ११५ [ ४३० ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७६७ )

( तासाम् ) उन में से ( पापिष्ठाः ) पापिष्ठ [ लक्षणों ] को ( इतः ) यहां से ( निः ) निश्चय करके ( प्र हिएमः ) हम निकाले देते हैं, ( जातवेदः ) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! ( अस्मभ्यम् ) हमें ( शिवाः ) माङ्गलिक [ लक्षण ] ( नि ) नियम से ( यच्छ ) दे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्मता है। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे ऋणों को मिटाकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

ए॒ता ए॒ना व्या॒करं॑ खि॒ले गा वि॒ष्टिता॑ इव ।

रम॑न्तां पु॒ण्या ल॒क्ष्मी॒र्याः प्रा॒पीस्ता॑ अ॒नीन॑शम् ॥ ४ ॥

ए॒ताः । ए॒नाः । वि॒-आ॒करम् । खि॒ले । गाः । वि॒स्थिताः-इव॑ ॥

रम॑न्ताम् । पु॒ण्याः । ल॒क्ष्मीः । याः । प्रा॒पीः । ताः । अ॒नीन॑शम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( एताः ) इन [ पुण्य लक्षणों ] को और ( एनाः ) इन [ पाप लक्षणों ] को ( व्याकरम् ) मैंने स्पष्ट कर दिया है ( इव ) जैसे ( खिले ) बिना झुते स्थान [ जंगल ] में ( विष्टिताः ) खड़ी हुई ( गाः ) गौओं को । ( पुण्याः ) पुण्य ( लक्ष्मीः ) लक्षण ( रमन्ताम् ) ठहरे रहें, और ( याः ) जो ( पापीः )

उत्पन्नाः ( तासाम् ) लक्ष्मीणां मध्ये ( पापिष्ठाः ) अतिशयेन पापीः ( निः ) निश्चयेन ( इतः ) अस्मात्स्थानात् ( प्र हिएमः ) हि गतौ वृद्धौ च । प्रेरयामः । अपसारयामः ( शिवाः ) मङ्गलकारिणीर्लक्ष्मीः ( अस्मभ्यम् ) धर्मात्मभ्यः ( जातवेदः ) उत्पन्नानां पदार्थानां वेदितः ( नि ) नियमेन ( यच्छ ) दाण् दाने । देहि ॥

४—( एताः ) पुण्याः ( एनाः ) पापीः ( व्याकरम् ) वि + आङ् + ड कृञ् करणे—लुङ् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि । पा० ३ । १ । ५६ । इति च्लेरङ् । ऋ-दशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । व्याख्यातवानस्मि ( खिले ) खिल कणश आदाने-क । अरुष्टदेशे ( गाः ) धेनूः ( विष्टिताः ) विविधस्थिताः ( इव ) यथा ( रमन्ताम् ) तिष्ठन्तु ( पुण्याः ) कल्याण्यः ( लक्ष्मीः ) लक्ष्यः ।



( १७६८ )

अथर्ववेदभाष्ये

सू० ११६ [ ४३१ ]

पापी [ लक्षण ] हैं, ( ताः ) उन्हें ( अनीनशम् ) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य भले और बुरे कर्मों के लक्षण समझकर भलों का स्वीकार और बुरों का त्याग करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११६ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ परोष्णिक्; २ आर्च्यनुष्टुप् ॥

रोगनिवारणोपदेशः—रोग निवारण का उपदेश ॥

नमो रुराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।

नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

नमः । रुराय । च्यवनाय । नोदनाय । धृष्णवे ॥

नमः । शीताय । पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

भाषार्थ—( रुराय ) घातक ( च्यवनाय ) पतित, ( नोदनाय ) ढकेलने वाले, ( धृष्णवे ) ढीठ [ शत्रु ] को ( नमः ) वज्र । ( शीताय ) शीत [ समान ] ( पूर्वकामकृत्वने ) पहिली कामनायें काटने वाले [ बैरी ] को ( नमः ) वज्र [ होवे ] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अति शीत खेती आदि को हानि करता है, वैसे हानि कारक शत्रु को दण्ड देना चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २५ । ४ । से करो ॥

लक्षणानि ( याः ) ( पापीः )—म० १ । पापकारिण्यः । दुर्लक्षणानि (अनीनशम्) अ० १ । २३ । ४ । नाशितवानस्मि ॥

१—( नमः ) वज्र—निघ० २ । २० ( रुराय ) अ० १ । २५ । ४ । घातकाय ( च्यवनाय ) अनुदात्तेतश्च हत्नादेः । पा० ३ । २ । १४६ । च्युङ् गतौ—युच् । च्युताय पतिताय ( नोदनाय ) शुद्ध प्रेरणे—युच् । प्रेरकाय । विक्षपयित्रे ( धृष्णवे ) अ० १ । १३ । ४ । प्रगल्भाय शत्रवे ( नमः ) ( शीताय ) अ० १ । २५ । ४ । हिमसदृशाय ( पूर्वकामकृत्वने ) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कृती छेदने—क्वनिप् । नेङ् वशि कृति० । पा० ७ । २ । २८ । इट् प्रतिषेधः । प्रथमाभिलाषाणां कर्तित्रे । छेदकाय वैरिणे ॥



सू० ११७ [ ४३२ ] सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( १७६८ )

यो अन्ये द्यु रुभयद्यु रुभ्येतीमं मण्डूकं मभ्यैत्वव्रतः । २ ।  
 यः । अन्ये द्युः । उभय-द्युः । अभि-एति । इमम् । मण्डूकम् ।  
 अभि । एतु । अव्रतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यः ) जो ( अन्येद्युः ) एकान्तरा और ( उभयद्युः ) दो  
 अन्तरा [ ज्वर समान ] ( अभ्येति ) चढ़ता है, ( अव्रतः ) नियमहीन वह [रोग]  
 ( इमम् ) इस ( मण्डूकम् ) मेढक [ समान टरनि वाले आत्मशलाघी पुरुष ] को  
 ( अभि एतु ) चढ़े [ ऐसे ज्वर समान शत्रु पर वज्र होवे-म० १ ] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ज्वर आदि रोग कुनियमियों को सताता है, वैसे  
 धर्मात्माओं के दुखदायी शत्रु लोग दण्डनीय हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पश्या बृहती छन्दः ॥

राजाधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूरैरोमभिः । मा त्वा के  
 चिद् वि यमन् वि न पाशिनोति धन्वैव तां इहि ॥ १ ॥

आ । मन्द्रैः । इन्द्र । हरि-भिः । याहि । मयूरैरोम-भिः ॥  
 मा । त्वा । के । चिद् । वि । यमन् । विस् । न । पाशिनः ॥  
 अति । धन्व-इव । तान् । इहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे प्रतापी राजन् । ( मन्द्रैः ) गम्भीरध्वनियों से

२—( यः ) ज्वरः ( अन्येद्युः ) सद्यः परत् परायैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ ।  
 अन्य—एद्युस् प्रत्ययः । अन्यस्मिन्नहनि ( उभयद्युः ) द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः । वा०  
 पा० ५ । ३ । २२ उभय—द्युः प्रत्ययः । उभयोर्विनयोः, अतीतयोरिति शेषः ( अ-  
 भ्येति ) अभिगच्छति ( इमम् ) प्राणिनम् ( मण्डूकम् ) अ० ४ । १५ । १२ । मेक-  
 तुल्यशब्दाद्यमानमात्मशलाघिनं पुरुषम् ( अभ्येत् ) अभिगच्छतु ( अव्रतः )  
 अ० ६ । २० । १ । अग्रनियमः ॥

१—( आ याहि ) आगच्छ ( मन्द्रैः ) स्फापितञ्जिवञ्जि० । उ० २ । १३ ।



वर्तमान ( मयूररोमभिः ) मोरोंके रोम [ समान चिकने, विचित्र रंग, दृढ़, विजुली से युक्त रोमवस्त्र ] वाले ( हरिभिः ) मनुष्यों और घोड़ोंके साथ ( आयाहि ) तू आ । ( त्वा ) तुझको ( केचित् ) कोई भी ( मा वि यमन् ) कभी न रोकें ( न ) जैसे ( पाशिनः ) जालवाले [ चिड़ीमार ] ( विम् ) पत्नी को ; तू ( तान् अति ) उनके ऊपर होकर ( इहि ) चल ( धन्व इव ) जैसे निर्जल देश [ के ऊपर से ] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये चतुर विज्ञानियों के बनाये हुये कवच आदि से सजे हुये सेना, अश्व, रथ आदि के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३ । १ । ४५; यजुः०-२० । ५३; साम० पू० ३ । ६ । ४ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१ ॥ कवचसोमवरुणा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

मर्माणि ते वर्मणा ह्यादयामि सोमस्त्वा राजामृते-  
नानु' वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं  
त्वानु' देवा मदन्तु ॥ १ ॥

मर्माणि । ते । वर्मणा । ह्यादयामि । सोमः । त्वा । राजा ।  
अमृतेन । अनु' । वस्ताम् ॥ उरोः । वरीयः । वरुणः । ते ।  
कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु' । देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

मदि स्तुतौ—रक् । गम्भीरध्वनिभिर्वर्तमानैः ( इन्द्र ) प्रतापिन राजन् ( हरिभिः ) मनुष्यैरश्वैश्च ( मयूररोमभिः ) मीनातेकरन् । उ० १ । ६७ । मीज् हिंसा-  
याम्—ऊरन् । नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्० । उ० ४ । १५१ । रुशब्दे—मनिन् । मयूर-  
रोमसदृशरोमाणि कवचवस्त्राणि येषां तैः ( मा ) निषेधे ( त्वा ) त्वां राजानम् ( के-  
चित् ) कोऽपि शत्रवः ( वि ) विविधम् ( यमन् ) यमु उपरमे लेख्यडागमः ।  
नियच्छन्तु । प्रतिवधन्तु ( विम् ) वातेर्दिच्छ । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः—  
इण्, डित् । पक्षिणम् ( न ) उपमार्थे ( पाशिनः ) जालवन्तो व्याधाः ( अति )  
अतीत्य ( धन्व ) अ० ४ । ४ । ७ । निर्जलं मरुदेशम् ( इव ) यथा ( तान् ) शत्रून्  
( इहि ) गच्छ ॥



सू० ११८ [ ४३३ ]

सप्तमं काण्डम् ॥ ७ ॥

( ११७१ )

भाषार्थ—[ हे शूरवीर ! ] ( ते ) तेरे ( मर्माणि ) मर्मों को ( वर्मणा ) कवच से ( ह्यादयामि ) मैं [ सेनापति ] ढांकता हूं, ( सोमः ) ऐश्वर्यवान् ( राजा ) राजा [ कोशाध्यक्ष ] ( त्वा ) तुझको ( अमृतेन ) अमृत [ मृत्यु निवारक, शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, अन्न, औषध आदि ] से ( अनु ) निरन्तर ( वस्ताम् ) ढके । ( वरुणः ) श्रेष्ठ पुरुष [ चतुर मार्गदर्शक ] ( ते ) तेरे लिये ( उरोः ) चौड़े से ( वरीयः ) अधिक चौड़ा [ स्थान ] ( कृणोतु ) करे, ( जयन्तम् ) विजयी ( त्वा अनु ) तेरे पीछे ( देवाः ) विजय चाहने वाले पुरुष ( मदन्तु ) आनन्द पावें ॥ १ ॥

भाषार्थ—सर्वाधीश मुख्य सेनापति अधिकारियों द्वारा योद्धाओं को समस्त आवश्यक सामग्री देकर उत्साहित करे, जिससे सब वीर आनन्दध्वनि करते हुये विजयी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६। ७५। १८; यजुः०—१७। ४६; साम० ७० ६। ३। ८ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायक-

वाङ्माध्विष्ठित वडोदे पुरीगत श्रावणमास, परीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे शुक्लपञ्चम्यां तिथौ १६७३ तमे

विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्रीराजराजेश्वरपञ्चमजार्जमहोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आश्विनकृष्णा १३ संवत् १६७३ ता० २५ सितम्बर १६१६ ॥

१—( मर्माणि ) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १४५। मृद् प्राणत्यागे—मनिन् । शरीरसन्धिस्थानानि ( ते ) तव ( वर्मणा ) कवचं ( ह्यादयामि ) संवृणोमि ( सोमः ) ऐश्वर्यवान् ( राजा ) शासकः कोशाध्यक्षः ( अमृतेन ) मृत्युनिवारकेण शस्त्रास्त्रवस्त्रान्नौषधादिना वस्तुना ( अनु ) निरन्तरम् ( वस्ताम् ) आच्छादयतु ( उरोः ) उरुणः । विस्तृतात् ( वरीयः ) उरुतरं ( स्थानम् ) ( वरुणः ) श्रेष्ठो मार्गदर्शकः ( कृणोतु ) करोतु ( जयन्तम् ) अ० ६। ६७। ३ विजयिनम् ( त्वा ) ( अनु ) अनुलक्ष्य ( देवाः ) विजिगीषवो वीराः ( मदन्तु ) हृष्यन्तु ॥









## अथर्ववेदभाष्य सम्मति

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और

अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८९६ ई० के निश्चय संख्या १३ ( अ ) ( ब ) की लिपि ।

( अ ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यो को बनावें ।

( ब ) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त ( १५ ) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० लोमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें । इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी ( संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १८९६ ई० )

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० लोमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है । भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं । भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं । लागत तक वसूल नहीं होती । वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है । अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदीजी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करे । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिता चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे । प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये । समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुतही ज़रूरी है । भाष्य के प्रत्येक कांड का मुख्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है ।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये । जल्दी से भाष्य मंगाइये ।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc., L L. B. उप मन्त्री ।



चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-  
प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला । इस  
रूपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को  
समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के  
लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षा सूत्र धारी को आभारी होना  
चाहिये । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और  
समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप  
सदैव जारी रखें यही प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

( एम० ए० एल० एल० बी० ) मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा  
संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

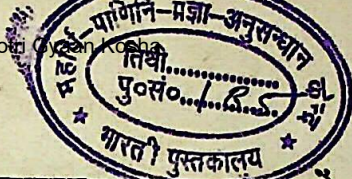
यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा  
में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के  
भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० होमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस  
अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि  
इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों  
वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन  
मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त । आर्यमित्र आगरा २४  
जनवरी १९१३ ।

श्री पं० होमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद  
सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [ प्रथम ]  
कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनु-  
सार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस  
शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा  
निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उप-  
योगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक  
और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने  
पुस्तकालय में रखे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कभी के पूर्ण करने का





उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें-  
निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो... छपाई और कागज भी अच्छा है।...

श्रीयुत महाशय मून्शीरामजी-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता कुरुकुल कांगड़ी  
हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से  
के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार,  
वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि  
सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशं-  
सनीय है।.....आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से  
पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने  
वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें  
उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप  
का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता  
वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनिवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फरवरी  
१९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के परिणित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित  
किया है। इसका क्रम ऐसा रखा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ  
में.....अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक  
विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक-सिद्धान्तों की तरफ है, अतएव भाष्य भी  
आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के  
भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवय्यारी देवी जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी  
अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५ ॥

श्रीयुत परिणित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड  
मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यंत आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम  
सबों पर अत्यंत कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां  
कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।



दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य १)॥ है रुपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फरवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत लोमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है... बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय्य अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है... आपकी राय है कि “वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है”। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशप्रवर्तक फतहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

इर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किये गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिकाप्रसाद जी—सिल्क मार्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

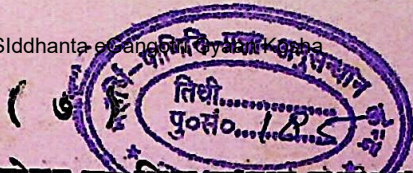
आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें! आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छुपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, जिला फतेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ “अथर्ववेद भाष्य” निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनयता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यक कीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पण्डित श्रीधर पोठक जी, ( सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ )—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेंट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।





आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर लिखित प्रत्युत्तर संतुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकरिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १८७३ (२५ जून १८१६—  
लेखक श्रीयुत पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम परिणत क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री परिणत जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—परिणत जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्व वेद के पांच कांड छपा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको दूरे आज पांच हजार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी भंगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्व वेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.....इस समय जो पांच कांडों का भाष्य परिणत जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि परिणत क्षेमकरण दास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.....त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें ॥



*The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State,  
Letter No. 624 date 6th February 1913.*

.....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्याम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund."

**RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan.**

Letter dated March 25th, 1914.

*The Atharva Veda Bhashya* :—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of love and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

**THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.**

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

— 10 : —

**THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18. 1914.**

**THE** *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikoshā* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves.....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.....

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.















